गाथासप्तशती

(शोध-कृति)

लेखक :

डॉ. परमानन्द शास्त्री

एम. ए., पी-एच डी.

रीडर हिन्दी विभाग

अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़ ।

गाथासप्तशती

(शोध-कृति)

लेखक :

डॉ. परमानन्द शास्त्री
एम. ए., पी-एच डी.

रीडर हिन्दी विभाग

अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़ ।

समर्पण

अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभागाध्यक्ष
एवं प्रोफ़ेसर

श्रद्धेय गुरुवर डा० हरवंशलाल शर्मा

एम. ए. पी-एच. डी., डी. लिट.

को

उनके अकिञ्चन अन्तेवासी का यह नवीनतम कृति-सुमन

पर उनका भी वश नहीं चला। उसके लिये खेद होते हुए भी मुझे निराशा नहीं है क्योंकि—

धावतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जनाः॥

उपहास में ध्वंस और समाधान में निर्माण का बीज छिपा है और इतिहास साक्षी है कि निर्माण का अंकुर सदा ही ध्वंस की चट्टान को फोड़ कर निकला है।

मकर संक्रान्ति २०२१

विद्वज्जन-वंशवद
परमानन्द

विषयानुक्रमणिका

प्रथम भाग

[अध्ययन और समीक्षा]

प्रथम भाग

धर्म-प्रचार के लिये अशोक द्वारा भेजे गये बौद्धभिक्षुओं की नामावली में धम्मरक्खित स्थविर को 'महारट्ठ' देश भेजने का उल्लेख हुआ है।[१] निःसन्देह 'महारट्ठ' संस्कृत 'महाराष्ट्र' का ही पाली रूप है। इससे प्रतीत होता है कि महाराष्ट्र शब्द का प्रयोग दीपवंस से भी पुराना है जिसका रचनाकाल संवत् ३५२ ई० और ४५० ई० के मध्य में माना गया है।[२] कुछ भी हो महाराष्ट्री प्राकृत का सम्बन्ध महाराष्ट्र प्रदेश से अवश्य रहा है तभी तो दण्डी ने लिखा कि महाराष्ट्र की भाषा प्राकृतों में श्रेष्ठ मानी गई है जिसमें सूक्तिरत्नों के सागर सेतुबन्ध आदि की रचना हुई।[3]

प्राकृत भाषाओं का विश्लेषण करने पर हमें तीन प्रकार के शब्द मिलते हैं :— तत्सम, तद्भव और देशज। तत्सम संस्कृत के ही अविकृत शब्द हैं, तद्भव शब्दों का कारण ध्वनि विकार है और देशज शब्द विभिन्न समयों पर विभिन्न जातियों की बोलियों के मिश्रण का परिणाम कहे जा सकते हैं। इस प्रकार लक्ष्य करने पर प्राकृत भाषा के स्वरूपनिर्माण में भारत की मूलजाति से लेकर यवन, शक, पर्थियन, कुषाण, पल्लव, आभीर आदि आगन्तुक जातियों का योग भी स्पष्ट लक्षित होता है। किसी जाति के सम्पर्क में आई हुई अन्य जातियों का प्रभाव भाषा की सतह तक ही सीमित नहीं रहता अपितु संस्कृति और साहित्य की गहराई में भी उतर जाता है। भारतीय भाषा और संस्कृति भी इसका अपवाद नहीं हैं। (सच तो यह है कि जो जाति अन्य जातियों के सम्पर्क से वञ्चित रह जाती है उसका सांस्कृतिक और साहित्यिक विकास यदि पूर्णरूपेण अवरुद्ध नहीं हो जाता तो कम से कम अत्यधिक मन्थर अवश्य हो जाता है) महाराष्ट्री प्राकृत इसीलिये अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई कि उसके विकास में अन्य जातियों की सांस्कृतिक एवं सामाजिक परम्पराओं का संस्पर्श अपेक्षाकृत अधिक था जिसके कारण उसके साहित्य में नवीन प्रवृत्तियों का उदय हुआ। इस दिशा में आभीर जाति का प्रभाव विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

आभीर जाति का भारत में पदार्पण शकों के आगमन के आस-पास ही हुआ। पुराणों में आभीरों को सातवाहनों का उत्तराधिकारी बताया है। यद्यपि मध्यभारत में झाँसी और भेलसा के मध्य अहीरवार तक आभीरों की बस्तियों का पता चलता है तथापि उनका सम्बन्ध अपरान्त—भारत के पश्चिमी प्रदेश—से जोड़ा जाता है। महाभारत में अपरान्त प्रदेश के अतिरिक्त उन्हें विनशन (जहाँ सरस्वती नदी लुप्त होती है—आधुनिक कुरुक्षेत्र) क्षेत्र में बसे हुए बताया है। पतञ्जलि के महाभाष्य (ई० पू० १५० वर्ष) में आभीरों का शूद्रों के साथ उल्लेख हुआ है और पुराणों में उनका राज्य दक्षिणी भारत के उत्तरपश्चिम भाग में बताया

१. दीपवंस परिच्छेद ८, महावंस ५।२८०, १२।१-८
२. भरतसिंह उपाध्याय-पालि साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ५४६
३. महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः।
सागरः सूक्तिरत्नानां सेतुबन्धादि यन्मयम् ॥ काव्यादर्श

गया है।[1] उत्तरी काठियावाड़ में स्थित गुन्द नामक स्थान में उपलब्ध रुद्रसिंह प्रथम के ईसवीय १८१ के शिलालेख में आभीरों के शक सेनापति होने का उल्लेख है। नासिक में ईश्वरसेन नामक आभीर राजा का उसके राजत्वकाल के नवम वर्ष का शिलालेख मिला है। ईश्वरसेन का राज्यारोहण आर० जी० भण्डारकर ने सन् १९० ई० के आस-पास माना है।[2] हो सकता है कि यही आभीर राजा सातवाहन वंश का उत्तराधिकारी रहा हो। इन तथ्यों से इस बात का पता चलता है कि पश्चिमी, मध्य एवं दक्षिणी भारत में आभीरों की बहुत सी बस्तियाँ थीं। उनका सबसे महत्त्वपूर्ण वर्ग उत्तरी कोंकण तथा मराठा देश से सम्बद्ध प्रदेशों में बसा था।[3]

आभीर जाति का जीवनदर्शन रागात्मक था। नित्यप्रति के जीवन के प्रति उसे मोह था। उसकी साधना का रूप भी इतना ही सरस था जितना गृहस्थजीवन के प्रति दृष्टिकोण। राधा उसकी उपास्य देवी थी और कृष्ण का गोपरूप सर्वस्व। आभीरों के ऐहिकतापरक जीवन का प्रभाव भारतीय आर्यों के जीवन पर भी पड़ा तथा लौकिक प्रेम के प्रति वे भी अपेक्षाकृत अधिक कौतुकी हुए। यह प्रवृत्ति साधारण जनता में सबसे पहले विकसित हुई होगी क्योंकि साधारण बुद्धि दार्शनिक विचार-धारा अथवा आत्मचिन्तन के बन्धन को स्वीकार करने में उतनी तत्परता नहीं दिखाती, विशेषतया उस समय जब उसके सामने सजीव जीवन पूरी रंगीनी के साथ अठखेलियाँ कर रहा हो। धीरे-धीरे लोकजीवन में व्याप्त होती हुई यह धारा सामान्य सामाजिक तत्त्व बनकर साहित्य में भी प्रविष्ट हो गई। डा० नगेन्द्र ने लिखा है "स्वदेश तथा विदेश के पण्डितों का अनुमान है कि यह आभीर जाति भारत में आकर बस गई और आर्यों की शिक्षा संस्कृति का अभीरों के उन्मुक्त जीवन से संयोग हुआ तो भारतीयों के हृदय में परलोक की चिन्ता से मुक्त नित्यप्रति के गृहस्थजीवन के प्रति आकर्षण बढ़ने लगा।[4] दिनकर का कहना है कि भारत में साहित्य और संस्कृति के सबसे सुन्दर फूल तब खिले हैं जब बाहर की कोई धारा आकर हमारी धारा से टकराई है। जब आर्य और अनार्य संस्कृतियाँ आपस में मिलीं—हमने वैदिक साहित्य और दो बड़े महाकाव्यों (रामायण और महाभारत) की रचना की; जब आभीर आए, हमारी कविता में इहलौकिकता की वृद्धि हुई और शृंगार ने एक नया रंग पकड़ा जिसका प्रमाण हाल की गाथासप्तशती है।[5] इसके विपरीत श्री शिवाधार सिंह का यह मत चिन्तनीय है कि भारतवर्ष में आर्यों ने अपने पशुबल से एक सभ्य द्रविड़ जाति की संस्कृति के बाह्यरूपों को तहस-नहस कर डाला जिसके भग्नावशेष आज भी मोहनजोदड़ो में मिलते हैं। यही नहीं, द्रविड़ जाति को ठोक पीटकर आर्थिक

---

१. एज ऑव् इम्पीरियल यूनिटी, पृष्ठ २२१
२. वही, वही पृष्ठ
३. वही, पृष्ठ १६० की टिप्पणी
४. डा० नगेन्द्र, रीतिकाल की भूमिका, पृष्ठ १८४

सामाजिक चक्र में भी जड़ दिया गया और यह काम कोई तीन हजार वर्ष की तथाकथित समन्वय प्रवृत्ति का परिणाम था। सामाजिक कारा की निविडतमसाच्छन्न युगपोषित हीनता का प्रथम अधुनाप्राप्य कलाविलास हाल की गाहासत्तसई के रूप में प्रस्फुटित हुआ। कहना न होगा कि गाहासत्तसई अपने ढंग का प्रथम प्रयास नहीं है। उसके पीछे विशाल साहित्य रहा होगा जो आज अप्राप्य है।[1]

निःसन्देह गाहासत्तसई अपने ढंग का प्रथम प्रयास नहीं हो सकता। एक सुदीर्घ परम्परा उसके पीछे रही होगी। स्वयं हाल ने अपने संग्रह को एक कोटि गाथाओं में से चुनी हुई सात सौ गाथाओं का संकलन कहा है। अत्युक्तिपूर्ण होने पर भी इस कथन से यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि इस प्रकार की प्रचुर रचनाएँ उस समय तक हो चुकी थीं। किन्तु गाहासत्तसई को द्रविड जाति की सामाजिक कारा में निविड-तमसाच्छन्न युगपोषित हीनता का कलाविलास कहना तर्क संगत नहीं है। सत्तसई में आदि से लेकर अन्त तक व्याप्त ध्वनि सामाजिक कारा में छटपटाते मानव का आर्तस्वर नहीं है, उन्मुक्त भाव गगन में उड़ान भरने वाले मन-विहग के उल्लासभरे प्रणयगीत हैं। उनमें निराश जीवन का निविड अन्धकार नहीं, पूर्णकाम चैतन्य से उद्भूत आनन्दज्योति के दर्शन होते हैं। वह युगपोषित हीनता का कलाविलास नहीं, अपने आपमें मग्न हृदय के उदात्त भावों का अत्यन्त स्वाभाविक अभिव्यञ्जन है। सत्तसई की एक एक गाथा इस बात का स्वतः प्रमाण है कि वह किसी दलित जाति की बेबसी का करुण क्रन्दन नहीं है। विचारणीय बात इतनी रह जाती है कि क्या गाथासप्तशती में वर्णित उन्मुक्त प्रणयभावना द्रविड़ जाति की देन है?

यह सत्य है कि आर्य सभ्यता के अनेक तत्त्व द्रविड़ जाति की विरासत हैं। आर्यों ने अपने सामाजिक ढांचे में द्रविड़ों को प्रायः शूद्र वर्ग में ही खपाया था। परम्परा के अनुसार होलिकोत्सव—जिसमें शृङ्गार का समावेश अधिक है और इसीलिये जो साहित्य में मदनोत्सव के नाम से प्रसिद्ध है—शूद्रों का त्योहार माना जाता है। होली के साथ हिरण्यकशिपु असुर की कथा भी सम्बद्ध है। ऐतिहासिकों का कहना है कि आर्यों ने भारत के मूलनिवासियों को असुर या दस्यु का नाम दिया था इस आधार पर यदि यह मान भी लिया जाय कि होलिकोत्सव और उस अवसर पर प्रवृत्त उन्मुक्त शृङ्गारिक चहल-पहल द्रविड़ों के सम्पर्क का ही परिणाम है तो भी समस्या का समुचित समाधान नहीं हो पाता और एक दूसरा प्रश्न सामने आ खड़ा होता है कि उन्मुक्त शृङ्गार की प्रवृत्ति साहित्य में समाज में आने के तीन सहस्र वर्ष पश्चात् क्यों आई? इसके लिये इतने दीर्घकाल की आवश्यकता नहीं थी। ऐतिहासिक प्रमाणों से तो यह प्रकट होता है कि विजित जाति विजेत्री जाति पर ऐसा प्रभाव नहीं डाल पाती जो एक स्वतन्त्र प्रवृत्ति का रूप ले सके क्योंकि विजेत्री जाति का अहंभाव सदैव जागरूक रहा करता है और विजित जाति ही उसकी प्रवृत्तियों

१. साहित्य [illegible], पृष्ठ २१८

से अधिक प्रभावित हुआ करती है। विजेत्री जाति पर विजित जाति का प्रभाव धीरे-धीरे और अप्रत्यक्ष रूप में हुआ करता है। यह क्रान्ति द्वारा नहीं उत्क्रान्ति के माध्यम से आता है। अतः द्रविड जाति का प्रभाव इतना प्रत्यक्ष नहीं हो सकता था और यदि ऐसा हुआ भी होता तो उसकी अभिव्यक्ति एक दो शताब्दी के पश्चात् ही हो जाती; तीन सहस्राब्दियों के व्यतिक्रमण की प्रतीक्षा न करती रहती। वस्तुतः शृङ्गारिक गीतियों का अस्तित्व पतञ्जलि के महाभाष्य में प्रसङ्गवश उद्धृत उल्लेखों से ही स्पष्ट हो जाता है। शृङ्गारिक प्रवृत्ति अपने बीजरूप में पहले से ही विद्यमान थी। आभीरों के सम्पर्क ने उसे उचित वातावरण प्रदान किया जिससे वह अंकुरित पल्लवित, पुष्पित और फलित होती हुई कालान्तर में साहित्य में भी प्रतिफलित हो उठी। आभीरों के प्रभाव का हम यही अर्थ लेते हैं और हमारे विचार में दिनकर के 'शृङ्गार ने एक नया रंग पकड़ा' शब्द भी यही संकेत करते हैं। जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, आभीरों का महाराष्ट्र प्रदेश से घनिष्ठ सम्पर्क रहने के कारण महाराष्ट्री साहित्य पर इसका प्रभाव सर्व प्रथम एवं अधिक मात्रा में परिलक्षित होता है। इसका एक कारण और भी था। यह लहर भारतवर्ष में उस समय आई थी जब सामान्य वर्ग संभ्रान्त वर्ग के विरोध में धार्मिक स्तर पर क्रान्ति करने में सफलता प्राप्त कर चुका था। ब्राह्मण धर्म के विरुद्ध जैन एवं बौद्ध धर्म नैतिक आचार की ध्वनि ऊँची करते हुए उठ खड़े हुए थे। इन धर्मों के प्रवर्तकों और अनुयायियों ने शिष्टभाषा संस्कृत का बहिष्कार कर अपने प्रचार एवं प्रणयन का माध्यम प्राकृत भाषाओं को बनाया था। फलस्वरूप मागधी और अर्धमागधी प्राकृत जैन एवं बौद्धों की धार्मिक भाषाओं के रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी थीं। उधर संस्कृत ब्राह्मण धर्म की भाषा थी और ब्राह्मणों ने भी अनेक स्मृतियों की रचना कर अपने धर्म की किलेबन्दी कर ली थी। अतः संस्कृत साहित्य और समाज दोनों ही इस नवीन प्रवृत्ति के लिये अपने द्वार नहीं खोल सकते थे। केवल महाराष्ट्री प्राकृत ही एक प्रमुख और बहुजनभाषित भाषा रह गई थी जो इस नवीन भावधारा का माध्यम बन सकती थी।

उपर्युक्त विवेचन से यह अभिप्राय नहीं है कि आजकल जो भी प्राकृत भाषा एवं साहित्य उपलब्ध है वह सब जनभाषा और जन साहित्य है। वास्तविकता तो यह है कि अधुना उपलब्ध समग्र प्राकृत साहित्य जनभाषा में न होकर कल्पित कवि-भाषा में है। बोली जाने वाली प्राकृत में जो रचनाएँ प्रारम्भ में हुई होंगी वे आज अप्राप्य हैं। धीरे-धीरे प्राकृत को साहित्यिक रूप दिया जाता रहा और कालान्तर में वह भी संस्कृत की ही भाँति व्याकरण के सूत्रों में कस दी गई। इतना ही नहीं सबसे बड़ी विडम्बना यह हुई कि कवियों में संस्कृत की अपेक्षा प्राकृत में ही रचना प्रस्तुत करने का आग्रह होने पर भी जनभाषा से प्रेरणा और प्रयोग ग्रहण करने की प्रवृत्ति नहीं थी। हुआ यह कि संस्कृत को ही वर्णादिभेद पर आधृत प्राकृत के कृत्रिम ठप्पों में ढालकर वे अपनी रचनाएँ प्रस्तुत कर दिया करते। प्राकृत में प्रायः न का

और कुछ अवसरों पर य का ज हो जाता है। इस प्रकार के परिवर्तनों को सामान्य और अनिवार्य मानकर संस्कृत के मूल पदों से प्राकृत के पद गढ़े गए। मुख सुविधा आदि के कारण लोक प्रचलित भाषा में कोई शब्द किस प्रकार परिवर्तित हुआ यह ध्यान ही नहीं रखा गया। इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध भाषा शास्त्री श्री पं० किशोरीदास वाजपेयी का मत उल्लेखनीय है। वे लिखते हैं—

"द्वितीय प्राकृत का एक रूप 'पालि' या 'पाली' नाम से प्रसिद्ध हुआ' पाली जनभाषा है और इसी लिये मशहूर है। अवधी और ब्रजभाषा आदि की तरह 'पाली' में भी 'ण' को 'न' कर देने की प्रवृत्ति है। इसकी ऐसी नैसर्गिक प्रवृत्ति के कारण ही संस्कृत-भाषा वालों ने कदाचित् इसका नाम 'पाली' रखा हो। पाली-भाषा गँवारू भाषा। संस्कृत में 'पल्ली भाषा' कहा गया होगा। 'पल्ली' गाँव को कहते हैं। 'पल्ली' का ही पाली हो गया और सर्वत्र चल पड़ा यह नाम।

उसी समय दूसरी प्राकृत का एक और साहित्यिक रूप सामने आया, जिसे ('पाली' नहीं) प्राकृत कहते हैं। इस प्राकृत का रूप भी साहित्य में प्राप्त है। यह साहित्यिक भाषा भी उस समय की जनभाषा नहीं है। साहित्य-प्राप्त पाली तो उस समय की जनभाषा का सुसंस्कृत रूप है—सुसंस्कृत साहित्यिक भाषा है, परन्तु यह 'णाऊ णाऊ' भाषा उसका एक विकृत रूप है। लोगों ने समझा 'ण' की जगह 'न' कर देने से भाषा गंवारू समझी जाती है, तो फिर सर्वत्र 'ण' ही कर दो। बस 'ण' का एकच्छत्र राज्य हो गया और न को एक दम निकाल दिया गया। यहाँ तक कि 'नाम' भी 'णाम' और 'नमो' भी 'णमो'। संसार की कोई भी दूसरी भाषा ऐसी नहीं जिसके शब्दों के आदि में ण मिले। संस्कृत में ण चलता है, किन्तु उसके भी किसी शब्द के आदि में वह न मिलेगा! णकार की भरमार से द्वितीय प्राकृत का यह द्वितीय अपल्ली (अग्राम्य, सांस्कृतिक, साहित्यिक) रूप खूब चला, चलाया गया।"[1]

वाजपेयी जी ही नहीं "बहुत से विद्वान् साहित्यिक प्राकृत भाषा को कृत्रिम भाषा मानते हैं जिसका साहित्य के अतिरिक्त लोक में कहीं भी प्रयोग नहीं होता।"[2] गुलेरी जी के अनुसार भी "वह पण्डिताऊ या नकली गढ़ी हुई प्राकृत है, जो संस्कृत में मसविदा बनाकर प्राकृत व्याकरण के नियमों से 'त' की जगह 'थ' 'क्ष' की जगह 'ख', रखकर, साँचे पर जमा कर गढ़ी गई है।[3] कदाचित् इसी कारण से प्राकृत के अधिकतर वैयाकरणों ने प्राकृत शब्द की व्युत्पत्ति प्रकृतिः (मूलभाषा) संस्कृतम्, ततः आगतम्, (उससे आया हुआ) प्राकृतम् की है।

जिस प्रकार प्राकृत भाषा की मूल प्रकृति संस्कृत भाषा है उसी प्रकार यदि

और सिद्धान्तों का प्राकृत साहित्य में पूर्णतया प्रतिफलन हुआ है। गाथासप्तशती भी इसका अपवाद नहीं है। इसलिये गाथासप्तशती को जनकाव्य नहीं कहा जा सकता।[1]

"सतर्कता और सावधानी जो संस्कृत साहित्य की जान है, इसमें भी है। अग्राम्य मनोहर भावों का चुनाव रुचि के साथ किया गया है।"[2] इसका स्पष्ट प्रमाण यह है कि काम शास्त्रीय एवं काव्य शास्त्रीय सिद्धान्तों की पूरी पूरी छाप इस पर उभरी है तथा ध्वन्यात्मकता की दृष्टि से इन गाथाओं का स्थान बहुत ऊँचा है। यही कारण है कि ये संस्कृत के काव्यशास्त्रियों के आकर्षण का विषय रही हैं। उन्होंने ध्वनि के विविध भेदों के उदाहरण स्वरूप सैंकडों गाथाएँ उद्‌धृत की हैं। अकेले भोजदेव ने ही अपने सरस्वती कण्ठाभरण में लगभग डेढसौ गाथाओं की अवतारणा की है।

गाथासप्तशती जनकाव्य न सही परन्तु जनकाव्य के निकट अवश्य है। इसमें संस्कृत के अधिकांश काव्यों की भाँति सम्भ्रान्त वर्ग का चित्रण नहीं है अपितु जनता के सभी वर्गों की शृङ्गारिक चेष्टाओं एवं भावनाओं का मनोहर अङ्कन हुआ है। अग्राम्य भावों का चुनाव अवश्य किया गया है किन्तु प्रायः ग्रामीण नायक नायिकाओं की ही नैसर्गिक प्रणय चेष्टाओं की प्रकृति के उन्मुक्त वातावरण में परिणति दिखाई गई है। ग्रामीण ही नहीं जंगली नायक नायिकाओं का भी चित्रण, उनके आचार-विचार, समाज, कार्यक्षेत्र, वातावरण आदि के साथ नागर भावों की पृष्ठ भूमि पर कुछ ऐसे ढंग से किया गया है कि यह "यह भी नहीं और वह भी नहीं। फिर भी धोबी के कुत्ते या चमगादड जैसी भी नहीं" यही इसकी विचित्रता है।

प्राकृत की शृङ्गारोपयोगिता ?

जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, सामयिक एवं प्रादेशिक परिस्थितियों के कारण प्राकृत में उन्मुक्त शृङ्गार-वर्णन की परम्परा का सूत्रपात हुआ और धीरे धीरे शृङ्गारिक रचनाओं का बाहुल्य हो जाने से लोगों में यह धारणा बद्धमूल हो चली कि शृङ्गारिक काव्य की रचना के लिये प्राकृत ही उपयुक्त है संस्कृत नहीं। हाल ने स्पष्ट लिखा है कि जो प्राकृत के काव्यामृत को पढ़ना सुनना नहीं जानते वे काम विषयक (शृङ्गार सम्बद्ध) वार्तालाप करते हुए लज्जित क्यों नहीं होते।[3] गुप्तयुग में संस्कृत का पुनरुद्धार होने पर तथा बौद्ध एवं जैन धर्मों के ह्रासोन्मुख हो जाने से प्राकृत की व्यापकता को भी धक्का लगा। स्वयं बौद्ध एवं जैन आचार्यों ने भी संस्कृत में ग्रन्थ लिखे और प्राकृत भाषा क्रमशः सिमटती हुई धर्मनिरपेक्ष साहित्य के अन्तर्गत केवल नाटकों के स्त्रीपात्र, विदूषक और अधमपात्रों की भाषा बनकर रह गई। परवर्ती छुट-पुट रचनाएँ अपवाद-स्वरूप ही हैं। यह सब कुछ होते हुए भी प्राकृत का महत्त्व साहित्यकारों के हृदय में बना ही रहा। "वज्जालग्गं में तो यहाँ तक

---

१. कीथ, हिस्ट्री ऑव् संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ २२४
२. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृष्ठ ६०
३. गाथा सप्तशती १—२

कह दिया गया है कि "ललित मधुराक्षर युवतिजनप्रिय तथा शृंगार से ओत-प्रोत प्राकृत काव्य के होते हुए भी संस्कृत काव्य पढ़ ही कौन सकता है।[1] प्राकृत के ही कवियों ने अपने घर में बैठकर प्राकृत के गीत नहीं गाये, उसका जादू संस्कृत के धुरन्धर आचार्यों और कवियों के सिर पर भी चढ़कर बोला है। राजशेखर ने संस्कृत के बन्धों को पुरुष और प्राकृत के बन्धों को सुकुमार अनुभव करते हुए उनमें (सुकुमारता की दृष्टि से) उतना ही अन्तर पाया जितना पुरुष और स्त्री में[2] तथा आर्यासप्तशतीकार गोवर्धनाचार्य ने प्रकारान्तर से खेद प्रकट किया कि उन्होंने प्राकृतोचित रस (शृंगार) को बलात् संस्कृत में व्यक्त करने का प्रयत्न किया है।[3]

यह आश्चर्य की बात है कि जिस भाषा में कोमल पदों का सर्वथा अभाव हो जिससे मधुर व्यंजनों को चुन-चुन कर निकाल दिया गया हो—वह कविता-कामिनी की कोमलतम मधुर शृङ्गारिक भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त समझी जाय। प्राकृत भाषा में टवर्ग और संयुक्ताक्षरों की भरमार है जो शृङ्गार में आधेय विशिष्ट गुण माधुर्य के विरुद्ध पड़ती है। गाथासप्तशती से ही एक उदाहरण लीजिये और उसकी संस्कृतच्छाया से भी तुलना कीजिये तो यह बात स्पष्ट सामने आ जायेगी :—

गाथा : अण्णह ण तीरइ च्चिअ परिवड्ढन्तगरुअं पिअअमस्स ।
मरणविणोएण विणा विरमाएउं विरहदुक्खम् ॥

संस्कृत छाया : अन्यथा न शक्यत एव परिवर्धमानगुरुकं प्रियतमस्य ।
मरणविनोदेन विना विरमयितुं विरहदुःखम् ॥

प्राकृत ने 'अन्यथा' का 'अण्णह' और 'विनोदेन' का 'विणोएण' बनाकर माधुर्य खोया है या पाया है इसका सही अनुमान साधारण पाठक भी कर सकता है फिर भी 'गतानुगतिको लोकः' के अनुसार भेड़ाचाल को अपनाने वालों के लिये क्या कहा जाय। आधुनिक युग में भी प्राकृत के माधुर्य की वकालत करने वाले मिल ही जाते हैं। श्री पं० कृष्णविहारी मिश्र का तर्क देखिये। उनका कथन है कि 'संस्कृत में मीलितवर्णों का प्रचुरता से प्रयोग किया जाता है। प्राकृत में यह बात बचाने की चेष्टा की गई है। प्राकृत संस्कृत की अपेक्षा कर्ण मधुर है। यद्यपि पाण्डित्य प्रभाव से संस्कृत में प्राकृत की अपेक्षा कविता विशेष हुई है, पर प्राकृत की कोमलता उस समय भी स्वीकृत थी, जिस समय संस्कृत में कविता होती थी'[4]।

---

१. ललिए महुरक्खरए जुवईजणवल्लहे ससिंगारे ।
सन्ते पाइअकव्वे को सक्कइ सक्कअं पढिउम् ॥ (वज्जालग्गं)

२. परुसा सक्कअबन्धा पाउअबन्धो वि होइ सुउमारो ।
पुरुस महिलाणं जेत्तिअमिहन्तरं तेत्तिअमिमाणम् ॥ (कर्पूरमंजरी)

३. वाणी प्राकृतसमुचितरसा बलेनैव संस्कृतं नीता । आर्यासप्तशती १/५२

४. देव और बिहारी, पृष्ठ २०

तो फिर प्राकृत के शृङ्गारोपयोगी होने का रहस्य क्या है ? जैसा कि कहा जा चुका है, विशेष परिस्थितियों के कारण प्राकृत में 'शृंगारिक रचनाओं की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिला। आरम्भ में जनता के अनेक कवियों ने इसमें उन्मुक्त प्रेम विषयक कविताएँ कीं और धीरे-धीरे इस प्रकार का पर्याप्त साहित्य एकत्र हो गया। कालान्तर में जब प्राकृत कृत्रिम साहित्यिक भाषा के रूप में ढल गई तब भी यह मूल प्रवृत्ति उसके साथ लगी ही रही और यह परम्परा सी बन गई कि शृंगारिक रचनाओं का सौकर्य इसी भाषा में अधिक सम्भव है। इसके विपरीत प्रायः गम्भीर विषयों के विवेचन की प्रचुरता के कारण संस्कृत में एक आभिजात्य गौरव प्रतिष्ठित हो गया था और शृंगार रस का चित्रण उसमें अत्यन्त संयम एव मर्यादा की सीमा में ही किया जाता था। इसलिये भी प्राकृत में शृंगारिक कविता को अधिक प्रोत्साहन मिला। शृंगार के आधिक्य के कारण ही प्राकृत काव्य को हाल ने अमृत कहा है यह गंगाधर की टीका से भी स्पष्ट होता है।[1] डा० बेरीडेल कीथ का कथन है कि "निःसन्देह महाराष्ट्री भाषा के प्रचार का कारण उसमें गीति काव्य का अबाध उद्गम है जिसके चिह्न हाल के संग्रह तथा बाद के ग्रन्थों में पाये जाते हैं।

[The Maharastri Unquestionably owes its vogue to the out burst of lyric in that dialect, which has left its traces in the anthology of Hala and latter text.][2]

प्राकृत में आभीरों के सम्पर्क से संक्रान्त उन्मुक्त प्रेम भावना का विशद चित्रण मिलता है। गाथासप्तशती की एक ग्रामीणा नायिका अपनी समानशीला मामी से स्पष्ट कह देती है कि "यदि परलोक के व्यसनी लोगों को खेद होता है तो होता रहे यहाँ तो गाँव के मुखिया के पुत्र के वदन पर दृष्टि हठात् चली ही जाती है।[3] एक अन्य नायिका अपने संकेतस्थल—गोदावरी के पवित्र तट—पर नित्यकर्म के हेतु जाने वाले धार्मिक को सिंह की विभीषिका से डराकर अपना रास्ता साफ करती है[4] तो दूसरी करंज की शाखा तोड़ने वाले भिक्षु के विरुद्ध प्रचार करके न केवल गाँव भर से उसकी भिक्षा ही बन्द करा देती है अपितु उसको प्राणों से हाथ धो बैठने का भय भी दिखाती है।[5] सुरत समय में गणपति की प्रतिमा से तकिये का काम लेने वाली नायिका भी यहाँ देखी जाती है।[6] आभीरों की उपास्य देवी राधा प्रेम की अधिष्ठात्री देवी थी जिसने आर्यों के कृष्ण को भी अपने आकर्षण में बाँध लिया। इसी प्रवृत्ति ने देव-मिथुनों तक की सुरत क्रीडाओं के वर्णन का मार्ग संस्कृत के कवियों के लिए भी खोल दिया।

---

१. शृङ्गाररसनिर्भरत्वादमृतमिव प्राकृतकाव्यं भवति (गङ्गाधर)
२. कीथ; संस्कृत ड्रामा, पृष्ठ १६६
३. गाथा सप्तशती ७१८
४. वही २/७५

ने निबद्ध काव्य मात्र के लिये, चाहे वह नाटक हो या आख्यायिका अथवा पद्यमय प्रबन्ध काव्य, प्रबन्ध शब्द का प्रयोग किया है। किन्तु आधुनिक काल में प्रबन्ध काव्य केवल पद्यमय निबद्ध काव्य के अर्थ में ही प्रयुक्त होता है और निबद्ध शब्द के स्थान में आदेश के समान जमकर बैठ गया है। इसी प्रकार अनिबद्ध के स्थान में दण्डी ने मुक्तक शब्द का प्रयोग किया और आजकल मुक्तक शब्द ही प्रचलित हो गया है। अतः पद्यमय काव्य के दो भेद हुए—प्रबन्ध और मुक्तक।

प्रबन्धकाव्य

पद्यमय निबद्ध काव्य के भेद-प्रभेदों का भामह ने कोई उल्लेख नहीं किया है। उन्होंने केवल एक ही प्रकार के प्रबन्ध काव्य का लक्षण दिया है। वह प्रकार है—महाकाव्य। महाकाव्य में उन्होंने षष्ठी तत्पुरुष एवं कर्मधारय समास मानकर कहा है कि महाकाव्य महान् व्यक्तियों से सम्बद्ध होता है और स्वयं भी महान् (विशाल) होता है।[1] किन्तु महान् एक सापेक्ष शब्द है जिससे प्रतीत होता है कि महाकाव्य की सीमा तक न पहुँचने वाले अपेक्षाकृत लघुकाव्य भी रहे होंगे। भामह ने इनके आधार पर काव्य की किसी अन्य विधा को लक्षणबद्ध नहीं किया। दण्डी ने सर्गबन्ध महाकाव्य के अतिरिक्त मुक्तक, कुलक, कोश और संघात का उल्लेख किया है किन्तु इनकी परिभाषाएँ न देकर इन्हें सर्गबन्ध काव्य का ही अंश मान लिया है।[2] कोई स्पष्ट विभाजन उनकी कृति में नहीं मिलता। वामन ने भी अनिबद्ध और निबद्ध के अतिरिक्त कुछ नहीं कहा और निबद्ध काव्य के किसी भेद का उल्लेख नहीं किया। साहित्य-दर्पणकार विश्वनाथ ने महाकाव्य के अतिरिक्त प्रबन्ध के काव्य[3] और खण्डकाव्य[4] भेद भी माने हैं।

महाकाव्य

काव्य शास्त्रीय ग्रन्थों के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि भामह से लेकर विश्वनाथ तक महाकाव्य की परिभाषा में उत्तरोत्तर विकास होता गया है और उसके बँधन बढ़ते गये हैं भामह ने काव्य का लक्षण इस प्रकार दिया है।

सर्गबन्धो महाकाव्यं महतां च महच्च यत्।
अग्राम्यशब्दमर्थ्यं च सालङ्कारं सदाश्रयम्॥
मन्त्रदूतप्रयाणाजिनायकाभ्युदयैश्च यत्।
पञ्चभिः सन्धिभिर्युक्तं नातिव्याख्येयमृद्धिमत्।
चतुर्वर्गाभिधानेऽपि भूयसार्थोपदेशकृत्।
युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक्॥

---

१. सर्गबन्धो महाकाव्यं महतां च महच्च यत्॥ भामह; काव्यालङ्कार १/१९
२. मुक्तकं कुलकं कोशः संघात इति तादृशः।
सर्गबन्धांशरूपत्वादनुक्तः पद्यविस्तरः॥ काव्यादर्श १/१३
३. साहित्य दर्पण ३०६
४. वही „ ३०७

नायकं प्रागुपन्यस्य वंशवीर्यश्रुतादिभिः ।
न तस्यैव वधं ब्रूयादन्योत्कर्षाभिधित्सया ॥

अर्थात् महाकाव्य महान् व्यक्तियों के चरित पर आधारित सर्गों में विभक्त एक विशाल काव्य है । जो अर्थापित, सदाचार, सालङ्कार और अग्राम्य अभिव्यक्ति से युक्त होता है । इसमें मन्त्रणा (राजनीति) दूतप्रेषण, यात्रा, युद्ध और नायक के अभ्युदय के साथ साथ सन्धियों का भी समावेश होता है । यह ऋद्धि से युक्त (सुखान्त) होने के साथ ऐसा भी होना चाहिए की इसकी व्याख्या करने की अधिक आवश्यकता ही न पड़े । यद्यपि इसमें चतुर्वर्ग का वर्णन होता है तथापि प्रधानतया यह अर्थ पर ही केन्द्रित रहता है तथा सांसारिकता एवं पृथक् पृथक् सभी रसों से युक्त होता है । नायक के वंश, पराक्रम और विद्या का वर्णन उसमें हो तथा अन्य किसी पात्र का उत्कर्ष घोषित करने के लिये नायक के वध का वर्णन न किया जाय ।

इस लक्षण को कुछ और विस्तृत करते हुए दण्डी ने कहा है कि महाकाव्य का प्रारम्भ आशीर्वाद, नमस्कार अथवा वस्तुनिर्देश के साथ होता है । कथानक किसी ऐतिहासिक घटना पर आधारित हो या किसी सज्जन के जीवन से सम्बद्ध । चतुर्वर्ग में से किसी फल की प्राप्ति उसका उद्देश्य होती है । नायक चतुर और उदात्त होना चाहिये । नगर, समुद्र, पर्वत, ऋतु, चन्द्रोदय, सूर्योदय, उद्यानक्रीड़ा, जल-विहार, मधुपान, रतोत्सव, विप्रलम्भ, विवाह, कुमारोत्पत्ति, मन्त्र-विचार, दूत-प्रेषण, प्रयाण, युद्ध, नायक के अभ्युदय आदि का वर्णन उसमें अपेक्षित है । वह असंक्षिप्त एवं अलंकृत हो । रस और भाव के नैरन्तर्य के साथ वह श्रवणप्रिय छन्दों में बद्ध ऐसे अनति विस्तृत सर्गों में विभाजित होना चाहिए जिनमें विभिन्न वृत्तान्तों का वर्णन हो अथवा जिनके अन्त में छन्द बदल जाय । इस प्रकार का महाकाव्य लोकरंजक होता है और युग-युगान्तर तक बना रहता है ।

अपने युग में महाकाव्य के नाम से व्यवहृत उपलब्ध अनेकानेक कृतियों के आधार पर विश्वनाथ ने इस परिभाषा में कुछ परिवर्तन कर दिया है । नायक का

उल्लेख करते हुए दण्डी ने उसे केवल चतुर और उदात्त कहा है किन्तु विश्वनाथ के अनुसार कोई देवता, कुलीन क्षत्रिय अथवा एक ही वंश के वहुत से भूपति नायक के रूप में प्रतिष्ठित होने चाहियें।[1] दण्डी ने अङ्गी रस की वात नहीं उठाई जबकि विश्वनाथ ने शृङ्गार, वीर और शान्त में से किसी एक को प्रधान रस के रूप में रखने का निश्चित विधान किया है तथा अन्य रसों का अङ्गरूप में समावेश करने की अनुमति दी है।[2] दण्डी ने सर्गसंख्या के ऊपर कोई विचार नहीं किया जबकि साहित्यदर्पणकार के अनुसार महाकाव्य में सर्गों की संख्या आठ से अधिक होनी चाहिए।[3] प्रत्येक सर्ग के अन्त में आगामी सर्ग के कथानक की सूचना भी विश्वनाथ चाहते हैं।[4] दण्डी ने नामकरण की कोई पद्धति नहीं वताई परन्तु विश्वनाथ ने कवि के नाम पर (जैसे माघकाव्य) और कथानक या नायक के नाम पर अथवा अन्य किसी नाम पर महाकाव्य का तथा वर्णित वस्तु के आधार पर तत्तत्सर्ग के नामकरण का उल्लेख किया है।[5]

काव्य

प्रवन्ध का दूसरा भेद विश्वनाथ ने 'काव्य' नाम से अभिहित किया है। यह संस्कृत अथवा प्राकृत का अपभ्रंश भाषा में लिखा जा सकता है किन्तु मिश्रित भाषा में नहीं। यदि संस्कृत से प्रारम्भ किया जाय तो अन्त तक संस्कृत में ही लिखा जाना चाहिये और यदि प्राकृत में प्रारम्भ हो तो समाप्तिपर्यन्त प्राकृत में ही चलना चाहिए। विभिन्न घटनाओं और अर्थों के न होने से यह सर्गों में भी विभक्त नहीं होता। एक ही अर्थ का प्रतिपादन करने वाली पद्यराशि का एक ही वाक्य के रूप में ग्रथन इसकी विशेषता है। सन्धियों का समावेश भी इसमें नहीं होता। संस्कृत में भिक्षाटन, आर्यविलास और राक्षस काव्य ऐसे ही हैं।[6]

खण्ड काव्य

खण्ड काव्य की परिभाषा साहित्य-दर्पणकार ने इस प्रकार दी है—

खण्डकाव्यं भवेत् काव्यस्यैकदेशानुसारि च।[7]

---

१. सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः।
सद्वंशः क्षत्रियो वापि धीरोदात्तगुणान्वितः
एकवंशभवा भूपाः कुलजा वहवोऽपि वा। सा० द० कारिका ३१५-१६

२. शृङ्गारवीरशान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते।
अङ्गानि सर्वेऽपि रसाः॥ ३१७॥

३. नातिस्वल्पा नातिदीर्घाः सर्गा अष्टाधिका इह॥ ३२०॥

४. सर्गान्ते भाविसर्गस्य कथायाः सूचनं भवेत्॥ ३२१

५. कवेर्वृत्तस्य वा नाम्ना नायकस्येतरस्य वा
नामास्य सर्गोपादेयकथया सर्गनाम तु॥ ३२४-२५
(सा० द० नि० सा० प्रे० १९२२, पृष्ठ ३७२-७३)

६. भाषा विभाषानियमात् काव्यं सर्गसमुज्झितम्।
एकार्थप्रवणैः पद्यैः सन्धिसामग्र्यवर्जितम्॥ सा० द० सू० ३०६

७. सा० द० सू० ३०७

अर्थात् खण्डकाव्य काव्य के ही एक अंश के रूप में होता है। दर्पण के आधुनिक टीकाकार हरिदास सिद्धान्तवागीश का कथन है कि उक्त कारिका में चकार ग्रहण से महाकाव्य का भी आक्षेप हो जाता है। अतः खण्डकाव्य महाकाव्य के ही एक अंश के अनुकरण पर अर्थात् काव्य को कहते हैं। इसके उदाहरण रूप में विश्वनाथ ने मेघदूत का नाम लिया है किन्तु काव्यादर्श के टीकाकार नृसिंहदेव ने मेघदूत को संघात का उदाहरण बताया है और कहा है कि—

यत्र कविरेकमर्थं वृत्तेनैकेन वर्णयति काव्ये।
संघातः स निगदितो वृन्दावनमेघदूतादिः॥

जिस काव्य में कवि एक ही अर्थ (विषय) का वर्णन एक ही वृत्त (छन्द) में करता है वह संघात कहा गया है। जैसे वृन्दावन और मेघदूत आदि। जैसा कि कहा जा चुका है, दण्डी ने संघात को सर्गबन्ध (महाकाव्य) का ही एक अंश माना है।[1] अतः उसका पृथक् लक्षण देने की आवश्यकता नहीं समझी। विश्वनाथ के अनुसार भी खण्डकाव्य महाकाव्य के एक अंश जैसा होता है। अतः संघात तथा खण्डकाव्य में अन्तर प्रतीत नहीं होता।

मुक्तक

भामह ने मुक्तक को अनिबद्ध काव्य कहा है[2] और उसका विशिष्ट लक्षण न देकर सामान्य रूप से कह दिया है कि गाथा और श्लोक मात्र आदि को अनिबद्ध काव्य कहते हैं।[3] मात्र शब्द का प्रयोग उन्होंने एकाकी के अर्थ में किया है। अर्थात् अकेले श्लोक या गाथा को अनिबद्ध काव्य कहते हैं। इस परिभाषा से मुक्तक की विशेषताओं का उद्घाटन नहीं होता। दण्डी ने भी कह दिया कि सर्गबन्ध के ही अंश होने के कारण मुक्तक, कुलक, कोश और संघात की परिभाषाएँ नहीं दी गई हैं।[4] वामन ने भी पद्यमय काव्य के अनिबद्ध और निबद्ध भेदों का उल्लेख मात्र तो किया है, उनके लक्षण नहीं दिये और कह दिया कि प्रसिद्ध होने के कारण इनके लक्षणों की आवश्यकता नहीं।[5] इस पर कामधेनु टीका के कर्ता ने लिखा है— मुक्तकलक्षणमुक्तं भामहेन

प्रथमं मुक्तकादीनामृजुलक्षणमुच्यते।
यदेवगाम्भीर्यौदार्यशौर्यनीतिमतिस्पृशा
भवेन्मुक्तकमेकेन द्विकं द्वाभ्यां त्रिकं त्रिभिः॥[6]

---

१. काव्यादर्श ११/३
२. काव्यालङ्कार १/१८
३. अनिबद्धं पुनर्गाथाश्लोकमात्रादि तत्पुनः॥ काव्यालङ्कार १/३०
४. मुक्तकं कुलकं कोशः संघात इति तादृशः।
   सर्गबन्धांशरूपत्वादनुक्तः पद्यविस्तरः॥ काव्यादर्श १/१३
५. अतोऽः प्रसिद्धत्वाल्लक्षणं नोक्तम्। काव्यालङ्कार सूत्रवृत्ति १/३/२७
६. देखिये, पूना ओरियण्टल बुक एजेंसी से प्रकाशित तथा नारायण नाथ जी कुलकर्णी द्वारा संपादित काव्यालंकारसूत्र वृत्ति (१९२७) पृष्ठ १४ की टिप्पणी।

अर्थात् मुक्तक का लक्षण भामह ने इस प्रकार किया है, पहले मुक्तक आदि का ऋजु लक्षण कहा जाता है। गाम्भीर्य, औदार्य, शौर्य, नीति और मति का स्पर्श करने वाले एक ही पद्य में रचित काव्य मुक्तक, दो पद्यों वाला द्विक और तीन वाला त्रिक कहलाता है। किन्तु भामह के काव्यालङ्कार की जो प्रति हमारे पास है उसमें उक्त लक्षण कहीं नहीं मिलता।

अग्नि पुराण में अकेले ही रहकर चमत्कारसृष्टि में समर्थ श्लोक को मुक्तक कहा गया है।[1] वैसे तो अग्निपुराणकार ने अलङ्कारवादी और रसवादी दृष्टिकोण में समन्वय करते हुए कहा है कि यद्यपि काव्य में वाग्विदग्धता ही प्रधान होता है तथापि उसका जीवन रस ही है,[2] परन्तु मुक्तक भी रस सृष्टि में समर्थ हो सकता है इसमें उन्हें कुछ सन्देह था। अतः उन्होंने 'चमत्कारक्षम' विशेषण ही दिया। ध्वनिकार ने पहली बार खुलकर कहा कि मुक्तक द्वारा भी रस की सृष्टि सम्भव है। उनका कथन है कि प्रबन्ध या मुक्तक में रस का निर्वाह करने के इच्छुक सुबुद्ध कवि को विरोधी भावों के परिहार का यत्न करना चाहिए।[3] इतना ही नहीं उन्होंने उदाहरण सामने रखते हुए कहा कि मुक्तकों में भी प्रबन्धों के ही समान रसनिर्वाह करने वाले कवि देखे जाते हैं। जैसे अमरुक कवि के शृङ्गार रस बहाने वाले मुक्तक प्रसिद्ध ही हैं।[4] और फिर लोचनकार ने मुक्तक की परिभाषा की "पूर्वापरनिरपेक्षेणापि येन रसचर्वणा क्रियते तदेव मुक्तकम्" अर्थात् पूर्वापर के सम्बन्ध से निरपेक्ष रह कर जो पद्य स्वतः एकाकी ही रसचर्वणा करा सके उसे मुक्तक कहते हैं।

मुक्तक की परिभाषा के उपर्युक्त विकास से एक संकेत मिलता है। वह यह कि चमत्कार सृष्टि और रसनिष्ठता की दृष्टि से मुक्तक के दो भेद किये जा सकते हैं। किसी भाव की व्यञ्जना अथवा रससृष्टि में समर्थ मुक्तक को सरस मुक्तक कहा जा सकता है और वाग्वैदग्ध्य या कल्पना के आधार पर चमत्कार के साथ किसी वस्तु अथवा नीति का प्रतिपादन करने वाले को सूक्ति। जिसमें चमत्कारसर्जना की भी क्षमता न हो उसे वस्तुकथनमात्र कहना चाहिए।

वस्तुतः मुक्तक का नाम ही तो उसकी विशेषताओं का निर्देश कर देता है। मुक्त शब्द 'मुच्' धातु से क्त प्रत्यय जोड़ने पर संपन्न होता है तथा भूतकाल एवं फलाश्रय के समानाधिकरण का ज्ञान कराता है। इस प्रकार मुक्त शब्द का अर्थ होता है छोड़ा हुआ अथवा स्वतन्त्र। 'मुक्त' शब्द से ही संज्ञार्थ[5] अथवा ह्रस्व[6] अर्थ में 'कन्'

---

१. मुक्तकं श्लोक एवैकश्चमत्कारक्षमः सताम् ॥ अग्निपुराण ३३७/३६
२. वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम् । " ३३७/३३
३. प्रबन्धे मुक्तके वापि रसादीन् बद्धुमिच्छता ।
यत्नः कार्यः सुमतिना परिहारे विरोधिनाम् ॥ ध्वन्यालोक
४. मुक्तकेषु हि प्रबन्धेष्विव रसबन्धाभिनिवेशिनः कवयो दृश्यन्ते यथा ह्यमरुकस्य कवेर्मुक्तकाः शृङ्गाररसस्यन्दिनः प्रबन्धायमानाः प्रसिद्धा एव । ध्वन्यालोक, तृतीय उद्योत ।
५. संज्ञायां कन् अष्टा० ५/३/८७
६. ह्रस्वे "

प्रत्यय होने पर मुक्तक शब्द बनता है। इस प्रकार मुक्तक शब्द का अर्थ हुआ—मुच्यते इति मुक्तम् तदेव ह्रस्वं द्रव्यं मुक्तकम्। अर्थात् लघुकलेवर मुक्त पदार्थ मुक्तक कहलाता है। केशवकृत शब्दकल्पद्रुकोष में मुक्तक का लक्षण इस प्रकार किया गया है।

विनाकृतं विरहितं व्यवच्छिन्नं विशेषितम्।
भिन्नं स्यादथ निर्व्यूढं मुक्तकं चाति शोभनम्

इस परिभाषा के प्रथम चार शब्दों से स्पष्ट है कि जो पद्य अर्थ प्रत्यायन और रसास्वादन में परापेक्षी न होकर पृथक् और व्यवच्छिन्न रूप में स्वतः पूर्ण हो वह मुक्तक कहलाता है। प्रबन्ध काव्य में अर्थ का पर्यवसान कथानकगत होता है जबकि मुक्तक में उसकी अपेक्षा नहीं होती। निर्व्यूढ शब्द, जिसका अर्थ है अच्छी प्रकार किया हुआ, मुक्तक की इसी विशेषता को लक्षित करता है। 'विशेषित' शब्द उसके विशिष्ट उद्देश्य और अतिशोभन उसकी कलात्मकता का द्योतन करता है। स्त्रियों के लावण्य के समान ध्वनि ही मुक्तक की शोभा है। रसास्वादन और चमत्कृति प्रबन्ध के प्रत्येक पद्य में संभव नहीं किन्तु मुक्तक में रस की समग्र विशेषताओं का समाहार आवश्यक है। यही मुक्तक का विशेष उद्देश्य है जो उपर्युक्त विशेषित विशेषण से अभिव्यक्त है। मुक्त शब्द का एक अन्य अर्थ ब्रह्मानन्द-प्राप्त आत्मा भी है। इन सभी अर्थों की संगति करते हुए मुक्तक की परिभाषा की जा सकती है—"मुक्तक उस पद्य को कहते हैं जो परतः निरपेक्ष रहता हुआ भी पूर्ण अर्थ की अभिव्यक्ति में समर्थ हो। चमत्कृति गुम्फन एवं ध्वनि आदि की विशेषताओं के कारण रमणीय तथा चर्वणा में ब्रह्मानन्द सहोदर रस की अनुभूति द्वारा हृदय को मुक्त दशा में पहुँचाने में समर्थ हो।"

मुक्तक का महत्व

प्रबन्ध काव्य में रस और चमत्कार प्रबन्धव्यापी होते हैं। पद्यों का सामूहिक प्रभाव इस दिशा में लेखक का सहायक होता है। अर्थात् काव्यानन्द की अनुभूति समूचे काव्य पर निर्भर होती है; किसी एक पद्य विशेष पर नहीं, तथा कथानक एवं पात्र आदि अन्य तत्त्वों का भी कुछ न कुछ योग अवश्य रहता है। पाठक पात्रों की गतिविधि से उत्तरोत्तर अभिन्न होता हुआ प्रभावित होता जाता है और इस अभिन्नता के अनुपात से ही क्रमशः तत्तत्पात्रों के प्रति उनके हृदय में सूक्ष्म संस्कार प्रतिष्ठित होते जाते हैं जो यथाप्रसङ्ग रसास्वादन में सहायक सिद्ध होते हैं। कथावस्तु की कौतूहलजन्य निजी रमणीयता में बहुत कुछ रमा हुआ हृदय परिणाम की जिज्ञासा के कारण सूक्ष्म दोषों एवं स्खलनों के प्रति अधिक चेतन भी नहीं रहता। यही कारण है कि प्रबन्ध काव्यगत यतस्तः नीरस पद्यों को वह निरपेक्ष भाव से शीघ्रता के साथ पढ़ता हुआ छोड़कर आगे चल देता है और सामूहिक रूप में ही उसके गुण-दोषों का अनुभव करता है। मुक्तक में ये सुविधाएँ नहीं रहतीं। तात्पर्य यह है कि प्रबन्धकाव्य में प्रसार अधिक होता है और मुक्तक में गहराई। सच तो यह है कि प्रबन्धकाव्य की रसवत्ता भी यत्र-तत्र समाविष्ट भावमय स्थलों पर ही निर्भर होती है और ऐसे

स्थल अपने आप में पृथक् स्वतन्त्र काव्य इकाइयों के रूप में जीवित रहने में समर्थ होते हैं। प्रबन्ध काव्य के कारण उनका महत्त्व नहीं होता अपितु प्रबन्ध काव्य का महत्त्व उनके कारण होता है।

जॉन ड्रिंकवाटर ने मानव की मानसिक शक्ति के चार प्रमुख भेद माने हैं:—

१. पूर्ण नियन्त्रणात्मिका बौद्धिक शक्ति (Profound Intellectual Control of material)

२. पूर्ण भावात्मक चेतना (Profound emotional Sensitiveness to material)

३. नैतिकता (energy of morality)

४. कवित्व शक्ति (Poetic energy)

इनमें से प्रथम एवं द्वितीय को हम संगठन-शक्ति एवं सहृदयता का नाम दे सकते हैं। जॉनड्रिंकवाटर ने कवित्वशक्ति को सभी पदार्थों में श्रेष्ठ बतलाया है।[1] विशुद्ध कवित्व-शक्ति ही रसमय मुक्तक काव्य की जननी होती है तथा प्रबन्धकाव्य अथवा नाटक भी इसी शक्ति के उन्मेष द्वारा सृष्ट काव्य-इकाइयों का संगठन-शक्ति द्वारा संगुम्फित रूपमात्र हैं। जॉन ड्रिंकवाटर ने स्पष्ट लिखा है कि वस्तुतः काव्य-गुण सम्पन्न कोई भी लम्बी कृति, चाहे वह नाटक हो या महाकाव्य, पृथक् पृथक् अनुभूतियों (काव्य-इकाइयों) की एक शृङ्खला है जो उन्हें उद्बुद्ध करने वाली शक्ति से भिन्न किसी अन्य शक्ति द्वारा जोड़ी जाती है :—

Any long work in which poetry is persistent, be it epic or drama or narrative, is really a succession of separate experiences governed into a related whole by an energy distinct from that which evoked them.[2]

अतः स्पष्ट है कि अपनी सीमाओं में आबद्ध होने पर भी मुक्तक का अपना निजी महत्त्व है। वह स्फटिक का एक ऐसा टुकड़ा है जो किसी मूर्ति के रूप में ढलकर एक स्वतन्त्र कलाकृति का स्थान भी पा सकता है और अपनी व्यष्टि को समष्टि में लय करके ताजमहल की आधारशिला भी बन सकता है। किन्तु इस प्रकार के मुक्तकों का प्रणयन उच्चकोटि की कला की अपेक्षा रखता है। प्रबन्धकाव्य के व्यापक क्षेत्र में इस का पूरा परिकर (विभाव, अनुभाव, संचारी आदि) बड़ी सुगमता से पाँव पसार सकता है किन्तु मुक्तक की संकीर्ण परिधि में उसे यथा स्थान फिट करना टेढ़ी खीर है। वस्तुतः मुक्तक को 'मुक्तक' बनाने के लिए मुक्तककार को स्वयं अनेक प्रकार से बंधना पड़ता है। जहाँ प्रबन्धकार को कहने-सुनने (अभिधा का प्रयोग करने) की छूट प्राप्त है वहाँ मुक्तककार को व्यञ्जना से ही काम लेना पड़ता है। बोलने का परिमित अधिकार होने के कारण उसे गिने-चुने शब्दों में अभीष्ट भावाभिव्यक्ति का उत्तरदायित्व निबाहना पड़ता है जिसके लिए वह चुस्त, सशक्त

1. Poetic energy is witness of the highest urgency of Individual life, of a things, the most admirable, but still great. (The Lyric pp. 22)

2. The Lyric, pp. 54

और प्रवाहपूर्ण भाषा का आश्रय लेता है। दूर तक विस्तृत जीवन-क्षेत्र से उसे एक स्वतः रमणीय दृश्यखण्ड का चयन करना होता है जिसका जीता जागता चित्र वह अपने छन्द की छोटी सी चित्रपटी पर प्रस्तुत कर सके। अपनी कल्पना से उसे ऐसे वातावरण की सृष्टि करनी पड़ती है जिसमें अपने सीमित साधनों से ही वह भावों का साधारणीकरण करा सके। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि मुक्तक-रचना में कठिनाइयाँ ही कठिनाइयाँ हैं और प्रबन्ध-रचना में सुविधा ही सुविधा। दोनों की अपनी-अपनी विशेषताएँ, सुविधाएँ और समस्याएँ हैं।

मुक्तक में रस चाहे जितना भर दिया जाय फिर भी उसके सीमित आकार में रसभरता की इतनी गुञ्जाइश नहीं रहती जितनी प्रबन्धकाव्य के विशाल निर्झर में, जिसे प्रवाह का सौभाग्य भी प्राप्त है, अतएव मुक्तक से श्रोता या पाठक की उतने काल तक तृप्ति नहीं हो सकती जितने काल तक प्रबन्ध से। अर्थात् प्रबन्ध में मन को रमाने वाले आकर्षण मुक्तक की अपेक्षा अधिक होते हैं। यानी प्रबन्ध का प्रभाव स्थायी होता है और मुक्तक का क्षणिक। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का कथन है कि "मुक्तक में प्रबन्ध के समान ही रस धारा नहीं रहती जिसमें कथा-प्रसङ्ग की परिस्थिति में अपने को भूला हुआ पाठक मग्न हो जाता है और हृदय से एक स्थायी प्रभाव ग्रहण करता है। इसमें तो रस के ऐसे छींटे पड़ते हैं जिनसे हृदय कलिका थोड़ी देर के लिए खिल उठती है। उसमें उत्तरोत्तर अनेक दृश्यों द्वारा संगठित जीवन या उसके किसी एक अङ्ग का प्रदर्शन नहीं होता, बल्कि कोई एक रमणीय खण्ड-दृश्य इस प्रकार सामने ला दिया जाता है[1]।"

मुक्तक और प्रबन्ध में कला के निर्वाह, भावों की अभिव्यक्ति और दृश्यविधान आदि में तो भेद होता ही है, उनके श्रोताओं की प्रतिभा के स्तर में भी भेद अपेक्षित है। मुक्तककार की वाणी को प्रसङ्ग का भार-वहन करना नहीं पड़ता। वह अपने मन में प्रसङ्ग की कल्पना करता अवश्य है किन्तु उसे शब्दों द्वारा प्रकट न करके वर्ण्य-विषय की अभिव्यक्ति ही कुछ ऐसे ढंग से करता है कि प्रसङ्ग स्वतः स्पष्ट हो जाय, फिर भी इस प्रकार के व्यञ्जित प्रसङ्ग को समझने के लिए कोरी अभिधेयार्थग्राहिणी शक्ति से मानसिक शक्ति की आवश्यकता होती है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि मुक्तक का रस लेने के लिए श्रोता को स्वयं प्रसङ्ग का अध्याहार करना पड़ता है। इसलिये मुक्तक को समझने के लिए श्रोता की प्रतिभा का एक विशेष स्तर अपेक्षित है। मुक्तककार की सबसे बड़ी जीत—सबसे बड़ी सुविधा—यही है, क्योंकि इस प्रकार उसे सहृदय श्रोताओं की प्रतिभा द्वारा सम्पादित कार्य का भी श्रेय मिल जाता है। कभी-कभी अधिक सहृदय पाठक या श्रोता ऐसे प्रसङ्ग की कल्पना कर लेता है जो मुक्तककार द्वारा सोचे हुए प्रसङ्ग की अपेक्षा अधिक मार्मिक होता है। इसके विपरीत प्रबन्धकार की रचना का सौष्ठव पूर्णरूपेण उसी की कल्पना और प्रतिभा पर निर्भर है। प्रसङ्ग-विधान या कथा-प्रवाह में तनिक सी

१. हि० सा० का इति०, पृष्ठ २४७

काल के पश्चात् जब सेठ रात्रि के समय घर लौटा तो उसने अपने कक्ष में अपनी पत्नी के पास वाले शयन पर एक युवक को सोता पाया। सन्देह के आवेग में मानसिक सन्तुलन खोकर उसने युवक की हत्या करने के लिये तलवार से वार किया किन्तु वह पीछे की ओर किसी वस्तु में उलझ गई। सेठ का ध्यान उधर गया। देखा तो वही पट्टी दिखाई दी जिस पर उक्त पद्य लिखा था। उसे पढ़ते ही सन्देह की पकड़ शिथिल हो गई और विवेक का उदय हुआ। उसने अपनी पत्नी को जगा कर पूछा और एक क्षण पहले जिस युवक के प्राणों का ग्राहक बन रहा था उसे वात्सल्यातिरेक के कारण गले से लगा लिया। एक भयंकर दुर्घटना होने से रह गई। उपर्युक्त मुक्तक के स्थान पर यदि महाकवि का महाकाव्य ही होता, तो न तो उसे इस प्रकार पट्टी पर लिखकर टाँगा ही जा सकता था और न ही उसमें तलवार के उलझने पर भी उसे खोलकर पढ़ने की बात ही सन्देह के आवेग में सोची जा सकती थी। *यह कथा चाहे आरम्भ से अन्त तक असत्य हो किन्तु मुक्तक के जिस* गुण की ओर संकेत करती है वह सर्वमान्य है।

मुक्तक और प्रबन्ध काव्य में उपर्युक्त भेद होते हुए भी इन्हें एक दूसरे से र्व्तास नहीं समझ लेना चाहिये। इनका समन्वय हो सकता है, और होता है। यह ऊपर के उदाहरण से ही स्पष्ट है। उक्त पद्य स्वत.पूर्ण मुक्तक होता हुआ भी भारवि के महाकाव्य में ग्रथित है। मुक्तक के रसास्वादन के लिये प्रसङ्ग के अध्याहार की आवश्यकता ही इस बात का प्रमाण है कि वह औचित्य के साथ प्रबन्धकाव्य में बिठाया जा सकता है और जैसा कि हम कह आये हैं, जॉन ड्रिङ्कवाटर तो किन्हीं अंशों तक महाकाव्य को भी विभिन्न मुक्तकों का एकत्र ग्रथित रूप ही मानता है तथा भामह दण्डी आदि भारतीय काव्य शास्त्रियों ने भी मुक्तक को प्रबन्धकाव्य का ही अंश बताकर उसका पृथक् लक्षण तक नहीं किया।

मुक्तक काव्य की प्राचीन परम्परा

अनुसार 'वैदिक काल के पूर्वार्ध का साहित्य सर्जनात्मक एवं कवित्वमय है'[1]। इसी प्रकार इम्पीरियल गजेटियर में भी वैदिक साहित्य की महिमा स्वीकार की गई है[2]। प्रो० हिरियन्ना का मत है कि 'प्राचीनतम भारतीय काव्य, जो हमें उपलब्ध है, ऋग्वेद में संगृहीत है। यह प्रसिद्ध है कि इस रचना में धार्मिक गीतों का संकलन हुआ है तथा आधुनिक अध्येता की रुचि के अनुसार इसका महत्त्व ऐतिहासिक है काव्यात्मक नहीं, परन्तु साथ ही साथ यह सोचना भी ठीक नहीं कि इसमें काव्यात्मक तत्त्वों का सर्वथा अभाव है। सर्वत्र ही धार्मिक उत्साह वास्तविक काव्य का उद्गमक रहा है और भारतवर्ष भी इस नियम का अपवाद नहीं है। ऋग्वेद का काव्यात्मक पक्ष भी है तथा कुछ सूक्तों में वस्तुतः उत्कृष्ट कोटि के काव्यगुणों का समावेश हुआ है[3]। निःसन्देह यह उसी कोटि की कविता है जिसके आविर्भाव की आशा प्रकृति के गहन सम्पर्क में रहने वाले समाज से की जा सकती है।[4] मन्त्र द्रष्टाओं की भावुकता स्थान स्थान पर फूटी पड़ती है जिसके कारण कमनीय काव्य-कला के उदाहरण रूप में एक नहीं सैंकड़ों मन्त्र उपस्थित किये जा सकते हैं। भाव-प्रकाशन की दृष्टि से ये मन्त्र ऋषियों के आर्ष चक्षुओं द्वारा अनुभूत तत्त्वों के नितान्त सरल, सहज तथा शान्तिमय अभिव्यञ्जक हैं। वैदिक ऋषि मनोऽभिलषित भावों को थोड़े से चुने हुए सुबोध शब्दों में सीधे तौर से कह डालने की क्षमता रखता है, परन्तु समय समय पर वह अपने भावों की तीव्रता की अभिव्यक्ति के हेतु अलङ्कारों का विधान करने से भी पराङ्मुख नहीं होता[5]। ऋग्वेद के सूक्तों में नाना देवताओं से यज्ञ में पधारने के लिये, भौतिक-सुख सम्पादन तथा आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि उन्मिषित करने के हेतु नाना प्रकार के छन्दों में स्तुति की गई है। उनके रूपों के भव्य वर्णन में कवि की कला का विलास और उनकी प्रार्थनाओं में कोमल भावों तथा सुकुमार हार्दिक भावनाओं की रुचिर अभिव्यञ्जना है[6]।

प्राकृतिक वर्णनों में सबसे अधिक मनोज्ञ एवं सुकुमार कल्पनाएँ उषा के प्रसंग में प्राप्त होती है जिनमें शृङ्गार भाव का भी सूक्ष्म किन्तु मधुर स्वरूप अनेकत्र द्रष्टव्य है। उदाहरण के लिये निम्नलिखित उक्ति ही लीजिए:—

'जायेव पत्य उशती सुवासा उषा हस्रेव निरिणीते वक्षः'[7]॥

इन शब्दों में कवि ने उषा की उपमा शोभन वस्त्रों से आवृत युवति से दी है एवं नारी के कोमल हृदय का स्पर्श कर एक मनोवैज्ञानिक तथ्य की अभिव्यञ्जना की है। कौन सुन्दरी प्रियतम के समक्ष अपना हृदय नहीं खोल देती? सुन्दरतम

---

१. मैक्डानल, हिस्ट्री ऑफ़ संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ ८
२. पृष्ठ २०६
३. संस्कृत स्टडीज पृष्ठ १
४. वही, पृष्ठ २
५. बलदेव उपाध्याय, आलोचना, अङ्क ११, पृष्ठ ५८
६. वही, पृष्ठ ५९
७. ऋ० १/१२४/७

सज्जा द्वारा सौन्दर्य वृद्धि कर कौन उस पर अपने रूप का जादू करना नहीं चाहती।

उषा की सुकुमारता की अभिव्यक्ति करते हुए एक मन्त्र में कहा गया है कि कहीं सूर्य की तीव्र किरणें उसे संतप्त न करदें जिस प्रकार राजा चोर अथवा शत्रु को संतप्त करता है :—

नेत त्वां स्तेनं न यथा रिपुं तपाति, सूरो अर्चिषा सुजाते अश्वसूनृते।[1]

रंगमंच पर थिरकने वाली नर्तकी की तनुयष्टि, जिसका उन्मुक्त सौन्दर्य दर्शकों को मोहित कर लेता है, अप्रस्तुत रूप में प्रस्तुत होकर उषा की विशद रमणीयता को अपने ही समान साकार बनाती हुई इस पंक्ति में दृग्गोचर होती है :—

अधिपेशांसि कुरुते नृतूरिवापोर्णुते उस्रेव वक्षम्।[2]

अपना वक्ष खोलकर दर्शकों को आकृष्ट करने वाली नर्तकी, ऋषियों को मोह लेने वाली वैसी ही उषा और सहृदयों को लुभाने वाली इस उक्ति में कौन अधिक सुन्दर है यह कहने की आवश्यकता नहीं।

अनवद्य सुन्दरी के रूप में उषा का वर्णन करते हुए वैदिक ऋषि शृङ्गारिक मुक्तकों का अपूर्व रूप प्रस्तुत करते हैं। उषा चमचमाते वेष में बड़े गर्व के साथ जाती है जैसे इसके कमनीय कलेवर को उसकी माँ ने जिसे अपनी बेटी के सौन्दर्य पर गर्व है, अलंकृत कर दिया हो। प्रकाश का आवरण धारण किये हुए वह तरुणी पूर्व दिशा में दिखाई पड़ती है और अपने सौन्दर्य के सम्मोहन से दर्शकों को मोह लेती है। प्राची के पट को खोलकर वह लजीले चरणों से चलती है। गौरवर्णा, सुसज्जित तथा निजसौन्दर्य की अभिज्ञ आकाश पुत्री उषा अन्धकार को दूर करती स्नान करके उठी हुई रमणी की भाँति हमारे समक्ष खड़ी हो जाती है। आकाश की यह रमणीय पुत्री मंगलमय वेष धारण करके पतिव्रता स्त्री के समान सामने आने पर सिर झुका लेती है। अपने पूजक को कृतार्थ करती हुई यह नित्य-यौवना इस समय भी पूर्ववत् प्रकाश को लेकर आई है[3]। जिस प्रकार एक रूपवती रमणी सभी के आनन्दमय कौतूहल का कारण बनती है उसी प्रकार उषा भी सभी को आनन्द देती हुई जाती है[4]। यह उषा सम्यक् संचरणशील सूर्य की पत्नी है और अन्धकार को उसी प्रकार लपेट लेती है जैसे कोई तरुणी अपने वस्त्र को[5]। शृङ्गार करके यह अपने प्रियतम सूर्य के पास इस प्रकार जाती है :—

कन्येव तन्वा शाश्वदाना एषि देवि देवमियक्षमाणम्।
संस्मयमाना युवतिः पुरस्तादाविर्वक्षांसि कृणुषे विभाती[6]॥

---

१. ऋ० ५/८०/६
२. ऋ० १/९२/४
३. ऋ० ५/४०/५-६
४. ऋ० १/४८/५
५. ऋ० ३/६४/४
६. १/१२३/१०

कमनीय कुमारी के समान अत्यन्त अलंकृत वेष में अभिमत फलदायी सूर्य के पास जाकर वह युवती मुस्काती हुई अपना वक्ष अनावृत कर देती है।

उषा की सौम्य सुषमा का प्रभाव कवि के हृदय पर अमिट रूप से अङ्कित ही नहीं हुआ अपितु उसकी रसिकता से व्यापक होकर छलक भी उठा है। अभिव्यक्ति को भावानुरूप रूप देने के लिये ही उसने मानवीकरण का आश्रय लेकर उषा को प्रसन्नवदना सुन्दरी कुमारी युवति के रूप में प्रणय निवेदन के लिए सूर्य के पास जाते हुए देखा। उषा के इस वैदिक स्वरूप पर पाश्चात्य विद्वान् भी मुग्ध हैं। व्हीलर ने लिखा है कि हमें ऋग्वेद में प्रातः कालीन प्रकाश की प्रथम पीतवर्ण रश्मि के एक सुन्दरी कुमारी के रूप में दर्शन होते हैं, वह जगत् को उसी प्रकार जगाती हुई प्रतीत होती है जिस प्रकार कोई युवति अपने बच्चों को। यह कवित्वमय धारणा वैदिक ऋषियों पर विचित्र सम्मोहन डाले हुए थी[1]। मैकडानल का कथन है कि 'उषा वैदिक कवियों की सर्वसुन्दर सृष्टि है, जिसके सौन्दर्य को अन्य किसी भी साहित्य के वर्णनात्मक धार्मिक गीतिकाव्य का सौन्दर्य नहीं पहुँच सका है[2]। डा० कीथ का मत है कि जो वैदिक कवि उषा देवी की उपमा एक सुन्दर नर्तकी से और अपने प्रियतम के समक्ष वक्ष अनावृत कर देने वाली कुमारी से दे सकते थे, वे धर्म निरपेक्ष उपयोग के हेतु शृङ्गारिक रचना करने में अक्षम नहीं थे[3]। यम-यमी संवाद-सूक्त तथा उर्वशी-पुरुरवा-संवाद-सूक्त इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

उषा की रंगीनी पर मुग्ध वैदिक कवियों ने प्रकृति के मनोरम सौन्दर्य, देवताओं की महनीय महिमा और शृङ्गार की कोमल भावना के क्षेत्र में ही अपनी दृष्टि को आबद्ध नहीं रखा। उषा के प्रत्येक नव आगमन के साथ साथ जीवन के एक एक दिन को सिसकते और परिणामतः जिन्दगी के छोर को निकट से निकटतर आते हुए भी उन्होंने देखा था। इस दर्शन-दृष्टि से उन्होंने उषा का जो वर्णन किया है वह करुणा का संस्पर्श पाकर अत्यन्त मार्मिक हो उठा है। कवि ने देखा कि यह पुराणी तथा दिव्य उषा प्रतिदिन एक सी ही साज-सज्जा और रंग में रंगी हुई आती है और मनुष्यों के जीवन को क्षीण करती चली जाती है।

मानव हृदय की मार्मिक कथा का करुणचित्रण अक्ष सूक्त में हुआ है जिसमें एक द्यूतकार की मनोदशा का अंकन है। कान्ता के मृदु उपदेश की भी अवहेलना कर और अपना सर्वस्व अक्षों की भेंट चढ़ा कर पश्चात्ताप के विषम अनल में जलते हुए द्यूतकार की उक्तियों को पढ़ते हुए लगता है जैसे कोई भवभूति अपनी करुणा विपंची के तारों से खेल रहा रहा हो। सब कुछ गँवा कर द्यूतकार को अपनी पत्नी की याद आती है, वह सोचता है कि उसने मुझे कभी बुरा नहीं कहा, कभी अप्रसन्न नहीं हुई, मेरे तथा मेरे मित्रों के प्रति वह सदा ही कल्याणी रही, किन्तु मैंने अक्षों के कारण अपनी पतिपरायणा पत्नी को भी निकाल दिया—

---

१. व्हीलर, इण्डिया : वैदिक एण्ड पोस्ट वैदिक, पृष्ठ २९–३०
२. मैकडानल, हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ ८१

न मा मिमेथ न जिहील एषा शिवा सखिभ्य उत मह्यमासीत् ।
अक्षस्याहमेकपरस्य हेतोरनुव्रतामपजायामरोधम्[1] ।

सात्त्विक क्षणों में विशदीभूत हृदय की आत्मभर्त्सना कितनी मनोवैज्ञानिक है ! काव्य शास्त्रीय दृष्टि से देखने पर उसमें स्मृति ग्लानि और विषाद की त्रिवेणी तरंगित होती दीख पड़ती है। एक अन्य उदाहरण लीजिए:—

द्वेष्टि श्वश्रूरपजाया रुणद्धि न नाथितो विन्दते मर्डितारम् ।
अश्वस्येव जरतो वस्न्यस्य नाहं विन्दामि कितवस्य भोगम् ॥

सास द्वेष करती है, पत्नी पास भी नहीं आने देती, आपत्ति में कोई सहायक नहीं मिलता, मेरी दशा उस बूढ़े घोड़े जैसी है जिसका मूल्य केवल एक वस्त्र लगाया जाता है ।

विवशता का कितना मर्मस्पर्शी चित्र है । प्रसंग से ज्ञात होता है कि द्यूत-व्यन्तर-समाविष्ट पति से अपमानित होकर पत्नी अपने नैहर चली गई। द्यूतशाला में अपना सब कुछ खोकर जब पति की आंखें खुली तो चेतना आई, ससुराल पहुँचा किन्तु अब अवसर निकल चुका था, सास ने अपमान किया, पत्नी ने रास्ता बता दिया । अब वह बूढ़े घोड़े के समान बेकार है, उसका कोई मूल्य नहीं, कोई उपयोग नहीं । मैकडानल ने इस सूक्त को करुण भावपूर्ण काव्य का उत्कृष्ट उदाहरण कहा है[2] ।

इन्द्र की स्तुतियों में युद्ध की व्यञ्जना बड़े ही सुन्दर रूप में हुई है। आलम्बन के रूप में वृत्र, शम्बर पणि आदि का वर्णन किया गया है । इन्द्र के युद्ध व्यापारों के विशद वर्णन में कवि की कल्पना नवीन नवीन उद्भावनाओं द्वारा प्रभाव की सृष्टि करने में उत्कर्ष पर पहुँची हुई परिलक्षित होती है। यद्यपि आश्रय की वीरता में उत्कर्ष लाने के लिये आलम्बन की वीरता का वर्णन नहीं किया गया है तथापि आलम्बन द्वारा किये गये कार्यों से ही उसका अनुमान लगाया जा सकता है। जैसे अहि-वध वर्णन में कवि अहि द्वारा रुद्ध जल का उल्लेख करता है:—

अहन्नहिं पर्वते शिश्रियाणं त्वष्टास्मै वज्रं स्वर्यं ततक्ष
वाश्रा इव धेनवः स्यन्दमाना अंजः समुद्रमवजग्मुरापः[3] ॥

अर्थात् इन्द्र ने अपने वज्र से पर्वत पर आश्रित अहि का वध किया तो उसके द्वारा अवरुद्ध जल रम्भाती हुई धेनुओं के समान तेजी से बहता हुआ समुद्र की ओर चल दिया ।

बहुत दिनों तक रुके रहने के कारण पुञ्जीभूत और इसके पश्चात् छोड़े जाने पर घोर शब्द के साथ वेग से बहते हुए जल के लिये सायंकाल चरागाहों से

१. ऋग्वेद १०/३४/२
२. मैकडानल, वैदिक रीडर, भूमिका
३. ऋग्वेद, १/३२/२

लौटते समय अपने बछड़ों के लिये जोर से रम्भाती हुई सौत्सुक्य धेनुओं की उपमा कितनी उपयुक्त है। जिस व्यक्ति ने इस विशाल जलराशि को रोका होगा वह असाधारण शक्ति रखता होगा। अतः उसका वध करने वाला इन्द्र स्वतः ही वीर सिद्ध होता है। श्री बलदेव उपाध्याय का यह कथन उचित ही है कि उषाविषयक मन्त्रों में सौन्दर्य भावना का आधिक्य है तो इन्द्रविषयक मन्त्रों में तेजस्विता का प्राचुर्य है, अग्नि के रूपवर्णन में स्वभावोक्ति का आश्रय है तो वरुण की स्तुति के अवसर पर हृदयगत कोमल भावों की मधुर अभिव्यक्ति है। इस प्रकार वेद के मन्त्रों में काव्यगत गुणों का पर्याप्त दर्शन होना काव्यजगत् की कोई आकस्मिक घटना नहीं है। तन्मयता तथा अनन्यता का विशद परिचायक चिह्न है भावों की सहज अभिव्यक्ति, निःसन्देह वेदों में इसका विशाल साम्राज्य है।[1]

इन्द्र की वीरता का एक अन्य उदाहरण लीजिए :—

भीमो विवेषायुधेभिरेषामपांसि विश्वा नर्याणि विद्वान्।
इन्द्रः पुरो जर्हृषाणो वज्रहस्तो महिना जघान ॥[2]

अर्थात् मनुष्यों के हित को जानने वाला इन्द्र भयङ्कर असुरों के समूह में प्रविष्ट हो गया, वे काँप उठे और इन्द्र ने वज्र लेकर उत्साह के साथ उनका वध कर डाला।

इसी प्रकार अन्य रसों के उदाहरण भी ऋग्वेद में खोजे जा सकते हैं। दानस्तुति में दानवीर का वर्णन हुआ है। इन्द्र विषयक सूक्तों में ही रौद्र और भयानक रस के भी दर्शन किये जा सकते हैं तथा हास्यरस के उदाहरण स्वरूप मण्डूक सूक्त और शिशु अंगिरस सूक्त का नाम लिया जा सकता है। देवविषयक रति अथवा भक्तिभाव के तो अनेकानेक उदाहरण ऋग्वेद में भरे पड़े हैं। उदाहरण के लिए वरुण के प्रति वशिष्ठ की कुछ उक्तियाँ लीजिये:—

उत स्वया तन्वा संवदे तत् कदा न्वन्तर्वरुणे भुवानि।
किं मे हव्यमहृणानो जुषेत कदा मृलीकं सुमना अभिख्यम् ॥[3]

वशिष्ठ अपने मन में प्रश्न करते हैं कि वह कौन सा दिन होगा जब मैं वरुण देव में तल्लीन हो जाऊँगा। क्या वरुण देव रोष न करते हुए मेरी हवि को ग्रहण करेंगे। मुक्तहृदय से मैं कब उनके दर्शन करूँगा।

भावविस्मृत होकर वे वरुण से मानसिक साक्षात्कार के मध्य कहते हैं—

पृच्छे तदेनो वरुण दिदृक्षुपो एमि चिकितुषो विपृच्छं।
समानमिन्मे कवयश्चिदाहुरयं ह तुभ्यं वरुणो हृणीते ॥[4]

---

१. आलोचना, अङ्क ११, पृष्ठ ५६
२. ऋग्वेद ७/३३/=
३. ऋग्वेद ७/८६/२

गाथा सप्तशती की निम्नलिखित गाथा में इसी कोटि का विरोधाभास है—

कुसुममआ वि अइखरा अलद्धफंसा वि दूसहपआवा ।
भिन्दन्ता वि रइअरा कामस्स सरा वहुविअप्पा ॥[1]

काम के वाण वहुत प्रकार के होते हैं, कुसुममय होते हुए भी अतितीक्ष्ण, स्पर्श किये विना भी असह्य प्रताप, तथा वेधते हुए भी रति उत्पन्न करने वाले होते हैं।

पहेली और बुझौवल जैसी शैली में भी अनेक रचनाएँ ऋग्वेद में मिलती हैं। संस्कृत के गूढ़, बिन्दुमती, प्रहेलिका आदि कूट मुक्तकों की शैली का विकास संभवत: इसी शैली से हुआ भागवत के कूटश्लोक, सिद्ध कवियों की अटपटी वाणी कबीर की उलटवासियाँ आदि इसी प्रवृत्ति के विकसित रूप प्रतीत होते हैं। एक स्थल पर कहा गया है कि एक रथ में वारह घुमाव हैं। एक पहिया है, तीन नाभि हैं और तीन सौ साठ घूमने वाले अरे हैं। स्पष्ट ही यह वर्ष एवं उसके विभागों का वर्णन है। वारह घुमाव वारह महीनों के, तीन नाभियाँ ग्रीष्म, वर्षा और शीत ऋतुओं की और ३६० अरे वर्ष के इतने ही दिनों के द्योतक है। सारांश यह है कि ऋग्वेद प्राचीनतम मुक्तक संग्रह है जिसमें विविध विषयों पर आधारित रचनाएँ संगृहीत है। इन रचनाओं में से अनेक अपनी कलात्मकता, वाग्वैदग्ध्य और अभिव्यक्ति के अन्य प्रशस्त गुणों से समुपेत हैं।

थेर और थेरियों की गाथाएँ

ऋग्वेद के पश्चात् थेरगाथाए और थेरीगाथाएँ महत्त्वपूर्ण मुक्तक-संग्रह हैं। इनमें प्राचीन बौद्ध-भिक्षुओं की आत्मानुभूतियों की मार्मिक व्यञ्जना हुई है। इन भिक्षुओं में प्राय: सभी ऐसे थे जो प्रिय-विनाश आदि वैयक्तिक दु:ख के थपेड़ों से वहकर ही 'सद्धर्म' की शरण पहुँचे थे। बुद्धवाणी का अवलम्ब पाकर उन्हें गम्भीर ज्ञान और सुख की प्राप्ति हुई। संसार की नश्वरता का उपदेश सुनकर उन्हें निर्वेद हुआ तथा बुद्ध की शान्त निर्मल वाग्धारा ने उनके जीवन की कटु विषमता को धो डाला। स्थविर तालपुट की अपने मन के प्रति संवोध-उक्तियाँ देखिए :—

रोपेत्वा रुक्खानि यथा फलेसी मूले तरुं छेत्तु तमेव इच्छसि ।
तथूपमं चित्त इदं करोसि यं मं अनिच्चम्हि चले नियुज्जसि ॥[2]

हे चित्त ! इस अनित्य नश्वर संसार में मुझे नियुक्त (आसक्त) कर तुम ऐसा ही कार्य कर रहे हो जैसे कोई फलों की इच्छा से वृक्ष लगाकर उसकी जड़ को ही काटने की इच्छा करने लगे।

इस भिक्षुक की गाथाएँ समर्थ रामदास के 'मनाचे श्लोक' तुलसीदास की

---

१. गाथा० ४/२६
२. थेरगाथा ११२१

विनयपत्रिका तथा तथा भक्तप्रवर सूर के विनय के पदों की तुलना में रखी जा सकती है:—

सब्बत्थ ते चित्त वचो कतं मया बहूसु जातिसु न मे सि कोपितो।
अज्झत्तसम्भवो कतञ्ञुताय ते दुक्खे चिरं संसरितं तया कते।
तवेव हेतू असुरा भवामसे, त्वं मूलकां नेरयिका भवामसे।
अथो तिरच्छान गतापि एकदा पेतत्तनं वापि तवेव वाहसा॥
त्वञ्ञेव नो चित्त करेसि ब्राह्मणो त्वं खत्तिया वापि राजरसी करोसि।
वेस्सा च सुद्दा च भवाम एकदा, देवत्तनं वापि तवेव बाहसा।
धी धी परं किं मम चित्त काहसि न ते अलं चित्त वसानवुत्तको।[१]

हे चित्त ! मैंने सर्वत्र तुम्हारी बात मानी। अनेक जन्मों में कभी कुपित न किया। तू स्वयं मेरे अन्दर से उत्पन्न है, इसलिए हे चित्त ! मैंने कृतज्ञावश तेरे कारण दुःख में संसरण किया। हे चित्त ! तू ही ब्राह्मण बनाता है और और तू ही क्षत्रिय राजर्षि, तू ही वैश्य और शूद्र वनाता है, तेरे ही कारण देवत्व प्राप्त होता है। हे चित्त ! तेरे ही कारण असुर बनते हैं। नरक योनियाँ भी तेरे ही कारण हैं। पशु, पक्षी और पितरों की योनियों में भी तू ही डालता है। धिक् धिक् ! रे चित्त ! अब तू और क्या करना चाहता है। अब तू मुझे अपना वशवर्ती न बना सकेगा।

एक सच्चे साधु की भाँति मनोराज्य में विचरण करते हुए तालपुट कहते हैं।

कदा नु हं दुब्बचनेन वुत्तो ततो निमित्तं विमनो न हेस्सं।
अथो पसट्ठो पि ततो निमित्तं तुट्ठो न हेस्सं तदिदं कदा मे॥[२]

अर्थात्—कब में अपने लिए प्रयुक्त दुर्वचनों को सुनकर उनके कारण दुःखी और उदास न हूँगा और कब प्रशंसित होने पर भी संतुष्ट न हूँगा। क्या कभी मेरे ऐसे दिन आयेंगे।

तुलसीदास जी ने भी ऐसी ही कामना की है—

कबहुक हौ यहि रहन रहौंगों।
परुष वचन अति दुसह स्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगों॥[३]

अन्यत्र वे कहते हैं :—

कदा नु हं पब्बत कन्दरासु एकाकियो अदुतियो विहस्सं।
... ...तं मे इदं तं नु कदा भविस्सति॥[४]

अर्थात् में अकेला ही पर्वत कन्दराओं में कब विचरण करूँगा। क्या कभी मेरे ऐसे दिन आयेंगे ?

---

१. थेरगाथा, ११२६, ११२७. ११२८, ११३४
२. थेरगाथा, ११००
३. विनयपत्रिका
४. थेरगाथा, १०९१

शिवताण्डव स्तोत्र में भी एक स्थान पर यही भाव प्रकट किये गए हैं—

कदानिलिम्पनिर्झरी निकुञ्ज कोटरे वसन्।

× × ×

शिवेतिमन्त्रमुच्चरन् सदा सुखी भवाम्यहम्॥

भिक्षुकों का जीवन प्रकृति के विभिन्न स्वरूपों से घुल-मिल गया है। पर्वतीय गुहा, सरित् कूल, वन-प्रस्थ, छाई हुई अथवा बेछाई कुटिया आदि में ध्यान लगाते हुए भिक्षुओं को प्रकृति के विविध स्वरूपों का साक्षात् अनुभव प्राप्त था। प्रकृति के विभिन्न रूपों की प्रतिक्रिया उनके हृदय पर कैसी होती थी, इसके कितने ही चित्र थेरगाथाओं में चित्रित हुए हैं। छाई हुई कुटिया में संतोष से बैठा हुआ शान्त भिक्षु अपने हृदयोद्गार इस प्रकार प्रकट करता है—

छन्ना में कुटिका सुखा निवाता वस्स देव यथासुखं।

चित्तं मे सुसमाहितं विमुत्तं आतापी विहरामि वस्स देवाति।[१]

बरसो देव! यथा सुख बरसो! मेरी कुटिया छाई हुई है जो हवा अन्दर न आ सकने के कारण सुखकारी है। मेरा चित्त समाधि में दृढतापूर्वक लीन है। वह (कामासक्ति से) विमुक्त है। निर्वाण के लिए उद्योग चल रहा है। बरसो देव! सुख से बरसो।

एक अन्य भिक्षु ने इससे भी सुन्दर शब्दों में गाया है—

वस्सति देवो यथा सुगीतं
छन्ना मे कुटिका सुखा निवाता।
तस्सं विहरामि वूपसन्तो
अथ चे पत्थयसि पवस्स देव!
वस्सति देवो ०
वीतरागो ···वीतदोसो···वीत मोहो
अथ चे पत्थयसि पवस्स देव!
वस्सति देवो ०[२]

कहने की आवश्यकता नहीं कि ये प्रगीत मुक्तक पालिसाहित्य में अपने ढंग के हैं[३]। 'वस्सति देवो यथा सुगीतं' तथा अथ चे पत्थयसि पवस्स देव: 'पंक्तियों की बार-बार आवृत्ति ध्रुवपद का कार्य करती है। पद लयात्मक विधान से ग्रथित हैं। वैयक्तिक अनुभूति का हृदयहारी चित्रण तथा गेयतासमन्वित मसृण शिल्प विधान इन रचनाओं को उच्चकोटि की गीति का रूप देते हैं इसलिए विण्टरनित्ज़ ने इन गाथाओं को गीतिरत्न कहा है[४]।

थेरगाथों में प्रकृति के संश्लिष्ट वर्णन भरे पड़े हैं। भिक्षुओं को वर्षाकाल के सौन्दर्य ने सबसे अधिक प्रभावित किया। वर्षा का सुन्दर समय, मनोहर नीली ग्रीवा वाले कलगीधारी मोर बोल रहे हैं। उनकी केका कैसी सुन्दर है। विस्तृत पृथ्वी चारों ओर हरियाली से भरी हुई है, सारी सृष्टि जल से व्याप्त है; आकाश में जल भरे मेघ छाये हुए हैं। ध्यान के लिए यह सुन्दर अवसर है और भिक्षु को प्रसन्नता है कि उसका ध्यान सुचारु रूप से चल रहा है। प्रकृति में उल्लास और उत्साह है तो भिक्षु का मन भी सुन्दर है, उत्साह युक्त है। अत्यन्त पवित्र, कुशल, दुर्दर्श, उत्तम अच्युत (निर्वाण) पद के लिये वह भावना करता है[1]। सप्पक स्थविर वर्षा ऋतु की ध्यानोपयोगिता इन शब्दों में व्यक्त करते हैं—

यदा बलाका सुचिपण्डरच्छदा कालस्स मेघस्स भयेन तज्जिता।
पलेहिति आलयमालयेसिनी तदा नदी अजकरणी रमेति मं॥
यदा बलाका सुचिपण्डरच्छदा कालस्स मेघस्स भयेन तज्जिता।
परियेसतिलेन मलेन दस्सिनी तदा नदी अजकरणी रमेति मं॥
कन्नु तत्थ न रमेन्ति जम्बुयो तहिं।
सोभेन्ति आपगा कूलं महालेनस्स पच्छतो॥
तामतमदसं घसुप्पहीना भेका मन्दवती पनादयन्ति।
नाज्ज गिरिनदीहि विप्पवाससमयो खेमा अजकरणी सिवा सुरम्माति।[2]

अर्थात्—जब स्वच्छ पाण्डुर पंखों वाले बगुले काले मेघ से भयभीत हुए अपनी खोहों की खोज में उड़ते हैं; उस समय बाढ़ में शब्द करती हुई यह नदी मुझे कितनी प्रिय लगती है।

जब स्वच्छ श्वेत पंखों वाले बगुले काले मेघ से भयभीत हुए अपनी खोहों की खोज में उड़ते हैं और उनकी खोहें वर्षा के अन्धकार से ढँकी हुई है। उस समय बाढ़ में शब्द करती हुई यह नदी मुझे प्रिय लगती है।

इस नदी के दोनों किनारों पर जामुन के वृक्ष हैं, वहाँ मेरा मन कैसे न रमेगा? महामार्ग के पीछे, नदी के किनारों पर अन्य अनेक निर्झरिणियाँ सुशोभित हैं। जगे हुए मेंढक मृदु नाद कर रहे हैं। आज गिरि और नदी से अलग होने का समय नहीं है, बाढ़ में शब्द करती हुई यह नदी कितनी सुरम्य, शिव और क्षेमकारी है। मैं यहीं ध्यान करूँगा।

जब आकाश में मेघों की दुन्दुभि बजती है और पक्षियों के मार्गों में चारों ओर धाराकुल बादल चक्कर लगाते हैं; उस समय भिक्षु पहाड़ पर जाकर ध्यान करता है—इससे बड़ा आनन्द और कुछ नहीं हो सकता[3]।

---

१. थेरगाथा, २११-२१२
२. वही, ३०७-३१०
३. यदा नभे गज्जति मेघदुन्दुभि धाराकुला विहंगपथे समन्ततो
भिक्खु च पब्भारगतो व झायति ततो रतिं परम तरं न विन्दति। थेरगाथा ५२२

निःसन्देह "इस उद्गार में भिक्षु ने प्रकृति प्रेम की उस पूरी निष्ठा को रख दिया है जो आज तक विश्व साहित्य में कहीं भी व्यक्त हुई है[1]"। रायस डेविड के अनुसार थेरगाथाओं की ऐसी पंक्तियों को हम निःसंकोच शैली और कीट्स की तुलना में रख सकते हैं[2]। महर्षि वाल्मीकि के अतिरिक्त प्रकृति का ऐसा संश्लिष्ट चित्रण भारतीय साहित्य में किसी भी प्राचीन तथा अर्वाचीन कवि ने नहीं किया। जितना शम और विराग थेरगाथा के प्रकृतिचित्रण में दिखाई पड़ता है उतना अन्यत्र कहीं नहीं। यह लक्ष्य करने की बात है कि विश्व साहित्य में प्रकृति का चित्रण कवियों ने प्रायः रति के उद्दीपन के रूप में ही किया है किन्तु इन बौद्ध साधकों ने उसे शान्तरस की पृष्ठभूमि के रूप में प्रस्तुत किया।

यद्यपि बौद्ध धर्म में संसार के प्रति राग का सर्वथा निषेध किया गया है तथापि प्रसङ्गवश ऐहिक एषणाओं की तृप्ति से अनुप्राणित उल्लास भरे गीत भी खुद्दकनिकाय में मिलते हैं। उदाहरणार्थ धनिय सूक्त में धन-धान्य, पुत्र-कलत्र आदि से समृद्ध धनिय गोप के उद्गार वर्षाकालीन मेघ को देखकर एक गीत में फूट पड़े हैं जिसमें टेक के साथ लोकगीतों की धुन भी है। गीत का भाव यह है—

भात मेरा पक चुका। दूध दुह लिया। मही (गण्डक) नदी के किनारे पर स्वजनों के साथ निवास करता हूँ। कुटी छाली है, आग सुलगा ली है। अब हे देव! चाहो तो खूब बरसो।

मेरी ग्वालिन आज्ञाकारी और अचंचला है। वह चिरकाल की प्रियसंगिनी है। उसके विषय में कोई पाप नहीं सुनता। अब हे देव! चाहो तो खूब बरसो। मैं आप अपनी ही मजदूरी करता हूँ। मेरी सन्तान अनुकूल और नीरोग है। उसके विषय में कोई पाप नहीं सुनता। अब हे देव! चाहो तो खूब बरसो। मेरे तरुण बैल और बछड़े हैं। गाभिन गायें हैं और तरुण गौएँ भी। सबके बीच में वृषभराज भी हैं। अब हे देव! चाहो तो खूब बरसो[3]।

थेरों की गाथाओं से भी अधिक मार्मिक और काव्यगुणालंकृत गाथाएँ थेरियों की हैं। अत्यन्त संगीतात्मक भाषा में आत्माभिव्यञ्जनात्मक गीतिकाव्य की शैली के आधार पर जीवनानुभवों को व्यक्त करते हुए यहाँ बौद्ध भिक्षुणियों ने अपने जीवन काव्य को गाया है। नैतिक सत्य, भावनाओं की गहनता और सबसे बढ़कर अपराजित वैयक्तिक ध्वनि, इन मुक्तकों की मुख्य विशेषताएं हैं। निर्वाण की परम शान्ति से भिक्षुणियों के उद्गारों का एक एक शब्द उच्छ्वसित है। इन की भावात्मकता दर्शनीय है। उदाहरणार्थ भिक्षुणी अम्बपाली ने अपने वार्धक्यशोषित शरीर का प्रत्यवेक्षण कर ये भाव प्रकट किए हैं—

---

१. भरतसिंह उपाध्याय, पालिसाहित्य का इतिहास, पृष्ठ २५८
२. देखिये, इन्ट्रोडक्शन टु दि साम्स ऑव दि सिस्टर्स
३. भिक्षुधर्मरत्नकृत सुत्तनिपात का अनुवाद, पृष्ठ ७-१०

बौद्ध धर्म का निवृत्ति मार्ग विरक्तिप्रवृत्त शान्तरस की उक्तियों के सर्वथा अनुकूल था। यद्यपि इस प्रकार की उक्तियाँ बौद्धयुग से पूर्व के साहित्य में भी खोजी जा सकती हैं, तथापि बौद्धों की 'सव्वं दुक्खं दुक्खं' धारणा से इस प्रवृत्ति को न केवल प्रोत्साहन ही प्राप्त हुआ अपितु प्रसार भी मिला। बौद्ध साहित्य में ऐसी उक्तियाँ प्रचुर मात्रा में पाई जाती हैं जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि शान्तरसपूर्ण उक्तियों के विकास में, जिनमें वैयक्तिकता का पर्याप्त पुट है, बौद्ध साहित्य ने बड़ा भारी योग दिया है। आगे चलकर यही प्रवृत्ति भर्तृहरि तथा अन्य उत्तरवर्ती कवियों की रचनाओं में एक स्वतन्त्र प्रवाह के रूप में प्रवृत्त हुई।

थेरीगाथाएँ और थेरगाथाएं किसी एक व्यक्ति की रचनाएँ नहीं हैं। जर्मन विद्वान् के० ई० न्यूमन को इन गाथाओं में एक ही मनुष्य के मन की छाप दिखाई दी है।[१] यह उसकी भ्रान्तिमात्र है। जिसका कारण यह है कि इन सभी रचनाओं में बौद्ध धर्म की प्रभाव-समष्टि है जो उच्च कोटि के बुद्ध साधकों की रचनाओं में होनी भी चाहिए। वस्तुतः थेरगाथाएँ और थेरीगाथाएं उन भिक्षु भिक्षुणियों की रचनाएं हैं जिनके नामों से वे संबन्धित हैं।[२] विण्टरनिट्ज का कथन है कि संभव है पीछे संकलन और संपादन करने में भिक्षुओं की भी कुछ गाथाएँ थेरीगाथाओं में मिल गई हों किन्तु समूची कृति एक ही व्यक्ति की नहीं है।[३] श्री भरतसिंह उपाध्याय का मत है कि जिन ७३ भिक्षुणियों के उद्गार थेरीगाथाओं में सन्निहित हैं वे सभी बुद्धकालीन हैं, बल्कि यों कहना चाहिये कि वे सभी भगवान् बुद्ध की शिष्याएँ हैं।[४] अतःएव थेरीगाथाओं में ईसा से ५-६ शताब्दी पूर्व के भारतीय नारी समाज के जीवन की एक झलक भी मिल जाती है। इन गाथाओं में प्रगीत मुक्तकों के समस्त गुण निहित हैं। यह विगत उद्धरणों से ही स्पष्ट है।

पतञ्जलि के महाभाष्य में भी स्फुट मुक्तक रचनाओं के उदाहरण उपलब्ध होते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि पतञ्जलि के समय तक प्रबन्ध-काव्य, नाटक एवं मुक्तक साहित्य की एक परम्परा चल पड़ी थी और इस प्रकार का पर्याप्त साहित्य प्रचलित था। उन्होंने शोभिक लोगों द्वारा कंसवध और बलिबन्ध नामक नाटकीय अभिनयों के अतिरिक्त एक वाररुच काव्य का भी उल्लेख किया है।[१] सूक्तिमुक्तावली के अन्तर्गत राजशेखर के एक श्लोक में इसका नाम 'कण्ठाभरण' बताया गया है। पतञ्जलि से भी पूर्व पाणिनि ने 'शिशुक्रन्दीय', यमसभीय और इन्द्रजननीय काव्यों का उल्लेख किया है।[२] डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का अनुमान है कि ये प्रबन्ध काव्य ही रहे

होंगे। शिशुक्रन्दीय कदाचित् कृष्ण के जन्म से सम्बद्ध काव्य था, यमसभीय यम की सभा का चित्रण करने वाला नाटक तथा इन्द्रजननीय इन्द्र के जन्म और उसके द्वारा वृत्रासुर के वध की कहानी कहने वाला काव्य रहा होगा।[1] स्वयं पाणिनि को भी एक महाकाव्य तथा अनेक मुक्तकों का रचयिता माना जाता है। परन्तु यह कवि पाणिनि प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि ही थे इस प्रश्न पर विद्वानों में गहरा मत-भेद है। यहाँ इसका विवेचन करने की आवश्यकता भी नहीं। पतञ्जलि के महाभाष्य में उद्धृत 'वरतनु ! संप्रवदन्ति कुक्कुटाः', 'प्रियं मयूरः प्रति नर्नृतीति,' 'सा हि तस्य धनक्रीता प्राणेभ्योऽपि गरीयसी' आदि उक्तियाँ प्रचलित शृङ्गारिक मुक्तकों के अंश हैं।

मुक्तक-संग्रह के भेद : क्रम के आधार पर

इस प्रकार अत्यन्त प्राचीन काल से ही विविध विषयों पर मुक्तक पद्य लिखने की परम्परा चली आ रही थी और उनके संग्रह भी किये जाते थे किन्तु उन पर काव्यशास्त्रीय दृष्टि से विचार अपेक्षाकृत विलम्ब से हुआ। दण्डी ने मुक्तक, कुलक, कोश और संघात को सर्गबन्ध काव्य का ही अंश माना है। इससे प्रकट होता है कि उपर्युक्त प्रकारों से उन्हें प्रबन्धगत पूर्ण-अर्थ-द्योतक काव्य विशेष अभिप्रेत हैं। अर्थात् क्रियासमेत पूर्ण वाक्यार्थ प्रस्तुत करने वाले पूर्वापरनिरपेक्ष पद्य को मुक्तक कहते हैं। कुलक से दण्डी का अभिप्राय शायद एकाधिक पद्यों के ऐसे कुल (समूह) से था जिसका प्रत्येक पद्य वैयक्तिक रूप से पूर्ण वाक्य प्रस्तुत करने में असमर्थ हो और सभी पद्य सामूहिक रूप से एक ही क्रियापद से अन्वित होते हुए मिलकर वाक्यार्थ प्रकट करें। इसी आधार पर विश्वनाथ ने पद्य के पाँच प्रकार लक्षित किये हैं। इसके अनुसार वह पद्य जो स्वतन्त्र रूप से अकेला ही स्वनिहित क्रियापद के आधार पर वाक्यार्थ प्रस्तुत करे, मुक्तक होता है, दो पद्यों का एक ही क्रिया से अन्वय हो तो युग्मक, तीन पद्य एक ही क्रिया से संबद्ध हों तो सन्दानितक, चार हों तो कलापक और पाँच या अधिक हों तो कुलक नाम से अभिहित होते हैं।[2] कोश और संघात से दण्डी का अभिप्राय क्या था यह कहना कठिन है। जैसा कि कहा जा चुका है, काव्यादर्श के टीकाकार नृसिंह देव के अनुसार जब कवि काव्य के अन्तर्गत एक ही वृत्त में रचे हुए अनेक पद्यों से किसी एक ही विषय का वर्णन करता है तो वह वर्णन संघात कहलाता है।[3] इसके उदाहरण में उसने मेघदूत का उल्लेख किया है जो भ्रान्तिजन्य है। वस्तुतः, जैसा कि विश्वनाथ ने किया है, मेघदूत की गणना खण्डकाव्यों में ही होनी चाहिए और संघात प्रबन्ध काव्य के अन्तर्गत जल-

---

१. India as Known to Panini

२. छन्दोबद्धं पदं तेनैकेन च मुक्तकम्
द्वाभ्यां तु युग्मकं सन्दानितकं त्रिभिरिष्यते
कलापकं चतुर्भिश्च पञ्चभिः कुलकं मतम् ॥ सा० द०, श्लो ३०१, छठा प

३. यत्र कविरेकमर्थं वृत्तेनैकेन वर्णयति काव्ये
संघातः स निगदितो वृन्दावनमेघदूतादिः

सप्तशती भी प्रसिद्ध है तथा महाभारत के अन्तर्गत गीता में भी सात सौ ही पद्य हैं, किन्तु ये मुक्तक-संग्रह नहीं हैं। गोवर्धन की आर्यासप्तशती अवश्य ही एक मुक्तक संग्रह है परन्तु वह गाथा सप्तशती के ही अनुकरण पर लिखी गई है। गोवर्धनाचार्य ने स्वयं स्वीकार किया है कि प्राकृत भाषा में लिखी जाने योग्य उक्तियों को मैं बलात् संस्कृत में लिख रहा हूँ[२]।

गाथा सप्तशती का रूपविधान और उसकी परम्परा

वस्तुतः गाथा सप्तशती ही प्रथम मुक्तक कोश है जिसमें सात सौ उक्तियाँ संगृहीत की गई हैं। रूप विधान की दृष्टि से संग्रह की कुछ अपनी विशेषताएँ हैं जो आर्यासप्तशती को छोड़कर संस्कृत के अन्य मुक्तक कोशों में प्रायः नहीं पाई जातीं। विश्लेषण करने पर निम्नलिखित विशेषताएँ लक्षित होती हैं :—

१. यह एक अक्रमरचित मुक्तक-कोश है। विभिन्न जाति के पद्यों का गड्डमड्ड संग्रह है।

२. इसमें किसी एक कवि की ही रचनाएँ संगृहीत नहीं हैं, अपितु बहुत से कवियों के मुक्तक संकलित किये गये हैं जो संभवतः समसामयिक नहीं थे बल्कि काल-क्रम के अनुसार विविध समयों में आगे-पीछे प्रादुर्भूत हुए थे। कवि वत्सल हाल ने असंख्य गाथाओं में से इन गाथाओं को चुना[३]।

३. इसका नाम संगृहीत मुक्तकों की संख्या पर आधारित है। इस प्रकार के उपलब्ध कोषों में यह सर्वप्रथम है।

४. इसमें किसी एक ही विषय की उक्तियाँ नहीं हैं। अपितु शृङ्गार, नीति, खलनिन्दा, सज्जनप्रशंसा, राजप्रशस्ति, देवनमस्कृति, प्रकृति-चित्रण आदि अनेक विषयों से संबद्ध रचनाएँ संगृहीत हैं जिनमें शृङ्गार का बाहुल्य है।

५. इसके ७०० पद्य सात शतकों में विभक्त हैं। प्रत्येक शतक के अन्त में उसकी समाप्तिसूचक पुष्पिका के रूप में एक अलग गाथा दी गई है जिसमें इस कृति तथा इसके कर्ता का नामोल्लेख हुआ है।

६. इस कोश में प्रारम्भ से अन्त तक एक ही छन्द (गाहा, सं० गाथा) प्रयुक्त हुआ है जो वर्णिक वृत्त है तथा लघुकलेवर है।

वज्जालग्गं

जयवल्लभ द्वारा संगृहीत वज्जालग्गं प्राकृत-मुक्तकों का दूसरा प्रसिद्ध कोष है। इसकी रचना गाथा सप्तशती के ही आधार पर हुई है। इतना ही नहीं, सप्तशती की लगभग सौ गाथाएँ भी इसमें ले ली गई हैं तथा उसकी साठ व्रज्याओं में से पच्चीस वज्जालग्गं से मेल खाती हैं। गाथा सप्तशती के ही समान यह भी अनेक कवियों की रचनाओं का संग्रह है।[1] और इसमें भी आदि से अन्त तक एक ही छन्द (गाहा) का प्रयोग हुआ है। जिन कवियों की रचनाएँ इसमें संगृहीत हैं वे सभी समसामयिक न होकर विभिन्न समयों में [illegible] व्यक्ति को [illegible] से [illegible] गाथासप्तशती की ही बहुत सी गाथाएँ [illegible]प्रादुर्भूत हुए थे। [illegible] है कि [illegible] जिनकी रचना वज्जालग्गं से शताब्दियों पहले हुई थी, इसमें मिलती हैं। [illegible] अनेकानेक विषयों पर आवृत मुक्तकों का कोष है। शृङ्गारिक पद्यों का [illegible] बाहुल्य इसमें भी है। हाँ, जीवन के अन्य पक्षों का भी अपेक्षाकृत [illegible] अधिक चित्रण हुआ है। इस प्रकार तुलना करने पर दोनों के रूप विधान में बहुत अधिक साम्य मिलता है। केवल दो-तीन बातों में थोड़ा-सा अन्तर है। वज्जालग्गं मूल से ही एक क्रमरचित कोष है जबकि गाथासप्तशती अक्रमरचित, किन्तु जैसा कि कहा गया है, गाथासप्तशती के भी दो अपेक्षाकृत अर्वाचीन संस्करण व्रज्याक्रम से व्यवस्थित मिले हैं और ये भी वज्जालग्गं के मूल संस्करण से प्राचीन हैं।[2] वज्जालग्गं में क्रमव्यवस्था को ही महत्त्व दिया गया है, यह उसके नाम से ही स्पष्ट है। अर्थात् गाथा सप्तशती का नामकरण पद्य संख्या के आधार पर हुआ तथा वज्जालग्गं क्रम-व्यवस्था के आधार पर। वज्जालग्गं की विभिन्न प्रतियों में उसका शीर्षक भी भिन्न भिन्न प्रकार से अङ्कित है। जैसे विज्जालग्गं, वज्जालग्गं, पद्यालयं और पज्जालं। इसकी संस्कृतछाया में प्रजालय और विद्यालय शीर्षक भी मिलते हैं। वज्जालग्गं की व्युत्पत्ति करते हुए पिशेल ने अपने प्राकृत व्याकरण में कहा है कि यह शब्द वज्जा = व्रज्या और लग्ग (देशीनाममाला ७/७, लग्गं = चिह्नम्) = लग्न से[3] बना है। अस्तु, क्रमशः पद्यसंख्या तथा व्रज्याक्रम को आधार मानकर नाम रखने के कारण गाथासप्तशती तथा वज्जालग्गं में नाममात्र का ही भेद है। दोनों में साम्य ही अधिक है। पद्यसंख्या के विषय में भी कोई विशेष अन्तर नहीं। गाथासप्तशती में पूरी सातसौ गाथाएँ (प्रत्येक शतक के अन्त में उद्धृत पुष्पिका की गाथा को छोड़कर) हैं। यद्यपि वज्जालग्गं के विभिन्न संस्करणों में ७९५ (वास्तव में ७९२, क्योंकि ३

---

१. वज्जालग्गं की तीसरी गाथा से ही यह स्पष्ट है जिसमें लिखा है कि जयवल्लभ ने विविध कवियों द्वारा विरचित गाथाओं में से श्रेष्ठ गाथाएँ लेकर ने विधिपूर्वक वज्जालग्गं की रचना की —

विविहकइविरइयाणं गाहाणं वरकुलाणि घेत्तूण ।
रइयं वज्जालग्गं विहिणा जयवल्लहं नाम ॥ वज्जा० ३

२. वज्जालग्गं की भूमिका, पृष्ठ १७

३. पिशेल, प्राकृतव्याकरण, नियम १२

रत्नाकर जी ने बिहारी-रत्नाकर के सम्पादन में सतसई की अति प्राचीन जिन पांच प्रतियों का आश्रय लिया है उनमें भी कोई क्रम नहीं मिलता। रत्नाकर जी ने लिखा है—

इन पाँचों प्रतियों में दोहों का पूर्वापर क्रम प्रायः एक सा ही दृष्टिगोचर होता है और ये हैं भी बहुत प्राचीन, अतएव यह अनुमान करना युक्तियुक्त ही है कि यही क्रम बिहारी की दोहा-रचना का है और उन्होंने अपनी सतसई इसी क्रम में छोड़ी। यदि बिहारी ने अपनी सतसई में दोहों का कोई साहित्यिक, अथवा अन्य प्रकार का क्रम बाँध दिया होता, तो फिर उन्हें इस प्रकार घाल-मेल करके क्रमहीन कर देने का न तो किसी को साहस ही होता और न कोई आवश्यकता ही रहती।[2]

व्याख्याक्रम के अनुसार क्रमबद्ध न होने पर भी बिहारी की सतसई में किसी अंश तक एक अन्य प्रकार का क्रम दिखाई पड़ता है, यद्यपि उसका आद्योपान्त पालन नहीं हुआ। प्रायः प्रत्येक दस दोहों के पश्चात् भक्ति अथवा नीति विषय का एक दोहा रख दिया गया है। जायसी की पद्मावत और तुलसी की रामायण में भी चौपाइयों के प्रत्येक दशक के पश्चात् एक दोहा या सोरठा मिलता है। किन्तु बिहारी सतसई में सर्वत्र ही इस क्रम को नहीं अपनाया गया है और कहीं-कहीं भक्ति या नीति विषयक दोहा दस दोहों के पश्चात् न आकर उसके आस-पास ही थोड़ा आगे-पीछे आया है। रत्नाकर जी का अनुमान है कि प्रारम्भ में बिहारी ने दोहों का पूर्वापर-क्रम तो वही रहने दिया, जिस क्रम से उनकी रचना हुई थी परन्तु उनके हृदय में इतना क्रम स्थापित करने की अभिलाषा अवश्य थी कि प्रति दस-दस अथवा बीस-बीस दोहों के पश्चात् एक भगवत्सम्बंधी अथवा नीति विषयक दोहा रहे। बनाते समय भी उन्होंने इस बात पर ध्यान रखा था, और रचनाकाल में, भावों के उद्गार के कारण, जहाँ जहाँ वे इस बात को न कर सके, वहाँ वहाँ उन्होंने उसकी पूर्ति अन्य

क्रम बिहारी ने अपनी सतसई में रखा भी था तो भी सतसई परम्परा के अन्तर्गत रूप विधान में यह कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं था अतः उनकी कृति अक्रमरचित कोष ही मानी जायेगी। यही बात उनकी परवर्ती सतसइयों के विषय में भी है।

सतसइयों में न तो गाथा सप्तशती के समान समस्त मुक्तकों को सात शतकों में विभाजित किया गया है, और न ही वज्जालग्गं के समान विविध-विषय-विषयक व्रज्याओं में, आर्यासप्तशती के समान अकारादि व्रज्याओं में भी नहीं। मुक्तकों की क्रमसंख्या गाथासप्तशती में अलग-अलग शतकों के अनुसार १ से १०० तक रखी गयी है। उदाहरणार्थ प्रथम शतक की समाप्ति के पश्चात् द्वितीय शतक के प्रथम मुक्तक की क्रमसंख्या १ मानी गई है, प्रथम शतक के १०० मुक्तकों को मिलाकर १०१ नहीं। वज्जालग्गं और आर्यासप्तशती में व्रज्याओं की व्यवस्था तो की गई है किन्तु मुक्तकों की अनुक्रमसंख्या व्रज्याओं के आधार पर नहीं समूचे कोष के आधार पर १ से लेकर ७००, या जितने भी पद्य हैं, उन तक की गई है। हिन्दी की सतसइयों के न तो शतकों के रूप में और न व्रज्याओं के रूप में ही विभाग हुए हैं; अतः दोहों की अनुक्रमसंख्या डालने में आरम्भ से अन्त तक समूची कृति को एक इकाई मानकर चलना उचित ही था जैसा वज्जालग्गं और आर्यासप्तशती में किया गया है।

इन सभी सतसइयों में पद्यसंख्या पूरी सात सौ हो, यह बात नहीं है। बिहारी सतसई में ७१३ दोहे हैं तो मतिरामसतसई में ७०३, रामसतसई में ७२७ और विक्रमसतसई में ७४२। रस निधि ने रतन हजारा लिखा था, लेकिन हजारा की परिपाटी चली नहीं। सात सौ की संख्या में ही कुछ ऐसा आकर्षण रहा कि लोग अपने मुक्तकरत्नों को सात सौ की माला में ही गूंथना पसन्द करते थे। सतसई और शतक की परिपाटी ही अधिक प्रचलित रही। आचार्य श्यामसुन्दरदास ने रतन हजारा को भी संक्षिप्त करके रसनिधि सतसई का नाम दे दिया। आधुनिक युग में वियोगी हरि ने सतसई और रत्नाकर ने शतक लिखा। वैसे शतक लिखने की परम्परा संस्कृत में और सतसई की हिन्दी में अधिक रही।

हिन्दी की सभी शृङ्गारिक सतसइयों का प्रारम्भ राधाकृष्ण की वन्दना से हुआ है। ज्ञात होता है इन कवियों की दृष्टि में राधा-कृष्ण ही प्रेम के अधिष्ठातृ-देवता थे। भारतीय साहित्य में सिद्धान्त रूप में काम और रति के रूप में प्रसिद्ध तत्त्व मानो रीतिकालीन कवियों की वाणी में व्यावहारिक रूप में राधा और कृष्ण बनकर अवतीर्ण हुए।

सप्तशती का अनुकरण करके भी ग्रज्यायोजना की जो नवीनताएं प्रस्तुत की गईं वे हिन्दी के सतसईकारों को ग्राह्य प्रतीत न हुईं। इन सतसईकारों ने मात्रिक छन्द का प्रयोग किया और आदि से अन्त तक उसी को अपनाया। मात्रिक छन्दों में भी हिन्दी का दोहा आकार-प्रकार की दृष्टि से प्राकृत के 'गाहा' (गाथा) छन्द के अत्यन्त निकट पड़ता है। गाथा में कुल मिलाकर ५७ मात्राएँ होती हैं और दोहा में ४८। दोहा का प्रथम पाद तृतीय पाद के ही तुल्य होता है। इसी प्रकार गाथा में भी प्रथम और तृतीय चरण समान होते हैं। गाथा के द्वितीय और चतुर्थ चरणों में वैपम्य अवश्य होता है जो दोहे में नहीं मिलता। इस प्रकार नामकरण पद्य संख्या और छन्दयोजना की दृष्टि से ये सतसइयाँ गाथा सप्तशती से मिलती-जुलती हैं। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि इनका वाह्य आकार गाथा-सप्तशती के ढाँचे पर ही जमा कर तैयार किया गया है। इतना ही नहीं, वर्ण्यविपय, प्रसङ्ग विधान, भावाभिव्यञ्जन और भापा-शैली की दृष्टि से भी सतसईकारों ने गाथा सप्तशती से बहुत कुछ लिया जिसकी चर्चा यथा स्थान की जायगी।[1]

गाथा सप्तशती चावल भोजी प्रदेश में लिखी गई है।[1] अतः प्रमुखतया धान के खेतों का ही उल्लेख हुआ है। खेत में खड़े हुए धान्य के पौधों को कलम कहते थे[2] और धान के सूखे हुए पौधों को पआल[3] (खड़ी बोली पयाल)। ईख की खेती भी होती थी और लोग गुड़ बनाना जानते थे।[4] इसके अतिरिक्त जौ (५/२)[5] तुवरी (अरहर), कपास[6], सन,[7] तिल[8], ककड़ी[9], खीरा[10] (त्रपुसी, खेवरसी), राजिका (राई, गाथा० २/११) आदि की फसलें भी उगाई जाती थीं। स्त्री पुरुष मिलकर कपास चुन लिया करते थे।[11] पारस्परिक सहयोग और सहायता का प्रचलन था। ग्रामवासी गुटिका धनुष (गुलेल) से परिचित थे।[12] कदाचित् पशु-पक्षियों को खेतों से दूर भगाने के लिये इसका उपयोग किया जाता था। गाथासप्तशती में एक नायिका कदम्ब कुसुमों को देखकर इस बात की शिकायत करती है कि कामदेव अब गुटिका-धनुष रखने लगा है। फसल पकने पर काट कर (खल-खलस्थान) खलिहान में एकत्र कर ली जाती थी जहाँ अन्न के दाने अलग किये जाते थे।[13] एक गाथा में कलहान्तरिता नायिका को समझाती हुई दूती कहती है कि प्रिय को मनालो। सपत्नियों का मनचीता क्यों कर रही हो ? गुरु मान (भारी रोष और भारी बाट) द्वारा गृहीत होने से तुम राशि (रास) के समान क्षीण होती चली जाओगी।[14] इससे प्रकट होता है कि सूखे पौधों में से निकाले हुए अन्न के ढेर को राशि कहते थे (आज भी किसान लोग उसके लिए 'रास' शब्द का प्रयोग करते हैं) और वह तोल कर घर में रखा जाता था जिससे यह ज्ञात हो जाय कि कितना अन्न उत्पन्न हुआ। संभवतः कुसुम्भ का उत्पादन भी होता था और उसके पुष्पों से वस्त्र रँगने के लिये रंग तैयार किया जाता था।[15]

गाँवों के चारों ओर उपवन और जलाशय हुआ करते थे। उपवनों में आम[16], जामुन[17], बेर[18], बिल्व[19], कैथ[20], आदि के वृक्ष लगे होते थे। प्रतीत होता है कि आम के वृक्ष बहुतायत से लगाये जाते थे क्योंकि आम्रमञ्जरी का बहुत अधिक वर्णन मिलता है। वस्तुतः आम प्राचीन समय से ही भारतवर्ष का एक प्रसिद्ध एवं सर्वप्रिय फल रहा है। इसके अतिरिक्त केसर[21], कदम्ब[22] और शिरीष[23] आदि वृक्ष भी उपवनों में स्थान पाते थे। कुरवक[24], बकुल[25], मालती[26], चमेली[27], शेफालिका[28], कुन्द[29], पाटल[30],

१. गाथासप्तशती
२. वही ७/९१
३. वही ४/३०
४. वही ७/९२
५. वही ४/५८
६. वही ४/५९,६/५९
७. वही १/९
८. वही ७/९२
९. वही १/१०
१०. वही ६/३४
११. वही ४/५९
१२. वही २/७७
१३. वही ६/७७
१४. वही २/५२
१५. वही २/४५
१६. वही १/९२,२/४३,४/३१
१७. वही २/८०
१८. वही २/१००,५/१९
१९. वही ६/१९
२०. वही ७/४१
२१. वही १/३७
२२. वही १/३७,२/१७,४/१४
२३. वही १/५५
२४. वही १/६,३/१९
२५. वही १/६३
२६. वही १/९२,५/२६
२७. वही ४/२२
२८. वही ५/१२
२९. वही ५/२३,६/६०
३०. वही ५/६६

और मरुआ[१] आदि पुष्प तथा मञ्जरियों के तरु और लताएँ भी लगाई जाती थीं। पाटल आदि को संभ्रान्त व्यक्ति अपने घरों में भी लगा लेते थे।[२] गाँव से लगे हुये जंगल में नीम[३], कदम्ब, वट[४], महुआ[५], करञ्ज[६], पलाश[७], अङ्कोट[८], कौंच[९] (कपिकच्छु) आदि वृक्ष पाये जाते थे। गाँव के परिसर में स्थित वट वृक्ष पथिकों के लिये विश्रान्ति-स्थान (पड़ाव) का कार्य भी करते थे।[१०] जलाशयों में कमल के पुष्प खिलते थे[११] और नदी किनारे बेंत के जंगल होते थे।[१२]

कृषि के अतिरिक्त पशु-पालन भी जीविका का साधन था। इस दृष्टि से गौ को अधिक महत्त्व दिया गया था। एक गाथा में नायक के विरह में नायिका का मुख गोधन रहित गोष्ठ जैसा बताया है।[१३] इससे प्रतीत होता है कि पशुओं को भी धन समझा जाता था और जिन बाड़ों में उन्हें रखा जाता वे गोष्ठ कहलाते थे। पशु-हिंसा-जीवी जाति 'खटीक' के नाम से प्रसिद्ध थी।[१४] कुछ लोग वैद्यक का कार्य करते थे।[१५] तमाशा दिखाकर पेट भरने वाले जादूगरों के अस्तित्व का भी पता चलता है।[१६] मालिनें फूल बेचने का भी कार्य करतीं थीं और मनचले युवक खरीदते या न खरीदते पर फूल अवश्य देखते थे।[१७] प्याऊ लगाने का कार्य स्त्रियाँ भी करती थीं।[१८] क्षौर कर्म करने वाले को चन्दिल (राजस्थानी चाँदड़ा) कहा जाता था।[१९] व्याध, भील आदि जंगली जातियाँ शिकार से जीवन निर्वाह किया करती थीं[२०] ये लोग हाथीदाँत और मृगचर्म भी बेचते थे।[२१] भील लोग मधुमक्खियों द्वारा एकत्रकृत मधु भी जंगल से लाते थे।[२२] गाँव के अन्दर छोटे पैमाने पर क्रय-विक्रय चलता रहता था। पसन्द करने के लिये ग्राहक को क्रेय वस्तु में से जो थोड़ा सा अंश दिखाया जाता था उसे वर्णिका (आजकल बानगी) कहते थे।[२३] भिक्षा माँग कर काम चलाने वाले भी समाज में मौजूद थे।[२४] इस प्रकार गाँव में विभिन्न श्रेणी और पेशे वाले लोग रहते थे।

शासन की दृष्टि से गाँव एक इकाई था। वह आत्म-निर्भर होता था तथा उसके शासन और रक्षा का भार गाँव के मुखिया अथवा ग्रामणी पर रहता था।[२५] उसे कर एकत्र करने का पूरा अधिकार था (५।३)। स्पष्ट है कि गाँव में यह सर्वसंमान्य व्यक्ति होता था जिसका प्रभाव और आतङ्क पूरे गाँव पर छाया रहता था। वस्तुतः उसकी स्थिति गाँव में वैसी ही होती थी जैसी देश में राजा की। अतः उसका रहन-सहन भी अपेक्षाकृत ऊँचे स्तर का होता था। यह इसी से प्रकट होता है

उसके घर में गुलाब आदि की फुलवारी लगी होती थी। साधारणतः ग्राम जीवन आडम्बर रहित था। मार्ग कच्चे होते थे और वर्षा ऋतु में गलियों में कीचड़ हो जाता था।[1] अन्यासक्त नायक को उलाहना देती हुई नायिका कहती है कि "कृतघ्न तेरे कारण मैंने वर्षा की रात्रियों में जो कीचड़ अनेकशः खूँदा था वह आज भी देख रही हूँ।[2] घर प्रायः फूँस के झोंपड़ों से छाये हुए होते थे।[3] उनके चारों ओर अरंड आदि वृक्षों की पंक्तियों से चहार दीवारी का काम ले लिया जाता था। गरीबी में ऋण भी लेना पड़ जाता था जो पिता के न दे सकने पर पुत्र को देना पड़ता था, व्याज का रेट ऊँचा होता था। यह इस उक्ति से प्रतीत होता है।

ते विरला सप्पुरिसा जाण सिणेहो अहिण्णमुहराओ।
अणुदिअहवड्ढमाणो रिणं व पुत्तेसु संकमइ॥ २|१३

अर्थात् ऐसे सत्पुरुष विरले ही होते हैं जिनका उत्तरोत्तर उपचीयमान प्रेम ऋण के समान पुत्रों में भी संक्रान्त हो जाता है।

गाथा सप्तशती के प्राकृत नायक-नायिका अपने सौन्दर्य के लिये किसी कृत्रिम गहने के मुहताज नहीं थे। प्रकृति ने जो फूल पत्तों का अक्षय निधि उन्हें प्रदान की थी उसी से उनके प्रसाधन का कार्य भली-भाँति सम्पन्न हो जाता था। स्त्री और पुरुष दोनों ही आभूषण पहनते थे। दूसरे शतक की ८० वीं गाथा में हलिक पुत्र को जामुन के किसलय से अलंकृत कहा है। नायिकाएँ अपने कान में प्रायः कमल के कर्णपूर धारण कर लेती थीं।[4] एक गाथा में नायिका द्वारा नायक से प्राप्त वदर संघाटी (जुड़वा वेरों के युग्म) को कान में पहनने का उल्लेख हुआ है।[5] केशों का प्रसाधन कलात्मक ढंग से किया जाता था और उन्हें मोर के पिच्छ सदृश आकार देकर बाँध लिया जाता था।[6] केशों में सुगन्ध एवं पुष्प लगाने का भी रिवाज था।[7] व्याध आदि जंगली जाति की स्त्रियाँ मयूरपिच्छ से अपने शरीर को अलंकृत करती थीं।[8] शरीर की कान्ति बढ़ाने के लिये ग्रामीण नायिकाएँ हल्दी के उवटन से स्नान करती थीं।[9] साबुन का काम जामुन के पत्तों के कषाय से लिया जाता था।[10] हाथों में कङ्कण[11] तथा जालीदार वलय,[12] गले में कण्ठी[13] और पैरों में नूपुर[14] पहने जाते थे। चरणों में लाक्षारस लगाया जाता था।[15] कुसुम्भ वस्त्र ग्रामीणाओं का प्रिय वस्त्र था।[16] इसके अतिरिक्त वे कञ्चुलिका (एक विशेष प्रकार की चोली) पहनती थीं

---

१. वही ७/८२
२. ,, ५/४५
३. ,, २/७०
४. गाथा सप्तशती २/१६, ४/२३
५. ,, ५/१६
६. ,, १/५२
७. ,, ३/६६
८. ,, ३/७३
९. गाथा सप्तशती १/५८, १/८०, ३/४६
१०. ,, २/८६
११. ,, १/६६
१२. ,, १/८०
१३. ,, १/७५
१४. ,, २/८८
१५. ,, २/२७
१६. वही ३/११, ४/२८, ५/६१

जिसके बन्द आगे की ओर लगते थे। दोनों पार्श्वों के सिरों पर दो अङ्गुल चौड़ी गोट या मगजी लगाई जाती थी जिसका नाम 'कपाटक' था। यह निम्नलिखित गाथा से स्पष्ट है :—

दो अङ्गुलअ कवालअपिणद्ध सविसेसणीलकञ्चुइआ।
दावेइ थणत्थलवण्णिअं व तरुणी जुअजणाणम्[1] ॥

अर्थात् दो अङ्गुल की गोट वाली चोली पहिने हुए एक नायिका सन्धि स्थल में से चमकते हुए कुचाग्र को मानो बानगी के रूप में युवकजनों को दिखा रही है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि आजकल भी मध्यप्रदेश एवं व्रज के गाँवों में इस प्रकार की कञ्चुकियाँ प्रचलित हैं और इसके लिए स्त्रियाँ प्रायः नीला वस्त्र ही पसन्द करती हैं।

वेषभूषा के ही समान प्रकृति के इन सपूतों का खान-पान भी अत्यन्त सादा और सात्त्विक था। जो अन्न ये उत्पन्न करते थे वही खाते थे। चावल, जौ, अरहर, तिल, गुड़, ककड़ी, खीरा आदि के अतिरिक्त इनका मुख्य भोजन दूध दही था। गोधन को ये महत्त्व देते थे और एक एक घड़ा तक दूध देने वाली गाय इनके पास थीं।[2] दूध के लिए भैंस भी पाली जाती थी। सद्यःप्रसूता गाय, भैंस के दूध को 'पेऊस' (खड़ी बोली हिन्दी पेउसी या खीस) कहते थे।[3] सुरापान की प्रथा थी और पुरानी शराब अच्छी समझी जाती थी। स्त्रियाँ भी मदिरा पान कर लेती थीं।[4]

किया जाता है। यह क्रीड़ा भी आजकल कुछ परिवर्तित रूप में मेरठ के आस-पास प्रचलित है। विवाह के उपरान्त जव वधू वर के यहाँ आ जाती है और कँगना खेलने की रीति सम्पन्न हो जाती है तो वर की भौजाई आदि स्त्रियाँ नव दम्पती को गाँव से वाहर उपवन में ले जाती हैं जहाँ वृक्ष पर से हरी शाखाएँ तोड़कर उनके हाथ में दे दी जाती हैं और उन्हें उनसे एक दूसरे पर ताड़ना करने के लिए कहा जाता है। इसे 'संटी खेलना' कहते हैं। मैना तोता आदि पक्षियों को पालकर पिंजरे में रखना और पढ़ाना भी उस समय का एक मनोञ्जन-साधन था।[१]

धार्मिक दृष्टि से देखने पर पौराणिक विचार-धारा का ही प्रचलन गाँवों में अधिक प्रतीत होता है। अमृत-मन्थन[२], विष्णु-लक्ष्मी[३], वलि-वामन[४], आदि के पौराणिक उपाख्यान और राम-लक्ष्मण की रामायणीय कथा लोगों में प्रचलित थी।[५] राधाकृष्ण[६] तथा गोपी कृष्ण[७] के प्रेम कथानक भी प्रसिद्ध थे। प्रत्येक गाँव में देव मन्दिर होता था जो पथिकों के ठहरने के लिये धर्मशाला का भी काम देता था।[८]

पुराने जीर्ण-शीर्ण देव-मन्दिरों में कोई नहीं जाता था। वे नायक-नायिकाओं के संकेत-स्थल वन जाते थे।[९] सूर्य[१०] और गणपति की पूजा प्रचलित थी।[११] देव-प्रतिमाओं को स्नान कराकर उनपर पुष्प चढ़ाए जाते थे (४|५५) एक स्थान पर श्मशान साधन करने वाले कापालिकों का भी संकेत किया गया है।[१२] इसी प्रकार एक गाथा में भिक्षुसंघों के वुद्ध के चरणों में गिरने का भी उल्लेख[१३] है, जिससे ज्ञात होता है कि वौद्ध-भिक्षुओं के विहार भी उस समय मौजूद थे। शक्ति के उपासक भी थे जो देवी पर भैंसे की वलि चढ़ाते थे।[१४] भाग्यवाद में विश्वास किया जाता था (३-४८, ३-७९) यह विश्वास भी प्रचलित था कि मरते समय मनुष्य जिसका ध्यान करता है अन्य जन्म में उसको प्राप्त होता है।

ग्रामवासियों का सामाजिक जीवन भी इतना ही सरस था। गलियों के मोड़, देव-मन्दिर, चौराहे और चवूतरे उनकी गोष्ठी के स्थान होते थे।[१५] होली का उत्सव वड़ी धूमधाम से मनाया जाता था और मदनोत्सव के नाम से प्रसिद्ध था। आज भी भारत के दक्षिण अञ्चल में इसके लिए यही नाम व्यवहृत होता है। उन्मुक्त शृङ्गार एवं औद्धत्य से परिपूर्ण यह उत्सव आज कल के होलिकोत्सव के ही समान था।

---

१. गाथा सप्तशती ३/२०
२. ,, २/१७
३. ,, २/५१
४. ,, ५/६
५. वही १-३५
६. ,, १/८९, ५/४७
७. ,, २/१२, २/१४, २/२८
९. गाथा सप्तशती १/६४
१०. ,, ४/३२
११. ,, ४/७२, ५/३
१२. ,, ५/८
१३. ,, ४/८
१४. ,, ५/६६
१५. ,, २/९०

मादक वस्तुओं का सेवन एवं कुसुम्भरञ्जित वस्त्रों का धारण करना उस समय भी उत्सव का ही एक अङ्ग समझा जाता था।[१] इस अवसर पर एक दूसरे के ऊपर रंगीन चूर्ण (वर्णचूर्ण-गुलाल) और रंग डालने की प्रथा भी आजकल जैसी ही थी।[२] कीचड़ फेंकने की कुप्रथा भी प्रचलित थी किन्तु इसे निर्दोष समझा जाता था (४/६९)। परस्पर सौहार्द की अभिव्यक्ति एवं पुष्टि के लिए त्यौहारों और उत्सवों के मौके पर अपने पड़ोसियों एवं परिचितों के यहाँ मिठाई आदि भेजने की प्रथा थी जिसे प्रहेणक कहा जाता था।[३] हारावली कोप में प्रहेणक का पर्याय 'वायनक' दिया हुआ है। प्रहेणक को आजकल भी खड़ीबोली-क्षेत्र में 'वायना' और ब्रजक्षेत्र में 'वायन' कहा जाता है। आजकल की ही भाँति प्रहेणक बाँटने का कार्य प्रायः स्त्रियाँ ही करती थीं।[४] आश्चर्य की बात है कि हमारे बहुत से रीति रिवाज शताब्दियों से नहीं, सहस्राब्दियों से ज्यों के त्यों चले आ रहे हैं। समाज का गौरव बढ़ाने वाले व्यक्तियों के प्रति, चाहे वे पढ़े लिखे हों या न हों, सम्मान प्रकट करने के लिए लोग उन्हें कन्धों पर उठाकर उनकी सवारी निकालते थे। आजकल भी किसी पर्व के अवसर पर जब आस-पास के कई पहलवान आपस में मल्लयुद्ध करते हैं तो जीतने वाले मल्ल को उसके गाँव वाले हर्ष के कारण कन्धों पर उठाकर ले जाते हैं। आधुनिक निर्वाचनों में समर्थकों द्वारा विजेता का जलूस निकालना इसी प्रथा का सुसंस्कृत रूप है। किसी व्यक्ति को चूमकर उसकी कला अथवा किसी अन्य प्रशस्य कार्य पर अपनी प्रसन्नता और उसकी सराहना व्यक्त करने का ढंग, जो आजकल विलायती समझा जाता है, यहाँ भी प्रचलित था। दूसरे शतक की चौदहवीं गाथा में कहा गया है कि निपुण गोपी अन्य गोपियों के नृत्य की सराहना करने के बहाने उनके कपोल पर प्रतिबिम्बित कृष्ण को चूम लेती है। सराहना की यह शैली संभवतः परस्पर स्त्रियों में ही प्रचलित रही होगी।

स्त्रियाँ विभिन्न प्रकार के व्रतों में रुचि रखती थीं। एक गाथा में नायिका के मुखचन्द्र को देखकर भ्रान्त स्त्रियों द्वारा उसे ही अर्घ दिये जाने पर नायिका का पति उसकी प्रशंसा करता हुआ अर्घ देने वाली स्त्रियों की खिल्ली उड़ाता है।[५] यह कार्तिक कृष्णा चतुर्थी को सौभाग्यवती स्त्रियों द्वारा पति की आयुकामना के लिये किया जाने वाला व्रत प्रतीत होता है। एक अन्य गाथा में 'साम-सवल' व्रत का उल्लेख हुआ है।[६] इस व्रत में अग्नि से तपकर जल में प्रवेश किया जाता है। प्रतिपदा या द्वितीया में नवीन चन्द्रमा का दर्शन करना शुभ माना जाता था। (६–७०)

---

१. गाथा सप्तशती ६/४८–४९
२. ,, ४/१२
३. ,, ७/३
४. ,, ४/२८
५. ,, ४/४३
६. ,, २/२४

समाज में अन्य भी भिन्न-भिन्न प्रकार के आचार-विचार प्रचलित थे। विवाह से पहले मङ्गलगीतों का गायन प्रारम्भ हो जाता था। कन्या-पक्ष की स्त्रियाँ मङ्गलगीतों के मध्य वर के नाम का उच्चारण भी करती थीं।[१] एक गाथा में आया है कि जब कृष्ण बड़े हुए तो गोपियों ने यशोदा के साथ अपने पूर्व सम्बन्ध छिपाने प्रारम्भ कर दिये[२], इससे प्रतीत होता है कि विवाह निकट सम्बन्धियों में नहीं हो सकता था। बहुत सी गाथाओं में सपत्नियों का उल्लेख है जो इस तथ्य का परिचायक है कि बहुविवाह प्रथा गाँवों और जंगलों के निवासियों में भी प्रचलित थी।[३] विवाह दिवस से चौथे दिन 'चतुर्थीमङ्गल' होम आदि सम्पन्न कर जामाता श्वसुर से अपने घर को विदा होता था।[४] राक्षस विवाह भी प्रचलित थे। शत्रु पक्ष की विवाहित स्त्रियों का भी अपहरण कर लिया जाता था और यह कार्य शौर्य का द्योतक समझा जाता था। इस प्रकार बन्दी बनाई स्त्री को मुक्त करना उसके पति का कार्य था, यदि वह वीरता-पूर्वक छुड़ा लेता तो उसकी ख्याति होती थी।[५] अपहरण करने वाले को चोरखुवा कहा जाता था।[६] वृद्ध विवाह भी प्रचलित था।[७] सती प्रथा का प्रचलन था और साध्वी स्त्रियाँ अपने पति के शव के साथ जीवित ही जल जाती थीं।[८] रसिक समाज में वेश्याओं का प्रवेश बेरोक-टोक होता था और उनके प्रेम की प्रशंसा भी की जाती थी। (२/५६) मिलने-जुलने वाले परिचित व्यक्ति की रुग्णावस्था में लोग कुशल-क्षेम पूछने के लिये जाते थे। (१–५०)

रजस्वला स्त्रियाँ अपने मुख एवं सिर पर वर्णघृत (हल्दी आदि के रंग से युक्त घी) का लेप करती थीं[९] और ऋतु स्नान के समय हल्दी के उबटन का प्रयोग करती थीं।[१०] दक्षिण में अब भी यह रिवाज प्रचलित है। रजस्वला से रमण करना लोकाचार के भी विरुद्ध था।[११] प्रथम समागम के पश्चात् वधू के रुधिरलिप्त वस्त्र को वर-पक्ष की महिलाओं द्वारा लोगों को दिखाने की प्रथा थी[१२] जो 'आनन्द पट' नाम से अभिहित थी।[१३] सुना है, राजस्थान के राजपूतों में अब भी यह प्रथा प्रचलित है। प्रसूता स्त्री से साथ बच्चे के दाँत निकलने के समय तक समागम निषिद्ध समझा जाता था।[१४] एक स्थान पर भौजाई द्वारा दूषित हृदय देवर को कुटुम्ब-विघटन के भय से दिनभर राम की सेवा में संलग्न लक्ष्मण के चित्र दिखाने की बात

---

१. गाथा सप्तशती ७/४२, ७/४३
२. ,, ७/५५
३. ,, २/२२, ४/१३, ४/८२, ५/७६
४. ,, ७/४४
५. ,, १/५४, ५७, २/१८, ४/३१, ६/३
६. ,, २/१८
७. ,, २/१७
८. गाथा सप्तशती ५/७, ५/४६, ७/३३
९. वही १/२२, ६/२८
१०. ,, ३/३६
११. ,, १/८०
१२. ,, ५/५७
१३. ,, २/१००
१४. ,,

कही गई है।[1] इनसे दो बातें स्पष्ट होती हैं। एक तो यह कि चित्रकला के प्रति उस समय साधारण जनता का भी रुझान था और महापुरुषों के जीवन चित्रवद्ध कर लिये जाते थे, और दूसरी यह कि सम्मिलित परिवार की प्रथा की जड़ पूरी तरह जमी हुई थी अतः लोग मुखं दुःखम् उसको निवाहे रखना ही चाहते थे। एक तीसरी बात यह भी प्रमाणित हो जाती है कि सप्तशती के समय तक देवर की भाभी के प्रति पूज्य वुद्धि एवं "कुण्डले नैव जानामि नैव जानामि कङ्कणे" वाला आदर्श लुप्त हो गया था। भाभी-देवर अब आजकल की भाँति खुल कर मज़ाक करने लगे थे[2] और उनका प्रणय सम्बन्ध भी जुड़ चला था।[3] गाथा सप्तशती में भाभी-देवर-विषयक कुल पाँच गाथाएँ संकलित हैं जिनमें से दो में देवर की छेड़छाड़ के प्रति भाभी की प्रतिकूल किन्तु परिवार विघटन के भय से अत्यन्त सन्तुलित प्रतिक्रिया व्यक्त की गई है।[4] एक में देवर और देवरानी की रतिकेलि की ओर संकेत करती हुई भाभी का देवर के प्रति मजाक है। एक में उनके परस्पर प्रणय की अभिव्यक्ति तथा अवशिष्ट पाँचवी में प्रणय-विमुख देवर के प्रति भाभी का आक्रोश और उपालम्भ निहित है।[4]

सप्तशती कालीन लोगों का शकुन एवं भूत-प्रेतों में विश्वास था। प्रोषित-पतिकाएँ प्रिय के शीघ्र सकुशल घर लौट आने की कामना से कौवों को वलि दिया करती थीं।[5] एक गाथा में नायिका के भूताभिभूत (ग्रहग्रस्त) तथा उससे लोगों के डरने की ओर भी संकेत किया गया है।[6] विश्वास दिलाने और अपने आपको निर्दोष सिद्ध करने के लिये जिस प्रकार आजकल गङ्गाजली उठाने का रिवाज है उसी प्रकार उस समय इसी से मिलती जुलती प्रथा थी जो कोप-पान कहलाती थी, सफाई देने वाला व्यक्ति उग्र देवताओं का अर्चन कर उनका स्नानोदक हाथ में लेकर अपने आपको निर्दोष घोषित करता हुआ तीन वार आचमन करता था[8]। प्रिय व्यक्ति के आगमन के समय मङ्गलघट रखे जाते थे और पग पाँवड़े विछाये जाते थे[9]। आजकल सेवल (अभीष्ट व्यक्ति के आने पर लोटा भरा जल वाहर के द्वार पर डाल कर स्वागत) करने की प्रथा ग्रामीणों में पाई जाती है जो शायद अर्घक्रिया का ही परिवर्तित रूप है। इसी प्रकार प्रस्थान के समय भी आम्र पल्लवों से युक्त मङ्गलघट रखने की परिपाटी थी। आज कल यह लुप्त हो गई है। हाँ, प्रस्थान काल में भरे हुए घड़े का सामने आना आज भी मङ्गलदायक माना जाता है[10]। मङ्गल कार्यों में द्वार पर वन्दनवार (वन्दन माला) वाँधी जाया करती थी[11]। अङ्गारक वार और भद्रा में यात्रा नहीं

१. गाथा सप्तशती १/३५
२. वही ६/१०
३. ,, १/२८, ७/८८
४. ,, ७/८८
५. ,, ३/५
६. ,, ४/८६
७. गाथा सप्तशती ५/४८
८. याज्ञवल्क्य स्मृति
९. ,, २/४०
१०. वही २/४३
११. ,, ३/६२

में इसकी विशेष चर्चा मिलती है किन्तु यहाँ हम इतिहास-ग्रन्थों का आश्रय न लेकर उक्त सतसइयों के ही अन्तःसाक्ष्य के आधार पर तत्कालीन परिस्थितियों का अनुसंधान करेंगे।

सामन्तशाही व्यवस्था

रीतिकाल की सामन्तशाही व्यवस्था में सशक्त सम्राट् ही सफलतापूर्वक शासन संचालन कर सकता था। सम्राट् के अधीन राजा और नवाब लोग थे जो उनके मनसबदार भी होते थे और उसकी ओर से युद्ध करते थे। राजे महाराजे और नवाब लोगों ने भी अपने राज्य को जागीरों और ठिकानों में बाँट दिया था और उन्हें अपने अधीन सामन्तों को दे दिया था जो अपने अपने क्षेत्र में स्वयं निरंकुश शासक थे। इस प्रकार दुहरा शासन स्थापित था और साधारण जनता को इसका फल भोगना पड़ रहा था[1]। अफसरों में दलबन्दी थी और कभी कभी युवराज तक भी इसमें सम्मिलित हो जाते थे। मतिराम ने उसका स्पष्ट संकेत दिया है—

मंत्रनि के बस जो नृपति सो न लहत सुख-साज।
मनहि बांध दृग देत पै मन-कुमार कौं राज॥ मति० ४३३

बड़े लोगों के विरुद्ध मुँह खोलने की शक्ति भला किसकी हो सकती थी[2]। अधिकारी लोग पक्षपात से काम लेते थे और अपने समर्थकों को बढ़ावा देते तथा विरोधियों को किसी न किसी बहाने ठिकाने लगा देते थे। आमिल लोग मनमाने ढंग से कर की रकम को घटा बढ़ा देते थे[3]। शासन-सूत्र में शिथिलता आ जाने से चोर डाकुओं का उत्पात रहता था।

सामन्त एवं रजवाड़ों के स्वामी शौर्य-प्रदर्शन में आस्था रखते थे और तनिक-तनिक सी बातों का निपटारा तलवार के द्वारा करने के पक्षपाती थे। अनेक बार विवाह-शादी का निर्णय भी युद्ध द्वारा ही होता था। शत्रुओं की बहू-बेटियों का अपहरण कर उनसे अपने अन्तःपुर की शोभा बढ़ाने में प्रायः सभी सामन्त अपनी शान समझते थे[4]। जिसकी लाठी उसकी भैंस वाली कहावत चरितार्थ हो रही थी। सम्राटों, राजाओं, सामन्तों और छोटे-छोटे जमींदारों के आश्रय में भी कवि लोग रहा करते थे। हमारे सुप्रसिद्ध सतसईकार बिहारी शाहजहाँ तथा जयसिंह के दरबार में रहे। मतिराम तो बूंदी के राजकुमार भावसिंह, कमायूं के ज्ञानचन्द, गढ़वाल के फतेशाह और शिवाजी के पुत्र शंभाजी आदि अनेक राजाओं के आश्रय में रहे। अपनी सतसई उन्होंने किसी भोगनाथ नामक राजा को समर्पित की है। राम-सतसई के रचयिता रामसहाय काशी नरेश महाराजा उदित नारायणसिंह के आश्रित थे।

---

१. बिहारी ३५७
२. वही ४२८
३. बिहारी २,३०१
४. बिहारी २१५

अपने आश्रयदाताओं की वीरता एवं शृङ्गारिक चेष्टाओं का वर्णन करने में इन कवियों ने अत्यन्त रुचि दिखाई है, वह उस युग की एक सामान्य प्रवृत्ति थी किन्तु यह सर्वथा नवीन नहीं थी। संस्कृत साहित्य में शताब्दियों से चली आती हुई परम्परा इसके मूल में वर्तमान थी।

सामन्तवादी व्यवस्था में नारी के प्रति एक विशिष्ट दृष्टिकोण प्रचलित था और उसको विलास के साधन से अतिरिक्त महत्त्व नहीं दिया गया था। उसके रमणी रूप को इतना अधिक उभार कर रखा गया कि जननी और सखी रूप का आभास तक नहीं होता था। राजे-महाराजे और उनके सामन्त अनेक विवाह कर लिया करते थे। वुढ़ापा आने पर भी उनकी स्त्रैणता में कोई कमी नहीं आती थी। बिहारी के आश्रयदाता जयसिंह ढलती जवानी में नवीन बाला के साथ विवाह करके रंगरेलियों में डूब गये थे तब बिहारी ने अपने 'अली-कली' वाले दोहे के सहारे उन्हें निकाला किन्तु जग की वायु उन्हें भी लगी थी। अतः विलास के पङ्क से निकाल कर भी उन्होंने शृङ्गार रस में ही उसे स्नान कराया। बहुविवाह के फलस्वरूप गृह-कलह और पारस्परिक युद्धों के अवसर और अधिक हो गये थे। सपत्नियों की नोंक-झोंक एवं एक-दूसरे को नीचा दिखाने के लिये दाँव-पेंच तथा घात-प्रतिघात चलते रहते थे। परस्पर उपालम्भ देने और फब्तियाँ कसने की मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति ने रीतिकाल की सपत्नियों की मुखर आवाज को दरबारी कवियों के कानों तक भी पहुँचा दिया था। अतः सपत्नी-विषयक एक अच्छा-खासा साहित्य इनकी कृतियों में समाविष्ट हो सका। बहुविवाह से भी सन्तुष्ट न होकर अनेक शासक तो रखैल रखने और वेश्याओं का स्वागत अभिनन्दन करने के भी आदी थे। छीन झपट कर भी रमणियों का समूह जुटा कर अन्तःपुर की शोभा बढ़ाने और उन्हें अपनी अङ्कशायिनी बना लेने की प्रवृत्ति भी उनमें विद्यमान थी, साहित्य, संगीत, सुन्दरी और सुरा अभिजात-वर्ग के मनोरञ्जन के प्रमुख साधन थे, बिहारी के शब्दों में—

तन्त्री-नाद कवित्त-रस सरस राग रति-रंग।
अनबूड़े बूड़े तिरे जे बूड़े सब अंग॥

इन प्रमुख उपकरणों के साथ विलास के अन्य आनुषङ्गिक एवं गौण साधन भी जुटाये गये थे जिनकी झाँकी पद्माकर के इस बदनाम कवित्त में दीख पड़ती है।

गुलगुली गिलमें गलीचा हैं गुनीजन हैं,
चाँदनी हैं चिक है चिरागन की माला हैं।
कहै पद्माकर त्यों गजक गिजा हैं सजी,
सेज हैं सुराही हैं, सुरा हैं, और प्याला है।
शिशिर के पाला को न व्यापत कसाला तिन्हें,
जिनके अधीन एते उदित मसाला हैं।
तान तुक ताला हैं विनोद के रसाला हैं,
सुबाला हैं, दुशाला हैं, विशाला, चित्रशाला हैं,

विक्रमसाहि के शब्दों में—

सेज सुपेती तरुन तिय सुरा सुराही प्रीति।
देखि रीत भयभीत ह्वै भजत सिसिर को सीति॥ विक्रम २७६

अवध के नवाबों की विलासिता की कहानियाँ तो अभी तक भी जनसाधारण में प्रचलित हैं। उन्हीं की बदौलत लखनऊ का नाम आज भी 'नज़ाकत, नफ़ासत और नाज़नीप्रियता के लिये भी प्रसिद्ध है। दिल्ली के मुहम्मदशाह को तो रँगीले की उपाधि ही मिल गई थी। राजस्थान के हिन्दू राजा भी कम नहीं थे। बिहारी के आश्रयदाता जयसिंह कली के अलि बने हुए अपने शीश-महल में शत-शत कामदेवों की शोभा धारण किये हुए थे।

प्रतिबिम्बित जयसाह दुति दीपति दरपन धाम।
सब जगु जीतन कौं कियौ काय व्यूह मनु काम।[1]

मतिराम के 'भोगनाथ' के नयनों में तो इतना जादू था कि:—

भोगनाथ नरनाथ के लोचन लखत विसाल।
रहत गरीबी गहि दुवन नीवी गहि वर बाल॥[2]

तभी तो नायिका की सखी उसे चेतावनी देती है कि:—

तब लौं सजनी बोलियै ये गरबीले बैन।
जब लगि तुम निरखे नहीं भोगनाथ के नैन॥[3]

इन अन्तर्गत प्रमाणों की पुष्टि प्रसिद्ध इतिहासकारों की मान्यताओं से भी होती है। सर यदुनाथ सरकार का कथन है कि "मुगलकालीन इतिहास के विचारशील अध्येता के लिये सामन्तवर्ग के पतन से अधिक महत्त्वपूर्ण अन्य कोई वस्तु नहीं है। फ्रांसिस्को पेलसर्ट के शब्दों में 'सामन्तों की कामुक लंपटता, निरुद्देश्य प्रमोद एवं ठाठ-बाट की जितनी निन्दा की जाय थोड़ी है। अपनी आय के अनुसार इनका अन्तःपुर भी भिन्न भिन्न प्रकार की स्त्रियों से भरा रहता था'। ऊपर से नीचे तक पूरा समाज सामन्तवादी व्यवस्था में ढला हुआ था। राजधानी में सम्राट् का, सूबों में गवर्नरों का जागीरों में जागीरदारों का जो रोब था वही गाँव में पटेल या मुखिया का। यदि सम्राट् की बेगमों का प्रसाधन करने के लिये अनेक बाँदियाँ थी तो गाँव के ठाकुर की ठकुरानी के पैरों में महावर लगाने के लिये भी नाइन आया करती थी।

सामन्तों की विलासिता के व्यय का भार गरीब जनता पर पड़ता था। साधारण लोगों की स्थिति अच्छी नहीं थी। डा० ईश्वरी प्रसाद के मत से "आर्थिक और राजनैतिक दृष्टि से सारा समाज दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—एक उत्पादकवर्ग और दूसरा भोक्तावर्ग। उत्पादक वर्ग में कृषक और मजदूर थे जो शासन और युद्ध के झंझट से बिल्कुल अलग रहकर खेती व्यापार आदि कार्य करते थे,

१. बिहारी० १६७
२. मतिराम सतसई ६९५
३. ,, ६९७

सरकार को कर देते थे और उसके बदले में बाहरी तथा भीतरी उपद्रवों से त्राण पाते थे। भोक्ता वर्ग सम्राट् के परिवार और दरबारियों से लेकर नौकर-चाकर और दासों तक फैला हुआ था। यह वर्ग राज्य की शक्ति था, इसलिये उत्पादक वर्ग पर इसका पूरा प्रभुत्व था—सामाजिक स्थिति भी स्वभावतः इनकी अच्छी थी। इन दोनों के बीच बहुत बड़ा अन्तर था—शासक और शासित—शोपक और शोपित का। 'बिहारी की कतिपय उक्तियों से इस कथन की पुष्टि होती है:—

दुसह दुराज प्रजान कों क्यों न बढ़ै दुख द्वन्द।
अधिक अंधेरा जग करैं मिलि मावस रवि चन्द। बिहारी० ३५७
को कहि सकै बड़ेन कौं लखे बड़ीयौ भूल।
दीन दवावैं निसक ही राजा पातक रोग॥ ४२६

रीतिकालीन कवियों में से अधिकांश मध्यम अथवा निम्न वर्ग में उत्पन्न हुए थे किन्तु वे राजाओं, नवाबों और अमीरों के आश्रय में रहते थे। दरबारी वातावरण में रहने और आश्रयदाताओं की रुचि का ध्यान रखने के कारण वे भी उन्हीं संस्कारों में ढल गये थे; फिर भी अपने जन्मजात संस्कारों से वे सर्वथा मुक्त न हो सके थे। उनका व्यक्तित्व दुहरे संस्कारों से निर्मित था। यही कारण है कि अपने काव्य में उन्होंने चित्रण तो दरबारी प्रेम का किया है परन्तु सिद्धान्त रूप में प्रेम के उच्च आदर्श को अपनाया है।[1] अतः इसमें सन्देह नहीं कि 'उनमें प्रधानता उच्च वर्ग के संस्कारों और उसी की आशा आकाक्षाओं की रहती थी, क्योंकि बाद में निर्धन जनता से इनका कोई संबन्ध नहीं रह जाता था। निम्न वर्ग न तो इतना सम्पन्न ही था कि इनकी कृतियों का पुरस्कार दे सके और न इतना शिक्षित ही कि उनका रस ले सके।[2]

धार्मिक दृष्टि से देखा जाय तो इन दिनों हिन्दी प्रान्तों में वैष्णव धर्म का ही प्रचार अधिक था जिसके अन्तर्गत अनेक सम्प्रदाय और उपसम्प्रदाय पनप रहे थे। वैष्णव भक्ति के विराट् आन्दोलन ने देश को नई आध्यात्मिक और दार्शनिक दृष्टि देकर स्फूर्त किया था। इससे पहले अनेक सम्प्रदाय अपने साधना-प्रधान मूल सिद्धान्तों से विचलित होकर भ्रष्टाचार के अड्डे बन गये थे। हीनयान और सहजयान, जो महायान के आत्मनिषेधक सिद्धान्तों के विरोध में प्रचलित हुए थे आत्म-रति के पङ्क में पूर्णतया निमग्न हो चुके थे। वामाचारी तान्त्रिक मतवाद ने विभिन्न मुद्राओं के रूप में नारी के उपभोग का जो गुह्य विवेचन किया उसका परिणाम धर्मपोषित व्यभिचार के रूप में प्रस्फुटित हुआ। धीरे-धीरे वैष्णव भक्ति पर भी इसका प्रभाव पड़ा। राधा को श्रीकृष्ण की ह्लादिनी शक्ति मानने के मूल में तान्त्रिकों की शक्ति-उपासना

---

१. जो चाहौ चटक न घटै मैलो होय न मित्त।
रज राजस न छुआइये नेह चीकने चित्त॥ बिहारी ३६५
२. डा० नगेन्द्र, रीतिकाव्य की भूमिका।

की भावना भी बड़े भारी अंश में निहित है ।[1]

प्राचीन वासुदेव धर्म में जिस राधातत्त्व का सम्मिश्रण हो गया था वह इतना महत्त्वपूर्ण हो उठा कि वैष्णव आचार्य उसकी उपेक्षा न कर सके । इधर संस्कृत के सुप्रसिद्ध कवि जयदेव, बंगला के चण्डीदास और मैथिली के विद्यापति ने राधा-कृष्ण के प्रेम को एक नये धरातल पर प्रस्ततु किया जिसके विषय में अभी तक आलोचक एकमत होकर निश्चित रूप से घोषित न कर सके कि वे भक्त थे या शृङ्गारी । गौडीय आचार्यों ने तो पूरे नायिका-भेद को ही कृष्ण-भक्ति में फिट बैठा दिया । वल्लभ-संप्रदाय भी इससे कुछ कम प्रभावित नहीं हुआ । खण्डिता, विप्रलब्धा, वासकसज्जा आदि नायिकाओं के रंगीन चित्र सूरसागर में भी कुछ कम नहीं हैं । इन चित्रों पर अलौकिकता अथवा धार्मिकता का जो आवरण डाला गया था वह रीतिकाल की नग्न-सौन्दर्य-पिपासु दृष्टि को न रुच सका । राधा-कन्हाई के सुमिरन के बहाने उन्होंने विलास के अपने आदर्शों को ही प्रायः व्यक्त किया है ।

राधा-कृष्ण की भक्ति से सम्बद्ध परिनिष्ठित संम्प्रदायों के अतिरिक्त जन-साधारण में सामान्य रूप से पौराणिक धर्म का प्रचार था । ग्राम जनता सीता-राम, शिव-पार्वती, तथा अन्य देवी-देवताओं एवं अवतारों में भी आस्था रखती थी । सन्तों की अटपटी वाणी को भी वह बड़ी श्रद्धा, चाव और संभ्रम की भावना के साथ सुनती थी । विविध देवताओं से सम्बद्ध पुराणवर्णित घटनाओं को वह विश्वास की दृष्टि से ही देखती थी । इस प्रकार सम्प्रदायों की परिमित परिधि से बाहर भक्ति का एक समन्वित और व्यापक रूप साधारण-जनता में सामान्यतः फैला हुआ था ।

राजाश्रित कवियों के आरोपित संस्कारों, परिस्थितियों और आश्रयदाता की रुचि के कारण रीतिकालीन साहित्य में नागर भावनाओं की अभिव्यक्ति ही अधिक मुखर हुई है । विलास-सामग्री से अनभिज्ञ ग्रामवासियों के प्रति परोक्ष रूप से अपनी अरुचि का ही परिचय हिन्दी के कई सतसईकारों ने दिया हैः—

कर लै सूँघि सराहि हूँ रहे सबै गहि मौन ।
गन्धी अन्ध गुलाब को गँवई गाहक कौन ।[2]
करि फुलेल को आचमन मीठो कहत सराहि ।
रे गन्धी मति अन्ध तू इतर दिखावत काहि ।
वे न इहाँ नागर बढ़ी जिन आदर तो आब ।
फूल्यौ अनफूल्यो भयो गँवई गाँव गुलाब ।[3]

---

१. ह्लादिनी या महाशक्तिः सर्वशक्तिवरीयसी ।
तत्सारभावरूपेयमिति तन्त्रे प्रतिष्ठिता ॥ उज्ज्वल नील मणि०
२. बिहारी
३. वही ६२८
४. वही ४३८

स्पष्ट है कि हिन्दी सतसइयों में इत्र-फुलेल[1], गुलाबजल[2], मलयज[3], कपूर[4], अरगजा[5] आदि सुगन्धित पदार्थों का उपयोग करने में दक्ष नागर नरों का वर्णन है जिनका शिकार नायिका के काननचारी नैन प्रायः किया करते हैं।[6] एक बार बिहारी की नागरी नायिका अपने विलास-भावनों को त्याग कर गँवारिनों में जा फँसी थी तो बिहारी ने उसे चेतावनी दी कि—

नागरि विविध विलास तजि, बसी गँवेलिनु माँहि।
मूढनि में गनिबी कि तूं हूठ्यौ दै इठलाँहि॥[7]

उन्होंने प्रेम को नगर का ही रूपक दिया है भले ही वहाँ ऐसी अन्धेरगर्दी होती रहे कि:—

छुटन न पैयतु छिनकु बसि नेह-नगर यह चाल।
मार्‌यौ फिरि फिरि मारियै खूनी फिरै खुस्याल।[8]

प्रेम के इस नगर में कामदेव समस्त संसार को विजित करने के लिये शीश-महल का किला बना बैठा है।[9] यहाँ प्रासादों और अट्टालिकाओं में विद्युत् के सदृश विहार करने वाली नायिकाएँ हैं जिनके कनक-आभरण मोती, मणि, नीलम और लालों से जटित हैं, तरवन, नथ बेसर, खुभी, आरसी, गुलीबन्द, उरबसी, मुक्ताहार, किंकिणी, मंजीर (बिछिए) आदि अलङ्कारों से भूषित ये रमणियाँ अपनी वेणियों में भी पुष्पों के स्थान में मोती ही गूँथती हैं। जड़ाऊ टीका और जरी के किनारे वाली साड़ी में फबती हैं, नीली, और पंचतोरिया श्वेत साड़ी में उनका सौन्दर्य और भी बढ़ जाता है। यह झीना वस्त्र (जो ढाके की प्रसिद्ध मलमल के अतिरिक्त कोई अन्य वस्त्र नहीं प्रतीत होता) उन्हें अत्यन्त प्रिय है। मेंहदी के रंग के भार से ही लड़खड़ाती गति से चलने वाली ये तन्वङ्गी रमणियाँ महल की चार दीवारी में, सेज या पलंग पर अपने प्रियतम के साथ रंगरेलियाँ मनाती हैं, हाँ कभी कभी पुष्पावचयन के हेतु उद्यान में तथा जलविहार के लिये वापी या नदी तक भी पहुँच जाती हैं। रीति-कालीन कवियों की इन नायिकाओं की तुलना मुगल सम्राट् शाहजहाँ के अन्तःपुर को सुशोभित करने वाली उन दो सहस्र रमणियों से कीजिए जिनके विषय में बर्नियर ने

१. बिहारी ६२४
२. बिहारी ५२८
३. वही ५२९
४. " ८९-९०
५. वही ५३५
६. बिहारी ४५
७. वही ५०६
८. ,, ३२५
९. ,, १६७
* बिहारी ६६८
वही ६९७

अपने मृत पितरों का श्राद्ध और तर्पण करते हैं। इन दिनों में कौओं को बलिदेने की प्रथा उस समय भी प्रचलित थी[1]।

विजया दशमी का उल्लेख भी किया गया है और उस दिन नीलकण्ठ के दर्शन को शुभ लक्षण मानने का विश्वास भी जैसा आज कल है, उन दिनों भी था। संक्रान्ति (मकर-संक्रान्ति) के दिन दान देने के माहात्म्य की ओर भी संकेत मिलता है।

खेलकूद और मनोरञ्जन के साधनों पर भी कुछ प्रकाश पड़ा है। उच्च वर्ग के लोगों में चौगान का खेल प्रचलित था जो आधुनिक पोलो से अधिक मिलता जुलता था। रंगीन तबीयत के युवक पतंग और कबूतर उड़ाने का शौक भी करते थे। नटों का तमाशा भी मनोरञ्जन का एक साधन था। ये लोग रस्सी बाँध कर उसके ऊपर चलना, कई गोलों को आकाश में उछालते हुए हाथों में लपक लेना आदि अभ्यास-साध्य खेल दिखाया करते थे। हिण्डोला झूलना, गेंद से खेलना, लट्टू घुमाना आदि बालाओं और बालकों के खेल थे। चोर मिचौनी भी, जो आजकल आँख-मिचौनी के नाम से प्रसिद्ध है, खेला जाता था। तोता मैना आदि पक्षियों को पालकर पिंजरे में रखा जाता था और घर की शोभा में उनसे वृद्धि की जाती थी। संटी खेलने का उल्लेख भी एक स्थान पर विक्रमसाहि ने किया है।

समाज में विभिन्न प्रकार के विचार और विश्वास प्रचलित थे। स्त्रियाँ अपने वाम अङ्गों का स्फुरण शुभ मानती थीं। भूत-प्रेत, चुड़ैलों और जादू-टोने में विश्वास किया जाता था। यह भी विश्वास था कि टोने की विधि यदि समुचित रूप से सम्पन्न न हो तो वह उलटा भी पड़ सकता है। टुनहाई स्त्री अच्छी दृष्टि से नहीं देखी जाती थी। मलंग फकीरों का उल्लेख भी हुआ है जो औघड़ या हठयोगियों की भाँति विचित्र-विचित्र ढंगों से साधना करते थे और अपने शरीर को कौड़ों (बड़ी बड़ी कौड़ियों) की लड़ियों और लोहे की साँकलों से जकड़ कर चुपचाप आँखें मूँद कर ध्यान-मग्न बैठे रहते थे। पौराणिक-कथाओं के श्रवण में लोगों की रुचि थी और ज्योतिष् विद्या में विश्वास। पेशेवर कथावाचक, ज्योतिषी, वैद्य और चित्रकार जनता की सेवा के लिये प्रस्तुत थे।

बहु विवाह की प्रथा थी। विवाह-संस्कार के अन्तर्गत अनेक टेहले या रस्में होती थीं। भाँवरों के समय कन्या का हाथ वर के हाथ में दिया जाता था, इसे 'हथलेवा' कहते थे। नववधू को उसकी सास, ससुर, सौतें आदि गुरुजन मुँह दिखाने के उपलक्ष में रुपया-पैसा आदि उपहार स्वरूप देते थे। बिहारी ने इसे मुँह दिखरावनी कहा है। पर्दा प्रथा थी। स्त्रियाँ नैहर में पति से मिलने में लजाती थीं। ऐसा करना अच्छा भी नहीं समझा जाता था। घर-जँवाई रखने की प्रथा थी परन्तु श्वसुर के घर रहने वाले जामाता को हीन दृष्टि से देखा जाता था। सम्मिलित कुटुम्ब की प्रथा थी तथा भाभी-देवर की नोंक-झोंक और प्रीति-रीति भी कुछ आजकल जैसी ही थी।

---

१. बिहारी ४३४-३५

अतिथि-सत्कार गृहस्थ का नैत्यिक कर्म था और पथिकों को रात्रि हो जाने पर किसी भी गाँव में किसी गृहस्थ के यहाँ आवास मिल जाता था।

यद्यपि हिन्दी की शृङ्गारी सतसइयों में नगर-सभ्यता का ही स्वर ऊँचा है फिर भी देहात के मध्यम वर्ग से संबद्ध होने के कारण कवियों ने यत्र-तत्र ग्रामीणाओं का भी यत्किञ्चित् चित्रण किया है। यह बात दूसरी है कि ग्रामीण वातारण के चित्रण को वे स्वाभाविकता प्रदान न कर सके। फिर भी सहज सौन्दर्य की अनुभूति से ओत-प्रोत कतिपय मार्मिक उक्तियाँ देखी जा सकती हैं। गुञ्जाओं का हार पहने हुए लाल चुनरी वाली गँवारिन ने विक्रमसाहि को आकृष्ट किया। पैरों में जड़ाऊ गूजरी, नाक में नथ पहन कर घने घेर वाले घाघरे से सुशोभित घुँघराले बालों वाली बाला का वर्णन मतिराम ने किया और सर्वत्र नागरता की पताका ऊँची करने वाले बिहारी ने भी लिखा—

> **पहुला हार हियें लसै, सन की बेंदी भाल।**
> **राखत खेत खरे खरे, खरे उरोजन बाल ॥२४८॥**
> **गदराने तन गोरटी ऐंपन आड़ लिलार।**
> **हूठ्यौ दै इठलाइ दृग करै गँवारि सुवार ॥६३॥**

किन्तु ऊख, कपास और अरहर के खेतों में प्रच्छन्न प्रेमियों के साथ यौवन-सुख का अनुभव करने वाली इन गँवारी बालाओं की संख्या हिन्दी-सतसइयों में उँगलियों पर गिनी जाने योग्य है। उन्हें नागर-प्रेम का, जो उनकी रुचि का विषय था, चित्रण करने से फुर्सत थी ही नहीं।

तुलना और निष्कर्ष

गाथा सप्तशती तथा हिन्दी-सतसइयों में प्रतिफलित सामाजिक दशा का तुलनात्मक अध्ययन करने पर अनेक रोचक तथ्यों का उद्‌घाटन होता है और यह जानकर आश्चर्य होता है कि शताब्दी पर शताब्दी बीतने पर भी हमारे समाज की बहुत सी परम्पराएँ अपरिवर्तित रूप में अब तक चली आ रही हैं। गाथा सप्तशती के समय की तथा हिन्दी रीतिकाल की बहुत सी समस्याएँ, मान्यताएँ और आचार-विचार समान थे।

दोनों ही युगों में राजा अथवा शासक को निरंकुशता प्राप्त थी। उसके विरुद्ध किसी को मुख खोलने का साहस नहीं होता था। शासन की इकाई गाँव था। गाथा सप्तशती के ग्रामणी और रीतिकाल के (गाँव के) ठाकुर या पटेल की स्थिति समान थी। गाँव पर उनका पूरा प्रभुत्व होता था। गाँव की रक्षा करना और कर एकत्र करना उसका कार्य था। छोटे-छोटे राज्यों के स्वामी परस्पर लड़ते रहते थे। स्त्रियों के कारण भी युद्ध छिड़ जाते थे। शत्रु की बहू-बेटी का बलात् अपहरण वीरता का कार्य समझा जाता था किन्तु इससे भी अधिक महत्त्व उसका था जो अपनी अपहृत बहू-बेटी को अपने भुजबल से शत्रु से छुड़ा लेता था।

बहु-विवाह प्रथा का प्रचलन था। मध्यम और कभी-कभी निम्नवर्ग का व्यक्ति भी एकाधिक विवाह कर लेता था। सती-प्रथा प्रचलित थी और पत्नी अपने मृत पति के साथ जीवित ही जल जाती थी। वेश्यागमन इतना अधिक बुरा नहीं समझा जाता था और समाज में वेश्याओं का स्थान बहुत नीचा नहीं था।

पौराणिक भक्ति एवं विश्वासों का आभास गाथा सप्तशती में भी मिलता है। हिन्दी सतसइयों में तो यह प्रभाव स्पष्ट है ही क्योंकि उनकी रचना भक्तिकाल के अनन्तर ही प्रारम्भ हो गई थी। पुराणों ने न केवल शिष्टवर्ग को ही प्रभावित किया था अपितु समूचे लोकजीवन पर अपनी अमिट छाप छोड़ी है। गाथा सप्तशती के समय ही पौराणिक देवताओं तथा अवतारों की प्रतिष्ठा हो चुकी थी और भक्ति का स्वरूप निर्मित होने लगा था। बाद में दक्षिण के आलवार भक्तों ने भक्ति की सरस्वती का जो स्रोत प्रवृत्त किया वह बहुमुखी रूप धारण कर अनेकानेक धाराओं में चारों ओर फूट निकला जिसमें तत्तत् प्रदेश के सन्त भक्तों की वाणी का रस भी मिलता रहा और अन्ततो गत्वा भक्तिकाल तक पहुँचते-पहुँचते वह अपने माधुर्यविजृम्भित रस से साहित्य को भी शराबोर करता हुआ विशाल सरिता के रूप में लहराने लगा तथा कालान्तर में सामयिक और देशीय परिस्थितियों के कारण अन्तर्हित हो जाने से सूक्ष्मरूप में अवशिष्ट इस धारा ने शृङ्गार की उमड़ती हुई मन्दाकिनी और नीति की शान्त, निश्चल, मन्द मन्द बहती हुई कालिन्दी से मिलकर जो त्रिवेणी-सङ्गम बनाया वही रीतिकालीन कवियों का तीर्थराज बना जिसमें उन्होंने जी भरकर अवगाहन किया है। इस प्रकार गाथा सप्तशती में भक्ति का जो अत्यन्त क्षीण स्वर उठा था वह उत्तरोत्तर एक के बाद दूसरी मूर्च्छना से गुजरता हुआ भक्तिकाल में पराकाष्ठा पर पहुँचकर अवरोह करता हुआ रीतिकाल में 'सम' पर आ चुका था और इसके पश्चात् तो उसकी प्रतिध्वनि ही कवियों के कानों में गूँजती रही थी। अतः गाथा सप्तशती और हिन्दी की सतसइयों को देवविषयक रति (भक्ति) का आधार धरातल प्रायः एकसा ही मिला था। एक का अवस्थानबिन्दु वहाँ है जहाँ से भक्ति के विशाल शैल की चढ़ाई उत्तरोत्तर ऊँची होती चली गई है और दूसरी का वहाँ जहाँ उसकी उतराई समाप्त होती है।

मनोरञ्जन के बहुत से साधन, जैसे संगीत, चित्रकला, नृत्य, जलविहार, पुष्पावचय कन्दुक-क्रीडा, तोता-मैना आदि पक्षियों को पालकर पिंजरों में रखना, आदि दोनों युगों में एक से थे। बहुत से रीति-रिवाज और आचार-विचार भी समान थे। मेंटी खेलना, बायन बाँटना, सम्मिलित-परिवार-प्रथा और उसे निबाहने का आग्रह, भाभी-देवर का हँसी-मज़ाक और नोंक-झोंक, सास-ससुर का नियन्त्रण, ननद का भय, अतिथि-सत्कार, पथिकों को आवास प्रदान करना आदि अनेक बातों में साम्य ही नहीं पूर्ण एकता है। स्त्रियों द्वारा खेत रखाना और खेत पर काम करने वालों का भोजन पहुँचाना उभयत्र पाया जाता है। ऊख कपास और अरहर की खेती, इनके खेतों का ग्रामीणाओं द्वारा अपने सहेट के रूप में उपयोग, कुञ्जों और

नदियों के कछारों में प्रच्छन्न-प्रेमियों से मिलना और प्रकृति से प्राप्त फूल-पत्तों से अपना शृङ्गार करना दोनों में ही स्वाभाविक रूप से मिलता है। होली के त्यौहार की धमा-चौकड़ी और मादकता दोनों युगों में स्पृहणीय थी। सुरापान नारियों द्वारा भी बे रोक-टोक किया जाता था। भूत-प्रेतों में विश्वास, प्रिय व्यक्ति के आगमन के साथ मङ्गल-घटों की स्थापना, पाँवड़े बिछाना, वन्दनवार बाँधना, अशुभ दिनों में यात्रा न करना, शकुन-अशकुन का विचार, स्त्री के वामाङ्गों का स्फुरण शुभ समझना आदि तो उन युगों में ही नहीं आजकल भी प्रचलित हैं।

संक्षेप में तात्पर्य यह है कि राजा अथवा शासक के प्रति संभ्रम की भावना, सामन्तवादी शासन-व्यवस्था, युद्ध-प्रियता, बलात् नारी-अपहरण, विवाह-शादी, आमोद-प्रमोद, उत्सव-पर्व, रीति-रिवाज, आचार-विचार आदि की दृष्टि से इन दोनों ही युगों में बहुत कुछ साम्य था और यदि यह कहें कि समाज का मूल ढाँचा ही एकसा था तो अत्युक्ति न होगी। प्रसङ्ग और अभिव्यक्ति की दृष्टि से उनमें इन समानताओं के कारण सप्तशती की अनेक गाथाओं और सतसइयों के बहुत से दोहों के वर्ण्यविषय एवं प्रसङ्गविधान में साम्य होना स्वाभाविक ही है। उदाहरणार्थ बहुविवाह प्रथा के कारण सपत्नी-विषयक उक्तियों की एक अच्छी-खासी संख्या प्रस्तुत हो गई। इसी प्रकार राजा का अत्यन्त महत्त्व होने के कारण राजप्रशस्तिपरक रचनाओं का प्रणयन हुआ। होली की रंगीनी के कारण अनेक उक्तियों में रस की पिचकारियाँ और गुलाल की मुट्ठियाँ बरसती दिखाई पड़ती हैं और सुरापान की प्रवृत्ति के कारण रमणियों के मादक अनुभावों की अनुभूति होती है जिन पर यथास्थान विचार किया जायेगा।

पिछले पृष्ठों में हम कह आये हैं कि गाथा सप्तशती में प्रमुखतया ग्रामीण-जीवन का चित्रण है और हिन्दी-सतसइयों में नागरिक जीवन का। साथ ही सप्तशती में नागरभावनाएँ और सतसइयों में ग्रामीणचित्रण भी गौण रूप से आये हैं। सप्तशती के ग्रामीण नायक-नायिकाओं की लीलाभूमि अत्यन्त व्यापक है। उनका क्षेत्र प्रकृति की उन्मुक्त गोद है जबकि सतसइयों में दरबारी भोग-विलास का चित्रण अधिक है। यही कारण है कि उनके नायक-नायिकाओं की प्रणयकेलियाँ प्रासाद, पलंग, उपवन और बावड़ी तक ही सीमित रहती हैं। यद्यपि राधा तथा अन्य गोपियों के रूप में अपनी नायिका को और कृष्ण के रूप में नायक को उन्होंने भी यमुना नदी के किनारे, वृन्दावन के करीर-कुञ्जों में चित्रित किया है तथापि सप्तशती में चित्रित सामान्य जीवन के चित्रण में जो स्वाभाविकता और सौन्दर्य है वह इनमें नहीं आ पाया। सामान्य से विशेष की ओर जाने में लक्ष्यप्राप्ति के हेतु विहित प्रयास का परिणाम होता है संकुचित मार्ग का अनुसरण। फिर व्यापकता आ भी कैसे सकती है। अतः उनका महत्त्व महलों को छोड़कर दो चार घंटे के लिये कभी-कभी जंगल में पिकनिक कर आने वाले उच्चवर्गीय नागरिकों से अधिक नहीं है। सप्तशती में नर्मदा या गोदावरी के तट पर सहेट रूप में जो कुञ्ज-वर्णन हुए हैं उनमें पक्षियों का कोलाहल और नाई के पत्ते चबाने से उत्तेजित बन्दर की खौंखौं भी सुन पड़ती है, नायिका के वस्त्रों

में लगी हुई पत्तियाँ भी दीख पड़ जाती हैं; एक सर्वाङ्गीण चित्र उपस्थित हो जाता है किन्तु हिन्दी सतसइयों में चित्रण नहीं उल्लेखमात्र किया गया है। कारण स्पष्ट है सप्तशती के नायक नायिकाओं के दैनिक जीवन का बहुत बड़ा भाग प्राकृतिक क्षेत्र में ही बीतता है। कछार, कुञ्ज, लता आदि उसमें घुल मिल गये हैं। किन्तु रीतिकालीन नायक-नायिकाओं के जीवन से वृन्दावन-कुञ्ज और यमुना-तट का संबन्ध केवल इतना है कि वहाँ पर वे सुरत हेतु मिल लेते हैं। रीतिकालीन रचनाओं में मणिमय-महल, रत्न-जटित कनक-भूषण, मुक्ताहार, इत्र, फुलेल और वारुणी का इतना आधिक्य है कि विहङ्गम दृष्टि डालते ही पाठक के हृदय पर यह अङ्कित हो जाता है कि यह साधारण जनता का चित्रण हो ही नहीं सकता।

इसके विपरीत गाथासप्तशती में ग्रामीण जीवन की नैसर्गिक अनुभूतियों का ही चित्रण मुख्य रूप से हुआ है। नगर-सभ्यता का कोई विशेष आभास इस रचना से नहीं मिलता। एक-आध उक्ति, जो आई है उससे प्रत्यक्षरूप में नगर-सभ्यता का कोई ठोस आकार निश्चित करना कठिन है। सारांश यह है कि गाथासप्तशती और हिन्दी की सतसइयाँ एक ही मूल पदार्थ के ग्रामीण और नागरिक संस्करण हैं, एक ही रस से सम्पादित दो पदार्थ हैं जो ग्रामीण और नागरिक वातावरण, विचार-धारा और रुचि-अरुचि के आधार पर प्रस्तुत किये गये हैं। एक उन्मुक्त वायु में अपनी मादकता के साथ स्वच्छन्दता से झूमने वाला स्वतः उद्भूत प्राकृतिक लताओं का सघन वन है तो दूसरा किसी राजाधिराज के मनोभिराम उपवन में काट-छाँट कर सुडौल बनाया हुआ कुञ्ज।

वर्ण्यविषय

* *

विश्व की सभी भाषाओं के साहित्य में शृङ्गार रस का आधिक्य है। वस्तुतः सर्जनात्मिका वृत्ति के रूप में रति ही सृष्टि का मूल कारण है। यों अनेक साहित्यिक महारथियों ने विभिन्न रसों के प्रवाह में गोता लगाया है और उनकी प्रशंसा भी की है किन्तु रसराज के रूप में शृङ्गार ही प्रतिष्ठित हुआ। हास्य रस स्वास्थ्य की दृष्टि से चाहे रसायन हो परन्तु उसका हलकापन उसे जीवन सरिता की ऊपरी सतह पर ही उतराने के लिए बाध्य करता है। कार्याकार्य के विवेक से शून्य रौद्र विध्वंस का ही प्रतीक है। स्वयं शिवस्वरूप शंकर सृष्टि का लय करते समय रुद्र बन जाते हैं। भयानक रस में चित्तवृत्तियों का संकोच होता है अतः व्यापकता का अभाव है। और बीभत्स, जिसकी नींव ही घृणा पर आधारित है, बहुत कुछ अस्पृहणीय ही है। अतः इन रसों का कड़वी दवा की तरह यथासमय उपयोग करके भी साहित्यकारों ने इनमें किसी को प्राथमिकता नहीं दी।

महामति धर्मदत्त ने अद्भुत रस को सर्वश्रेष्ठ ठहराया क्योंकि उनकी दृष्टि से रस का सार चमत्कार ही है जो सभी रसों के मूल में पाया जाता है—

रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः॥

प्रश्न यह है कि क्या रति आदि स्थायी भावों का आस्वादन चमत्कार अथवा विस्मय पर ही निर्भर है? वस्तुतः रसमात्र की अनुभूति के मूल में निहित विस्मय उस कोटि का है ही नहीं जिसका अद्भुत रस का स्थायी भाव विस्मय है। यदि उसी कोटि का मान भी लें तो भी आस्वाद्य रति आदि भाव के समक्ष उसका अस्तित्व नगण्य है। हां, नमक डाले आटे की रोटि को जैसे नमक की रोटी कहते हैं उसी भाँति हर एक रस को अद्भुत रस कहने लगें तो दूसरी बात है।

भवभूति ने करुण रस को प्रधानता देकर 'एको रसः करुण एव' की घोषणा की है। भारतीय साहित्य में करुणरस को एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त भी है। क्रौञ्च दम्पती में से पुरुष क्रौञ्च के दारुणवध और क्रौञ्ची के करुणविलाप को देखकर ही आदि कवि के भरे हुए कण्ठ से कविता की प्रथम पंक्तियाँ फूट पड़ी थीं। परन्तु करुण रस में निराशा का सर्वग्रासी आधिपत्य रहता है, फिर जीवन का चरम लक्ष्य आनन्द है, शोक नहीं। शोक का महत्त्व आनन्द की अनुभूति कराने में है। अतः साधन को साध्य नहीं माना जा सकता।

वीर रस का स्थायी भाव उत्साह स्पृहणीय है और महत्त्वपूर्ण भी, किन्तु परिणाम में वह विघटक है संयोजक नहीं। निःसंदेह उत्साह के आवेश में अतिमहान्

कार्यों का सम्पादन होता है किन्तु सुव्यस्थित विकासोन्मुख रूप में समष्टि के संघटन का कार्य जिस उत्साह से सम्पन्न हो सकता है वह वीररस के स्थायी भाव रूप उत्साह से नितान्त भिन्न है। बल्कि कहा जा सकता है कि वह रति का ही एक रूपान्तर है। इतिहास साक्षी है कि पाशविक शक्ति के प्रदर्शन हेतु हुए युद्धों की संख्या कुछ कम नहीं रही है। हाँ, दानवीर और दयावीर के उत्साह में दैवी वृत्तियों की विशेषता अवश्य रहती है। उनमें अनौचित्य की आशंका नहीं की जा सकती। अतः वीर रस की श्रेष्ठता अंशतः ही सिद्ध होती है।

कुछ विद्वान् शान्त रस को प्रमुख मानते हैं। इस विषय में यह कथन बड़ा प्रसिद्ध है—

न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता न द्वेषरागौ न च काचिदिच्छा।
रसः स शान्तः कथितो मुनीन्द्रैः सर्वेषु भावेषु शमः प्रधानः॥

प्रश्न है, किस मुनीन्द्र ने शान्त रस को माना है? रसनिष्पत्ति के सिद्धान्त के साथ केवल एक ही मुनि का नाम संबद्ध है और वह है भरत मुनि जिन्होंने शान्तरस को स्वीकार तक नहीं किया है। संस्कृत के अन्य अनेक आचार्यों ने भी शान्त रस को नहीं माना। दृश्य काव्य में तो शम का महत्त्व कुछ भी नहीं क्योंकि शम में एक प्रकार से समस्त-क्रिया-शून्यत्व का आविर्भाव होता है जिसका अभिनय असाध्य ही समझिए। इसके अतिरिक्त शान्तरस के स्थायी भाव के विषय में भी खींच-तान है। कुछ आचार्य शम को इनका स्थायी भाव मानते हैं और कुछ निर्वेद को। सुख-दुख, चिन्ता-ईर्ष्या, राग-द्वेष, इच्छा-अनिच्छा से रहित इस रस में संचारी भावों की सम्भावना भी विचरणीय है। अतः जिसका अस्तित्व ही शङ्कास्पद हो उसका प्राधान्य कैसा?

शृङ्गार के पक्ष में बहुत से विद्वानों का मत है। वास्तव में रति का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है भी। हृदय की जितनी अधिक वृत्तियों का सम्बन्ध इससे है उतनी का किसी अन्य स्थायी भाव से नहीं। संसार के कवियों को जितना इस भाव ने लुभाया है उतना किसी अन्य ने नहीं। अखिल विश्व में व्याप्त प्रेमरस की अविच्छिन्न धारा का उद्घाटन कवियों का प्रमुख लक्ष्य रहा है। यह संसार का एक महान सत्य है महाकवि बैली (Bailly) के शब्दों में—

Poets are all who love, who feel great truths,
And tell them, and the truth of truths is love.

अर्थात् वे सब कवि हैं जो प्रेम करते हैं, जो महान् सत्यों की अनुभूति करते हैं और उनका प्रतिपादन करते हैं और सत्यों का सत्य (परम सत्य) प्रेम है।

शृङ्गार प्रकाश के यशस्वी प्रणेता ने लिखा है—

आम्नासिषुर्दश रसान् सुधियो वयं तु
शृङ्गारमेव रसनाद् रसमामनामः।

'विद्वानों ने दस रस माने हैं किन्तु हम तो शृङ्गार को ही (उसकी सार्वभौम एवं शाश्वत आस्वाद्यता के कारण) रस मानते हैं।

भारतीय साहित्य परम्परा में प्रेम के दो स्वरूप मिलते हैं—लोक-संवद्ध और ऐकान्तिक। लोक-संवद्ध प्रेम का क्षेत्र व्यापक होता है। उसमें सागर की गम्भीरता, हिमालय की उत्तुङ्गता, शिरीष की कोमलता, कुलिश की कठोरता और लावण्य की तरलता सब कुछ मिलकर जैसे एक हो जाते हैं—अद्भुत और अभूतपूर्व। यह प्रेम लोक कल्याण का साधक बनता है, उसमें बाधक नहीं होता। निजी स्वार्थ के लिये लोककल्याण का निर्मम बलिदान इसे अभीष्ट नहीं। राम और सीता का प्रेम ऐसा ही था। इस प्रेम ने ही राम को अत्याचारी रावण से जूझने का उत्साह प्रदान किया। उनकी शक्ति, संगठन की क्षमता और वीरता का उद्घाटन किया। यहाँ लोकहित और प्रेम समानाधिकरण थे, उनमें परस्पर विरोध नहीं था। परन्तु जब लोकहित और प्रेम आमने-सामने खड़े होने की स्थिति में आये तो लोकहित के पक्ष में प्रेम ने आत्म-बलिदान कर दिया। महान् संघर्ष एवं विध्वंस के पश्चात् रावण की कारा से छुड़ाई हुई सीता का परित्याग राम ने इसलिये किया कि लोकहित प्रभावित होता था, इसलिए नहीं कि सीता के प्रति उनका प्रेम मर चुका था या उनकी दृष्टि में सीता का चरित्र संदिग्ध था। ऐकान्तिक प्रेम में मनुष्य की वृत्तियाँ विश्व भर से खिचकर प्रेमपात्र में ही केन्द्रित हो जाती हैं। यह प्रेम किसी का व्यवधान पसन्द नहीं करता। अपनी रँगरेलियाँ, अपनी वेदना, अपने ह्रास-रुदन से ही इसे फ़ुर्सत नहीं। श्री कृष्ण के प्रेम को कुछ लोग ऐसा ही बताते हैं। परन्तु उनका प्रेम आरम्भ में चाहे ऐकान्तिक रहा हो अवसान में लोककल्याण में ही विलीन होता हुआ दिखाई देता है। अपनी बचपन की केलिभूमि ब्रज, यमुना का शान्त कछार, करील के रोमाञ्चक कुञ्ज, मधुवन का मधुवर्षी उन्मुक्त आँगन, कदम्ब की लुभावनी छाया, बालापन के साथी ग्वाले, सहचरी ब्रजबालाएँ, आयताक्षी राधा, सब कुछ त्याग कर कृष्ण मथुरा चले गये। यशोदा का वात्सल्य छोड़ा, नन्द का दुलार त्यागा, और भुला दी गोकुल की धमाचौकड़ी जिसमें दधि-माखन की लूट मचती थी। क्यों? कंस के अत्याचारों से लोक की रक्षा करने के लिए। इसके बाद लोक हित में फँसे कृष्ण को गोकुल लौटने का मौका तक न मिला। इस प्रेम को भी ऐकान्तिक कहा जा सकता है? इसका अंकुर ब्रज की गलियों में फूटा था, सुदीर्घ साहचर्य की कोमल भावनाओं से सिक्त होता हुआ और विविध लीलाओं का प्रकाश पाता हुआ यह गोचारण के उन्मुक्त वातावरण में उच्छ्वसित तथा रूप-रस के सञ्चार से पल्लवित हुआ। इसके बाद यह फैलता ही गया और ऐसा फैला कि ब्रज के समूचे क्षेत्र पर छा गया। यह प्रेम ऐकान्तिक नहीं हो सकता, परन्तु यह ऐकान्तिक बना दिया गया। कवियों की निराली सृष्टि से तिल का ताड़ और ताड़ का तिल बनते देर नहीं लगती। उन्होंने इसके लोक सम्बद्ध पक्ष को छोड़ दिया। इसके विशाल क्षेत्र की व्यापकता को उनकी साँकरी दृष्टि समेट न सकी। परिणाम यह हुआ कि यमुना, कुञ्ज, कदम्ब,

गोचारण, गिरि-धारण, सब कुछ नाममात्र के संकेत रह गये। जैसे किसी प्रदेश के नक्शे में वन, निर्झर, पर्वत और सरिताएँ। यहाँ तक कि राधा और कृष्ण भी वे नहीं रहे। नायिकामात्र राधा बन गई और नायकमात्र कन्हैया। यह था हिन्दी की रीति कालीन विलास-प्रवृत्ति का नया अंकुर। विलासी नायक-नायिकाओं के प्रेम में प्रसार और गम्भीरता कहाँ से आती ? इस तथा कथित प्रेम का क्षेत्र था गुलगुली सेज, आलीशान भवन, कटे-छँटे सँवरे-सँवारे उपवन और फसील से घिरी हुई बावड़ियाँ। गगन के अगम विस्तार को नापने वाला प्रेम का पंछी सोने के पिंजरे में कैद कर लिया गया था। अमीरों और नवाबों, राजों और महाराजों, सुल्तानों और बादशाहों तथा उनके मौज्जिज़ मुसाहिबों का प्रेम खेतों और खलिहानों, जंगलों और वनों में कैसे भटकता ? गाँव के मटियाले चबूतरों से सिंहासन कितना ऊँचा होता है ? यह देखना हो तो गाथा सप्तशती पढ़कर रीतिकालीन कवियों की रचनाएँ पढ़िए, और सृष्टि के मूल तत्त्व रत्नजटित सिंहासनों की अपेक्षा मिट्टी के ढूहों में कितने स्वाभाविक एवं मौलिक रूप में सुरक्षित हैं यह ज्ञात करना हो तो रीति कालीन शृङ्गारी सतसइयों को पढ़कर गाथा सप्तशती पर दृष्टि डालिए।

गाथा सप्तशती में साधारण ग्रामीण जनता की ही नहीं व्याध, भील जैसी जंगली जातियों की भी भावनाओं का स्वाभाविक वातावरण की पृष्ठ भूमि में चित्रण किया है। यही नहीं, मृग-मृगी, हाथी-हथिनी जैसे पशु-मिथुनों की भी प्रेम-भावना को इसके विशाल क्षेत्र में स्थान मिला है। प्रकृति का स्वस्थ वातावरण और लोकजीवन की नित नई मधुरिमा से यह आद्यन्त अनुप्राणित है।

गाथा सप्तशती का प्रमुख वर्ण्य विषय शृङ्गार ही है। शृङ्गारेतर विषयों से सम्बद्ध गाथाएँ बहुत ही कम हैं। प्रारम्भ में ही हाल यह प्रतिज्ञा करके चले हैं कि कामतत्त्व का चिन्तन करने वालों को, यदि वे प्राकृत के अमृत काव्य का अनुशीलन करना नहीं जानते, काम विषयक बातें करने में शर्म आनी चाहिए। इसी आधार पर टीकाकारों ने ऐसी गाथाओं को भी, जो सज्जन-प्रशंसा, दुर्जननिन्दा, शुद्ध प्रकृति-वर्णन एवं अन्योक्ति द्वारा प्रतिपादित नीतिकथनों की ही स्पष्ट अभिव्यक्ति करती हैं, मनमानी प्रसङ्गकल्पना करके शृङ्गार के क्षेत्र में घसीट लिया है। यह टीकाकारों की ही जागरूकता का प्रमाण है अन्यथा सामान्य सहृदय को तो उन स्थलों में शृङ्गार की गन्ध भी नहीं आती। उदाहरणार्थ यही गाथा ले लीजिए:—

सुअणो ण कुप्पइ च्चिअ अह कुप्पइ विप्पिअं ण चिन्तेई
अह चिन्तेइ ण जम्पइ अह जम्पइ लज्जिओ होइ।

"सुजन क्रोध ही नहीं करता है, यदि क्रोध करता है तो अहित-चिन्तन नहीं करता; यदि अहित-चिन्तन करता है तो उसे कहता नहीं और अगर कहता है तो लज्जित होता है।" इस गाथा में शुद्ध रूप से सज्जन ही की स्तुति है फिर भी टीकाकारों ने इसे कुपित नायक से संभावित अवधीरणा की आशङ्का के कारण अभिसार करने में हिचकिचाती हुई नायिका के प्रति सखी की उक्ति कहा है।

कुछ नीतिविषयक सूक्तियाँ एवं अन्योक्तियाँ भी सप्तशती में संगृहीत हैं। एक गाथा में, जो हलिकक्रत बताई गई है, शालिवाहन नरेन्द्र की स्तुति है, एक अन्य गाथा में सामान्य रूप से किसी राजा की स्तुति की गई है जो टीकाकारों ने शालिवाहन के ही पक्ष में उद्धृत की है। इनके अतिरिक्त अन्य सभी उक्तियाँ शृङ्गारिक हैं।

ग्रामीण जीवन की नैसर्गिक अनुभूतियाँ

गाथा सप्तशती में अभिव्यञ्जित शृङ्गार के आश्रय, आलम्बन एवं उनकी क्रीडाभूमि का क्षेत्र व्यापक तथा स्वाभाविक है। संस्कृत साहित्य में आभिजात्य का जो आद्योपान्त आवरण पड़ा हुआ है वह गाथाओं में कहीं भी लक्षित नहीं होता। नागरिकों की प्रणयकेलियों के स्थान में ग्रामीणों के प्रेम के खुले खेलों ने ही गाथाकारों को अधिक आकृष्ट किया है। इन मुक्तकों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि कल्पना के आडम्बर से दूर रह कर स्वतः संभवी अर्थ को पूरी पूरी स्वाभाविकता के साथ इनमें व्यक्त किया गया है। नायक नायिकाओं के रूप-रंग, साज-सज्जा और गतिविधि के चित्रण में ऊहा से काम नहीं लिया गया। बिहारी की नायिका के समान गाथा सप्तशती की नायिका का अङ्ग दर्पण जैसा नहीं है जिसमें प्रतिबिम्बित होकर आभूषण भी दुहरे तिहरे और चौहरे दिखाई पड़ने लगें,[१] न ही उसकी 'तनद्युति' में मिलकर मोतियों का हार कपूर की माला बन जाता है जिससे प्रतिपल साथ रहने वाली चतुर सखियाँ भी धोखा खा जाती हैं और तिनके से स्पर्श करने पर भी देखती ही रह जाती हैं—यह निश्चय नहीं कर पातीं कि यह है क्या ?[२] ग्रामनिवासी कृषक, हलिक, ग्रामणीपुत्र, मल्ल, गोप, ग्वालिन, मालिन आदि ही नहीं व्याध, भील प्रभृति जंगली लोगों की शृङ्गार-चेष्टाएँ भी इन गाथाओं में चित्रित हैं। नदी के कछार, वेतस, कदम्ब, करञ्ज आदि के सघन कुञ्ज, पयाल के पुञ्ज, धान्य के खेत, गोष्ठ, कमलिनियों से आवृत जलाशय आदि सहेटों में प्रवृत्त इन प्राकृत जनों की प्रेमलीला प्रकृति का संस्पर्श पाकर कितनी सरस हो उठती है यह नागरता के अभिमानियों के अनुमान से परे की बात है। गाथा सप्तशती संस्कृत के उन आचार्यम्मन्यों के गुरुडम, पुराणपन्थ तथा सामन्तशाही परम्पराओं के लिये एक चुनौती है जो केवल नागरिकों की कामकेलियों के चित्रण में ही रस की स्थिति मानते हैं और कृषक आदि की शृङ्गार-चेष्टाओं को हीनपात्र में स्थित रति के कारण रसाभास का फतवा दे देते हैं। सरलप्रकृति ग्रामवासियों के प्रेम-पूर-पूरित हृदयों में रसाभास ही रहा और कृत्रिम आडम्बरों का आश्रय लेकर प्रेम का स्वाँग भरने वाले चाटुकार नागरिक ईश्वर के यहाँ से 'रस-स्थिति' का एकाधिकार ले कर आये हैं! रसाभास अनौचित्य के कारण

---

१. अङ्ग अङ्ग प्रतिबिम्ब परि दर्पन से सब गात।
दुहरे तिहरे चौहरे भूषन जाने जात॥

२. हैं कपूर मनिमय रही मिलि तनदुति मुकुतालि।
छन छन खरी बिचच्छनौ लखति छ्वाय तिनु आलि॥

हुआ करता है। स्वाभाविकता और कृत्रिमता में से औचित्य किस में है यह कहने की आवश्यकता नहीं। क्या स्वाधीनपतिका व्याधवधू का यह गर्व अनुचित है :—

सिहिपेहुणावअंसा वहुआ वाहस्स गव्विरी भमइ।
गअमोत्तिअरइअपसाहणाणं मज्झे सवत्तीणम्॥ २-७३

गजमुक्ताओं से अलंकृत सपत्नियों के मध्य में मोरपंख का अलङ्कार धारण किये हुए व्याधवधू गर्व के साथ घूम रही है।

और पुलिन्दपत्नी की यह ईर्ष्या ?

महुमच्छिआइ दट्ठं दट्ठूण मुहं पिअस्स सूणोट्ठम्।
ईसालुई पुलिन्दी रुक्खच्छायं गआ अण्णम॥ ७।३४॥

"मधुमक्षिका द्वारा काटे हुए और सूजे हुए ओष्ठ वाले प्रियमुख को देखकर ईर्ष्यालु भीलनी (पति को छोड़कर) अन्य वृक्ष की छाया में चली गई।

ग्रामीण जीवन की नैसर्गिक अनुभूतियाँ पद-पद पर संगृहीत हैं। कृषक को अपनी खेती सन्तान के समान प्रिय होती है। घुटनों तक बढ़े हुए किन्तु हवा के कारण नीचे पड़े हुए पौधों वाले धान के कीचड़ भरे खेत को देखकर किसान ऐसा आनन्दित होता है जैसे घुटनों के बल रेंगते हुए धूलभरे दुधमुँहे पुत्र को देखकर।[१] शरद् ऋतु में धान की फसल पकने पर उसका मन उल्लास से भर जाता है और निर्मल चाँदनी में फैली हुई अपनी ऋद्धि को देखकर वह आनन्द के गीत गाने लगता है।[२] खेती के दैनिक कार्यों के साथ साथ ही परिस्थितिवश उद्‌बुद्ध हुए शृङ्गारिक भावों का निर्वाह भी चलता रहता है। नौसिखिया किसान नवयुवक भोजन के समय घर से भात लाने वाली नायिका को देखकर प्रणयभावजनित साध्वसवश बैलों के जोत न खोल कर नाथ ही खोल डालता है।[३] वर्षा के उद्दीपन दिनों में दिनभर हल चलाने के बाद थककर प्रगाढ निद्रा में मग्न किसान की रमणी का वर्षाकाल के प्रति आक्रोश स्वाभाविक ही है।[४] कपास के बोने का श्रीगणेश करने के अवसर पर हल पर माङ्गलिक स्वस्तिचिह्न रखती हुई अन्यासक्ता नायिका अपने इस भावी संकेत-स्थल की नींव रखी जाती देखकर आनन्दातिरेक से विचलित हो उठती है जिससे उसके हाथ काँप जाते हैं[५] और कपास चुनती हुई स्वकीया जिन पौधों से प्रिय ने कपास चुनली है उनके खाली वृन्तों का स्पर्श करती हुई पुलकितवदना इधर उधर फिरती है।[६] सखियों के साथ महुए के फूल चुनने के लिये गई हुई नायिका संकेत-स्थल पर पहुँचे हुए प्रच्छन्न प्रणयी को मधूकवृक्ष के आमन्त्रण के बहाने ही आमन्त्रित

१. गाथा सप्तशती ६/६७
२. ,, ७/८९
३. ,, ७/९३
४. ,, ४/२४
५. ,, २/६५
६. ,, ४/५०

कर देती हैं[1] पर शङ्कालु पति नायिका को मधूक पुष्पों के अवचय के लिये भेजता ही नहीं, इस कार्य को वह स्वयं ही कर लेता है।[2] धान के सघन खेत में पथिक के साथ सुरतासक्ता प्रेमोन्मत्ता क्षेत्ररक्षिका सब कुछ भूल जाती है किन्तु सुरतकालीन हुँकारों से तोते भी उड़ते रहते हैं और इस प्रकार उसका खेत रखने का कार्य भी साथ ही साथ स्वतः पूरा हो जाता है।[3] परिहास रूप में ही सही, यौवन के उद्दाम प्रवाह में डूबी हुई पुष्ट ग्रामीण बालाओं द्वारा पथिक से प्रणययाचना की घटना आज भी देखी-सुनी जा सकती है। आटा पीसने के कारण क्षीरसागर से निकलती हुई लक्ष्मी के समान पाण्डुरितवदना हलिक पुत्री के सौन्दर्य को पथिक एकटक देखते रह जाते है।[4] गृहकार्य में व्यस्त गृहिणी के मलिन वेष पर ही गृहपति शत शत प्रसाधनों को न्यौछावर कर सकता है, तभी तो खाना बनाने में संलग्न नायिका के मुख पर लगी हुई कलौंस से उसका मुख प्रिय के लिये चन्द्रमा के समान हो जाता है।[5] प्रपापालिका (प्याऊ लगाने वाली) के सौन्दर्य का पान करने में मग्न पथिक अपनी अंजलि में छेद करके पानी को निकालता रहता है और उसकी ओर आकृष्ट प्रपापालिका भी अत्यन्त पतली धारा से जल डालती रहती है।[6] प्रथम प्रसव के समय पीड़ा से कातर नायिका भविष्य में पतिदेव से बात भी न करने की प्रतिज्ञा करती हुई लोगों के उपहास का भाजन बनती है।[7] नवीन कुसुम्भवस्त्र प्राप्त करके प्रसन्नता से फूली हुई तन्वी हलिक वधू-गाँव की गलियों में समा नहीं पाती।[8] सुरत-सुख के कारण निमीलिताक्षी ग्रामणी-पुत्री को मृत समझ कर भाग जाने वाले ग्रामीण नायक का भोलापन तो सचमुच मूर्खता की भी सीमा को लाँघ गया है।[9]

नागर भावनाएँ

जहाँ इस कोटि के रसिक हों वहाँ नागरी नायिकाओं की रुचि की रक्षा कैसे हो सकती है? अतः एक गाथा में कोई वंकचितवन वाली नागरी गाँव के प्रति आक्रोश भी प्रकट करती है:—

वक्कं को पुलइज्जउ कस्स कहिज्जउ सुंह व दुक्खं वा,
केण समं व हसिज्जउ पामरपउरे हअग्गामे।[10]

---

१. गाथा सप्तशती २/२
२. ,, २/५९
३. ,, ३/८९
४. ,, ४/८८
५. ,, २/१३
६. ,, २/३१
७. ,, २/२३
८. ,, ३/४१
९. ,, ४/६०
१०. ,, २/६४

कृषक आदि निम्न श्रेणी के लोगों से भरपूर क्षुद्र गाँव में तिरछी चितवन से किसे देखें ? सुख दुख की किससे कहें और किस के साथ हास-परिहास करें ?

उक्त गाथा इस बात का पक्का प्रमाण है कि गाथा सप्तशती ग्रामीण नायक-नायिकाओं की ही शृङ्गार चेष्टाओं का चित्रण नहीं करती, नागरी सुन्दरियों और युवाओं की रुचि की भी इसमें पर्याप्त रक्षा की गई है। एक स्थान पर कहा गया है कि वक्रदृष्टि, वक्रगति एवं वक्रोक्तिप्रिय विदग्धा नायिकाओं का प्रेम बड़े भारी पुण्यों से प्राप्त होता है।[१] 'ललाटिका' नामक आलिङ्गन की ओर संकेत करती हुई अन्यरत पति को उपालम्भ देने वाली यह नायिका भी नागरी ही हो सकती है :—

तीअ मुहाहि तुह मुहं तुज्झ मुहाओ अ मज्झचलणम्मि।
हत्थाहत्थीअ गओ अइदुक्कर आरओ तिलओ।[२]

यह दुष्करकार्य करने वाला तिलक उस नायिका के मुख से तुम्हारे मुख पर तथा तुम्हारे मुख से मेरे चरणों में हाथों हाथ चला गया।

नायिका के मुख से नायक के मुख पर तिलक का संक्रमण 'ललाटिका' आलिङ्गन के कारण संभव है जिसका लक्षण वात्स्यायन के कामशास्त्र में बताया गया है कि मुख में मुख एवं आँखों में आँखे डालकर ललाट का ललाट से संघटन जिसमें किया जाय उसे ललाटिका कहते हैं।[३]

इसी प्रकार यौवन वीत जाने पर भी सुरत आदि में अत्यन्त आसक्त किसी नायिका के प्रति यह उक्ति कि "गतयौवना नायिकाओं के स्तन, जघन और नितम्ब पर नखों के चिह्न उजड़ी हुई कामनगरी के मूलबन्ध (नींव) से प्रतीत होते हैं"[४] किसी नागर की ही हो सकती है, ग्रामीण की नहीं। सारांश यह कि गाथा सप्तशती में नागरकभावों की अभिव्यक्ति भी यत्र तत्र मिलती है। प्राचीन परम्पराओं, कवि-समयसिद्ध उक्तियों, काम शास्त्र, काव्य शास्त्र आदि शस्त्रों का प्रभाव भी गाथाओं पर पाया जाता है जिसकी चर्चा यथास्थान की जायगी।

प्रेम का आदर्श

जैसा कि कहा जा चुका है, गाथा सप्तशती में प्रेम के विविध रूप प्रदर्शित हैं। पतिव्रता[५] साध्वी से लेकर कुलटा[६] और वेश्या[७] तक का प्रेम इसका वर्ण्य विषय रहा है, फिर भी प्रेम के एक अत्यन्त उच्च आदर्श की स्थापना हमें इसमें दिखाई पड़ती है। निरुपाधिक अथवा अहैतुक प्रेम को आदर्श मानते हुए कहा गया है कि "मृग और

---

१. गाथा सप्तशती २/७४
२. ,, २/७९
३. मुखे मुखमासज्ज्याक्षिणी अक्ष्णोर्ललाटेन ललाटमाहन्यात्सा ललाटिका।
४. गाथा सप्तशती ३/३३
५. गाथा सप्तशती १/३८-३९,३/९३
६. ,, ६/४३,२/६६
७. ,, २/७५,२/५६,३/३२

मृगी अपने-अपने खाने पीने के लिये घास और जल वन में से प्राप्त कर लेते हैं, फिर भी उनका प्रेम मृत्यु तक स्थिर रहता है।[१] मृग-मृगी के प्रेम की प्रशंसा अन्य भी कई गाथाओं में मिलती है जिससे प्रतीत होता है कि मृग-मिथुन का प्रेम आदर्श प्रेम के प्रतीक रूप में स्वीकार किया गया है। सच्चा प्रेमी प्रिय के लिए प्राणों का भी परित्याग करने के लिये उद्यत रहता है।[२] संयोग हो या वियोग, उसके लिये प्रिय का दर्शन, चिन्तन, श्रवण सब कुछ सुखकर होता है। वह उसके लिये 'नित्य रमणीय' जो है।[३] आचार्य शुक्ल ने कहा है कि प्रेम में दृष्टि प्रिय से उसके कर्म तक पहुँचती है अर्थात् प्रिय के सभी कर्म प्रेमी को अच्छे लगते हैं। वे ही कर्म किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा किये जाने पर अग्राह्य हो सकते हैं। गाथा सप्तशती की एक नायिका इसकी अनुभूति करती हुई कहती है कि जो बातें हम तथा दूसरे लोग कहते हैं वे ही बातें उसके (प्रिय के) द्वारा कही जाती हैं तो सुखकर होती हैं।[४] यद्यपि एक गाथा में यह भी कहा गया है कि निश्छल प्रेम तो मनुष्य लोक में है ही नहीं; यदि हो तो फिर विरह किसका ? और यदि विरह हो भी जाय तो कौन जीवित रह सकता है?"[५] तथापि एक अन्य वियोगिनी की यह उक्ति कि "प्रियतम का रूप आँखों में, स्पर्श अङ्गों में, वचन कानों में और हृदय हृदय में निहित है, दैव ने वियुक्त किया ही क्या?" अनन्य प्रेम का अच्छा आदर्श उपस्थित करती है।[६] निःसन्देह प्रिय व्यक्ति द्वारा दिये हुए दुःख में भी सच्चा प्रेमी सुख का ही अनुभव करता है तभी तो प्रियतम के नखों से पीडित होकर भी उरोज रोमाञ्च-युक्त हो जाते हैं।[७]

प्रेम-पात्र के प्रति प्रेम की अभिव्यक्ति प्रेमी के व्यापारों से ही हो जाती है। शपथ खाकर प्रेम जताना प्रेम के अनादर का ही नहीं अभाव का भी सूचक होता है।[८] प्रेम के मार्ग में विरोध का रोड़ा नहीं आना चाहिए। अन्यथा विरोध के पश्चात् यदि प्रेम फिर स्थापित भी कर लिया जाय तो गर्म करके शीतल किये हुए जल के सदृश विरस तो हो ही जाता है।[९] प्रेम के नष्ट हो जाने में अदर्शन अति-दर्शन और चुगलखोरों के द्वारा कानों का भरा जाना कारण हैं।[१०] अदर्शन से महिलाओं का, अतिदर्शन से नीच का और कान भरे जाने से मूर्ख का प्रेम नष्ट हो जाता है। खल का प्रेम तो अकारण ही नष्ट हो जाता है।[११] प्रेम की प्राप्ति में

१. गाथा सप्तशती ३/८७
२. ,, ७/११
३. ,, ७/५१
४. ,, ७/४६
५. ,, २/२४
६. ,, २/३४
७. ,, १/१००
८. वही,
९. ,, १/५३
१०. ,, १/८१
११. ,, १/८२

प्रभुत्व बाधक होता हैं और विनय साधक। वही व्यक्ति महिलाओं का प्रिय हो सकता है जो उनके प्रति नम्र रहे—

णूमेन्ति जे पहुत्तं कुविअं दासा व्व जे पसाअन्ति।
ते व्विअ महिलाणँ पिआ सेसा सामि व्विअ वराआ॥[1]

जो प्रभुत्व को छिपा लेते हैं और सेवक के समान अनुनय करते रहते हैं, वे ही महिलाओं के प्रिय होते हैं अन्य तो बेचारे स्वामी मात्र ही रहते हैं।

सौन्दर्य-भावना और रूप-चित्रण

प्रेम अथवा शृङ्गार का स्थायी भाव रति है जिसका आधार है सौन्दर्य। असुन्दर वस्तु के प्रति रति या आकर्षण सम्भव ही नहीं। हाँ, उदासीनता का भाव अवश्य उत्पन्न हो जायगा, और कुरूप वस्तु के प्रति तो घृणा ही उत्पन्न होने की सम्भावना अधिक होती है। किन्तु यह निश्चय करना कि सुन्दर वस्तु कौन है अथवा सौन्दर्य की परिभाषा प्रस्तुत करना भी असंभव है। कारण यह है कि सौन्दर्य एक सापेक्ष शब्द है। कोई वस्तु किसी एक वस्तु की तुलना में सुन्दर हो सकती है तो दूसरी की तुलना में असुन्दर। जिस वस्तु को मैं सुन्दर मानता हूँ वह आपकी दृष्टि में असुन्दर हो सकती है। इसीलिये 'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना' तथा "भिन्नरुचिर्हि लोकः" के अनुसार जितने मस्तिष्क उतनी ही सौन्दर्य की परिभाषाएँ। "जिसे पिया चाहे वही सुहागिन" लोकोक्ति संकेत करती है कि सौन्दर्य विषयीनिष्ठ है। जिस सौन्दर्य का कोई प्रशंसक नहीं उसे सौन्दर्य कहा ही नहीं जा सकता। गाथा सप्तशती में कहा गया है कि—"ण गुणेण हीरइ जणो हीरइ जो जेण भाविओ तेण"[2] अर्थात् मनुष्य (सौन्दर्य आदि) गुण से आकृष्ट नहीं होता अपितु अपनी भावना या मनोरुचि के कारण ही किसी वस्तु के प्रति आकृष्ट होता है।

इसका अर्थ यह हुआ कि वही वस्तु हमें सुन्दर प्रतीत होती है जिसके प्रति हम आकृष्ट होते हैं। दूसरे शब्दों में प्रेम से सौन्दर्य की उत्पत्ति होती है न कि सौन्दर्य से प्रेम की। यदि यह सच है तो मनुष्य किसी वस्तुविशेष अथवा व्यक्तिविशेष के प्रति ही क्यों आकृष्ट होता है? यदि सौन्दर्यानुभूति में वस्तु का स्थान गौण है तो मनुष्य आँख मूँद कर किसी भी वस्तु के प्रति आकृष्ट हो सकता है। परन्तु प्रायः देखा यह जाता है कि वह वस्तुविशिष्ट या व्यक्तिविशिष्ट की ओर ही आकृष्ट होता है। यदि ऐसा न होता तो चार आने की सुराही खरीदने में भी वह दस-बीस मिनट खर्च करके सौ पचास में से किसी एक सुराही को ही क्यों खरीदता? दुकानदार जैसी भी उसके हाथ में पकड़ा देता वैसी ही लेकर चल देता। कभी-कभी एक ही माल से एक ही साँचे में एक ही कारीगर द्वारा बनाई हुई वस्तुओं में से भी हमें कोई एक विशेष वस्तु पसन्द आती है। क्यों? अवश्य उस वस्तु में कोई विशेषता है। गाथा सप्तशती में

१. वही २।८२

एक नायिका की चितवन-प्रशंसा के प्रसङ्ग में कहा गया है कि—

अण्णाणं वि होन्ति मुहे पम्हलधवलाइं दीहक सणाइं।
णअणाइ सुन्दरीणं तह वि हु दट्ठुं ण जाणन्ति ॥[1]

पक्ष्मल, आयत और कजरारे नयन अन्य नायिकाओं के मुख पर भी होते हैं किन्तु वे देखना नहीं जानतीं।

इस प्रकार निम्नलिखित गाथाओं से भी सौन्दर्य की वस्तु-निष्ठता ही प्रतीत होती है :

अण्णाणं कुसुमरसं जं किर सो महइ महुअरो पाउम्।
त णीरसाणं दोसो कुसुमाणं णेअ भमरस्स ॥[2]

भौंरा अन्य पुष्प के रस को पान करना चाहता है। यह नीरस पुष्पों का ही दोष है भौंरे का नहीं :

केसररअविच्छड्डे मअरन्दो होइ जेन्तिओ कमले।
जइ भमर तेन्तिओ अण्णहिं पि ता सोहसि भमन्तो ॥[3]

केसर एवं परागराशि से सम्पन्न कमल में जितना मकरन्द होता है यदि उतना अन्यत्र भी सम्भव हो तो भ्रमर! तुम भ्रमते हुए अच्छे लग सकोगे।

गन्धेक्ष अप्पणो मालिआणं णोमालिआ ण फुट्टिहइ।
अण्णो को वि हआसाइ मंसलो परिमलुग्गारो ॥[4]

अन्य पुष्पों से बनी हुई मालाओं के मध्य में नवमालिका (पुष्प) किसी से कम नहीं पड़ती। इस कम्बख्त की सौरभ-ऋद्धि ही इतनी मांसल होती है।

इन उदाहरणों से ज्ञात होता है कि सौन्दर्य वस्तुनिष्ठ ही होता है। किन्तु यदि सौन्दर्य वस्तुगत ही है तो क्यों बीन बजने पर सर्प झूमने लगता है, चपल हरिण अपने प्राणों की भी परवाह नहीं करता, और भैंस कान खड़े कर, सूंघ कर नाक चढ़ाती हुई हट जाती है? शायद यही सोचकर की यह सानी तो है नहीं? अतः यह प्रत्यक्षवादी दृष्टिकोण भी ठीक नहीं। वास्तव में सौन्दर्य के दो पक्ष होते हैं शारीरिक और मानसिक। शारीरिक पक्ष दृश्य वस्तु के अलग-अलग अङ्ग-प्रत्यङ्गों के गठन, उनके समूचे प्रभाव तथा रूप-रङ्ग पर निर्भर है और मानसिक पक्ष से हमारा तात्पर्य द्रष्टा की ग्राहकता से है। सौन्दर्य की कृतार्थता इसी में है कि वह नयनों के माध्यम से अनुभूतिप्रवण हृदय का आस्वाद्य बन सके। नहीं तो 'फूल्यो अनफूल्यो रह्यो गँवई गाँव गुलाब'।

शृङ्गार का आलम्बन है नारी। अतः किसी भी शृङ्गारिक रचना में नारी-सौन्दर्य का चित्रण स्वाभाविक ही समझिए। गाथा सप्तशती भी इसका अपवाद नहीं

---

१. गाथा० ५-७०
२. ,, २-३६
३. ,, ४-२७
४. ,, ३-८१

है। अन्य शृङ्गारिक काव्यों की भाँति व्यष्टिगत रूप से अङ्ग-प्रत्यङ्ग के सौन्दर्य का चित्रण तथा समष्टिगत रूप से समूचे शरीर की छवि का अङ्कन इन गाथाओं में मिलता है। सुन्दरी की शरीर-कान्ति को स्वर्णिम अथवा श्वेत चित्रित करने की परिपाटी संस्कृत कवियों में रही है। कालिदास ने रघुवंश में इन्दुमती को सचारिणी दीपशिखा' के सदृश बताया है। गाथा सप्तशती में भी एक वृद्धा अन्धकार में अभिसार के लिये उद्यत नायिका को ऐसा करने का निषेध करती है क्योंकि वह दीपशिखा की भाँति स्पष्ट ही दिखाई देगी।[1] एक अन्य गाथा में नायिका की शरीर-कान्ति को ज्योत्स्ना के समान ध्वनित करती हुई सखी उससे कहती है—

"सखि! उसके पास भी चली जाना। उतावली न हो, चन्द्रमा चढ़ रहा है तो चढ़ने दो। दूध में (मिले हुए) दूध के समान तुम्हारे मुख को कौन देख सकेगा"—

[गम्मिहिसी तस्स पासं सुन्दरि मा तुरअ वड्ढउ मिअङ्को
दुद्धे दुद्धं मिअ चन्दिआइ को पेच्छइ मुहं दे।[2]]

सुकुमारता की दृष्टि से यह नायिका कमल से भी अधिक कोमल है। तभी तो मीठी चुटकी लेता हुआ उसका प्रियतम कहता है कि "सुन्दरी! वदन का स्पर्श करते हुए सूर्य को आँचल से मत रोको। उसको भी ज्ञात हो जाय कि कमल और मुख में से किसका स्पर्श सुखदायक है।[3] ऐसी नायिका को ऊपर से नीचे तक देखने के लिये हजारों नेत्रों की आवश्यकता है क्योंकि "प्रथम दृष्टिपात में ही जिसकी भी दृष्टि उसके जिस किसी अङ्ग पर जहाँ कहीं पड़ी वह वहीं (आसक्त होकर) रह गई। पूरा अङ्ग कोई न देख सका"[4] बेचारी दृष्टि कीचड़ में फँसी हुई दुर्बल गौ के समान एक स्थान से निकल ही नहीं सकती तो पूरा शरीर देखा भी कैसे जाय?[5] जो देखता है बस एकटक देखता ही रह जाता है।

मुख की शोभा का वर्णन करने के लिये चन्द्रमा और कमल उपमान रूप में बहुत पहले से काम में लाये जाते रहे हैं। इस कृति में भी इस परम्परा का पूर्णतया निर्वाह किया गया है। नायिका की "सुगन्धित श्वास-वायु से आकृष्ट भौंरे उसके मुख कमल पर मँडराने लगते हैं। यह वह अनोखा कमल है जिसे चन्द्रमा भी अभिभूत नहीं कर सकता।[6]

चन्द्रमा की अवतारणा मुख-वर्णन से सम्बद्ध तीन गाथाओं में की गई है किन्तु कल्पना सर्वत्र नवीन है। "रसोई घर में खाना बनाने में व्याप्त नायिका के मुख पर

---

१. गाथा सप्तशती ५/१५
२. ,, ७/७
३. ,, ३/६९
४. वही ३/३४
५. ,, ३/७१,६/९२
६. ,, [illegible]

कलौंस लग जाने से मुख चन्द्रमा की दशा को प्राप्त हो गया और प्रियतम को उसका मज़ाक उड़ाने का *अच्छा अवसर मिल गया"* ।

[घरिणीए महाणसकम्मलग्गमसिमलिएण हत्थेण
छित्तं मुहं हसिज्जइ चन्दावत्थं गअं पइणा][1]

स्पष्ट है कि मुख में चन्द्रमा के समान कलंक जैसी कोई वस्तु नहीं थी। खाना बनाने में दैवयोग से कालिमा लग गई तो वह चन्द्रमा जैसा बन गया, अर्थात् अपने स्वाभाविक रूप में वह चन्द्रमा से अधिक सुन्दर था तभी तो कालिमा लगने पर चन्द्रमा सा हो जाने से उसकी हँसी उड़ाई गई। मुख पूर्ण चन्द्रमा से भी कहीं अधिक मनोहर है। अतः चन्द्रमा को मुख सदृश बनाने के प्रयत्न में ब्रह्मा को वह बार-बार तोड़ना पड़ता है।[2] जहाँ कहीं मुख चन्द्रमा जैसा हुआ वहाँ भी उसने उत्पात ही मचाया। उपवास रखने वाली स्त्रियों ने उसे देखकर चन्द्रमा की भ्रान्ति में अर्घ दे डाला।"[3]

केशों का वर्णन अधिक नहीं मिलता। इस विषय की केवल दो गाथाएँ हैं। एक में नायिका द्वारा ग्रीष्म के तीसरे पहर में रति के कारण श्रान्त प्रिय के वक्षस्थल पर (क्लान्ति दूर करने के लिये) अपने आर्द्र तथा सुगन्धित केशों को रखने की बात कही गई है[4] और दूसरी में सद्यः स्नाता का वर्णन करते हुए चमत्कार पूर्ण ढंग से कहा गया है कि "स्नान के लिये उतरी हुई षोडशी के नितम्बों का स्पर्श करने वाले केश टपकते हुए जलकणों के बहाने मानो बन्धन के भय से रो रहे हैं।"[5] एक अन्य गाथा में दीर्घकाल के प्रवास से लौटकर पुनः शीघ्र ही विदेश जाने के इच्छुक नायक को उपालम्भ देती हुई नायिका अपने केशों का उल्लेख करती है—

अव्वो दुक्करआरअ पुणो वि तन्ति करेसि गमणस्स ।
अज्ज वि ण होन्ति सरला वेणीअ तरङ्गिणो चिउरा ॥३/७३॥

अयि कठोर ! फिर जाने की बात करते हो ! अभी तो वियोग में प्रसाधन न करने से उलझे हुए बाल सीधे भी नहीं हुए हैं। बालों के उलझकर टेढ़े पड़ने से वियोग की दीर्घता और अभी सीधे भी न होने से संयोग-अवधि की अल्पता की सुन्दर व्यंजना की गई है।

पहली गाथा से नायिका की प्रौढ़ता एवं विदग्धता का पता चलता है और दूसरी में चमत्कार-सृष्टि के आग्रह ने केशों के सौन्दर्य की अनुभूति को अभिभूत कर लिया है। अतः विशुद्ध सौन्दर्य चित्रण की दृष्टि से दोनों ही गौण हैं।

---

१. वही १/१३
२. ,, ३/७
३. ,, ४/४६
४. गाथा सप्तशती ३/९९
५. ,, ६/५५

कपोल-वर्णन से संबद्ध दो गाथाएँ हैं। एक में "प्रियतम द्वारा विहित सरस, रक्तवर्ण एवं मण्डलाकार दन्तक्षतों से युक्त नायिका के कपोल पर प्रतिविम्बित चन्द्रमा को मध्य में सिन्दूर से युक्त शंख पात्र के समान"[1] बताया गया है और दूसरी में कहा गया है कि "कान का आभूषण पोडशी नायिका के गुरु यौवन के कारण विशेष रूप से भरे हुए कपोल-मूल पर मुख झुकाकर मानो लावण्य का पान कर रहा है।[2]"

कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रथम गाथा का पर्यवसान उपमा के चमत्कार में ही होता है। कल्पना की दृष्टि से वह एक महत्त्वपूर्ण चित्र तो प्रस्तुत करती है किन्तु चमत्कार से चकित पाठक को कपोल-सौन्दर्य के रस-पान से वंचित भी कर देती है। इसमें कलात्मकता ही अधिक है। दूसरी गाथा में भी उत्प्रेक्षा का सुन्दर रूप खड़ा किया गया है किन्तु वह सौन्दर्य की अनुभूति में बाधक नहीं है। "गुरुयौवनभृत" से प्रतीत होता है कि लावण्य कपोलों की परिधि में सिमट नहीं पा रहा। अतएव इधर-उधर बहने लगा है। यही कारण है कि मध्य तक पहुँचने के लिये कर्णावतंस का साहस ही नहीं होता। ऐसी आवश्यकता भी नहीं क्योंकि तट पर ही उसकी पिपासा बुझाने के लिये पर्याप्त रस मिल जाता है।

कजरारे नयनों के सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के लिये कवियों ने अप्रस्तुत-विधान में कुवलय अथवा नील कमल को प्रमुख स्थान दिया है और वह नेत्र का कविप्रौढि-सिद्ध प्रतीक बन गया है। इसी परम्परा का पालन करते हुए गाथा सप्तशती की एक उक्ति में कहा गया है कि "यदि उसके नयन प्रिय दर्शन के सुख से मुकुलित न हो जाते तो कानों में पहिने हुए कुवलयों को कौन लक्षित कर पाता ?[3]" पक्ष्मलता, श्यामता और दीर्घता नयनों के अन्य सौन्दर्य-आधायक गुण हैं। एक गाथा में नायिका के कटाक्ष का प्रभाव बड़े ही सुन्दर ढंग से चित्रित किया गया है—

तह सोण्हाइ पुलइओ दरवलिअन्तर्द्धतारअं पहिओ।
जह वारिओ वि घरसामिएण ओलिन्दए वसिओ ॥३/५४

वधू ने नेत्र की आधी पुतली को घुमाकर (रात भर के लिये शरण चाहने वाले) पथिक की ओर इस प्रकार देखा कि वह गृहपति के मना करने पर भी द्वारभूमि पर सो रहा।

वैसे नयनों के व्यापार के विषय में भी बहुत कम उक्तियाँ हैं। कभी-कभी नेत्र मुख का भी काम करते हैं। "गुरुजनों के समक्ष नायिका कभी नायक को तनिक मुँह फेर कर और एक टक नेत्र-कोणों से देखकर"[3] तो कभी उमड़ते हुए आँसुओं के भार से मन्थर दृष्टि द्वारा ही अपने मनोभाव व्यक्त कर देती है।[4]

१. गाथा सप्तशती ३/१००
२. ,, ५/३९
३. ,, ४/२३
४. ,, ४/७०

हाथों की लालिमा, कोमलता और स्निग्धता को अभिव्यंजित करने के लिये कवियों ने किसलय का उल्लेख बहुत अधिक किया है। एक स्थान पर अशोक के सौभाग्य का अनुमान लगाने के लिये यही पर्याप्त बताया गया है कि उसके किसलय से वरकामिनी के हाथ की उपमा दी जाती है।[१] एक अन्य गाथा में प्रवालांकुर के सदृश रक्तवर्ण हाथों को धोती हुई नायिका धातु-जनित-लालिमा के धुल जाने पर भी भ्रान्तिवश बार-बार धुलाती हुई चित्रित की गई है।[२]

उरोजों के चित्रण में अधिक रुचि दिखाई गई है जबकि हिन्दी में उपलब्ध शृंगारिक सतसइयों में नेत्रों का वर्णन विस्तार के साथ हुआ है। उदाहरणार्थ उनके सौन्दर्य एवं व्यापार को लेकर बिहारी सतसई में जितने दोहे मिलते हैं वे अन्य अंगों से संबद्ध दोहों की सामूहिक संख्या से भी अधिक हैं। गाथा सप्तशती में वक्षोज-वर्णन-विषयक उक्तियों के विषय में भी यही, कहा जा सकता है। स्तनों की पुष्टता एवं वर्तुलता आदि को व्यक्त करने के लिये गजकुम्भ, घट, बिल्वफल और रथाङ्ग परम्परा भुक्त उपमान हैं। इनमें भी गजकुम्भ एवं घट तो अत्यन्त ही प्रचलित रहे हैं। कई गाथाओं में इन्हीं उपमानों की अवतारणा की गई है।[३] स्तनों पर नखक्षत का वर्णन[४] भी पुरानी लकीर है जो कामशास्त्रीय आचार्यों ने खींच दी थी। पुरानी लीक से हट कर जो वर्णन किये गये हैं उनमें नवीन कल्पना और अभिनव उपमानों के साथ-साथ अनुभूति की सान्द्रता भी दिखाई पड़ती है। यथा हल चलाने वाले के घर की चार-दीवारी से बाहर निकला हुआ अरण्ड वृक्ष का पत्ता यह कह रहा है कि यहाँ पर इतने (अरण्ड के पत्ते जैसे) विस्तार वाले उरोजों वाली हलिक वधू रहती है।[५] "नायिका के पीसने के समय उड़े हुए आटे से धवल स्तन मुख-रूपी कमल की छाया में बैठे हुए राजहंस से प्रतीत होते हैं।[६] एक अन्य गाथा में कंचुकी में न समाकर कुछ बाहर दीख पड़ते कुचों के वर्णन में सुन्दर उत्प्रेक्षा की गई है :

> दो अंगुलअकवालअपिणद्धसविसेसणीलकञ्चुइआ।
> दावेइ थणत्थलवण्णिअं व तरुणी जुअजणाणम्[७]॥

'अर्थात् दो अंगुल चौड़ी गोट लगी नीली कञ्चुकी वाली यह युवती युवकों को अपने कुचस्थल की बानगी सी दिखा रही है।'

इसी से मिलती-जुलती एक और गाथा देखिए :

---

१. गाथा सप्तशती ५/४
२. ,, ५/७८
३. ,, ३/५८, ३/६०, ६/७५, ६/७६
४. ,, २/४५, २/५०
५. ,, ३/५७
६. ,, ७/२४
७. ,, ७/२०

अज्जाइ णीलकञ्चुअभरिउव्वरिअं विहाइ थणवट्टम् ।
जलभरिअजलहरन्तरदरुग्गतं चन्दविम्वं व्व ॥[1]

सुन्दरी के नील कञ्चुक में भरने के पश्चात् कुछ निकला हुआ कुचस्थल जल भरे वादल में से कुछ-कुछ झाँकते हुए चन्द्र मण्डल के सदृश शोभित होता है।

वामन रूपधारी (यौवन के आरम्भ में छोटे आकार वाले) स्तनों को पूर्ण यौवन की अवस्था में विराट् रूप में वदल जाने वाले कुचों द्वारा यह वलिवन्ध (त्रिवली का उपरोध) भी देख लीजिए :

पढमं वामणविहिणा पच्छा हु कओ विअम्भमाणेण ।
थणजुअलेण इमीए महुमहणेण व्व वलिवन्धो ॥[2]

जिस प्रकार पहले वामन रूप धारण करके और वाद में विशाल रूप में परिणत होते हुए विष्णु भगवान ने वलि को (अपने वचनों के छल में) वाँध लिया था उसी प्रकार इस नायिका के स्तनों ने (यौवन के आरम्भ में) पहले वामन रूप धारण कर और इसके पश्चात् उत्तरोत्तर वढ़ते हुए त्रिवलि को वाँध लिया। अर्थात् पूर्ण यौवन में कुचमण्डल का विस्तार त्रिवली तक हो गया है।

एक गाथा में त्रिवली का वर्णन करते हुए अच्छी उत्प्रेक्षा की गई है और कहा गया है कि "नायिका के पतले से शरीर में न समाकर लावण्य स्वेदजल के छल से त्रिवली के सोपानमार्ग से वाहर निकल रहा है।"[3] नायिका के मध्यभाग की कृशता एवं कोमलता की अभिव्यक्ति भी परम्पराभुक्त है। उदाहरण लीजिए :

अच्छोडिअवत्थद्धन्तपत्थिए मन्थरं तुमं वच्च ।
चिन्तेसि थणहराआसिअस्स मज्झस्स वि ण भङ्गम्[4] ॥

वलपूर्वक आँचल खींचने पर भी चल देने वाली ! तनिक धीरे-धीरे चलो। तुम्हें स्तनों के भार से दवे हुए मध्य के टूट जाने की भी चिन्ता नहीं है ?

वयःसन्धि के वर्णन में भी दो-एक गाथाएँ मिलती हैं जिनमें नायिका के वढ़ते हुए यौवन से स्तनों का पुष्ट होना, मध्य भाग का कृश होना और साथ ही प्रियतम, कुटुम्ब, सपत्नी आदि की उत्तरोत्तर क्षीणता वर्णित है।[5]

नायिका के शारीरिक सौंदर्य से सम्वद्ध इन गाथाओं के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि नख-शिख-वर्णन-विषयक गाथाओं की संख्या थोड़ी ही है। अर्थात् सौन्दर्य के भौतिक पक्ष की अपेक्षा मानसिक पक्ष—द्रष्टा की ग्राहकता एवं सौन्दर्य का हृदय पर प्रभाव—की ओर गाथा सप्तशती में अधिक ध्यान दिया गया है जो भाव-पक्ष से सम्वद्ध है। ऐसा प्रतीत होता है कि

---

१. गाथा सप्तशती ४/१५
२. ,, ५/२५
३. ,, ३/७८

नख-शिख-वर्णन की ओर इस समय तक कवियों का रुझान अधिक नहीं था। फिर भी इस परिपाटी का सूत्रपात हो गया था और एतद्विषयक बहुत सी रूढ़ियाँ भी प्रतिष्ठित हो चुकी थीं जिनका अनुसरण गाथा सप्तशती में भी किया गया है। मुख के लिये चन्द्रमा और कमल, नयनों के लिये कुवलय, केशपाश के लिए शिखिपिच्छ, उरोजों के लिए गजकुम्भ और घट, हाथ के लिये किसलय आदि उपमान, उरोजों की अत्यन्त पीवरता और उसके कारण अत्यन्त क्षीण मध्यभाग के टूटने की आशंका, कामशास्त्र के अनुसार स्तन, जघन आदि पर नखक्षत और अधर एवं कपोल पर दन्तक्षत आदि के उल्लेख कवि परम्परा-सिद्ध ही है। हाँ, विशेष परिस्थिति में कतिपय नवीन उपमानों की भी सृष्टि की गई है। सब कुछ मिला कर पुरातन की अधिकता और नूतन की न्यूनता ही इस में दिखाई पड़ती है।

शारीरिक सौन्दर्य का उत्कर्ष करने में अलङ्कारों का उपयोग सदा से होता आया है। अलङ्कार तीन प्रकार के होते हैं—आहार्य, अयत्नज और यत्नज। ये उत्तरोत्तर स्थूलता से सूक्ष्मता और जड़ता से चेतनता की ओर जाते हैं। अर्थात् हार आदि आहार्य अलङ्कार बाह्य जड़ और स्थूल वस्तु हैं। शरीर से उनका सम्बन्ध सार्वकालिक नहीं है, क्षणिक है और थोपा हुआ है। शोभा, कान्ति आदि अयत्नज अलङ्कार शरीर से उतार कर फेंके नहीं जा सकते। शरीर से अलग उनका कोई बाह्य अस्तित्व नहीं है। हार आदि की भाँति उनका स्पर्श नहीं किया जा सकता अतः वे सूक्ष्म हैं। यत्नज अलङ्कार जिन्हें हाव-भाव भी कहते हैं निर्विकारात्मक—सत्त्वस्थ—चित्त में उत्पन्न लघु स्पन्दन हैं।

कहने की आवश्यकता नहीं कि उक्त त्रिविध अलङ्कारों में उत्तरोत्तर उत्कृष्ट एवं स्पृहणीय हैं। आहार्य से अधिक अयत्नज और अयत्नज से अधिक यत्नज अलङ्कार द्रष्टा की सौन्दर्यानुभूति को प्रभावित करते हैं।

गाथाकारों ने नायिका के प्रसाधन एवं आहार्य अलङ्कारों का वर्णन प्रायः नहीं किया है। उनकी नायिका के पास बिहारी की नायिका की जैसी जरतारी सारी और कनक-आभूषण कुछ नहीं हैं। उसका सबसे बड़ा शृङ्गार है स्नान[1]। हल्दी का उबटन साबुन का काम करता है।[2] हाथों में कंगन और पैरों में नूपुर शायद इसलिये ही पहने जाते हैं कि वे सुहाग के चिह्न हैं।[3] यों मोतियों की बात भी सुनी जाती है, पर व्याधों के यहाँ। हाथी के शिकार के समय गजमुक्ता हाथ लग गये तो नायिका ने धारण कर लिये[4]। साधारणतया वहाँ भी मोर के पंख अलङ्कार रूप में प्रयुक्त किये गये हैं। कानों में कर्णफूल—पर प्रायः कमल आदि का कोई फूल, या बेर जैसा छोटा-मोटा फल, फबता था और पैरों में लाक्षा। नीली मगजी लगी हुई

---

१. गाथा ०१/७६
२. ,, १/५८, १/८०, ३/४६
३. ,, ६/३६
४. ,, २/७३

अँगिया—अगर कुसुम्भी रँग की हुई तो कहना ही क्या—यह है गाथाओं की नायिका की प्रसाधन-सामग्री। उसका प्रसाधन तो अयत्नज सहज अलङ्कारों से होता है। शोभा, कान्ति और दीप्ति उसके सर्वाङ्गीण अलङ्कार हैं। एक उदाहरण लीजिए—

जस्स जहं विअ पढमं तिस्सा अङ्गम्मि णिवडिआ दिट्ठी।
तस्स तहि चेअ ठिआ सव्वङ्गं केण वि ण दिट्ठम्॥[1]

जिस व्यक्ति की दृष्टि उसके जिस अङ्ग पर पड़ी उसी पर जमी रह गई। पूरे अङ्ग को कोई न देख पाया।

लावण्य की इस उमड़ती हुई सरिता में न जाने कितने नेत्र विभिन्न अंगों की भँवरों में निमग्न हो जाते हैं—काठ की नौका की तरह मौन और निःस्तब्ध। इसका पार कौन पा सकता है। वह रूप है या जादू जो मर्त्य को देवता बना दे! देखिए—

एक्क च्चिअ रूअगुणं गामणि धूआ समुव्वहइ।
अणिमिसणअणो सअलो जीए देवीकओ गामो॥[2]

रूप गुण तो गाँव के मुखिया की पुत्री का है जिसने सारे गाँव को निर्निमेष करके देवता बना दिया।

'अणिमिसणअणो' शब्द की व्यञ्जना एकटक देखते रह जाने तक ही सीमित नहीं है। अर्थात् वह द्रष्टा और दृश्य का दर्शनकालीन भौतिक चित्र ही उपस्थित नहीं करती अपितु दर्शन के पश्चात् द्रष्टा की मानसिक स्थिति की अभिव्यक्ति भी करती है। जो इस रूपराशि को देख लेता है उसके पलक झपकते नहीं। नींद का नाम तक नहीं रहता।

अयत्नज अलङ्कारों के अतिरिक्त यत्नज अलङ्कारों से भी गाथाकारों ने अपनी नायिका का प्रसाधन किया है। कतिपय उदाहरण प्रस्तुत हैं।

लीला[3]

वाणी, अङ्ग और अलङ्कारों द्वारा प्रेमवश प्रियतम का अनुकरण लीला कहलाता है।

जं जं करेसि जं जं जप्पसि जह तुम ण णिअच्छेसि।
तं तमणुसिक्खिरीए दीहो दिअहो ण सपडइ॥[4]

तुम जो भी देखते करते और कहते हो उसका अनुशिक्षण करते हुए उसका दिवस दीर्घ प्रतीत नहीं होता।

विलास[5]

---

१. गाथा० ३/३४
२. ,, ६/६२
३. नाट्य शास्त्र २४/१४
४. गाथा ४/७८
५. प्रिय को लक्ष्य कर उठने, बैठने, चलने और हाथ, भ्रू तथा नयन आदि की क्रियाओं में जो संश्लिष्ट वैशिष्ट्य उत्पन्न हो जाता है, वह विलास कहलाता है। नाट्यशास्त्र २४/१५

णिद्दालसपरिघुम्मिरतं सवलन्तद्ध-तारआलोआ ।
कामस्य वि दुव्विसहा दिट्ठिणिवाआ ससिमुहीए ॥[१]

चन्द्रमुखी की उनींदी, मादक, तिरछी, चञ्चल चितवन काम के लिये भी असह्य है ।

विच्छित्ति[२]

दइअकरग्गहलुलिओ धम्मिल्लो सीहुगन्धिअं वअणम्
मअणम्मि एत्तिअं च्चिअ पसाहणं हरइ तरुणीणम् ॥[३]

प्रियतम के हाथों अस्त-व्यस्त किया हुआ केशपाश और सुरा से सुवासित मुख, रतिकाल में युवतियों का इतना ही शृङ्गार मन हर लेने के लिये पर्याप्त है ।

अहअं लज्जालुइणी तस्स अ उम्मच्छराइँ पेम्माइं ।
सहिआअणो वि णिउणो अलाहि किं पाअराएण ॥[४]

पैरों में महावर लगाने के लिये उद्यत नाइन से नायिका कहती है—मैं शर्मीली हूँ और प्रियतम का उद्दाम प्रणय मुझे प्राप्त है । सखियाँ निपुण हैं । चल हट, पैरों में महावर लगा कर क्या होगा ।

विभ्रम[५]

सेउल्लिअसव्वङ्गी गोत्तग्गहणेण तस्स सुहअस्स ।
दुइं पट्ठाएन्ती तस्सेअ घरङ्गणं पत्ता ॥[६]

दूती को नायक के पास भेजती-भेजती सुन्दरी नायक के नाम-ग्रहण मात्र से स्वेद युक्त होकर उसी के आँगन में जा पहुँची ।

मोट्टायित[७]

वावार विसंवाअं सअलाव अवाणँ कुणइ हअलज्जा ।
सवणाणं उणो गुरुसंणिहे वि ण णिरुज्झइ णिओअम् ॥[८]

गुरुजन के सामने निगोड़ी लाज सभी अंगों के व्यापार में वाधा डाल देती है किन्तु कानों की तत्परता को नहीं रोक पाती ।

---

१. गाथा २/४८
२. अलङ्कारों के प्रति अनादर अथवा स्वल्प अलङ्कारों द्वारा ही अधिक शोभित होना विच्छित्ति कहलाता है नाट्यशास्त्र २४/१६
३. गाथा ६/४४, अन्य १/७६
४. ,, २/५७
५. मद, राग या हर्ष के कारण वाणी, वस्त्र अलंकार या क्रियाओं का व्यत्यास (वैपरीत्य) विभ्रम है । (नाट्य शास्त्र २४/१७)
६. गाथा ५/४०
७. प्रियतम की बात सुनने और दर्शन आदि से उसके प्रेम में मग्न हो जाना (नाट्य शास्त्र २४/१९)
८. गाथा ७/१६

कुट्टमित[1]

> भरिमो से गहिग्राहरधुग्रसीसपहोलिरालग्राउलिग्रम् ।
> वग्रणं परिमल-तरलिग्र-भमरालिपइण्ण-कमलं व ॥[2]

अधर ग्रहण कर लेने पर सिर को इधर-उधर हटाने के प्रयास में बिखरी हुई अलकावलियों से गन्ध के कारण चंचल भौंरों से घिरे हुए कमल के समान उसके मुख की याद (बरबस) आ जाती है।

बिब्बोक[3]

> ग्रणमहिलापसङ्गं दे देव करेसु ग्रह्म दइग्रस्स ।
> पुरिसा एवकन्तरसा ण हु दोसगुणे विग्राणन्ति ॥[4]

हे भगवन् ! हमारे भी प्रियतम का प्रणय-सम्बन्ध किसी अन्य महिला से करा दो क्योंकि एक ही प्रेयसी में रत्त पुरुषों को गुण दोष का पता ही नहीं चलता।

विहृत[5]

> किं ण भणिग्रो सि बालग्र गामणिधूग्राइ गुरुग्रणसमक्खम् ।
> ग्रणिमिसमीसीसिवलन्तवग्रणणग्रद्धदिट्ठेहिं ॥[6]

नासमझ ! गुरुजन के समक्ष कुछ-कुछ हटती हुई निर्निमेष तिरछी अधूरी चितवन से देखते हुए मुखिया की दुहिता ने तुमसे क्या नहीं कह दिया ?

सात्त्विक भाव वाह्य जगत् की अन्तर्जगत् पर प्रतिक्रिया के स्वरूप लक्षित होते हैं। उनका महत्त्व अनुभावों जैसा ही है किन्तु एक गाथा में बड़ी ही सुन्दरता के साथ अश्रुओं द्वारा नायिका के मुख-सौन्दर्य की वृद्धि अभिव्यंजित की गई है—

> पुसउ मुहं ता पुत्तिग्र वाहोग्ररणं विसेसरमणिज्जम् ।
> मा एग्रं चिग्र मुहमण्डणं त्ति सो काहिइ पुणो वि ॥[7]

अश्रुओं से विशेष सुन्दर प्रतीत होते हुए अपने मुख को पोंछ लो बेटी ! ऐसा न हो कहीं तुम फिर आँसुओं से ही अपने मुख का प्रसाधन करने लगो।

प्रेम का आविर्भाव

स्त्री-पुरुष का पारस्परिक रूप-आकर्षण ही अनुकूल वातावरण में पुष्ट होकर प्रेम का रूप धारण कर लेता है। साहचर्य आदि के अभाव में यह आकर्षण विकसित

---

१. केश, कुच, अधर आदि के ग्रहण से जन्य कष्ट में भी आनन्द की अनुभूति (नाट्य शास्त्र २४/२०)
२. गाथा १/७८
३. गर्व-वश इष्ट वस्तुओं का भी अनादर (ना० शा० २४/२१)
४. गाथा १/४८
५. वक्तव्य व्याप्ति में भी लज्जा आदि के कारण बात न करना (ना० शा० २४/२३)
६. गाथा ४/७०
७. [illegible]

होकर उस दशा को प्राप्त नहीं हो पाता कि इसे प्रेम कहा जा सके। ऐसी हालत में यह आकर्षण भाव मात्र बनकर रह जाता है। रास्ता चलते पथिक का प्याऊ लगाने वाली सुन्दरी से यह क्षणिक मिलाप ऐसा ही है—

उद्धच्छो पिअइ जलं जह-जह विरलंगुली चिरं पहिओ।
पावालिआ वि तह-तह धारं तणुइं पि तणुएइ॥[1]

पथिक ऊपर को दृष्टि किये हुए ज्यों-ज्यों अंगुलियों को अधिकाधिक खोलता हुआ जल पीता है त्यों-त्यों प्याऊ वाली भी धार को पतली करती चली जाती है।

रूप के साथ गुणों का समावेश भी आवश्यक है। वास्तव में बिना गुणों के रूप व्यर्थ सा ही है। गुणश्रवण और रूप-दर्शन अनुराग उत्पन्न करने में सहायक होते हैं। किसी व्यक्ति के गुणों को बार-बार सुनते रहने पर उसे देखने की लालसा हो जाना स्वाभाविक ही है। नीचे लिखी गाथा में इस आकर्षण की व्यंजना बड़े सुन्दर ढंग से की गई है—

तत्तो च्चिअ होन्ति कहा विअसन्ति तहिं-तहिं समप्पन्ति।
किं मण्णे माउच्छा एक्कजुआणो इमो गामो॥[2]

नायिका अपनी समवयस्का मौसी से कहती है कि मौसी! बातचीत उसी युवक को लेकर प्रारम्भ होती है, उसी के साथ विकसित होती है और समाप्त भी उसी के साथ होती है, तो क्या सारे गाँव में वही एक युवक है?

ऐसे अनोखे व्यक्ति को देखने के लिए किस युवति के नेत्रों में औत्सुक्य न होगा। 'दृगन लगी अति चटपटी' के ही कारण ऐसी घटना भी घटा करती हैं—

कहँ तंपि तुइ ण णाअं जह सा आसन्दिआणँ बहुआणम्,
काऊण उच्चवचिअं तुह दंसणलेहला पडिआ।[3]

नायिका की दूती नायक से कहती है कि क्या तुम्हें पता नहीं कि तुम्हें देखने की लालसा से वह पीढ़ों (चौकियों) को तले-ऊपर रख कर चढ़ी और गिर गई।

सच्चे सौन्दर्य को निहार कर सब कोई सुध-बुध भूल जाते हैं 'ण हु होन्ति तम्मिदिट्ठे सुत्थावत्थाइँ अङ्गाइँ' (उसे देखकर अङ्ग स्वस्थ अवस्था में नहीं रहते। एक बार रूप का चस्का लग जाने पर नयन काबू से बाहर हो जाते हैं फिर चाहे कोई निन्दा करे या स्तुति, स्वर्ग में जगह मिले या नरक में।[5] दबी-दबी नज़र से मनोवल्लभ को निहारने में सखी से ऐसे-ऐसे उपालम्भ भी मिल ही जाया करते हैं—

---

१. गाथा० ३/५१
२. ,, ७/४८
३. ,, ७/९७
४. ,, ५/७८
५. ,, ७/८

अद्धच्छिपेच्छिअं मा करेहि साहाविअं पलोएहि ।
सो वि सुदिट्ठो होहिइ तुमं पि मुद्धा कलिज्जिहिसि ।[1]

आधे नयनों से क्यों देखती हो । स्वाभाविक रूप से देखो जिससे उसे भलीभाँति देख भी लो और मुग्धा भी बनी रहो ।

युवक हृदयों की देखा-देखी और ताक-झाँक लोगों को कब पसन्द आती है ? तिल का ताड़ बन जाना कोई बड़ी बात नहीं । ऐसी ही स्थिति में नायिका खीझ कर अपने आलोचकों से कहती है —

उल्लावो मा दिज्जउ लोअविरुद्ध त्ति णाम काऊण ।
सँमुहापडिए को उण वेसे वि दिट्ठिं ण पाडेइ ।[2]

दुश्मन भी सामने आ जाता है तो कौन व्यक्ति उस पर दृष्टि नहीं डालता ? फिर मेरे विरुद्ध लोक-विरुद्ध आचरण की रट क्यों लगा रखी है ?

उसकी दृष्टि युवकों के समूह में अपने प्रिय को ही खोजती है ।[3] और कान अन्य लोगों के शब्दों के साथ मिले हुए उसके शब्दों का उसी प्रकार पान करते रहते हैं जिस प्रकार हंसी जलमिश्रित दूध में से दूध का ।[4] नेत्र ज्यों-ज्यों सलोने रूप का पान करते जाते हैं त्यों-त्यों प्यास बढ़ती ही जाती है । वस्तुतः तृषा का रोग नयनों से मन को भी लग जाता है ।

प्रेम का विकार विषम-विष जैसा प्रभाव डालता है । कोई लाख प्रयत्न करे वह छिपाये नहीं छिपता । प्रेम की नई रोगिणी को इसका रहस्य बताती हुई कोई भुक्तभोगा वृद्धा कहती है—

किं रुवसि किं अ सोअसि किं कुप्पसि सुअणु एक्कमेक्कस्स ।
पेम्मं विसं व विसमं साहसु को रुन्धिउं तरइ ॥ ६।१६ ॥

सुन्दरि ! क्यों रोती हो ? शोक क्यों करती हो ? क्यों हर किसी पर कुपित होती हो ? विषम विष के समान प्रेम क्या छिपाये छिप सकता है ?

प्रियतम का नयन-तृप्ति-पर्यन्त दर्शन ही प्रेम की प्यास का एकमात्र उपचार है । झाँई मात्र पड़ने से पिपासा शान्त नहीं होती । इस सम्बन्ध में नायिका का अनुभव सुनिए—

अविअह्ल पेरवणिज्जेण तक्खणं मामि ! तेण दिट्ठेण ।
सिविणअपीएण व पाणिएण तह्ल व्विअ ण फिट्टा ॥[5]

उस समय ललचाये हुए नयनों से उसे देखने पर भी दर्शन की तृष्णा शान्त

---

१. गाथा० ३/२५
२. " ६/१५
३. " ५/८२
४. " ७/७०
५. " १/९३

नहीं हुई ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार स्वप्न में पिये जल से प्यास शान्त नहीं होती।

इसके पश्चात् तो यह दशा होती है—

पेच्छइ अलद्धलक्खं दीहं णीससइ सुण्णअं हसइ।
जह जम्पइ अफुडत्थं तह से हिअअट्ठिअं किं पि॥[1]

विना लक्ष्य देखती है, लम्बी आहें भरती है, शून्यचित्त से हँसती है, अस्फुट शब्दों में कुछ कहती रहती है। प्रतीत होता है कि उसके हृदय में कुछ स्थित है।

हृदय में स्थित यह वस्तु प्रेम के अतिरिक्त कुछ नहीं है जो देखा अनदेखा सा नयनों के मार्ग से हृदय में आ बैठता है[2] और इसके हृदय में आसन जमाते ही अजीब सी प्रतिक्रिया होने लगती है। मिलन की उत्कण्ठा बलवती होती चली जाती है। प्रिय के सामने पड़ने के बहाने खोजे जाते हैं, मदनलेख (प्रेम-पत्र) लिखे जाते हैं[3]। दूतियाँ भेजी जाती हैं। गाथा सप्तशती में दूती की उक्तियाँ आद्यन्त पर्याप्त मात्रा में भरी पड़ी है जिनमें पूर्वरागिणी अथवा प्रोषितपतिका की मनोदशा का मार्मिक चित्रण मिलता है। नायक को नायिका की ओर उन्मुख करने के लिये दूतियाँ अपनी आश्चर्य-जनक वाक्पटुता का सहारा लेती हैं। कभी तो वे नायिका की दशा को ध्वनि द्वारा व्यञ्जित कर नायक के हृदय में सहानुभूति का संचार करती हैं और कभी चमत्कारिणी उक्तियों द्वारा उसके मस्तिष्क को झनझना देती हैं।

तटस्थ (?) रूप से धर्म-सम्मत बात कहती हुई इस दूती को सुनिए—

णाहं दूई ण तुमं पिओ त्ति को अम्ह एत्थ वावारो।
सा मरइ तुज्झ अअसो तेण अ धम्मक्खरं भणिमो।[4]

न मैं दूती हूँ और न तुम प्रिय, हमें इस सब से लेना ही क्या? मैं तो इसलिये धर्म लगती बात कह रही हूं कि वह मर रही है और तुम्हें कलंक लग रहा है।

सरासर झूठ बोल कर सत्य की कितनी संवेदनात्मक अभिव्यक्ति इसने की है!

मिलन के प्रारम्भिक दिनों में लज्जा का आधिक्य रहता है। धीरे-धीरे उपभोग की लालसा बढ़ती जाती है और लज्जा की मात्रा कम होती जाती है। प्रथम मिलन के समय एक गाथा की नायिका का अनुभव उसी के शब्दों में सुनिए—

जं जं सो णिज्झाअइ अङ्गोआसं महं अणिमिसच्छो।
पच्छाएमि अ तं तं इच्छामि अ तेण दीसन्तम्॥[5]

१. गाथा० ३/९६, ६/३०
२. " ७/१०
३. " ३/४३
४. " २/१८
५. " २/७८
६. " १/७३

मेरे शरीर के जिस-जिस अङ्ग को वह देखना चाहता है उस उस को मैं ढक लेती हूँ और यह भी चाहती हूँ कि वह उसको देख भी ले।

कितना स्वाभाविक वर्णन है। न किसी अलङ्कार का चमत्कार है और न ही कल्पना की ऊँची उड़ान। मुग्धा नायिका की सहज लज्जा और नूतन प्रेम का अद्भुत समन्वय है। मानव-मन की दो प्रमुख शाश्वत वृत्तियों की मनोहर छटपटाहट का अनावृत सौन्दर्य देखे ही वन पड़ता है।

'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का कथन है कि प्रेम में दृष्टि प्रिय से होती हुई उसके कर्म पर जाती है।' कर्म ही नहीं वस्तु पर भी। यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि प्रिय की वस्तु भी अत्यन्त प्रिय लगती है। सच्चे कवि इस 'संवन्धभावना' का सदा से वर्णन करते आये हैं क्योंकि प्रेम को दृढता और स्थिरता प्रदान करने में इसका बड़ा हाथ है। गाथासप्तशती में इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं नायक के प्रति नायिका का प्रेम स्थापित करती हुई दूती नायक से कहती है—

वालअ तुमाइ दिण्णं कण्णे काऊण वोरसंघाडिम्।
लज्जालुइणी वि वहू घरं गआ गामरच्छाए॥[1]

बालक! शर्मीली होने पर भी वह वधू तुम्हारे दिये हुए जुड़वा बेरों को कान में लगा कर गाँव की गली से गुजरती हुई घर चली गई।

कहने की आवश्यकता नहीं कि शर्मीली वधू का गाँव की गली में इस प्रकार प्रिय द्वारा दी हुई वस्तु को धारण कर निकल जाना लज्जा की मन्दता और प्रेम के अतिशय का द्योतक है।

एक अन्य उदाहरण लीजिए। नायक ने अपने गले की पुष्पमाला नायिका के गले में डाल दी। इसके पश्चात् बहुत दिन तक मिलन नहीं हुआ। माला सूख गई पर प्रियतम से प्राप्त होने के कारण प्रेयसी उसे बिछोहना नहीं चाहती—

सा तुइ सहत्थदिण्णं अज्ज वि रे सुहअ गन्धरहिअं पि।
उव्वसिअणअरघरदेवदे व्व ओमालिअं वहइ॥[2]

सुभग! तुमने अपने हाथ से जो माला उसे दी थी उसमें अब कोई गन्ध शेष नहीं रही है। फिर भी उजड़े नगर की देवी के समान वह उसे धारण किये हुए है।

इस सम्बन्ध भावना के कारण ही तो ये ही वचन जो सब लोगों के मुख से निकलते हैं, प्रियतम के मुख से निकलते हुए बड़े सुन्दर प्रतीत होते हैं—

जाणि वअणाणि अम्हे वि जम्पिओ ताइ जम्पइ जणो वि
ताइं चिअ तेण पजम्पिआइं हिअअं सुहावेन्ति।[3]

१. गाथा० ५/२१
२. ,, २/९४
३. ,, ७/८१

जो बातें हम करते हैं वे ही अन्य लोग भी किन्तु प्रियद्वारा की जाने पर वे हृदय को आनन्द प्रदान करती हैं।

पूर्वानुराग की अवस्था में विदग्धा युवतियाँ ऐसा भी किया करती हैं—

णच्चणसलाहणणिहेण पासपरिसंठिआ णिउणगोवी।
सरिसगोविआणं चुम्बइ कवोलपडिमागअं कह्णम् ॥[1]

निपुण गोपी (रास में) नृत्य को सराहने के बहाने अन्य गोपियों के कपोल पर प्रतिबिम्बित कृष्ण की छाया का चुम्बन करती है।

इस संबन्ध भावना की भी अपनी सीमाएँ हैं। प्रिय की उन्हीं वस्तुओं और क्रियाओं से प्रीति हो सकती हैं जो पारस्परिक प्रणय-भावना को उद्दीप्त करें या कम से कम उसमें बाधक न हों। उदाहरणार्थ कोई नायिका प्रियतम की किसी अन्य प्रेयसी से प्रेम नहीं बल्कि ईर्ष्या करेगी। अन्य-नायिका-प्रेम के क्षेत्र में तो संबन्ध-भावना चल ही नहीं सकती; अन्य वस्तुओं के विषय में भी संतुलन अपेक्षित है; वह वस्तु चाहे बाँसुरी हो या कविता, लेखनी हो या पुस्तक, या अपने में निमग्न कर लेने वाला व्यस्त कार्य-व्यापार। संबन्धभावना की उक्त सीमाओं के फलस्वरूप अन्यासक्त नायक के प्रति नायिका की उपालम्भपूर्ण उक्तियों से गाथासप्तशती भरी पड़ी है। दूसरे प्रकार की उक्तियाँ बहुत कम हैं। नीचे दी हुई गाथा में प्रवासी प्रिय के कार्यव्यस्तता के कारण निश्चित अवधि में न लौटने पर नायिका के मन की खीझ कितने सहज सुन्दर ढंग से व्यक्त की गई है—

दिट्ठा चूआ अग्घाइआ सुरा दक्खिणाणिलो सहिओ।
कज्जाइं च्चिअ गरुआइँ मामि! को वल्लहो कस्स ॥[2]

आमों को बौरते हुए देखा, सुरा की गन्ध का अनुभव किया और दक्षिण वायु को भी सह गये (प्रियतम की सहन शक्ति भी अजीब है न!) वास्तव में कार्य का ही महत्त्व अधिक है। संसार में कौन किसे प्यारा है?

व्यञ्जना यह है कि प्रिय को कार्य से अधिक प्रेम है मुझसे नहीं। परदेश से उन्होंने वसन्त ऋतु को देखकर भी आने का नाम नहीं दिया। यदि मुझ से प्रेम होता तो वियोग की अनुभूति होती, वसन्त में आमों का बौरना और मलय वायु का स्पर्श उनके वियोग को उद्दीप्त करता और वे अवश्य आ जाते। अतः प्रेम मुझसे नहीं, कार्य से है।

जिस प्रकार प्रिय से मिलन में व्याघात उत्पन्न करने वाली अच्छी वस्तु भी बुरी लगती है उसी प्रकार उसका मिलन संपादन करने वाली अन्यथा अपकारक वस्तु भी उपकारक एवं स्पृहणीय प्रतीत होती है। ज्वर का आभार मानने वाली इस नायिका की बात सुनने के लायक है—

---

१. गाथा० ३/१४
२. " १/८७

सुहउच्छग्रं जणं दुल्लहं वि दूराहि अम्ह आणन्त।
उग्रआरग्र जर जीग्रं पि णेन्त ण आवराहोसि ॥[1]

हे ज्वर! तुम्हारे कारण दुर्लभ व्यक्ति मेरी कुशलता पूछने के लिये आया। तुमने मुझ पर बड़ा अहसान किया। अब तुम यदि मेरे प्राणों को भी हर लो तो भी तुम्हारा कोई अपराध न होगा।

प्रेयसी के मुख की वायु किस प्रकार कटुता में भी मिठास घोल देती है यह द्रष्टव्य है—

सुहपुच्छिग्राइ हलिग्रो मुहपङ्कग्र सुरहिपवणणिव्वविग्रम्।
तह पिग्रइ पग्रइकडुग्रं पि ओसहं जह ण णिट्ठाइ ॥[2]

कुशल-समाचार पूछने आई हुई प्रेयसी के मुख की सुरभित वायु से ठंडी की हुई प्रकृति से ही कड़वी औषधि को रुग्ण हलिक ऐसे पी गया कि तनिक भी शेष न रही।

सम्बन्ध-भावना प्रणय की व्यंगात्मक अभिव्यक्ति का सुन्दर साधन है किन्तु अनुराग ज्यों-ज्यों गम्भीर होता जाता है अभिव्यक्ति के साधन त्यों-त्यों स्थूल और स्पष्ट होते चले जाते हैं। औत्सुक्य उभरता है और उसकी चपेट में लज्जा दब जाती है, व्यञ्जना खिसकने लगती है और अभिधा उसकी बात बना लेती है। फलस्वरूप संदेश और प्रेम-पत्रों का आदान-प्रदान प्रारम्भ होता है। संदेश-प्रतिसंदेश की शृङ्खला दीर्घ दीर्घतर होती जाती है और मिलन-उत्कण्ठा चरम सीमा पर पहुँच जाती है। उस समय :

एक्कक्कमसंदेसाणुराग्रवड्ढन्तकोउहल्लाइं।
दुखं असमत्तमणोरहाइँ अच्छन्ति मिहुणाइ ॥[3]

परस्पर सन्देश द्वारा अनुराग के पुष्ट होने से औत्सुक्य-वृद्धि होती है और मनोरथ-पूर्ति का अभाव होने के कारण प्रेमी-युगल बड़े बेचैन रहते हैं।

इस दशा को प्राप्त होकर प्रियतम का सान्निध्य प्राप्त करने की लालसा इतनी तीव्र हो जाती है कि लोक-लाज और कुल-मर्यादा की कौन कहे अपना सर्वस्व तक स्वाहा करके भी प्रिय की प्राप्ति सन्तोष एवं हर्ष का कारण बन जाती है। घर फूंक कर तमाशा देखने वाली इस रमणी का अनुभव सुनिए—

सव्वस्सम्मि वि दड्ढे तहवि हु हिअग्रस्स णिव्वुदि च्चेअ।
जं तेण गामडाहे हत्थाहत्थिं कुडो गहिग्रो ॥[4]

भले ही सब कुछ स्वाहा हो गया, हृदय को शान्ति तो मिली कि गांव में

---

१. गाथा० १/५०
२. ,, ४/१७
३. ,, ४/४२

आग लगने पर उसने उसे बुझाने के लिये मेरे हाथ से जलभरा घड़ा अपने हाथ में लिया।

सान्निध्य प्राप्ति भी प्रेम के विकास में एक पड़ाव है जिसके पश्चात् क्रीडाओं का क्षेत्र प्रारम्भ होता है और मुहब्बत का कारवाँ सधी हुई चाल से आगे बढ़ता चला जाता है। नायक के साथ क्रीडारत नायिका की यह चपलता दर्शनीय है—

धावइ पुरओ पासेसु भमइ दिट्ठीपहम्मि संकाइ।
णवलइकरस्स तुह हलिअउत्त दे पहरसु वराइम् ॥ ५/५६ ॥

सम्मुख दौड़ती है, दायें बायें चक्कर काटती है और नयनों के सामने खड़ी हो जाती है। हलिक पुत्र तुम हाथ में आम की नवीन संटी लिये हो, इस बेचारी पर इससे प्रहार तो करो।

लज्जा, हर्ष, साध्वस आदि भावों का प्राधान्य होने के कारण प्रारम्भिक केलियाँ भी संयोगवश कभी-कभी बड़ी ही अटपटी हो जाया करती हैं, सात्त्विक स्वेद से परेशान इस नायिका की हैरानी देखने के योग्य है—

घेत्तूण चुण्णमुट्ठि हरिसूससिआए वेपमाणाए।
भिसिणेमित्ति पिअअमं हत्थे गन्धोदअं जाअम् ॥[1]

सुगन्धित द्रव्यों की बुकनी मुट्ठी में भर हर्ष और औत्सुक्य से काँपती हुई वह सोच रही थी कि इसे प्रियतम के ऊपर डालूँ कि इतने में ही वह हाथ में ही सुगन्धित जल के रूप में परिणत हो गई।

प्रेम इकतरफा ही तो नहीं। इसकी जाँच करने के लिये अनोखी युक्तियाँ सोची जाती हैं और उपयुक्त अवसर खोजे जाते हैं।

गोलाविसमोआरच्छलेण अप्पा उरम्मि से मुक्को।
अणअम्पाणिद्दोसं तेण वि सा आढमुवऊढा।

गोदावरी के विषम घाट में फिसलने के बहाने नायिका नायक के ऊपर गिरी और उसने भी तरस खाकर भय दूर करने के बहाने उसे आलिङ्गन में बाँध लिया।

ऐसी क्रीडाओं द्वारा विश्रम्भ प्राप्त होता है और फिर लुक-छिप कर अनेक प्रकार की रति-केलियाँ हुआ करती हैं जिनका वर्णन गाथा सप्तशती में स्थान-स्थान पर हुआ है। उदाहरण के लिये नायिका की यह उक्ति लीजिए—

जाओ सो वि विलक्खो मए वि हसिऊण गाढमुवगूढो।
पढमोसरिअस्स णिअंसणस्स गण्ठिं विमग्गन्तो।[2]

'पहले से ही खिसके हुए वस्त्र की ग्रन्थि टटोलते हुए वे कुछ लज्जित हुए और मैंने भी हँसकर उन्हें गाढे आलिङ्गन में जकड़ लिया।

गाथा सप्तशती में स्वकीया और परकीया दोनों के ही प्रेम का खुलकर चित्रण किया गया है। नैतिकता, आचार, मर्यादा आदि को अलग रख विशुद्ध

---

१. गाथा० ४/१२
२. ” ४/५१

साहित्यिक दृष्टि से विश्लेषण करने पर भी स्वकीया प्रेम का चित्रण अत्यन्त सुन्दर बन पड़ा है। परकीया प्रेम में यौवन की उद्दाम वासनाएँ मुखरित हुई हैं। उसमें कूट विदग्धता, पर-प्रतारणा, आत्म-प्रवञ्चन, अविचारितकार्यता और अबाध तरलता है जिनका अन्ततोगत्वा अवश्यम्भावी परिणाम है विरति, घोर निराशा, और हृदयदाही पश्चात्ताप।

इस छेञ्छई (असती) की चतुराई तो देखिए—

अह अम्ह आअदो अज्ज कुलहराओ त्ति छेञ्छई जारम्।
सहसागअस्स तुरअं पइणो कण्ठं मिलावेइ।[1]

यह हमारे पीहर से आया है' यह कह कर असती ने जार को अकस्मात् आगत अपने पति के आगे कर दिया।

चोरी से किये हुए सुरत की प्रशंसा इस प्रकार की गई है—

मुहविज्झविअपईवं णिरुद्धसासं ससङ्कि-ओल्लावम्।
सवहसअरक्खिअ ओट्ठं चोरिअरमिअं सुहावेइ ॥४/३३॥

मुख वायु से दीपक बढ़ाकर, साँस रोककर, आशङ्का के साथ (धीरे-धीरे) बोलते हुए, नायक को शपथ देकर अधर की (दन्तक्षत से) रक्षा करते हुए चोरी से जो रमण किया जाता है वह कितना अनान्द देता है!

किन्तु कुछ दिन बाद परिणाम यह है—

ते अ जुआणा ता गामसंपआ तं च अम्ह ताउण्णम्।
अक्खाणअं व लोओ कहेहि अम्हे वि तं सुणिमा ॥[2]

'वे ही युवक हैं, गाँव की सुखसंपदा भी वही है और हमारा यौवन भी ज्यों का त्यों है। परन्तु लोग कहानी की भाँति (हमारा प्रेम-व्यापार) कहते हैं। और हम भी (तटस्थ से) सुना करते हैं।

बुढ़ापे को कोसती हुई इस नायिका का दुखःदर्द भी सुनें—

जो सीसम्मि विइण्णो मज्झ जुआणेहि गणवई आसी।
तं च्चिअ एह्णिं पणमामि हअजरे होहि संतुट्ठा ॥[3]

कम्बख्त बुढापे! अब तो तू संतुष्ट है। युवक जन (सुरत काल में) गणपति की जिस प्रतिमा को मेरे सिर के नीचे लगा लिया करते थे अब उसी को प्रणाम किया करती हूँ।

परकीया-रति के अनेक उदाहरण गाथा सप्तशती में भरे पड़े हैं। खेत-खलिहान कछार-कुञ्ज, नदी, सरोवर आदि सहेटों में प्रच्छन्न प्रेम की विविध लीलाएँ चित्रित की गई हैं, जिनमें यौवन का उन्माद बिखरा पड़ा है। परकीया प्रेम में स्थायित्व न सही पर आकर्षण है, वह शिव नहीं है परन्तु प्रत्यक्ष पदार्थ है, उसे स्पृहणीय नहीं कह

१. गाथा० ६/१७
२. " ४/७२
३. " ४/१

सकते पर जीवन उसके बंधन से इन्कार भी नहीं कर पाता। वह छिछ
उसमें नवयौवन को डुबा देने की शक्ति है। उसे अच्छी नजर से नहीं
पर उसे नज़र अन्दाज भी नहीं किया जा सकता। इसलिये गाथा सप्तश
चित्रण हुआ है, प्रभूत मात्रा में हुआ है, और अपने स्वाभाविक रूप
यौन-जीवन का इतने व्यापक पटल पर ऐसा यथार्थ चित्रण भारतीय
अन्यत्र शायद ही मिले।

इसके साथ ही प्रेम का वह स्वरूप भी है जिस पर सबकी नज़र
उँगली नहीं उठती, जो इतना ऊँचा है कि यौवन के ढलने और रूप के
ध्यान तक नहीं देता, जो गङ्गाजल के समान पावन, गिरिनिर्झर के सम
और विश्वम्भरा के समान उर्वर, तथा त्याग, सहिष्णुता और विश्वास से
होने के कारण अजर-अमर है। दाम्पत्य-प्रेम की नित नूतन मधुर-चरपरी
रसराज में जिस अनवद्य सरसता का संचार करती हैं वह चोरी के मीठ
कहाँ। बानगी प्रस्तुत है।

नववधू की वामता ही प्रियतम के अवर्णनीय आकर्षण का कारण ब
है—

ण अ दिट्ठिं णेइ मुहं ण अ छिविउं देइ णालवइ किं पि।
तह हि हु किं पि रहस्सं णववहुसङ्गो पिओ होइ॥ ७/४५॥

न दृष्टि ऊपर उठाती है, न स्पर्श करने देती है और न कुछ बोलती है, फि
भी न जाने किस कारण नववधू का मिलन प्रिय होता है।

घर के काम-काज में लगी हुई गृहिणी का यह स्वाभाविक रूप भी देखिए:—

रन्धणकम्मणिउणिए मा जूरसु रत्तपाडलसुअन्धम्।
मुहमारुअं पिअन्तो धूमाइ सिही ण पज्जलइ।[1]

पत्नी खाना बना रही है। आग जलती नहीं, शायद लकड़ियाँ गीली हैं।
बेचारी फूंक पर फूंक लगा रही है पर आग धुँआ देकर ही रह जाती है, जलती नहीं
तो वह खीझ उठती है। पति महोदय चुटकी लेते हैं—

रसोई-कार्य में निपुण! नाराज क्यों होती हो? तुम्हारे लाल गुलाब जैसे
सुरभित मुख की वायु का पान कर अग्नि धुँआ दे रहा है, (शीतल हो जाने से)
जलता नहीं।

एक अन्य नायिका की चेष्टा का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

गेह्लह पलोअह इमं पहसिअवअणा पइस्स अप्पेइ।
जाआ सुअपढमुप्पिण्णदन्तजुअलङ्किअं बोरम्॥[2]

---

१ गाथा० २/१४
२ ,, २/१००

नायिका पुत्रवती है। बच्चा इतना बड़ा हो गया है कि उसके दो दाँत निकल आये हैं। इस अवस्था में बच्चा हर-एक वस्तु में दाँत गड़ाने की कोशिश किया करता है। अतः इसने भी एक बेर उठाया और उसमें अपने दाँतों के चिह्न अङ्कित कर दिये। पत्नी ने यह कहकर कि 'लो देखो' हँसते हुए वह बेर पति को दिया।

इस गाथा में वात्सल्य और शृङ्गार का अद्भुत मिश्रण है। एक ओर पुत्र के दन्तोद्भेद पर प्रसन्नता है और दूसरी ओर हँसने से प्रियतम के प्रति यह प्रस्ताव व्यञ्जित है कि बच्चा पर्याप्त बड़ा हो गया है अब संभोग किया जा सकता है।

अब एक प्रौढा स्वकीया को देखिए—

पाअपडिअस्स पइणो पुट्ठिं पुत्ते समारुहन्तम्मि
दढमण्णुदुण्णिआएँ वि हासो घरिणीएँ णेक्कन्तो।[२]

नायिका मानिनी है। नायक मना रहा है परन्तु नायिका का रोष शान्त ही नहीं होता। बेचारे को अन्तिम उपाय का आश्रय लेना पड़ा। पैरों में गिरा परन्तु मानिनी का हृदय फिर भी न पसीजा तभी उनका छोटा सा बच्चा उसके पैरों में झुके हुए नायक की पीठ पर सवार हो गया और नायिका की हँसी फूट निकली।

विभिन्न अवस्थाओं में वर्तमान स्वकीया के उक्त कतिपय चित्र किसी टिप्पणी की अपेक्षा नहीं रखते। प्रेयसी की प्रीति, पत्नी की भक्ति, गृहिणी की गम्भीरता और जननी की गरिमा से ओत-प्रोत दाम्पत्य-जीवन की ऐसी एक-एक घटना के ऊपर सहस्रों परकीया न्यौछावर की जा सकती हैं। नारी के रमणी रूप से बढ़कर उसका पत्नीरूप है और उससे भी बढ़कर उसका गृहिणीरूप। इसीलिये एक गाथाकार का कथन है—

सन्तमसन्तं दुक्खं सुहं च जाओ घरस्स जाणन्ति।
ता पुत्तअ महिलाओ सेसाओ जरा मनुस्साणम्।[३]

'घर की बुराई-भलाई और सुख दुःख को समझने वाली युवतियाँ ही महिलाएँ हैं शेष तो मनुष्यों के लिये बुढ़ापा मात्र हैं।'

ऐसी कुलवधुएँ मुस्कान द्वारा उपालम्भ, अत्यधिक आदर द्वारा रोष और आँसुओं द्वारा कलह की अभिव्यक्ति किया करती हैं।[१]

तात्पर्य यह है कि गाथा सप्तशती में कुलवधू से लेकर कुलटा और गणिका तक तथा नवोढा से लेकर प्रौढा तक की अवस्था में वर्तमान नायिका के प्रणय का यथार्थ चित्रण हुआ है। ऐन्द्रिय संभोग के स्थूल चित्रों की भी कमी नहीं है जिसका प्रदर्शन यहाँ अनावश्यक प्रतीत होता है। गाथा सप्तशती पर कामशास्त्र के प्रभाव की चर्चा

१. गाथा० १/११
२. " ६/१२
३. " ६/१३

करते हुए हमने अन्यत्र बहुत से उदाहरण प्रस्तुत किये हैं जो मांसल संभोग के नग्न नमूने हैं।

विप्रलम्भ-वर्णन

समय का चक्र ऊपर नीचे घूमता ही रहता है। सब दिन किसी के एक से नहीं रहते। शिशिर के भयङ्कर शीत के पश्चात् वसन्त का मादक पवन आता है तो वसन्त के बाद ग्रीष्म का तीव्र ताप देखना पड़ता है जिसमें छाँह को भी छाँह की आवश्यकता पड़ जाती है। प्रेमियों के जीवन में भी परिवर्तन होता है। जहाँ संयोगावस्था में वे विभिन्न केलियों द्वारा पुष्ट मधुर रस का आस्वादन करते हैं वहाँ वियोग में उन्हें पारस्परिक अदर्शन का विषम विष भी पीना पड़ता है। संयोगावस्था में प्रेम का जितना प्रसार और पोषण होता है वियोगावस्था में उतनी ही तीव्र वेदना सहनी पड़ती है। अतः अनुराग की गहनता का मापदण्ड संयोग है, वियोग नहीं।

भरत मुनि ने विप्रलम्भ के कोई भेद-उपभेद नहीं किये हैं। सर्वप्रथम भोजदेव ने अपने शृङ्गारप्रकाश में विप्रलम्भ के भेदों का निरूपण किया। धनञ्जय ने शृङ्गार के तीन भेद अवश्य किये थे और मिलन से पूर्व की अवस्था को अयोग नाम दिया था। बाद के आचार्यों में विप्रलम्भ के भेदों को लेकर दो मत प्रतिष्ठित हुए। एक के अनुसार वह पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण वाला हुआ और दूसरे के अनुसार उसके अभिलाप, ईर्ष्या, विरह, प्रवास और शाप ये पाँच भेद हुए। पण्डितराज जगन्नाथ ने इन भेदों में कोई विशेष अन्तर स्वीकार नहीं किया।[१] किन्तु विशेष अन्तर न होने पर भी इनमें मनोदशागत यत्किञ्चित् अन्तर तो होता ही है। उदाहरणार्थ प्रवासजन्य विप्रलम्भ में संताप का आधिक्य होगा और ईर्ष्याजन्य में रोषमिश्रित विषाद की तीव्रता। अतः पण्डितराज का मत समीचीन प्रतीत नहीं होता। उक्त दोनों मतों में भी समन्वय किया जा सकता है। अभिलाप और पूर्वराग में कोई अन्तर नहीं। धनञ्जय का अयोग भी इनसे भिन्न वस्तु नहीं है। करुण और शाप भी प्रायः समान से ही हैं। दोनों ही विप्रलम्भ के कारण मात्र हैं। उनका अन्तर्भाव प्रवास में किया जा सकता है। अब केवल विरह रह जाता है जिसमें खण्डिता या विप्रलब्धा की भावना की मनोदशा का वर्णन हुआ करता है। यह न तो पूर्वराग में अन्तर्भूत हो सकता है और न ही प्रवास में। प्रणय-मान भी इसे नहीं कह सकते और जब तक अन्य-स्त्री-विषयक रति का स्पष्ट पता न चल जावे तब तक ईर्ष्यामान भी नहीं मान सकते। अतः विरह उपभेद भी स्वीकार करना पड़ेगा।

विप्रलम्भ के इन भेदों में से पूर्वराग में उत्कट औत्सुक्य मात्र रहता है। प्रियतम के सान्निध्य का पूर्व अनुभव न होने के कारण उसके अभाव की तीव्र अनुभूति संभव नहीं। मान भी कुछ ही समय के लिए होता है, वह भी घर के भीतर

१. इमं च पञ्चविधं प्राञ्चः प्रवासादिभिरुपाधिभिरामनन्ति। ते च प्रवासाभिलापविरहेर्ष्याशापानां विशेषानुपलम्भान्नास्माभिः प्रपञ्चिताः। (रसगङ्गाधर)

ही। अतः वेदना की तीव्रता इसमें भी उतनी अधिक सम्भव नहीं है। वस्तुतः मान को विप्रलंभ के अन्तर्गत माना ही नहीं जाना चाहिए। वस्तु-स्थिति तो यह है कि मान संभोग को अधिक आस्वाद्य बना देता है अतः एक सीमा तक स्पृहणीय है। एक गाथाकार के शब्दों में 'सच्चं कलहे कलहे सुरआरम्भा पुणो णवा होन्ति।'[1]

मान थोड़ी देर ही रहता है, फिर उसकी शान्ति हो जाती है। अन्य संचारियों की भाँति मान का कोप भी संचरण कर लुप्त हो जाता है और फिर संयोग का संयोग। कायिक वियोग इसमें कम ही होता है, हाँ, मनोदशा में अन्तर अवश्य हो जाता है। यही बात विरह के विषय में भी कही जा सकती है। अतः प्रवास ही तीव्र विरहानुभूति के चित्रण का उपयुक्त क्षेत्र रह जाता है।

गाथा सप्तशती में विप्रलम्भ के सभी रूपों का सहज सुन्दर और मार्मिक चित्रण हुआ है।

पूर्वराग

पेच्छइ अलद्धलक्खं दीघं णीससइ सुण्णअं हसइ।
जह जम्पइ अफुडत्थं तह से हिअअट्ठिअं किं पि॥[2]

'बिना किसी लक्ष्य के देखती है, लम्बी आहें भरती है, बिना किसी कारण शून्य चित्र सी हँसती है और अस्फुट शब्दों में कुछ कहती रहती है। प्रतीत होता है कि इसके हृदय में कुछ है।

अविअह्लपेक्खणिज्जेण तक्खणं मामि! तेण दिट्ठेण।
सिविण अपीएण व पाणिएण तह्ल विअ ण फिट्टा॥[3]

मामि! उसे देखते-देखते जी नहीं भरता। उस क्षण उसका दर्शन करके पर भी स्वप्न में जल पीने से तृषा के समान लालसा शान्त नहीं हुई।

मान

होती ही नहीं। प्रौढा का मान अधिक स्थायी और दारुण होता है। यदि वह अधीर प्रकृति की हुई तब तो 'कड़वी और नीमचढ़ी' कहावत ही चरितार्थ हो जाती है। मान के बलाबल के अनुसार ही प्रियवचन, अभीष्ट वस्तुदान, आदि उसको दूर करने के साधन हैं। अन्तिम उपाय है चरणों में गिरकर क्षमा-याचना। गाथा सप्तशती में इन सभी झमेलों की पूरी झाँकी दिखाई गई है। एक नायिका को शिकायत है कि वह मान कर ही नहीं पाती। जिसके विरह में नींद नहीं फटकती, रँग सफेद पड़ जाता है और मुख से आहें निकलने लगती हैं उनके साथ कैसा मान[1] ? मान का नाटक करे भी तो सफल नहीं होता।

केलीअ वि रूसेउं ण तीरए तम्मि चुक्क विणअम्मि।
जाइअएहि वि माए इमेहिं अवसेहिं अङ्गेहिं ॥[2]

"जब (रतिचाञ्चल्यवश) उनकी लज्जा शिथिल हो जाती है तो मैं केलि में भी मान नहीं कर पाती। अङ्ग भी मेरे वश में नहीं रहते। लगता है जैसे किसी से माँग कर लाये हुए हों।"

सखी के प्रति प्रिय की दृष्टि में अपना महत्त्व और गौरव प्रकट करने के लिये मान का नाटक खेल कर बेचारे नायक को छकाने वाली सौभाग्यगर्विता की चर्चा चश्मदीद सखी के मुख से ही सुनिये—

अज्ज म्मि हासिआ मामि तेण पाएसु तह पडन्तेण।
तीए वि जलन्ति दीववत्तिमब्भुण्णअन्तीए ॥[3]

मामि! आज पैरों में पड़ते हुए उस (सखी के प्रियतम) ने और उसी समय (मैं भली प्रकार देख लूं इस उद्देश्य से) दिये की बत्ती तेज करती हुई सखी ने मुझे खूब हँसाया।

ईर्ष्यामान

पुच्छिज्जन्ती ण भणइ गहिआ पप्फुरइ चुम्बिआ रुअइ।
तुह्लिका णववहुआ कआवराहेण उवऊढा ॥[4]

'कृतापराध (अन्यासक्त) प्रिय के पूछने पर कुछ नहीं बोलती, पकड़ने पर फड़फड़ा उठती है, चुम्बन करने पर रो पड़ती है और (बलात्) आलिङ्गन करने पर चुप हो जाती है।

आलिङ्गन मानरूपी वृक्ष को उखाड़ फेंकने वाला कठोर पवन है जो अङ्गों को शीतल करता हुआ सुरत रूपी नाटक का पूर्वरङ्ग सिद्ध होता है।[5] किन्तु सब

१. गाथा० ४/७४
२. ,, २/६५
३. ,, ३/६२
४. ,, ७/४७
५. ,, ४/६४

जगह एक ही इलाज काम नहीं करता। रोगी और रोग की प्रकृति के अनुसार ही औषध का प्रयोग श्रेयस्कर सिद्ध होता है। चतुर नायक का यह उपचार देखिये—

माणोसहं व पिज्जई पिआइ माणंसिणीअ दइअस्स।
करसंपुडवलिउद्धाणणाइ मइराइ गण्डूसो ॥[1]

प्रियतम के हाथों में पकड़े हुए उन्नमित मुख वाली नायिका उसकी मुख मदिरा का पान इस प्रकार कर रही है जैसे वह मान की औषधि हो।

नायिका के मन और नायक के प्रेम की चरम सीमा देखनी हो तो इस मानिनी को देखें जिसे समझाती हुई सखियाँ कह रही हैं—

पाअपडिअं अहव्वे किं दाणिं ण उठ्ठवेसि भत्तारम्।
एअं विअ अवसाणं दूरं पि गअस्स पेम्मस्स

अमङ्गलकारिणि! चरणों में पड़े हुए प्रिय को भी उठा नहीं रही है। अत्यन्त प्रवृद्ध प्रणय की भी यही चरम सीमा है।

मान साध्य नहीं साधन है। प्रियतम की प्रेमवृत्ति को अपने में केन्द्रित करने के लिए ही तो मान किया जाता है। सखियाँ ठीक ही समझा रही हैं—

पाअपडिओ ण गणिओ पिअं भणन्तो वि अप्पिअं भणिओ।
वच्चन्तो वि ण रुद्धो भण कस्स कए कओ माणो।[2]

पैरों में गिरने पर भी उपेक्षा की, प्रियवचन बोलते हुए को भी अप्रिय बातें कहीं और जाते हुए को रोका नहीं। बता फिर मान किसके लिये किया?

संस्कृत के प्रसिद्ध रससिद्ध कवि अमरुक मानचित्रण के लिये विख्यात हैं किन्तु उन्होंने भी गाथा सप्तशती की कई गाथाओं की छाया ग्रहण कर मानिनी की चेष्टाएँ चित्रित की हैं। हम 'गाथासप्तशती का परवर्ती कवियों' पर प्रभाव शीर्षक अध्याय में उनका उद्धरण कर रहे हैं। अतः यहां पुनरावृत्ति उपयुक्त न होगी।

विरह

सामाइ सामलिज्जइ अद्धच्छिपलोइरीअ मुहसोहा॥
जम्बूदलकअकण्णावअंसभरिए हलिअपुत्ते ॥[3]

कान को जामुन के किसलय के अलंकृत कर घूमते हुए हलिक पुत्र को देखकर श्यामा (नायिका) के मुख की आभा क्षीण पड़ गई।

प्रवास विप्रलम्भ

किसी कार्यवश प्रियतम के विदेश चले जाने पर हृदय में जो संतापमयी वृत्ति

---

१. गाथा ३/७०
२. ,, ५/३२
३. ,, २/८०

जागरित होती है वह प्रवासजन्य विप्रलम्भ है। इसके तीन रूप होते हैं १—प्रियतम के विदेश-गमन के समय की बेचैनी, २—उसके प्रवास काल में ताप की दाहक अनुभूति और ३—लौट कर आये हुए प्रिय के दर्शन का औत्सुक्य। गाथा सप्तशती में अन्तिम का वर्णन प्रायः नहीं है, प्रवत्स्यत्पतिका के विषय में भी गिनी-चुनी उक्तियाँ प्राप्त होती हैं। हाँ प्रोषितपतिका के विरह का अत्यन्त स्वाभाविक एवं मार्मिक चित्रण मिलता है।

प्रियतम के परदेश जाने की बात सुनकर प्रेयसी की मनोदशा एक दम कुछ की कुछ हो जाती है। संयोग के अमृत में वियोग की बात विष ही घोल देती है—

केण मणे भग्गमणोरहेण संलाविअं पवासोत्ति ।
सविसाइं व अलसाअन्ति जेण वहुआएँ अङ्गाइं ॥[१]

किस कम्बख्त ने प्रवास का जिक्र कर दिया जिससे वहू के अङ्ग ऐसे शिथिल हो गये जैसे उनमें विष का संचार हो रहा हो।

होन्तपहिअस्स जाआ आउच्छणजीअधारणरहस्सम् ।
पुच्छन्ति भमइ घरं घरेण पिअविरहसहिरीओ ॥[२]

(वह नई) प्रवत्स्यत्पतिका उन प्रेयसियों से जिन्हें प्रियतम का वियोग सहने का अनुभव है, वियोग में जीवन-धारण करने का रहस्य घर घर पूछती फिरती है।

और प्रार्थना करती है कि—

कल्लं किल खरहिअओ पवसिइहि पिओत्ति सुण्णइ जणम्मि ।
तह वड्ढ भअवइ णिसे जह से कल्लं विअ ण होइ ।[३]

लोगों से सुनती हूँ कि संगदिल प्रियतम कल विदेश जा रहे हैं। भगवति ! रात्रि ! तुम इतनी बढ़ जाओ कि कल कभी हो ही न सके।

वियोगव्यथा की विभीषिका उसे घेर लेती है और वह रह रह कर रोने लगती है। सखियाँ समझाती हैं पर प्रेम ने कभी बुद्धि की बात मानी है ?

अज्जं पि ताव एक्कं मा मं वारेहि पिअसहि रुअन्तिम् ।
कल्लिं उण तम्मि गए जइ ण मुआ ता ण रोदिस्सम् ।[४]॥

सखि ! आज और मत रोको ; रोने दो मुझे। कल उनके चले जाने पर यदि मरी नहीं तो फिर नहीं रोऊँगी।

सास ने समझाया—बेटी मत रो। वसन्त ऋतु आ गई है। आम बौरा गये हैं। उन्हें देखकर वह जा नहीं सकता।[५] प्रियतम आया, प्रेयसी से अलविदा कहने के

---

१. गाथा० २/११
२. „ १/४७
३. „ १/४६
४. „ ६/२
५. „ २/४३

लिये। उसके मुख पर दृष्टि पड़ते ही सन्न रह गया। क्योंकि (वियोग की संभावना से ही) उसकी कान्ति लुप्त हो गई थी।[1] फिर पति ने जाने की इच्छा नहीं की। हिरन जैसी कजरारी आँखों में आँसू देख कर भी कोई पत्थरदिल जाने की बात सोच सकता है—

एक्को वि कह्लसारो ण देइ गन्तु पआहिणवलन्तो।
किं उण वाहाउलिअं लोअणजुअलं पिअअमाए।।[2]

एक भी काला हिरण दाहिने से बायें आता है तो जाने नहीं देता, फिर प्रियतमा के आँसू भरे नयनयुगल का तो कहना ही क्या।

संभोग जितना पुष्ट और प्रेम जितना गम्भीर होगा वियोग-वेदना उतनी ही तीव्र होगी यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है। प्रियतम के प्रेमव्यापारों का स्मरण विरह को प्रखर बना देता है। यदि प्रिय उदासीन है तो वह प्रिय ही कहाँ रहा? स्वामी अलबत्ता हो सकता है। जिसके सान्निध्य से कोई लाभ न हो उसका विरह मन पर कोई विशेष प्रभाव नहीं डाल सकता। तभी तो कहावत प्रचलित है कि 'ऐसे ही कन्ता घर रहे ऐसे ही रहे बिदेस।' संभोग-सुख ही विरहानुभूति में कारण होता है इसका प्रतिपादन गाथा सप्तशती में इस प्रकार किया गया है—

परिओससुन्दराइं सुरएसु लहन्ति जाइँ सोक्खाइं।
ताइं च्चिअ उण विरहे खाउग्गिण्णाइँ कीरन्ति।।[3]

सुरतकाल में जिन सुखों का आकण्ठ भोग किया जाता है वे ही विरह में उगलने पड़ते हैं।

अवधि व्यतीत होने पर पुनर्मिलन की आशा ही विरह को सहने की शक्ति प्रदान करती है। महाकवि कालिदास ने मेघदूत में कहा है कि स्त्रियों का हृदय-कुसुम अत्यन्त कोमल होता है। केवल आशा का बन्धन ही उसे वियोग में नष्ट होने से बचाये रखता है। प्रियविरह में दिन एक-एक कर के काटने पड़ते हैं। वियोग के दिनों की गणना दो प्रकार से हो सकती है। एक तो वियोगदिवस से आरम्भ करके और दूसरी पुनरागमन के लिये निश्चित दिवस से प्रारम्भ करके। पहले हिसाब में एक-एक दिन बढ़ाया जाता है और दूसरे में घटाया जाता है। एक यह बतलाता है कि बिछड़े हुए इतने दिन हो गये, दूसरा प्रकट करता है कि पुनर्मिलन में इतने दिन हैं। प्रवास के दिन और उसके पश्चात् कुछ और समय तक पहला हिसाब चलता है और जैसे-जैसे पुनरागमन का दिन समीप आता जाता है गणना का दूसरा प्रकार अपनाया जाता है। यह सब इतना स्वाभाविक है कि कारण बताने की आवश्यकता नहीं।

---

१. गाथा ५/१००
२. ,, १/२५
३. ,, ७/६८

गाथा सप्तशती की मुग्धा ग्रामीणाओं के पास अवधि के दिन गिनने का साधन हैं अपनी उँगलियाँ और दीवार। आज भी गाँव के बहुत से लोग बीस से आगे गिनती ही नहीं जानते। अपनी हिसाबी भाषा में वे उनसठ को एक कम तीन बीसी कहते हैं। बीस तक की इस गणना का आधार मनुष्य के हाथ-पैरों कि बीस उँगलियाँ ही प्रतीत होती हैं। हाथ-पैरों की उँगलियों पर जितना गिना जा सका उतनी ही गिनती उन्हें याद रही।

इस मुग्धा वियोगिनी की परेशानी देखिए—

हत्थेसु अ पाएसु अंगुलिगणणाइ अइगआ दिअहा।
एह्लि' उण केण गणिज्जउ त्ति भणिऊ रुअइ मुद्धा॥[1]

हाथ और पैरों की उँगलियों पर गणना करके बीस दिन बिताये। 'अब किनसे गिनती की जाये' यह कह कर वह मुग्धा रो पड़ी।

नायिका की ऋजुता के साथ-साथ दैन्य संचारी की भी सुन्दर अभिव्यञ्जना इस गाथा में हुई है।

हाथ-पैरों की उँगलियों के पश्चात् गणना करने की जिस पद्धति का आविष्कार हुआ वह है दीवार पर रेखाएँ खींचकर गिनना। एक वस्तु के लिये एक रेखा खींच दी जाती है। परन्तु मुग्धा नवोढा प्रथमविरहिणी इस पद्धति का भी सही अनुसरण नहीं कर पाती। वियोग-व्यथा से पीडित रमणी सुध-बुध भूल कर खोई-खोई सी एक दिन में ही अनेक रेखाएँ खींच डालती हैं—

अज्जं गओ त्ति अज्जं गओ त्ति अज्जं गओ त्ति गणरीए।
पढम व्विअ दिअहद्धे कुड्डो रेहाँहि चित्तलिओ॥[2]

आज गया, आज गया, आज गया, यह गिनते-गिनते पहले ही दिन के दोपहर तक भींत रेखाओं से भर दी।

मुग्धा का यह व्यापार उसकी मानसिक विक्षिप्तता का ही परिचायक है जो द्रष्टा के हृदय में विकृत-व्यापार-जन्य हास्य का उद्बोधक नहीं अपितु संवेदना का संचारक है। इसी संवेदना से प्रेरित होकर अनिष्ट की शङ्कालु सखियाँ उसे धोखा भी देती हैं—

ओहिदिअहागमासंकिरीहिं सहिआहि कुड्डलिहिआओ।
दोतिण्णि तहिं विअ चोरिआएँ रेहा पुसिज्जन्ति॥[3]

अवधि दिवस के आगमन की आशंका से सखियाँ भींत पर खींची हुई रेखाओं में से चोरी से दो-तीन पोंछ डालती हैं।

---

१. गाथा० ४/७
२. " ३/८
३. " ३/६

यदि अवधि दिवस पर प्रिय नहीं आया तो यह प्राणोत्सर्ग ही कर देगी। इस आशङ्का से ही सखियाँ ऐसा कार्य करती हैं। यदि निश्चित दिवस पर वह आ भी गया तो भी रेखाएँ कम होने के कारण नायिका समझेगी कि अवधि से पहले ही आ गया है। इससे उसके मिलन का हर्ष और भी अधिक हो जायेगा।

प्रिय-आगमन के निश्चित दिन की प्रतीक्षा वियोग के क्षणों को सह्य बना देती है। अतः वह वियोगिनी का सर्वस्व है। उसकी विस्मृति या उसके हिसाब में कोई भूल उसके लिये घोर निराशाजनक होगी। यही कारण है वह उसकी रक्षा स्वयं कष्ट पाकर भी करती है।

झञ्झावाउत्तिण्णिअघरविवरपलोट्टसलिलधाराहिं।
कुड्डलिहिओहिदिअहं रक्खइ अज्जा करअलेहिं॥[१]

झंझा वायु ने घर का फूँस उड़ा दिया और अब वियोगिनी छेद से आती हुई जलधारा से भींत पर लिखे हुए अवधि दिवस को रक्षा कर रही है।

गाथा सप्तशती एक जबर्दस्त ध्वनिकाव्य है। उसकी वर्णनात्मक प्रतीत होने वाली उक्तियों के नीचे भी व्यञ्जना के पर्त जमे पड़े हैं। गाथाकार इस बात का वर्णन नहीं करता कि विरह की अनुभूति हृदय में कैसी लगती है। वह चारों ओर का वातावरण चित्रित करके उसके मध्य विरहिणी का दर्शन कराता है। यह सहृदय द्रष्टा के ऊपर निर्भर है कि वह उसके मन की बात जान ले। उदाहरण लीजिए—

रक्खेइ पुत्तअं मत्थएण ओच्छोअअं पडिच्छन्ती।
अंसुहिं पहिअघरिणी ओल्लिज्जन्तं ण लक्खेइ।[२]

प्रवासी की गृहिणी छप्पर के छोर से टपकते जल को अपने ऊपर लेकर (गोद में स्थित) पुत्र की जल से रक्षा करती है पर यह नहीं जानती कि वह स्वयं अपने आंसुओं से उसे भिगो रही है।

'घरिणी' शब्द व्यञ्जित करता है कि नायक के प्रवास-काल में उसे केवल अपने शरीर की रक्षा ही नहीं करनी है, समूचे घर का भार उस पर है। 'पुत्तअ' शब्द की व्यञ्जना है कि वह प्रेयसी ही नहीं माँ भी है! वर्षा की ऋतु, पति परदेश में, मकान-छिन्न-भिन्न, घर का उत्तरदायित्व और प्रियतम की थाती—शिशु—की सुरक्षा, सब कुछ इस अकेली अबला को निबाहना है। उसकी आँखों से आँसू वह निकलते हैं, अपने शरीर की उसे सुध ही नहीं फिर आँसुओं की सुध कैसे रहे। इस समय उसका एक ही लक्ष्य है वर्षा के जल से पुत्र को बचाना, वहीं उसका अवशिष्ट विवेक केन्द्रित है। अपने शरीर और आँसुओं की ही खबर नहीं तो अश्रुक्लिन्न शिशु की खबर कैसे रहे।

एक दूसरा चित्र लीजिए। मेघ उमड़ रहे हैं और वियोगिनी आँखों में आँसू

---

१. गाथा० २/७०
२. ,, ७/२१

भरे हुए अपने पुत्र की ओर देख रही है।[1]

'देखो दो-दो मेघ बरसते मैं प्यासी की प्यासी'। और प्यास ऐसी कि प्राण लेने पर तुली है। तब शिशु का क्या होगा ?

शुक्ल जी के अनुसार 'हौं बिनु नाह मँदिर को छावा' कह-कह कर बिसूरने वाली जायसी की नागमती हिन्दी की विरहिनों में शायद पहले नम्बर पर आती है, फिर अज्ञात-नामा गाथाकार की इस मूक सृष्टि को आप क्या कहेंगे ? इस एक चित्र पर न जाने कितनी नागमतियाँ वारी जा सकती हैं।

गाथाकार बोलता कम और कहता अधिक है। फिर उसकी वियोगिनी को अपनी व्यथा का ढिंढोरा पीटने की आवश्यकता भी क्या है ? वह किसी से कुछ नहीं कहती। केवल काम से एक प्रार्थना करती है। वह यह कि जिस बाण से उसने उसे बेधा है उसे उस के प्रवासी प्रियतम पर भी आज़माए।[2]

प्रिय को पत्र लिखना विरह-विनोद के उपायों में से एक है। मनोव्यथा को लेख द्वारा प्रियतम तक पहुँचा कर मन जरूर हल्का हो जाता होगा। आते-जाते पथिक के हाथ सन्देश भी भिजवाये जा सकते हैं। ये दोनों ही उपाय गाथा की वियोगिनी के पास हैं परन्तु वह इन का उपयोग नहीं करना चाहती। पत्र में वह केवल दो पंक्तियाँ लिखती है—

वाआइ किं भणिज्जउ केत्तिअमेत्तं व लिक्खए लेहे,
तुह विरहे जं दुक्खं तस्स तुमं चेअ गहिअत्थो।[3]

वाणी से क्या कहा जाये ? और पत्र में लिखा कितना जाता है ? तुम्हारे वियोग में मुझे कितनी व्यथा है वह तुम स्वयं जानते हो।

वाणी और लेख से परे अपनी वियोग-व्यथा के साथ प्रियतम के प्रति पूर्ण विश्वास एवं उसकी भी स्वसदृश मनोकामना का अनुमान इन दो पंक्तियों में जिस खूबी के साथ प्रकट किया गया है, वह अठपेजी पत्र में भी कहाँ सम्भव है ?

प्रियतम का सन्देश वियोग-संतप्त हृदय पर रस की फुहार छोड़ता है तभी तो प्रेयसी उसे बार-बार सुनकर आनन्द लेती है—

बहुसो वि कहिज्जन्तं तुह वअणं मज्झहत्थसंदिट्ठम्।
ण सुअं त्ति जम्पमाणा पुनरुत्तसअं कुणइ अज्जा॥२/६८॥

मेरे हाथ भेजे हुए तुम्हारे सन्देश को उसने यह कहकर कि 'फिर कहो, सुना नहीं', सैंकड़ों बार कहलाया।

स्वप्न-दर्शन एक अन्य उपाय है। परन्तु स्वप्न नींद आने पर ही सम्भव है। वियोग की अनुभूति में नींद कहाँ ? जिन्हें वियोग में नींद आ जाती है वे क्या

---

१. गाथा ४/३८
२. ,, ५/४१
३. ,, ३/७१

वास्तव में वियोग की अनुभूति करते हैं ? गाथा सप्तशती की वियोगिनी को स्वप्न में भी दर्शन का सौभाग्य प्राप्त नहीं है—

घण्णा ता महिलाओ जा दइअं सिविणए वि पेच्छन्ति ।
णिद्द च्चिअ तेण विणा ण एइ का पेच्छए सिविणम्[1] ।।

वे महिलाएँ धन्य हैं जो स्वप्न में भी प्रियतम का दर्शन कर लेती हैं । हमें तो उनके वियोग में नींद ही नहीं आती । स्वप्न कौन देखे ?

प्रिय का चित्र देखकर भी मन बहलाया जा सकता है । कालिदास के यक्ष ने गेरू से पत्थर पर अपनी प्रिया का चित्र खींचकर दर्शन करना चाहा था पर आँखों में आँसू आ गये । बेचारे को यह भी नसीब न हुआ । गाथा सप्तशती की नायिका का भी यही हाल होता है—

तुह विरहुज्जाअरओ सिविणे वि ण देइ दंसणसुहाइं ।
वाहेण जहालोअण-विणोअणं से हअं तं पि ।।[2]

तुम्हारे विरह में उसे नींद नहीं आती अतः स्वप्न में दर्शन सम्भव नहीं और चित्र-दर्शन भी आँसुओं के कारण गया ।

कविकुल-गुरु के शब्दों में 'क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते संगमं नौ कृतान्तः'

संगीत एक अन्य साधन है । गाथा सप्तशती में एक वियोगिनी ने अपनी उत्कंठा-विनोदन के लिये गीत गाया है जो अन्य पथिकों की मनोव्यथा को ताजा कर देता है ।[3] वस्तुतः कण्ठ भर आने के कारण वियोग में संगीत भी सम्भव नहीं है[4] ।

कल्पना द्वारा प्रिय को उपस्थित करके भी कुछ देर मिलन-आनन्द के भुलावे में मन को बहलाया जा सकता है, किन्तु इस प्रकार मन के मोदक से भूख कब तक मिट सकती है ? वियोगिनी का यह सन्देश कितना स्वाभाविक है—

उप्पेक्खागअ-तुहमुहदंसण-पडिरुद्ध-जीवि-आसाइ ।
दुहिआइ मए कालो कित्तिअ-मेत्तो व्व णेअव्वो ।[5]

तुम्हारे भावनागत मुख के दर्शन के सहारे अपने प्राणों की आशा करती हुई मैं कितना समय बिता सकूँगी ?

प्रियतम के ध्यान में निशदिन डूबी रहने वाली वियोगिनी इतनी एकाग्रचित्त हो जाती है कि उसे अपने चारों ओर प्रिय की ही मूर्ति दिखाई पड़ती है—

जं जं पुलएमि दिसं पुरओ लिहिअ व्व दीससे तत्तो ।
तुह पडिमापडिवाडि वहइ व्व सअलं दिसाअक्कम् ।।[6]

---

१. गाथा० ४/९७
२. ,, ५/८७
३. ,, २/२८
४. ,,
५. ,, ४/३९
६. ,, ६/३०

जिधर भी देखती हूँ उधर ही तुम सामने चित्रित से दिखाई देते हो, लगता है मानो समूचा दिङ्मण्डल तुम्हारी तस्वीरों की पंक्तियों से अलंकृत है।

यह अवस्था उस मनोदशा की सूचक है जहाँ हृदय की समूची वृत्तियाँ एक ही वस्तु पर केन्द्रित होकर अद्वैत की अनुभूति को जन्म देती हैं; जहाँ मनोयोग में भी संयोग की सी स्थिति का आविर्भाव होता है और हृदय शान्त, शुद्ध, मुक्त होकर अपार रस-सागर में निमग्न हो जाता है। यह भ्रम नहीं है क्योंकि जीवन के शाश्वत सत्य का प्रबल अभिव्यञ्जक है, उन्माद भी नहीं है क्योंकि आवेग का इस में नितान्त अभाव है अपितु प्रेम के अनिर्वचनीय तत्त्व की वह प्रगाढ अनुभूति है जो मानव की समूची चेतना को आत्मसात् कर लेती है। क्षणभर के लिये भी जिसने इस पवित्र मनोदशा का अनुभव किया है, वह धन्य है। वियोग की विषम व्यथा उसे व्याप नहीं सकती और गाथासप्तशती की नायिका के स्वर में स्वर मिला कर वह कह उठता है —

रूअं अच्छीसु ठिअं फरिसो अङ्गेसु जम्पिअं कण्णे।
हिअअं हिअए णिहिअं विओइअं किं त्थ देव्वेण ॥ २।३२॥

'प्रियतम का रूप आँखों में, स्पर्श अङ्गों में, शब्द कानों में और हृदय हृदय में निहित है। दैव ने वियुक्त किया क्या ?

काव्यशास्त्रियों ने विप्रलम्भ के प्रमुख दस संचारियों के आधार पर वियोग की जो दस अवस्थाएँ बतायी हैं। उनमें से अनेक के मार्मिक उदाहरण गाथा सप्तशती में उपलब्ध हैं।

अभिलाष और व्याधि

सा तुअ कएण बालअ अणिसं घरदारतोरणणिसण्णा।
ओसुसइ वन्दणमालिअ व्व दिअहं विअ वराई ॥३।६२॥

तुम्हारे कारण वह बेचारी निरन्तर घर के दरवाजे पर बैठी हुई वन्दनवार के समान प्रतिदिन सूखती जा रही है।

नायिका का द्वार पर बैठकर नायक की राह देखना अभिलाष का व्यञ्जक है और प्रतिदिन सूखना व्याधि का।

चिन्ता

दट्ठूण उण्णमन्ते मेहे आमुक्कजीविआसाए।
पहिअघरिणीअ डिम्भो ओरुण्णमुहीअ सच्चविओ ॥६।३८

उमड़ते हुए मेघों को देखकर विरहिणी जीवन की आशा छोड़ आँखों में आँसू भर कर अपने बच्चे की ओर देखने लगी।

'प्रिय परदेश में है और वियोग में अब मेरा जीना कठिन है। मेरी मृत्यु के बाद इस शिशु का क्या होगा ?' विरहिणी की यह चिन्ता स्पष्ट है।

गुण-कथन

ईसं जणेन्ति दावेन्ति मम्महं विप्पिग्रं सहावेन्ति।
विरहे ण देन्ति मरिउं ग्रहो गुणा तस्स बहुमग्गा ॥४।२७

ईर्ष्या उत्पन्न करते हैं (क्योंकि अन्य स्त्रियाँ भी उसे चाहती हैं), काम को उद्दीप्त करते हैं। अप्रिय बातों को भी सहन कराते है और विरह में मरने भी नहीं देते। प्रियतम के गुणों की कितनी विशेपताएँ हैं!

स्मृति

चलणोग्रासणिसण्णस्स तस्स भरिमो ग्रणालवन्तस्स।
पाग्रङ्गुट्ठावेट्ठग्रकेसदिढाग्रड्ढणसुहेल्लिम् ॥[1]

वह सब कुछ याद आता है कि प्रिय मान दूर करने के लिये मेरे चरणों में पड़े थे। मैंने अपने पैर के अँगूठे में उनके केश लपेट कर खींचे फिर भी वे मौन रहे और इस क्रीडा से प्रसन्न ही हुए।

व्याधि

वग्रणे वग्रणम्मि चलन्तसीससुण्णावहाणहुंकारम्।
सखि देन्ती णीसासन्तरेसु कीस म्ह दुम्मेसि ॥[2]

सखि? बात बात पर सिर हिला कर सूने मन से आहें भरती हुई हूँ हूँ करके हमें क्यों दुखित करती हो।

अनिद्रा, कृशता, ताप आदि की सूचक अन्य अनेक गाथाएँ देखी जा सकती है।

उद्वेग

अनर्थातिशय से प्रसूत संभ्रम जब चेष्टाओं द्वारा अभिव्यक्त होता है तो उद्वेग कहलाता है—

ग्रवलम्बह मा सङ्कह ण इमा गहलङ्घिग्रा परिब्भमइ।
ग्रत्थक्कगज्जिउब्भन्तहित्थहिग्रग्रा पहिग्रजाग्रा ॥[3]

पकड़ लो, शङ्का मत करो, इसे भूत नहीं चढ़ा है बल्कि यह अकस्मात् ही बादल के गर्ज उठने से उद्भ्रान्त और भीतहृदया वियोगिनी है।

उन्माद

चिन्ताणिग्रदइग्रसमागमम्मि कग्रमण्णुग्राइँ भरिऊण।
सुण्णं कलहाग्रन्ती सहीहिं रुण्णा ण ग्रोहसिग्रा ॥[4]

प्रियतम के समागम की कल्पना तथा उसके अपराधों का स्मरण कर सूने में अकेली ही मान करती हुई (वियोगिनी) को देखकर सखियाँ उसका उपहास न कर रो पड़ी।

---

१. गाथा० २/८
२. " ४/५६
३. " ४/८६
४. " १/६०

सप्तशती के विप्रलम्भ-वर्णन की दो प्रमुख विशेषताएँ हैं। एक तो, जैसा कि हम बता चुके हैं, इसमें वियोगिनी का प्रेयसी या रमणी-रूप ही चित्रित नहीं हुआ अपितु गृहिणी के गौरव और माँ के वात्सल्य ने भी उसे अनुप्राणित कर गरिमा प्रदान की है। जिससे गम्भीरता का वातावरण छा गया है और छिछलापन कहीं लक्षित नहीं होता। दूसरी विशेषता यह है कि विरह वर्णन में ऊहा का आश्रय नहीं लिया गया। अर्थात् विरहजन्य ताप या कृशता की नाप-जोख, जैसी बहुत बाद में रीतिकालीन कवियों ने बड़ी रुचि के साथ की, प्रायः नहीं की गई है। दो एक गाथाएँ ही ऊहात्मक कही जा सकती हैं—

रमिऊण पअं पि गओ जाहे उवऊहिउं पडिणिउत्तो।
अहअं पउत्थपइआ व्व तक्खणं सो पवासिव्व ॥ १/९८ ॥

सुरत के पश्चात् ज्यों ही एक पग जाकर प्रिय पुनः आलिङ्गन करने के लिये लौटते हैं उसी बीच में मैं प्रोषितपतिका और वह प्रवासी से प्रतीत होते हैं।

तुह दंसणे सअह्णा सद्दं सोऊण णिग्गदा जाइं।
तइ वोलीणे ताइं पआइं वोढव्विआ जाआ ॥ ६/५ ॥

(तुम्हारे) शब्द सुनकर दर्शन की लालसा से वह जितने क़दम चली तुम्हारे निकल जाने पर उतने ही क़दम वह अन्य व्यक्तियों द्वारा उठाकर ले जाई गई।

वस्तुतः प्रथम गाथा में वियोग-वर्णन है ही नहीं। स्वाधीनपतिका की इस उक्ति में उसका सौभाग्य-गर्व ही लक्ष्य है। प्रोषितपतिका और प्रवासी तो अप्रस्तुत-विधान के कारण ही आ गये हैं। दूसरी गाथा में नायिका को अन्य व्यक्तियों द्वारा उठाकर ले जाना उसकी क्षीणता एवं दुर्बलता के कारण ही नहीं जडता के कारण भी हो सकता है।

ताप की अभिव्यक्ति करने के लिये गाथाकार ने न तो माघ मास में ही लू चलाई है और न ही नायिका के वक्ष को जलता हुआ तवा बना दिया है कि आंसू पड़े और छन छनाकर छिप जाये। एक उदाहरण लीजिए—

दीहुल्लपउरणीसासपआविओ वाहसलिलपरिसित्तो।
साहेइ सामसबलं व तीए अहरो तुह विओए ॥ २/८५ ॥

दीर्घ और उष्ण श्वासों से प्रतप्त तथा अश्रु से सिक्त उसका अधर तुम्हारे वियोग में मानों श्याम-शबल व्रत (जिसमें पहले अग्नि में और उसके बाद जल में प्रवेश किया जाता है) की साधना कर रहा है।

यहाँ अधर इतना संतप्त नहीं कि आँसू भाप बन कर उड़ जाये बल्कि व्रत-साधना से अन्य वस्तुओं के प्रति निर्वेद तथा व्रत के फलस्वरूप प्रिय की प्राप्ति और उससे नायक के प्रति अतिशय अनुराग व्यंजित होता है।

विरह-जन्य व्याधि की अभिव्यक्ति का ढंग बड़ा स्वाभाविक है। पाँचवें शतक की तिरानवेवीं गाथा में कहा गया है कि वियोगिनी अपनी सास के चरणों में प्रणाम

करने के लिए झुकी तो उसके कंगन निकल गये। यह देखकर सास भी जो स्वभाव से ही उस पर बहुत कुपित हुआ करती थी, रो पड़ी।

कुछ गाथाओं में वियोग में पुरुष की मनोदशा का भी चित्रण किया गया है। यात्रा के आरम्भ में ही नूतन प्रवासी की दशा देखकर कोई कहता है—

आलोअन्त दिसाओ ससन्त जम्भन्त गन्त रोअन्त।
मुच्छन्त पडन्त खलन्त पहिअ किं ते पउत्थेण ॥३।४३॥

पथिक! दिशाओं को देखते हुए, आहें भर जम्हाइयाँ लेते हुए, रोते, मूर्छित होते और गिरते-पड़ते परदेश जाने से क्या लाभ?

वियोग-संतप्त नायक को महुए का पुष्प कैसी सान्त्वना दे रहा है—

अग्घाइ छिवइ चुम्बइ ठवइ हिअअम्मि जणिअरोमञ्चो।
जाआकवोलसरिसं पेच्छइ पहिओ महुअपुप्फम् ॥७।२९॥

पथिक (वियोगी) अपनी पत्नी के कपोल जैसे महुए के फूल को कभी सूँघता है, कभी सहलाता है कभी चूमता है और कभी रोमांचित होकर हृदय से लगाता है।

घर पहुंच कर प्रियतमा से मिलने के उत्साह से प्रेरित पथिक घर की ओर किस प्रकार तीव्र गति से बढ़ रहा है—

संकेल्लिओ व्व छिज्जइ खण्डं कओ व्व पीओ व्व।
वासागमम्मि मग्गो घरहुत्तमुहेण पहिएण ॥७।९४॥

घर पर पहुंच कर होने वाले सुख से प्रेरित पथिक मार्ग को समेटता हुआ सा खण्ड-खण्ड कर काटता हुआ सा, पीता हुआ सा आगे बढ़ रहा है। मार्ग के समेटने से पथिक की तीव्र गति, खण्ड-खण्ड करने से गति को तेज करने में आयास और पीने से दूरी के कम रहते जाने से उत्तरोत्तर प्रसन्नता एवं उत्साह तथा पूरी उक्ति से औत्सुक्य की व्यञ्जना द्रष्टव्य है।

प्रवास-काल में रात कैसे कटी यह बताता हुआ नायक नायिका से कहता है—

चन्दमुहि चन्दधवला दीहा दीहच्छि तुह विओअम्मि।
चउजामा सअजाम व्व जामिणी कहं वि वोलीणा ॥३।८३॥

आयत नेत्रों वाली! चन्द्रमुखी! तुम्हारे वियोग में चार पहर की चाँदनी रात ऐसे कटी मानो सौ पहर की हो गई हो।

वसन्त, चन्द्रमा, मेघ आदि प्रकृति के उद्दीपन तत्त्वों का वियोगी हृदय पर जो विषम प्रभाव पड़ता है उसका वर्णन भी कुछ गाथाओं में मिलता है। एक नायिका का यह कथन देखिए—

अज्ज मए तेण विणा अणुहूअसुहाइं संभरन्तीए।
अहिणवमेहाणं रवो णिसामिओ वज्झपडहो व्व ॥१।२९॥

आज प्रिय के बिना मुझे अनुभूत सुखों का स्मरण करते हुए नूतन मेघों की ध्वनि उस ढोल के समान प्रतीत हुई जो मृत्यु-दण्ड-प्राप्त व्यक्ति को वध-स्थान पर ले जाते समय बजाया जाता है।

इसी प्रकार वसन्त ऋतु[1], मलय वायु[2], आम्रमंजरी[3], कदम्ब[4]-पुष्प आदि को परम्परानुसार विरहोद्दीपन रूप में चित्रित किया गया है।

अनौचित्य

हम कह चुके हैं कि गाथा सप्तशती में जीवन का यथार्थ चित्रण है। यथार्थ वर्णन में उचित-अनुचित का ध्यान नहीं रखा जाता। यों तो सदाचार और धर्म की दृष्टि से परकीया-रति भी अनुचित है परन्तु कुछ बातें इतनी अनुचित होती हैं कि शौचाचार, मानवता और सभ्यता के नितान्त प्रतिकूल पड़ती हैं। इस प्रकार की उक्तियाँ भी गाथा सप्तशती के घोर शृंगार वर्णन में पाई जाती हैं। यथा स्वकीया हो या परकीया, ऋतुमती के साथ सुरत-वर्जित है। किन्तु कई गाथाओं में उसका भी स्पष्ट चित्रण किया गया है।

> लोओ जूरइ जूरउ वअणिज्जं होइ होउ तं णाम।
> एहि ँणिमज्जसु पासे पुप्फवइ ण एइ मे णिद्दा ॥६।२९॥

लोगों को खेद होता है तो हो, निन्दा होगी तो हुआ करे। रजस्वले ! तुम मेरे पास शयन करो। मुझे नींद नहीं आती।

> थोरंसुएहि रुण्णं सवत्ति-वग्गेण पुप्फवइआए।
> भुअसिहरं पइणो पेच्छिऊण सिरलग्गतुप्पलिअम् ॥६।२८॥

पति के कन्धे पर रजस्वला के सिर का वर्णवृत लगा देखकर सपत्नियाँ मोटे-मोटे आँसुओं से रो पड़ीं।

परकीया नायिका कन्या और अन्योढा दो प्रकार की होती है। कुमारी के साथ सुरत का वर्णन नायिका-भेद के अनुसार अनुचित नहीं, परन्तु बालिका के विषय में शृङ्गारिक भावना प्रकट करना निन्द्य है। गाथा सप्तशती के इस रसिक की टिप्पणी सुनिए—

> एत्ताहच्चिअ मोहं जणेइ बालत्तणे विवट्टन्ती।
> गामणिधूआ विसकन्दलि व्व वड्ढीआ काहिइ अणत्थम् ॥५।१०॥

बाल्यावस्था में ही वर्तमान, ऐसी दशा में भी यह ग्रामपति की लड़की विष की कोंपल के समान मोह उत्पन्न करती है, वड़ी होकर तो अनर्थ ही करेगी।

इसका किसी तरह समाधान कर भी दिया जाये तो अन्य उदाहरण लीजिए—

> उप्फुल्लिआइ खेल्लउ मा णं वारेहि होउ परिऊढा।
> मा जहणभारगरुई पुरिसाअन्ती किलिम्मिहिइ ॥२।९६

---

१. गाथा० ६/४२
२. ,, ५/९७
३. गाथा० ५/९९
४. ,, २/७७

उसे मत रोको उत्फुल्लिका (एक खेल जिसमें चित्त लेटा व्यक्ति बच्चे को अपनी पिंडलियों पर बिठाकर ऊपर की ओर उठाता है, इसे किन्हीं स्थानों पर झूझू मांगू भी कहते हैं) से खेलने दो जिससे कृश रहे। अन्यथा आगे जाकर जघन प्रदेश के भारी होने से विपरीत रति में कष्ट पायेगी।

यहाँ तक कि एक गाथा में सरोवर के तट पर पानी की लहरों से आगे पीछे होती हुई मेंढकी को भी विपरीत-सुरत-आसक्त-सी बताया है। भगवान् विष्णु और लक्ष्मी की विपरीत रति का भी एक गाथा में वर्णन है। यह सब कुछ जुगुप्सा और उद्वेगजनक ही है। रस तो इसे क्या कहें, रसाभास भी यह नीची कोटि का ही है।

पति की मृत्यु के पश्चात् सती होती हुई विधवा नायिका के सात्विक स्वेद की यह धारा कहाँ तक समीचीन है—

विज्जाविज्जइ जलणो गहवइधूआइ वित्थअसिहो वि।
अणुमरणघणालिङ्गणपिअअम सुहसिञ्जिरङ्गीए ॥५।७॥

मृत पति के साथ सती होती हुई प्रिय के गाढ आलिङ्गन से उद्भूत आनन्द-स्वेद से शीतलाङ्गी युवती ने चिता की धधकती हुई ज्वाला को शान्त कर दिया।

करुण रस की करुणतम अनुभूति में शृङ्गार का यह समावेश नितान्त अनुचित है। हृदय में शोक की धारा उमड़ रही हो तो आलिङ्गन एवं तज्जन्य सात्विक भाव की बात सोची भी नहीं जा सकती। काव्यशास्त्रीय परम्परा तो अलग की बात है मानवीय मनोविज्ञान से भी यह बिल्कुल विरुद्ध पड़ता है।

उक्त गाथा में पति के मृत शरीर के स्पर्श से स्वेद सात्विक का उदय बतलाया गया पर एक अन्य गाथा में और भी दूर की कौड़ी लाई गई है। देखिए—

जारमसाण-समुब्भव-भूइ-सुहफंस-सिञ्जिरङ्गीए।
ण समप्पइ णवकावालिआइ उद्धूलणारम्भो ॥ ५—८ ॥

अपने जार की चिता की भस्म के स्पर्शसुख से जनित स्वेद से शीतलाङ्गी कापालिका भस्म रमाने का काम पूरा नहीं कर पाती (भस्म लगाती है तो उसके स्पर्श से सात्विक स्वेद हो जाता है। उसे दूर करने के लिए फिर भस्म रमाती है तो पुनः स्वेद हो जाता है। स्वेद और भस्म का यह चक्र चलता ही रहता है।)

दोनों ही गाथाओं में सात्विक स्वेद की उत्पत्ति और नाप-जोख अस्पृहणीय एवं उद्वेग-जनक है। न तो यह जीवन का यथार्थ ही है और न आदर्श ही।

संभोग शृङ्गार के चित्रण में भी ऊहा का भद्दा स्वरूप एक गाथा में मिलता है जिसमें कल्पना की गई है कि माघमास में भी किसान युवा अपनी प्रियतमा के निर्धूम तुषाग्नि जैसे उष्णतादायक कुचों को देखकर कम्बल को बेच देता है और बदले में बैल खरीद लेता है।[1]

---

१. गाथा० ३/३८

नायिका की यह भौंडी, निर्लज्ज और जघन्य रुचि भी ऐसी ही है—

जेत्तिअमेत्ता रच्छा णिअम्ब कह तेत्तिओ ण जाओसि ।
जं छिप्पइ गुरुअणलज्जिओ सरन्तो वि सो सुहओ ॥ ४।६३ ॥

विधि ने नितम्ब भी गली जैसे विशाल क्यों नहीं बनाये कि गुरुजन से लज्जित होकर खिसकते हुए भी उस सुन्दर युवा से स्पर्श तो हो ही जाता ।

शृङ्गार के अतिरिक्त अन्य रस भी गाथा सप्तशती में समाविष्ट किये गये हैं और वे प्रधान रस के रूप में प्रायः नहीं हैं। शृङ्गार के अङ्ग बन कर आये हैं। उदाहरण लीजिए—

हास्य

प्रथम बार सुरत में प्रवृत्त होने वाले इस नायक की चर्चा सुन कर कौन नहीं हँस पड़ेगा—

अज्जं मोहणसुहिअं मुअ त्ति मोत्तू पलाइए हलिए ।
दरफुडिअवेण्टभारोणआइ हसिअं व फलहीए ॥ ४।६० ॥

सुरत-सुख से मुँदे-नयन सुन्दरी को मर गई समझकर हलिक भाग गया । तभी कुछ विकसित डोडियों के भार से अवनत कपास मानो यह देखकर हँस पड़ी ।

हासाविओ जणो सामलीअ पढमं पसूअमाणाए ।
वल्लहवाएण अलं मम त्ति बहुसो भणन्तीए ॥ २।२३ ॥

प्रथम प्रसव के समय सुन्दरी ने यह बार-बार कह कर कि अब मैं प्रियतम का नाम भी न लूंगी, लोगों को खूब हँसाया ।

करुण

णिक्कम्माहि विछेत्ताहि, पामरो णेअ वच्चए वसइम् ।
मुअपिअजाआसुण्णइअगेहदुःक्खं परिहरन्तो ॥ २।६६ ॥

यद्यपि खेत पर कोई काम नहीं है फिर भी हलवाहा अपनी प्रिय पत्नी के निधन के कारण सूने घर का परित्याग करता हुआ खेत से बस्ती में जाने का नाम नहीं लेता ।

अन्तोहुत्तं डज्जइ जाआसुण्णे घरे हलिअउत्तो ।
उक्खाअणिहाणाइँ व रमिअट्ठाणाइँ पेच्छन्तो ॥ ४।७३ ॥

कृषक-पुत्र पत्नी से शून्य घर में सुरतस्थानों को, जो ऐसे प्रतीत होते हैं मानो धन उखाड़े हुए खजाने हों, देखकर अन्दर ही अन्दर संतप्त होता है ।

वीर

विञ्झारुहणालावं पल्ली मा कुणउ गामणी ससइ ।
पच्चच्चिविओ जइ कह वि सुणइ ता जीविअं मुअइ ॥ ७।३१ ॥

गांव विन्ध्यपर्वत पर चढ़ कर छिपने की चर्चा न करे। अभी मुखिया का

श्वास चल रहा है। यदि प्रत्युज्जीवित होने पर उसने किसी प्रकार सुन लिया तो प्राण त्याग देगा।

जह चिन्तेइ परिअणो आसङ्कइ जह अ तस्स पडिवक्खो।
वालेण वि गामणिणन्दणेण तह रक्खिआ पल्ली ॥ ७।२८ ॥

बालक होते हुए भी ग्रामणी-पुत्र ने गाँव की रक्षा इस तरह की कि उसके परिजन चिन्ता करते रहे और शत्रु सदा सशङ्क रहे।

पहरवणमग्गविसमे जाआ किच्छेण लहइ से णिद्दम्।
गामणिउत्तस्स उरे पल्ली उण सा सुहं सुवई ॥ १।३२ ॥

ग्रामणी-पुत्र के प्रहारों से उत्पन्न घावों के निशानों से विषम वक्ष पर पत्नी को कठिनता से नींद आती है परन्तु गाँव निर्द्वन्द्व होकर सोता है।

बीभत्सता

फालेइ अच्छभल्लं व उअह कुग्गामदेउलद्दारे।
हेमन्तआलपहिओ विज्झाअन्तं पलालग्गिम् ॥ २।६ ॥

कुग्राम (छोटे से गाँव) के, जहाँ पथिकों के ठहरने-ठहराने और सुविधा की कोई परवाह नहीं करता, देवमन्दिर के द्वार पर हेमन्तकाल में पथिक पुआल की आग में फूंक लगाता हुआ ऐसा जान पड़ता है जैसे किसी भालू को फाड़ रहा हो।

अद्भुत रस

कमलाअरा ण मलिआ हंसा उड्डाविआ ण अ पिउच्छा।
केणावि गामतडाए अब्भं उत्ताणअं व्वूढम् ॥ २।१० ॥

बुआ! गाँव के तालाब में किसी ने आकाश को उलटा करके डाल दिया है और (आश्चर्य है) न तो हंस ही उड़े और न कमल ही नष्ट हुए।

वात्सल्य और शृङ्गार

वात्सल्य और शृङ्गार की यह संसृष्टि भी देखने योग्य है—

एक्को पह्नुअइ थणो बीओ पुलएइ णहमुहालिहिओ।
पुत्तस्स पिअअमस्स अ मज्झणिसण्णाएँ घरणीए ॥ ५।६ ॥

पुत्र और पति के बीच में बैठी हुई गृहिणी का एक कुच वालक के प्रति वात्सल्यानुभूति के कारण दूध के क्लिन्न हो गया है और दूसरा पति के स्पर्श के कारण पुलकित हो रहा है।

स्पष्ट है कि गाथा सप्तशती में विषयों की विविधता और भावों की व्यापकता होते हुए भी शृङ्गार की विराट् प्रधानता है। प्रेम के प्राय: सभी पहलुओं का चित्रण यहाँ मिलता है। जीवन के प्रति जीवन्त दृष्टिकोण होने के कारण जहाँ संयोग पक्ष के चित्रण में उद्दाम भावों की नैसर्गिक मस्ती व्यक्त हुई है वहाँ वियोग पक्ष में भी आशा ने दैन्य को स्वाभाविक सीमाओं में बाँधे रखा है।

कामशास्त्र का प्रभाव

हम यह कह आये हैं कि गाथा सप्तशती में प्रमुखतया ग्रामीण लोकजीवन का प्रतिविम्बन होते हुए भी नागर भावनाओं की सर्वथा उपेक्षा नहीं कर दी गई है। एक नायिका गाँव को कोसती हुई कहती है कि इस गँवार-बहुल गाँव में वक्र दृष्टि से किसे देखा जाय? सुख-दुःख की बात किससे कही जाय? और किससे हँसा-बोला जाय? इससे स्पष्ट है कि गाथा सप्तशती के रससिद्ध कवि नागरभावों की उपेक्षा करके कविकर्म में प्रवृत्त नहीं हुए थे। वास्तव में उनके लिये ऐसा करना संभव भी न था क्योंकि लोकप्रवृत्तियों को आत्मसात् करके लोकजीवन का ही अधिकाधिक चित्रण करता हुआ भी प्राकृतसाहित्य संस्कृत साहित्य की परम्पराओं और प्रवृत्तियों पर आधारित था और कालान्तर में वह भी संस्कृत-साहित्य की ही भाँति रूढिग्रस्त भी हो गया था। अतः संस्कृत-साहित्य की युग-युगान्तर से चली आती हुई पुष्ट अभिव्यञ्जनशैली तथा शास्त्रीय प्रभाव का गाथा सप्तशती में भी स्वतः ही पर्याप्त समावेश हो गया है। इस तथ्य को दृष्टिकोण में रखते हुए यदि संस्कृत की उत्तरवर्ती भाषाओं के साहित्य में केवल कामशास्त्रीय प्रभाव की ही, जो कि स्पष्टतः संस्कृत साहित्य के ही प्रभाव का फल है, खोज की जाय तो अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्यों का उद्घाटन हो सकता है, फिर प्राकृत का तो उसके साथ अत्यन्त निकट का सम्बन्ध रहा है।

गाथा सप्तशती के कवियों को कामशास्त्र का पूरा-पूरा परिचय था। यह बात आन्तरिक प्रमाणों से ही सिद्ध हो जाती है। हाँ, यह नहीं कहा जा सकता कि वात्स्यायन का कामसूत्र, जिसे लगभग तृतीय शताब्दी की रचना माना गया है।[2] उस समय तक निर्मित हो चुका था या नहीं, किन्तु यह निर्विवाद है कि वात्स्यायन से पहले ही काम विषयक ज्ञान या अध्ययन को शास्त्रीय पद प्राप्त हो चुका था और विज्ञान के रूप में वह प्रतिष्ठित हो गया था। वात्स्यायन ने अपने पूर्ववर्ती अनेक आचार्यों (सुवर्णनाभ, औद्दालकि, बाभ्रवीय आदि) और स्कूलों का उल्लेख किया है। अस्तु, आगम के रूप में काम-विषयक ज्ञान का परिचय गाथाकारों को था। एक नायिका सखी से अपने मन का रहस्य खोलती हुई कहती है कि 'सरलविधि के अनुसार सम्पादित सुरत से तो प्रियतम को तृप्ति नहीं होती किन्तु वक्र सुरत करने पर वे आगम का सन्देह करने लगते हैं। ऐसी स्थिति में मैं अभागी क्या करूँ?

अज्जुअरए ण तूसइ वक्कम्मि वि आअमं विअप्पेइ।
एन्थ अहव्वाएँ मए पिए पिअं कहँ णु काअव्वम्॥[3]

---

१. गाथा सप्तशती २/६४

२. देखिये, प्रो० चकलदार का 'सोशल लाइफ इन एनशिएण्ट इण्डिया' शीर्षक ग्रन्थ।

३. गाथा सप्तशती ५/७६

[ऋजुकरते न तुष्यति वक्रेऽप्यागमं विकल्पयति।
अत्राभव्यया मया प्रिये प्रियं कथं नु कर्तव्यम्॥]

यदि यह कहा जाय कि इस गाथा में आगम (प्रा० आअम) शब्द शास्त्रवाची न होकर आगमन अथवा प्राप्ति के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अतः इसका अर्थ है "यदि नायिका वक्ररीति से सुरत करती है तो नायक के मन में यह सन्देह होता है कि उसे इस ढंग की उपलब्धि कहाँ से हुई ? किससे उसने सीखा ? और किसी किसी प्रति में तो पाठ 'आगम' न हो कर 'आशय' है" तो दूसरा उदाहरण लीजिये—

दट्ठूण तरुणसुरअं विविहविलासेहिं करणसोहिल्लम्।
दीओ वि तग्गअमणो गअं पि तेल्लं ण लक्खेइ॥[1]

अर्थात् तरुण एवं तरुणी के विविध करणों द्वारा शोभित सुरत को देख कर दीपक भी तल्लीन होने के कारण यह लक्ष्य न कर सका कि स्वयं उसका तेल समाप्त हो गया है।

इस गाथा में 'करण' शब्द सुरतकालीन आसन का वाचक है जो कामशास्त्र में उपर्युक्त विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त होने के कारण पारिभाषिक है। यह कामसूत्र के 'व्याख्यातं करणं सम्पुटमिति'[2] (सम्पुट नामक आसन की व्याख्या समाप्त हुई) सूत्र से ही स्पष्ट है।

एक अन्य उदाहरण लीजिए जो स्वयं-दूतिका नायिका की नायक के प्रति उक्ति है—

जन्तिअ गुलं विमग्गसि ण अ मे इच्छाइ वाहसे जन्तम्।
अणरसिअ किं ण आणसि ण रसेण विणा गुलो होइ॥[3]

गुड़ बनाने वाले कर्मचारी पर मुग्ध स्वामिनी कहती है—

"हे यान्त्रिक ! तुम गुड़ चाहते हो किन्तु मेरी इच्छा के अनुसार यन्त्र (कोल्हू) नहीं चलाते। अरसिक ! क्या तुम नहीं जानते हो कि रस के विना गुड़ नहीं होता।

यहाँ 'यन्त्र' (प्राकृत जन्त) और 'रस' शब्द श्लिष्ट हैं जो लोक में क्रम से मशीन एवं द्रवपदार्थ अथवा ऊख के रस के वाचक होते हुए भी कामशास्त्र में पुरुष के लिंग तथा रति जनित आनन्द के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। अतः विदग्धा स्वयंदूतिका की उक्ति होने के कारण (वक्तृ-बोद्धव्य-वैशिष्ट्य से) इस गाथा का ध्वनित अर्थ यह है कि "आर्य यान्त्रिक ! तुम गुड़ चाहते हो किन्तु मेरी इच्छा के अनुसार यन्त्र नहीं चलाते (मेरे साथ संभोग करके मेरी कामवासना को तृप्त नहीं करते) क्या तुम नहीं जानते कि रस के विना गुड़ नहीं होता (जब तक तुम मुझे

१. गाथा ६/४७
२. कामसूत्र
३. गाथा० ६/५४

सुरत-रस प्रदान न करोगे तब तक तुम्हें वेतन के रूप में दिया जाने वाला गुड़ भी नहीं दिया जा सकता)" ।

कामसूत्र के 'रतारम्भावसानिक प्रकरण'[1] में नायक के नायिका को गूढ़ अश्लील संभाषण द्वारा सुरत के लिये तैयार करने का तथा दूतीकर्म प्रकरण[2] में द्वयर्थक वचन द्वारा अपना मन्तव्य व्यक्त करने का विधान मिलता है। प्रख्यात चौंसठ कलाओं को कामसूत्र में कामशास्त्र की अंग विद्या के रूप में पहले ही उपार्जन योग्य बतलाया है[3] और नागरकवृत्त प्रकरण में कहा गया है कि उक्त विद्याओं को ग्रहण करने के पश्चात् गृहस्थ धर्म स्वीकार कर नागरकवृत्त का अनुसरण करना चाहिए[4]। ऐसे ही नागरक प्रियतम को दुर्लभ बतलाती हुई गाथा सप्तशती की एक नायिका कहती है कि ऐसा प्रिय, जो अपने दर्शन से नयनों को और करों से स्पर्श करता हुआ समस्त शरीर को आनन्दित करे, चन्द्रमा के समान अभ्यर्थना करते ही प्राप्त नहीं हो जाता[5]। इसी प्रकार एक खण्डिता विदग्धा बड़ी चतुराई के साथ समासोक्ति द्वारा अपने प्रियतम की उपमा चन्द्रमा से देती हुई कहती है कि हे सकल कलापूर्ण ! पूर्ण दिवस (पूर्णिमा अथवा विवाह आदि के शुभ दिन) पर तुम्हारे कर का स्पर्श अनुभव किया था, परन्तु, हे द्वितीया के संग से कृशांग ! अब मैं तुम्हारे चरणों में प्रणाम करती हूँ।[6] एक अन्य गाथा में नायिका कहती है कि पुनः-पुनः अभ्यस्त तथा राग रस से भरे हुए छेकरत भी इतने मनोहर नहीं होते जितने जैसे-तैसे जहाँ-कहीं भी प्राप्त होने वाले सच्चे प्रेम से युक्त सुरत[7]। स्पष्ट है कि छेकरत से यहाँ काम-कलाकुशल युवक द्वारा सम्पादित सुरत से मतलब है। तभी तो केवल कामशास्त्र के पिटे-पिटाये आसनों के ज्ञान की चातुरी का ही प्रदर्शक होने के कारण उसे 'पुनरुक्त-राग-रसिक' विशेषण प्रदान किया गया है। टीकाकारों ने भी छेक शब्द का अर्थ 'कामशास्त्रप्रसिद्धरतकुशल' दिया है। एक अन्य गाथा में रति-गृह में पिंजरे में टँगी हुई मैना को नायिका अपनी समवयस्का मातुलानी से हटा लेने के लिये कहती है क्योंकि वह लोगों के सामने उसके सुरतकालीन संलाप को प्रकट कर देती है[8]। एक अन्य गाथा में वह कहती है कि शारिका ने गुरुजनों के समक्ष निधुवनशिल्प (सुरतकला) को ऐसे कह डाला कि उस समय मन में आया कि न जाने कहाँ चली

जाऊँ।[1] रतिगृह और उसमें शुक शारिकाओं की स्थिति आदि का यह उल्लेख काम शास्त्र में वर्णित नागरक के केलिगृह के आदर्श के अनुसार ही है जिसमें वासगृह दो भागों में से वाह्य भाग को रतिगृह (और आभ्यन्तर भाग को घर की अन महिलाओं के शयनागार) के रूप में शुक्ल उत्तरछद एवं दोनों ओर रखे हुए तकिय से सुशोभित शय्या और प्रतिशय्या से सुसज्जित करने का विधान[2] तथा केलिगृह बाहर की ओर शुक शारिका आदि पक्षियों के पिंजरे लटकाने का उल्लेख है[3]।

एक अन्य गाथा में सुखसाव्या नायिकाओं का परिगणन इस प्रकार किय गया है—

मासपसूअं छम्मास-गब्भिणि एक्कदिअहजरिअं च ।
रंगुत्तिण्णं च पिअं पुत्तअ कामन्तओ होहि[4] ॥

कोई कुटनी किसी कामुक को उपदेश देती हुई कहती है कि 'बेटा ! एक महीने की प्रसूता, छै महीने की गर्भिणी, एक दिन की ज्वरग्रस्त तथा रंगमञ्च से (नृत्य आदि करके) उतरी हुई प्रिया की कामना करो।

कामसूत्र में परिगणित सुसाव्याओं में कुशीलव-भार्या का भी उल्लेख है। उक्त गाथा में उसकी समकक्ष रंगोत्तीर्णा को माना जा सकता है। गाथा में वर्णित अन्य सुसाव्याओं का उल्लेख अनंगरंग में हुआ है जो बाद की (सम्भवतः १५वीं शताब्दी की) रचना है—

रंगादविश्रान्तदेहा चिरविरहवती मासमात्रप्रसूता ।
गर्भालस्या च नव्यप्रिययुततनुका त्यक्तमानप्रसंगा ॥
स्नाता पुष्पावसाने नवरतिसमये मेघकाले वसन्ते ।
प्रायः संपन्नरागा मृगशिशुनयना स्वल्पसाव्या रते स्यात् ॥

स्पष्ट है कि पन्द्रहवीं शताब्दी की रचना का कोई प्रभाव गाथासप्तशती पर नहीं हो सकता। संभव है कि अनङ्गरङ्ग का उक्त श्लोक किसी अन्य कामशास्त्रीय कृति पर आधारित हो अथवा प्राचीन साहित्य के अनेक प्रसङ्गों के प्रकाश में ही उक्त परिवर्धन कर दिया गया हो। कुछ भी सही, यह एक अलग विचारणीय प्रश्न है।

कामसूत्र के अनुसार धाय की पुत्री, समानवयस्का सखी, मौसी, बहिन और विश्वासपात्र वृद्धदासी अथवा पूर्व-संसृष्ट भिक्षुकी से स्त्रियों को कामशास्त्र की शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। गाथा सप्तशती की विविध प्रसङ्गों पर आधारित गाथाओं से

---

१. गाथा सप्तशती ६/८६
२. बाह्ये च वासगृहे सुश्लक्ष्णमुभयोपधानं मध्ये विनतं शुक्लोत्तरच्छदं शयनीयं स्यात् प्रतिशय्यिका च। कामसूत्र १/४/५
३. तस्य बहिः क्रीडाशकुनिपंजराणि। कामसूत्र १/४/१३
४. गाथा सप्तशती ३/५१

स्पष्ट है कि नायिका की ओर से दूतीकर्म करने वाली अथवा उसके सुख-दुःख की सुनने वाली महिलाएँ उक्त वर्गों के अन्तर्गत ही हैं। कामसूत्र में लक्षित आलिङ्गन, चुम्बन, नखच्छेद, दन्त-क्षत, कच-ग्रह, प्रहणन, सीत्कार, कूणन आदि तथा सुरतबन्ध के विभिन्न प्रकारों का चित्रण अनेक गाथाओं में बड़ी रुचि एवं सफ़ाई के साथ किया गया है। कतिपय उदाहरण लीजिए—

गोलाविसमोआरच्छलेण अप्पा उरम्मि से मुक्को।
अणुअम्पाणिद्दोसं तेण वि सा आढमुवऊढा ॥[1]

गोदावरी के विषम घाट से उतरते हुए लड़खड़ाने के बहाने नायिका ने अपने आपको नायक के ऊपर गिरा दिया और उसने भी अनुकम्पा के कारण निर्दोष भाव से उसका गाढ आलिङ्गन कर लिया।

इस गाथा के पूर्वार्ध में 'स्पृष्टक' तथा उत्तरार्ध में 'विद्धक' आलिङ्गन की ओर संकेत किया गया है। कामशास्त्र के अनुसार नायक अथवा नायिका में से कोई एक सम्मुख आये दूसरे का किसी बहाने से अपने अङ्ग से स्पर्श करे तो स्पृष्टक आलिङ्गन होता है और किसी बहाने से अपने कुचों से नायक का स्पर्श करती हुई नायिका को वह अवपीडन करता हुआ पकड़ ले तो 'विद्धक' आलिङ्गन होता है।[2]

एक अन्य उदाहरण लीजिए—

भरिमो से सअणपरम्मुहीअ विअलन्तमाणपसराए।
कइअवसुत्तुव्वत्तणथणक्लसप्पेल्लणसुहेल्लिम् ॥[3]

मुँह फेर कर सोई हुई प्रियतमा का मान का वेग शान्त होने पर करवट बदलने के बहाने मुझे अपने स्तनकलशों से दबाने का सुख याद आता है।

इसी प्रकार छठे शतक की ७७ वीं गाथा भी इस प्रसङ्ग में उल्लेखनीय है।

मुख से मुख और आँखों से आँख मिलाकर मस्तक से मस्तक को दबाकर अपने शरीर के भार को डाल देना 'ललाटिका' आलिङ्गन कहलाता है।[4] निम्नलिखित गाथा में अन्य नायिका के समागम के समय किया हुआ 'ललाटिका' आलिङ्गन ही नायक के ऊपर स्वकीया की इस फटकार का कारण है :—

अत्यन्त कठोर कार्य करने वाला तिलक हाथों हाथ उसके मुख से तुम्हारे मुख पर और तुम्हारे मुख से मेरे चरणों में चला गया।

तीअ मुहाहि तुह मुहं तुज्झ मुहाओ अ मज्झ चलणम्मि।
हत्थाहत्थीअ गओ अइदुक्करआरओ तिलओ ॥[5]

---

१. गाथा सप्तशती २/८३
२. कामसूत्र २/२/६–१०
३. गाथा० ४/६८
४. कामसूत्र २/२/२७
५. गाथा सप्तशती २/७६

आरुहइ जुण्णग्रं खुज्जग्रं वि जं उग्रह वल्लरी तउसी ।
णीलुप्पलपरिमलवासिग्रस्स सरग्रस्स सो दोसो ॥[1]

खीरे की झूमती हुई बेल पुराने और कुबड़े वृक्ष पर भी चढ़ जाती है यह नीलकमलों से सुवासित शरद का दोष है।

अपना अनुराग व्यक्त करने के लिये प्रेमपात्र की छाया का चुम्बन करने का विधान कामशास्त्र के द्वितीय अधिकरण के अध्याय ३ में तीसवें सूत्र में किया गया है।

गाथा सप्तशती में इसका उदाहरण यह है:—

णच्चणसलाहणणिहेण पासपरिसंठिग्रा णिउणगोवी ।
सरिसगोविग्राणं चुम्बइ कवोलपडिमागग्रं कह्णम् ॥[2]

समान गोपियों की बगल में स्थित निपुण गोपी नृत्य की प्रशंसा करने के बहाने उनके कपोलों पर प्रतिबिम्बित कृष्ण को चूम लेती है।

सोये हुए नायक के मुख को देखती हुई नायिका अपनी इच्छा से उसका चुम्बन करती है तो वह 'रागदीपन' चुम्बन कहलाता है[3] जो अपने विशुद्ध स्वरूप में नीचे उद्धृत गाथा में देखा जा सकता है—

अलिग्रपसुत्त अविणिमीलिग्रच्छ दे सुहग्र मज्झ ओग्रासम् ।
गण्डपरिउम्बाणपुलइग्रङ्ग ण पुणो चिराइस्सम् ॥[4]

मिथ्या स्वाप से आँखें मूंद लेने वाले प्रियतम ! मुझे भी (शय्या पर) स्थान दो कपोलचुम्बन से रोमाञ्चित हुए प्रिय ! फिर कभी देर न करूँगी।

चुम्बन के लिये बलपूर्वक छीन-झपट के साथ मुख से मुख को पकड़ना 'वदन-युद्ध' नामक चुम्बन होता है।[5] गाथा सप्तशती से इसका उदाहरण लीजिए:—

सकग्रग्गहरहसुत्ताणिग्राणणा पिग्रइ पिग्रमुहविइण्णम् ।
थोग्रं थोग्रं रोसोसहं व उह माणिणी मइरम् ॥[6]

केशों को पकड़कर प्रिय द्वारा बलपूर्वक उठाये हुए मुख से मानिनी सुन्दरी मान की औषधि के सदृश प्रियतम द्वारा अपने मुख से उँडेली हुई मदिरा को पी रही है।

इसी प्रकार प्रथम शतक की ८९ वीं तथा २२ वीं गाथाएँ क्रम से स्पृष्टक एवं मृदु चुम्बनों की उदाहरण हैं।

---

१. " ६/३४
२. " २/१४
३. कामसूत्र २/३/१६
४. गाथा० १/२०
५. कामसूत्र २/३/२४
६. गाथा० ६/५०

कामसूत्र में सुरत-समय-चुम्बन के पश्चात् रागदीप्ति होने पर नखच्छेद का विधान है जो आच्छुरितक, अर्धचन्द्र, मण्डल, रेखा, व्याघ्रनखक, मयूरपदक, शशप्लुतक, और उत्पलपत्रक भेद से आठ प्रकार का होता है।[1] द्वितीया के चन्द्रमा के समान वक्र आकार वाला नखचिह्न अर्धचन्द्रक कहलाता है जो ग्रीवा एवं स्तनपृष्ठ पर दिया जा सकता है।[2] गाथा सप्तशती से उदाहरण लीजिए—

अइ दिअर किं ण पेच्छसि आआसं किं मुहा पलोएसि।
जाआइ बाहुमूलम्मि अद्धअन्दाणं परिवाडिम् ॥[3]

अयि देवर ! व्यर्थ ही आकाश की ओर क्यों देख रहे हो। वधू के बाहुमूल में अर्धचन्द्रों की पंक्ति क्यों नहीं देखते ?

अन्य उदाहरण लीजिए—

संज्झाराओत्थइओ दीसइ गअणम्मि पडिवआचन्दो।
रत्तदुकूलन्तरिओ थणणहलेहो व्व णववहुए ॥[4]

संध्या की लालिमा में कुछ अन्तरित-सा प्रतिपदा का चन्द्र नववधू के लाल दुपट्टे में से झलकते हुए स्तन-नखचिह्न के सदृश जान पड़ता है।

पाँचों नखों को एकत्र मिलाकर स्तनमुख पर किया हुआ चिह्न 'शशप्लुतक कहलाता है।[5] कुसुम्भ के पुष्प के सदृश आकार वाले इस चिह्न के माध्यम से नववधू की सखियाँ कैसी चुटकी ले रही हैं—

सहिआहि भण्णमाणा थणाए लग्गं कुसुम्भपुप्फं त्ति।
मुद्धवहुआ हसिज्जइ पप्फोडन्ती णहवआइं ॥[6]

सखियों के यह कहने पर कि 'तुम्हारे कुच पर कुसुम्भ का पुष्प लगा हुआ है; नखचिह्नों को झाड़ती हुई मुग्धा वधू उनके उपहास का पात्र बन रही है।

स्तनपृष्ठ एवं मेखलास्थान में उत्पलपत्र के सदृश किये हुए चिह्न को उत्पलपत्रक कहा जाता है।[7] निम्नलिखित गाथा में इसी प्रकार के नखचिह्न की ओर संकेत किया गया है —

अज्जाए णवणहक्खअणिरोक्खणे गरुअजोव्वणुत्तुङ्गम्।
पडिमागअ-णिअणुप्पलच्चिअं होइ थणवट्टम् ॥[8]

---

१. कामसूत्र २/४/४
२. „ २/४/१८
३. गाथा० ६/७०
४. „ ६/६९
५. कामसूत्र २/४/२०
६. गाथा० २/४५
७. कामसूत्र २/४/२१
८. गाथा० २/५०

नवीन नखचिह्न को देखते समय सुन्दरी का पूर्ण यौवन कुचमण्डल प्रतिविम्बित नयन रूपी उत्पलों से अर्चित होता है।

कामसूत्र की टीका में कहा गया है कि 'स्तनपृष्ठे मेखलापथे चोत्पलपत्राकृति-इत्युत्पलपत्रकम्' सूत्र में मेखला के साथ पथ शब्द का उल्लेख व्यक्त करता है कि केवल एक ही चिह्न नहीं अपितु समूचे मेखलास्थान में उत्पलपत्रों की माला के समान नखचिह्न बनाने चाहिएँ। इसी सरस नखचिह्नमाला के कारण पग पग पर कष्ट से मुँह बनाती हुई इस नायिका को देखिए जिसके विषय में दो रसिक मित्र यह वार्तालाप करते हैं—

> मसिणं चङ्कम्मन्ती पए पए कुणइ कीस सुहभङ्गम्।
> णूणं से मेहलिआ जहणगअं छिवइ णहवन्तिम्॥[1]

"धीरे-धीरे चलती हुई भी यह पग पग पर मुँह क्यों बनाती है?"[1]

"अवश्य ही इसकी मेखला जघनगत नखचिह्नों की पंक्ति का स्पर्श कर रही है।"

नखचिह्नों के स्थान निर्दिष्ट करते हुए वात्स्यायन ने कक्ष (बाहुमूल) स्तन, गला, पृष्ठ, जघन एवं ऊरु को उपयुक्त स्थान ठहराया है।[2] टीकाकार ने स्पष्ट किया है कि जघन शब्द समुदायवृत्ति से नितम्ब प्रदेश का भी द्योतक है। सुवर्णनाभ के अनुसार रतिचक्र के प्रवृत्त होने पर (उद्दाम काम क्रीडाओं के मध्य) स्थान अस्थान का कोई ध्यान नहीं रहता[3]। फिर भी गाथा सप्तशती में वात्स्यायन का अनुसरण करते हुए कक्ष, कुच, जघन और नितम्ब को ही नखचिह्नित चित्रित किया गया है। यह उक्त उदाहरणों से ही स्पष्ट है। एक गाथा में कहा गया है कि गतवयस्का कामिनियों के स्तन, जघन और नितम्ब पर नखचिह्न, काम की उजड़ी हुई वस्ती के भग्नावशेष से प्रतीत होते हैं।[4]

नखच्छेद के पश्चात् दन्तक्षत का प्रकरण आता है। कपोल, अधर, ललाट और कुचमण्डल उसके उपयुक्त स्थान हैं। ऊरु प्रदेश का भी दवे स्वर से उल्लेख किया गया है।[5] अधर पर किये जाने वाले चिह्न हैं गूढ़क उच्छूनक तथा विन्दु।[6] गूढक में व्रण नहीं होता, केवल लालिमा के कारण वह लक्षित किया जा सकता है। उच्छूनक में अधर कुछ सूज आता है। निम्ननिर्दिष्ट गाथा में इसी की ओर संकेत किया गया है—

---

१. गाथा० ५/६३
२. कामसूत्र २/४५
३. " २/४६
४. गाथा सप्तशती ३/३३
५. कामसूत्र २/५/१५
६. " २/५/७

महुमच्छिग्राई दट्ठं दट्ठूण मुहं पिग्रस्स सूणोट्ठम् ।
ईसालुई पुलिन्दी रुक्खच्छाग्रं गग्रा ग्रण्णम् ॥[1]

प्रिय के मधुमक्खी द्वारा दष्ट सूजे हुए अधर वाले मुख को देखकर भीलनी ईर्ष्यावश अन्य वृक्ष की छाया में चली गई।

'विन्दु' नामक दन्तक्षत दो दाँतों के मध्य में विन्दुवत् स्वल्प-आयाम त्वचा को दवाने से बनता है।[2] संपूर्ण दन्तमण्डल से बना हुआ क्षत विन्दुमाला कहलाता है।[3] कामसूत्र में ललाट तथा ऊरु प्रदेश में इसको अङ्कित करने का विधान है।

निम्नलिखित गाथाओं में विन्दुमाला का चित्र स्पष्ट उभरा हुआ है—

वाउद्धग्रसिचग्र - विहाविग्रोरुदिट्ठेण दन्तमग्गेण ।
वहुमाग्रा तोसिज्जइ णिहाणकलसस्स व मुहेण ॥[4]

वायु द्वारा वस्त्र के उड़ने से लक्षित जङ्घा पर देखे गये दन्तक्षत से वधू-माता ऐसी प्रसन्न हुई जैसे उसे निधिकलश (गड़े हुए धन-भरे घड़े) का मुख दीख पड़ा हो।

घड़े के मुख से दन्तमार्ग की तुलना उसकी वर्तुलता (गोलाई) की अभिव्यञ्जक है जिससे सिद्ध होता है कि यह दन्तक्षत विन्दुमाला ही है।

इसी प्रकार की दूसरी गाथा लीजिए—

वाउवेल्लिग्रसाउलि थएसु फुडदन्तमण्डलं जहणम् ।
चडुग्रारग्रं पइं मा हु पुत्ति जणहासिग्रं कुणसु ॥[5]

पुत्रि ! वायु द्वारा वस्त्र के हट जाने से स्फुट दिखाई देते हुए दन्तमण्डल से युक्त जघन-प्रदेश को ढक लो। चाटुकार पति को लोगों के उपहास का पात्र मत बनाओ।

केवल एक दांत तथा ओष्ठ की सहायता से व्रण किये बिना ही दंशन द्वारा उभरा हुआ रक्तवर्ण चिह्न बना देना 'प्रवालमणि'[6] दशनक्षत कहलाता है जो कपोल पर किया जाता है।[7] इसका एक अत्यन्त स्पष्ट उदाहरण लीजिए—

ग्रह सरसदन्तमण्डल-कवोलपडिमागग्रो मग्रच्छीए ।
ग्रन्तो सिन्दूरिग्रसङ्खवत्तकरणि वहइ चन्दो[8] ॥

मृगनयनी के मण्डलाकार सरस दन्तमण्डल से सम्पन्न कपोल पर प्रतिविम्बित चन्द्रमा ऐसे शंखनिर्मित पात्र के समान प्रतीत होता है जो भीतर से सिन्दूरयुक्त हो।

---

१. गाथा सप्तशती ७/३४
२. " ५/५८
३. कामसूत्र २/५/१३
४. गाथा० ६/७
५. गाथा० ७/५
६. कामसूत्र २/५/१०
७. " २/५/८
८. गाथा० ३/१००

दन्तमण्डल का सिन्दूर के समान रक्त होना उसके मणिमाला होने का प्रमाण है। पहले शतक की छियानवेंवीं गाथा भी इसी प्रकार की है।

विविध प्रकार के सुरतबन्धों अथवा आसनों का चित्रण भी गाथा सप्तशती में है। विपरीतरत या पुरुषायित तो शृंगारिक क्षेत्र में अत्यधिक प्रिय रहा ही है। सामन्तयुग का एक भी शृंगारी कवि ऐसा न होगा जिसने इस बन्ध को अपने छंद में न बांधा हो। गाथा सप्तशती में भी कितने ही स्थलों पर विपरीतरति का चित्रण किया गया है। इस सम्बन्ध में प्रथम शतक की ५२वीं, दूसरे शतक की ५१वीं पाँचवें शतक की १३ और ४६वीं तथा सातवें शतक की १४ और ५४वीं गाथाएँ उल्लेखनीय हैं। एक गाथाकार ने तो मेंढकी के सम्बन्ध में भी, जो स्वभावानुसार अपने हाथों को तट पर जमाकर तरंगों द्वारा आहत होने से हिलते हुए शरीर के पिछले भाग से जल में ही पड़ी है, विपरीतरति की उत्प्रेक्षा की है। अन्य बन्धों का भी जहाँ-तहाँ चित्रण हुआ है। कुछ उदाहरण देखिए—

पाअपडिअस्स पइणो पुट्ठिं पुत्ते समारुहत्तम्मि।
दढमण्णु-दुण्णिआए वि हासो घरिणीए णिक्कन्तो ॥[1]

दृढ़ मानिनी नायिका को मनाने के लिए पति-महोदय चरणों में पड़े तो उन का सुपुत्र उनके ऊपर सवार हो गया जिससे अति रुष्ट होने पर भी नायिका की हँसी निकल ही गई।

विषम रोष में सप्रयत्न रोकने पर भी नायिका को हँसी आना व्यञ्जित करता है कि उसे पुत्र को पति की पीठ पर आरूढ़ देखकर किसी बन्ध-विशेष की याद आ गई है। यह बन्ध 'धैनुक' अथवा तुरगाविरूढक हो सकता है जिसमें धेनु अथवा अश्वा के समान चारों हाथ पैरों के बल पर अधोमुखी अवस्थित नायिका के साथ रति की जाती है और वक्ष का कार्य (आलिङ्गन, नखच्छेद, प्रहणन आदि) पृष्ठ से लिया जाता है।[2]

एक अन्य उदाहरण लीजिए—

णिअवक्खारोविअदेहभार - णिउणं रसं लिहन्तेण।
विअसाविऊण पिज्जइ मालइकलिआ महुअरेण ॥[3]

अपने शरीर का भार पंखों पर सम्भाल कर सावधानी के साथ रस लेता हुआ भौंरा मालती की कली को विकसित करके उसका रसपान करता है।

इस गाथा में कली के सदृश अत्यन्त किशोरी नायिका से रमण करने के लिए

---

१. गाथा० १/११
२. देखिये कामसूत्र २/६/३७–३९
३. गाथा० ५/८२

अथवा प्राकृत के प्राचीन कवियों और आचार्यों की। अतः हिन्दी की तत्कालीन काव्य-शास्त्रीय सृष्टि में गहराई नहीं आ सकी। सर्वत्र उथलेपन का स्पष्ट आभास द्रष्टव्य है। यही बात कामशास्त्रीय विचारों के विषय में भी कही जा सकती है।

वात्स्यायन ने अपने काम-सूत्र में काम के ऊपर धर्म का अंकुश रखा है जिससे स्पष्ट है कि लोक-कल्याण उसका प्रमुख लक्ष्य था क्योंकि धर्म की पूर्ण अभिव्यक्ति लोक-कल्याण में ही निहित है। यह सत्य है कि अवैध-प्रेम की भी चर्चा उसने की है, पर वह मानव मनोविज्ञान के ही अनुसार है। मानव की स्वाभाविक दुर्बलता का यह भी तो एक पहलू है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि वैवाहिक जीवन को सुखमय बनाने का धर्म-सम्मत आदर्श वात्स्यायन को अभीष्ट था किन्तु जीवन के ठोस यथार्थ से भी उसने मुँह नहीं मोड़ा। प्रो० चकलादर का यह कथन उचित ही प्रतीत होता है कि "वात्स्यायन ने स्वयं ब्रह्मचर्य का जीवन व्यतीत किया था। कामसूत्र की रचना करते समय उसकी दृष्टि में लोक-कल्याण की भावना निहित थी। सांसारिक विषय-वासनाओं को उदीप्त करना उसकी रचना का ध्येय नहीं था" परन्तु संस्कृत की काव्यधारा के समान कामशास्त्रीय धारा का भी रुख बदला। 'रतिरहस्य' तक आते-आते वात्स्यायन के लोक-कल्याण के स्थान में ऐकान्तिक विलास ही कामशास्त्र का उद्देश्य माना जाने लगा। कामशास्त्र का प्रमुख प्रयोजन यह रह गया कि काबू में न आने वाली सुन्दरी वशीभूत होकर प्रेम करने लगे। पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त में अनंगरंग की रचना हुई। इसमें केवल उन्हीं बातों का संग्रह है जिनका ऐहिक वासनाओं से सीधा लगाव है। नारी विशेष से संतुष्ट न होकर नारीमात्र के प्रति ललक प्रेम के पुनीत आदर्श की गलाघोट हत्या है और अनङ्गरङ्ग में इसी को परमानन्द-सदृश कहा गया है—

निःसारे जगति प्रपञ्चसदृशे सारं कुरङ्गीदृशा-
मेकं भोग-सुखं परात्मपरमानन्देन तुल्यं विदुः।

प्रसिद्ध कवि देव की अधोलिखित पंक्तियों में रीतिकालीन आदर्श स्पष्टतया मुखरित हुआ है—

काम अन्धकारी जगत लखै न रूप कुरूप।
हाथ लिये डोलत फिरै, कामिनि छरी अनूप।
तातें कामिनि एक ही, कहन सुनन को भेद।
राचै पागै प्रेम रस, मेटै मन के खेद।
रची राम संग जानकी, जदुपति संग अहीरि।
प्रबल सदा बनबासिनी नवल नागरिन पौरि।
कौन गनै पुर बन, नगर, कामिनि एकै रीति।

---

१. [illegible]

कामशास्त्रीय सिद्धान्तों के व्याख्याता काश्मीरी पण्डित कोक के नाम पर कामशास्त्र कोकशास्त्र के नाम से प्रसिद्ध हुआ और सर्वसाधारण में आज भी इसी नाम से विख्यात है। हाँ, हिन्दी के वर्तमान संस्करणों में उसका रूप अत्यन्त विकृत, शोचनीय और हेय हो गया है। रामसहाय की नायिका कोक-कला में प्रवीण है—

सब विधि अति रतिकोविदा कोक-कला की नाइ।
कनक बेलि सी केलि में लिय पिय-हिय लपटाइ।[1]

बिहारी ने नायक द्वारा आरब्ध स्पृष्टक[2] आलिङ्गन का संकेत निम्ननिर्दिष्ट दोहे में किया है—

लरिका लबे कै मिसनु लंगरु मो ढिग आइ।
गयौ अचानक आँगुरी छल सौं छैलु छुवाइ॥[3]

विक्रमसाहि का यह दोहा भी ऐसा ही संकेत करता है—

छ्वै छिगुनी छल सौं कहूं छली छैल छक पाइ।
लखि रूखौ रुख करि रही अँगुरी अधर लगाइ॥[4]

कामसूत्र के द्वितीय अधिकरण अध्याय ३ में अनुराग व्यक्त करने के लिये प्रेम-पात्र की छाया के चुम्बन का विधान है। गाथा सप्तशती के दूसरे शतक की १४वीं गाथा में नायिका को नायक के प्रतिबिम्ब का चुम्बन करते दिखाया गया है जिसका उद्धरण पीछे हो चुका है। बिहारी की नायिका नायक की छाया का चुम्बन न करके स्पर्श करती है जो स्पृष्टक आलिङ्गन ही माना जायगा—

चितई ललचौंहि चखनु डटि घूँघट-पट माँह।
छल सौं चली छुवाइ कै छिनकु छबीली छाँह॥[5]

रागान्ध प्रणयी मिथुन द्वारा एक दूसरे के अंगों में अपने अंगों को समो देने के प्रयत्न-स्वरूप प्रसूत गाढ आलिङ्गन 'क्षीरजलक'[6] बिहारी के इस दोहे में देखिए—

नहि हरि लौं हियरा धरौ नहि हर लौं अरधंग।
एकत ही करि राखियै अंग-अंग प्रति अंग॥[7]

विक्रम ने 'लतावेष्टितक' आलिङ्गन का चित्र इस प्रकार खींचा है—

---

१. राम० १४२।
२. किसी बहाने अपने किसी अङ्ग को प्रेम-पात्र से (जिससे अभी घनिष्ठता नहीं बढ़ी) छुआरी स्पृष्टक आलिङ्गन कहलाता है, कामसूत्र १/२/९–१०।
३. बिहारी ३८६
४. विक्रम० ४४
५. बिहारी० २२
६. कामसूत्र २–२–२०
७. बिहारी ४९४

लपटानी घनश्याम सौं ज्यों तमाल सौं वेलि।
रही हार सी नारि गल बाँह-मृनालिनि मेलि ॥[1]

मतिराम के इस दोहे की व्यञ्जना भी यही चित्र प्रस्तुत करती है—

प्रफुली सुमन रसाल के कंध विटप भुज मेलि।
बात निवारी बिरह की फूलनिवारी बेलि ॥[2]

प्रणयाभिव्यक्ति के लिए मतिराम ने छाया-चुम्बन न कराकर तत्सदृश प्रकारान्तर का आश्रय लिया है। नायक नायिका की सखी के हाथों को इसलिए चूम लेता है क्योंकि उन हाथों से आँखमिचौनी के समय नायिका की आँखें मूँदी गई हैं—

मैं मूँदति हौं खेल मैं तेरे लोचन बाल।
मेरे कर अति प्यार सौं चूमत हैं नँदलाल ॥[3]

'रागदीपन' (नायिका द्वारा सुप्त नायक का मुख देखकर किया हुआ चुम्बन) का उदाहरण प्रस्तुत करने वाला बिहारी का यह दोहा तो प्रसिद्ध ही है—

मैं मिसहा सोयौ समुझि मुँह चूम्यौ ढिग आइ।
हँस्यौ खिसानी गल गह्यौ रही गरें लपटाइ ॥[4]

पीछे उद्धृत गाथा (अलिअपसुत्तअ० आदि, गाथा सप्तशती १।२०) का यह परिवर्धित संस्करण है।

मतिराम का यह दोहा अधरचूषितक का उदाहरण प्रस्तुत करता है—

पियत रहौं अधरानि कौ रसु अति मधुर अमोल।
तातें मीठे कढ़त हैं बाल-बदन तें बोल ॥[5]

आलिङ्गन-चुम्बन के पश्चात् कामशास्त्र में नख-क्षत का विधान है। हम यह पीछे कह आये हैं। प्रसंग-वश सतसईकारों ने नखच्छेद का भी वर्णन किया है। कुछ उदाहरणों में कामशास्त्र द्वारा प्रतिपादित बारीकियाँ साफ उभर कर ऊपर आ गई हैं। उदाहरणार्थ मतिराम का यह दोहा लीजिए—

कान्ह करज छत देत यौं सोहत बाल उरोज।
सर-सरोज सौं संभु कौं मारत मनौ मनोज ॥[6]

नायिका के उरोजों पर अपने नखचिह्न अङ्कित करता हुआ नायक ऐसा प्रतीत होता है जैसे काम अपने कमल रूपी बाण से शंकर पर चोट कर रहा हो। उरोज की शंभु से उपमा देने की परम्परा पुरानी है। विद्यापति ने बार-बार इस

---

१. विक्रम ३११।
२. मति० ६३६।
३. ,, २२०।
४. बिहारी ६४२।
५. मति० २९३।
६. ,, ४८१।

उपमान को बड़ी रुचि के साथ सहेजा है। कमल काम का पुष्पवाण है जो इस दोहे में नख-चिह्न की कमलवत् आकृति का सूचक है। इससे कामसूत्र (२।४।२१) में प्रतिपादित 'उत्पलपत्रक' नामक नखचिह्न (जिसका उल्लेख हम पीछे भी कर आये हैं) की प्रतीति स्पष्ट है।

बिहारी के निम्नलिखित दोहे में अर्धचन्द्रक नामक नखचिह्न की ओर संकेत है—

प्रानप्रिया हिय में बसै नखरेखा-ससि भाल।
भलौ दिखायौ आइ यह हरि-हर रूप रसाल ॥[1]

राम सहाय और विक्रम ने इसका वर्णन यों किया है—

निरखि कलाधर की कला कनक-कलस पर बीर।
नाग-नाथ के माथ पै भूलि कहै कवि धीर ॥[2]
क्यों नख-छत-छवि ढाँकियत सुन्दर सुखद सुनैन।
ज्यों ससिसेखर ससिकला है पियमंगल दैन ॥[3]

मतिराम ने अर्धचन्द्रक नखचिह्नों की माला का भी उल्लेख किया है—

नंदलाल कहियै कहाँ लख्यौ अपूरब हार।
गुनविहीन किसुकनि कौ तिन मधि मुकुर सुधार ॥[4]

प्रवास करते समय स्मृति-चिह्न-स्वरूप नखक्षत का विधान करते हुए वात्स्यायन ने लिखा है—

ऊर्वोः स्तनपृष्ठे च प्रवासं गच्छतः स्मरणीयकं संहताश्चतस्रो वा तिस्रो लेखाः[5]।

अर्थात् प्रवास करते समय स्मृति रूप में तीन या चार संहत चिह्न देने चाहिये।

बिहारी की नायिका इस स्मृतिचिह्न को सदा ताजा बनाए रहती है—

तिय निय हिय जु लगी चलत पिय-नख-रेख खरौंट।
सूखन देत न सरसई खौंटि-खौंटि खत-खौंट ॥[6]

नखच्छेद के पश्चात् रति-रभस-सूचक दन्तच्छेद की गणना होती है। कामशास्त्र में इसके भी अनेक भेद हैं। कपोल पर दाँतों से जब ऐसा चिह्न बना दिया जाये जो अपनी लालिमा के कारण मूंगे के समान साफ प्रकट होता हो, किन्तु क्षत (व्रण) से रहित हो, तो कामशास्त्रीय भाषा में प्रवालमणि कहलाता है। बिहारी ने इस को बड़ी खूबी के साथ अपने दोहे में व्यक्त किया है—

---

१. बिहारी० २६७।
२. राम० १०८।
३. विक्र० ६८।
४. मति० २६।
५. कामसूत्र २/४/२२।
६. बिहारी २६८।

तरिवन कनकु कपोल-दुति विच ही बीच विकान ।
लाल-लाल चमकति चुनी चौका चीन्ह समान ॥[1]

मतिराम इसी का अनुवाद इस प्रकार करते हैं—

आभा तरिवन लाल की परी कपोलनि आनि ।
कहा छपावति चतुर तिय कंतदंत-छत जानि ॥[2]

एक अन्य दोहे में मतिराम ने बड़ी विदग्धता के साथ नायिका के अधर पर नायक द्वारा आगे के चार दाँतों से बनाये हुए (संभवतः बिन्दु नामक) नख-चिह्न की ओर गूढ संकेत किया है—

अली तिहारे अधर में सुधा-भोग कौ साज ।
द्विजराजिनिजुत न्यौतियै लाल बदन-दुजराज ॥[3]

[दूती नायिका से कहती है—सखि ! तुम्हारे अधर में सुधा-भोग की पूरी पूरी सामग्री है । तो फिर भोजन के लिये कन्हैया के मुख रूपी द्विजराज (ब्राह्मण) को, जो कि द्विजराजों (राजदन्त=आगे के चार दाँत=चौका) से युक्त है, निमन्त्रण दो न ! द्विजराज चन्द्रमा को भी कहते हैं और चन्द्रमा जो कि ब्राह्मणों का राजा कहा गया है (स एष वै सोमोऽस्मकं ब्राह्मणानां राजा) सुधा-भोग के लिए प्रसिद्ध ही है । मुख की उपमा चन्द्रमा से दी जाती है । मुख द्विजराज का अर्थ है—"मुख द्विजराज (चन्द्र) ही द्विजराज (ब्राह्मण)" अर्थात् श्लेष पर आधारित परम्परित रूपक]

इसके अतिरिक्त प्रहणन, कूणन और केशग्रह जैसे उदाहरण भी खोजने से मिल सकते हैं । सुरत-बन्धों में साधारण बन्ध के अतिरिक्त पुरुषायित का ही वर्णन प्रायः इन सतसईकारों ने किया है ।

गाथा सप्तशती और हिन्दी सतसइयों से उद्धृत इन उदाहरणों पर सरसरी दृष्टि डालते ही यह बात स्पष्ट हो जाती है कि सप्तशती के कवियों की कामशास्त्रीय जानकारी अधिक गहरी और सूक्ष्मताओं को कलात्मक आकार देने में अधिक समर्थ थी । यही कारण है कि जहाँ सप्तशती में ग्रामीण नायक-नायिकाओं के वर्णन की अत्यन्त अधिकता होते हुए भी कामशास्त्र के सूक्ष्म नागर सिद्धान्तों का सुरम्य प्रतिफलन हुआ है वहाँ सतसइयों में जगह-जगह नागरता की जोरदार दुहाई के बावजूद भद्दी रेखाएँ ही उभर सकी हैं । काम की तीव्र बरसाती धारा में शास्त्र के सूक्ष्म, गुरु और विश्रब्ध संकेत विलीन हो गये और सतही चीजें ही इधर के कवियों के हाथ लग सकीं ।

———

१. बिहारी ८२
२. मति० १८३
३. मति० ६४७

नायिकाभेद और गाथा सप्तशती

* *

शृङ्गार रस के आलम्बन नायक-नायिका होते हैं। नायिका-भेद-विषयक ग्रन्थों में नायिकाओं के भेद-उपभेद तो विस्तार के साथ किये गये हैं परन्तु नायकों के वर्गीकरण पर अधिक ध्यान नहीं दिया गया। वास्तव में रतिभाव के आलम्बन रूप में पुरुष के आकर्षण का और आश्रय रूप में कवियों के चित्रण का केन्द्र नारी ही रही है। नारी का स्वभाव ही कुछ ऐसा है कि रतिभाव का उससे व्यापक संबन्ध है। स्त्रियों की प्रकृति, अवस्था, स्थिति आदि के अनुरूप विविध मनोदशाओं का अध्ययन ही नायिका-भेद का मूलाधार है। आयु के विविध स्तर, विरह की दशा, संयोगावस्था की भावनाएँ, नायक की अन्यासक्ति आदि नायिका की मनोवृत्ति पर क्या प्रभाव डालते हैं, इन सब प्रश्नों का वैज्ञानिक एवं तर्कसंगत उत्तर नायिकाभेद देता है।

नायिकाभेद का मूल आधार कामशास्त्र है जिसका सर्वप्रथम परिनिष्ठित ग्रन्थ है वात्स्यायन का कामसूत्र। वात्स्यायन ने अपने पूर्ववर्ती अनेक आचार्यों का उल्लेख किया है जिससे यह परम्परा उससे भी काफी पुरानी सिद्ध होती है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से काम भावना के आधार पर स्त्रियों को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है।

१. जब प्रवृत्ति, उत्कण्ठा, सुख-दुख, स्त्री-पुरुष दोनों में समान होते हैं और वे विवाह के सामाजिक सम्बन्ध में बँध कर पारस्परिक स्वामित्व की भावना के साथ लोकानुमत स्वच्छन्द विहार के अधिकारी होते हैं। इस प्रकार के रतिभाव की आलम्बन नायिका स्वकीया कहलाती है।

२. उपर्युक्त विशेषताएँ होने पर भी परस्पर विवाह-बन्धन के अभाव में लोक-वर्जित होने से सामाजिक संकोच एवं भय के कारण जिसका स्वच्छन्द उपभोग न हो सके वह परकीया कहलाती है।

परकीया के परोढा और कन्या दो भेद होते हैं। दोनों में अन्तर इतना है कि कन्या के स्वकीया में परिणत होने की सम्भावना हो सकती है, परोढा के अन्य-विवाहित होने से यह संभावना उसके विषय में नहीं होती। इसके अतिरिक्त परोढा कामकला से अभिज्ञ होती है जबकि कन्या को उसका अनुभव नहीं होता।

३. सामाजिक संकोच एवं मिलन-उत्कण्ठा दोनों के अभाव में केवल धन-प्राप्ति के उद्देश्य से प्रवृत्त होने वाली नायिका साधारणी या वेश्या कही गई है।

स्वकीया नायिका सर्वोत्कृष्ट मानी गई है क्योंकि धार्मिक तथा सामाजिक दृष्टि से मान्यताप्राप्त वही होती है। प्रधान रस की नायिका बनने की क्षमता भी इसी में है। वयःक्रम की दृष्टि से स्वकीया तीन प्रकार की है—मुग्धा, मध्या और

प्रौढा। मुग्धा में लज्जा की अधिकता रहती है, मध्या में लज्जा और उत्कण्ठा समान-कोटिक हो जाती हैं और प्रौढा में लज्जा की न्यूनता तथा काम का आधिक्य होता है।

मुग्धा के भानुदत्त ने तीन भेद किये हैं—अंकुरित-यौवना, नवोढा और विश्रब्ध नवोढा। परोढा गुप्ता, विदग्धा, लक्षिता, कुलटा, अनुशयाना और मुदिता भेद से छः प्रकार की मानी गई है। कुछ आचार्यों ने स्वयंदूतिका भेद भी माना है। अनुशयाना और मुदिता तो परोढा ही क्यों ? अन्य नायिकाएँ भी हो सकती हैं।

इन भेदों के अतिरिक्त नायक के प्रेम-स्तर के आधार पर ज्येष्ठा, कनिष्ठा तथा भरत ने गुणों के आधार पर उत्तमा, मध्यमा और अधमा भेद भी माने हैं। अवस्था-भेद से भरत एवं उनके परवर्ती आचार्यों ने भी स्वाधीनपतिका, वासकसज्जा, विरहोत्कण्ठिता, खण्डिता, विप्रलब्धा, कलहान्तरिता प्रोपितपतिका और अभिसारिका भेद माने हैं। प्रोषितपतिका भी प्रवत्स्यत्पतिका, प्रवसत्पतिका और आगतपतिका भेद से तीन प्रकार की मानी गई है। अभिसारिका के कई आचार्यों ने कृष्ण, शुक्ल, गर्व, काम, प्रच्छन्न और प्रकाश भेद किये हैं पर इनमें पहले दो ही सर्वमान्य रहे हैं।

गाथा सप्तशती पर कामशास्त्र के प्रभाव की चर्चा अन्यत्र की जा चुकी है। यहाँ हम नायिका-भेद की दृष्टि से उसका अध्ययन करने का प्रयत्न करेंगे।

स्वकीया

मुग्धा

विश्वनाथ महापात्र ने मुग्धा की पाँच विशेषताओं का उल्लेख किया है—यौवन का प्रथम अवतार, काम का प्रथम संचार, रति में वामाचरण, मान में मृदुता तथा लज्जा का आधिक्य। गाथा सप्तशती में क्रम से इनके उदाहरण लीजिए—

उद्ठन्तमहारम्भे थणए दट्ठूण मुद्धवहुआए।
ओसण्णकवोलाए णीससिअं पढमघारिणीए ॥४।८२॥

मुग्धा वधू के उठते हुए कुचों के महान् आरम्भ को देखकर पहली गृहिणी ने सूखते हुए कपोलों से गहरी साँस ली।

णिज्जन्ते मङ्गलगाइआहि वरगोत्तदिण्णअण्णाए।
सोउं व णिग्गओ उअह होन्तवहुआइ रोमञ्चो ॥७।४२॥

मङ्गल-गायिकाओं के मङ्गलगान में कान लगा कर वर के नाम को सुनती हुई भावी वधू का रोमाञ्च भी मानो सुनने के लिये उत्सक होकर निकल आया।

ण अ दिट्ठिं णेइ मुहं ण अ छिविउं देइ णालवइ किं पि।
तह वि हु किं पि रहस्सं णववहुसङ्गो पिओ होइ ॥७॥४५॥

दृष्टि (नायक के) मुख पर नहीं डालती, स्पर्श नहीं करने देती, कुछ बोलती भी नहीं, फिर भी न जाने क्या रहस्य है कि नव वधू का सङ्गम आकर्षक होता है।

अच्छीइँ ता थइस्सं दोहिं वि हत्थेहिं वितस्सिं दिट्ठे ।
अङ्गं कलम्बकुसुमं व पुलइअं कहँ णु ढक्किस्सम् ॥४।१४॥

उन्हें देखने पर (मान सूचित करने के लिये) मैं अपने दोनों हाथों से आँखों को तो ढक लूँगी किन्तु कदम्बपुष्प के समान अपने रोमाञ्च को कैसे छिपाऊँगी ।

वावारविसवाअं सअलावअवाणं कुणइ हअलज्जा ।
सवणाणँ उणो गुरुसंणिहे वि ण णिरुज्झइ णिओअम् ।७।१६॥

निगोडी लाज सभी अङ्गों के व्यापार को रोक देती है किन्तु कानों को (उसकी चर्चा सुनने से) गुरुजन के समक्ष भी नहीं रोक पाती ।

मुग्धा की ये एकान्त चेष्टाएँ दर्शनीय हैं—

पुसइ खणं धुवइ खणं पप्फोडइ तक्खणं अआणन्ती ।
मुद्धवहू थणवट्टे दिण्णं दइएण णहरवअम् ॥५।२३॥

मुग्धा वधू प्रियतम द्वारा उरोज पर किये नखचिह्न को पोंछती है, धोती है और झाड़ती है । वह उसके रहस्य को नहीं जानती ।

मध्या

मुग्धा में यौवन का प्रथम अवतार होता है और मध्या की अवस्था तक पहुँचते-पहुँचते यौवन का पर्याप्त विकास हो चुकता है । मुग्धा में लज्जा का आधिक्य उत्कंठा पर अंकुश रखता है किन्तु मध्या होने पर उत्कण्ठा और लज्जा दोनों समान स्तर पर आ जाते हैं ।

अज्जाइ णीलकञ्चुअभरिउव्वरिअं विहाइ थणवट्टम् ।
जलभरिअजलहरन्तरदरुग्गअं चन्द विम्ब व्व ॥४।६५॥

आर्या के नील कञ्चुक में भर कर न समाता हुआ कुचमण्डल जलभरे वादल से कुछ निकले हुए चन्द्रमण्डल के सदृश प्रतीत होता है ।

यौवन-जनित उरोज-विकास एवं लावण्य की अभिव्यक्ति करने वाली यह गाथा मध्या की शारीरिक दशा का चित्रण करती है ।

साहचर्य के कारण उत्तरोत्तर उत्कण्ठा की पुष्टि और लज्जा की अवनति होती जाती है और नायिका प्रिय के साथ क्रीडा में प्रवृत्त होने लगती है परन्तु उसकी क्रीडाएँ एकदम निर्द्वन्द्व नहीं होतीं । संकोच के कारण उनमें कभी-कभी अटपटापन भी आ जाता है । उदाहरण लीजिए—

घेत्तूण चुण्णमुट्ठिं हरिसूसिआए व वेपमाणाए ।
भिसिणेमिमित्ति पिअअमं हत्थे गन्धोदअं जाअम् ॥४।१२॥

सुगन्धित अबीर की मुट्ठी भरकर हर्ष से उत्सुक एवं काँपती हुई वह सोच ही रही थी कि प्रियतम पर डाल दूँ किन्तु इतने में ही वह हाथ में (स्वेद उत्पन्न होने से) सुगन्धित जल बनकर रह गया ।

प्रौढा

प्रौढा नायिका की सबसे बड़ी विशेषता है काम–वासना की स्पष्टतम अभिव्यक्ति। उत्कण्ठा की अपेक्षा लज्जा की मात्रा बहुत कम रह जाती है। लोक-लाज, शील-संकोच, वक्तव्य-अवक्तव्य का विवेक भी उसे नहीं रह जाता। उसका यौवन तथा लावण्य चरम विकास पर पहुँच जाता है।

गअकलहकुम्भसंणिहघणपीणणिरन्तरेङ्गेहिं तुहिं।
उस्ससिउं पि ण तीरइ किं उण गन्तुं हअथणेहिं ॥३।५८॥

जस्स जहं विअ पढमं तिस्सा अङ्गम्मि णिवडिआ दिट्ठी।
तस्स तहिं चेअ ठिआ सव्वङ्गं केण वि ण दिट्ठम् ॥३।३४॥

गजकुम्भ के सदृश पुष्ट और सटे हुए उच्च कुचों के कारण साँस लेना भी दूभर है, चलने की तो बात ही क्या ?

उसके अङ्ग पर जहाँ जिसकी दृष्टि पहली बार पड़ी, उसकी दृष्टि वहीं रह गई। पूरा शरीर कोई नहीं देख पाया।

प्रथम गाथा से उरोजों का यौवनजनित चरम विकास तथा दूसरी से लावण्य की पराकाष्ठा प्रतीत होती है।

प्रौढा की रति अधिक उद्दाम और दीर्घ होती है जिसका चरम बिन्दु-विपरीत रतिकाल में प्रियतम को रतिविपयक अनेक आज्ञाएँ देने की सामर्थ्य-गाथा की नायिका में है।[1] इसी प्रकार विपरीत रति के भी अनेक चित्र मिलते हैं।[2]

सिहिपिच्छ-लुलिअकेसे वेवन्तोरु विणिमीलिअद्धच्छि।
दरपुरुसाइरि विसुमरि जाणसु पुरिसाणँ जं दुःखम् ॥३।५२॥

प्रियतम के अन्य-नारी-संभोग अपराध के प्रकट होने पर मध्या और प्रौढा नायिकाओं की ओर से प्रतिक्रिया की अभिव्यक्ति द्वारा संकेतित मनोदशा के आधार पर आचार्यों ने तीन अवान्तर भेद किये हैं—धीरा, अधीरा तथा धीरा-अधीरा। गाथा सप्तशती में इनके बहुत से उदाहरण भरे पड़े हैं—

मध्या धीरा

प्रिय को अपराधी पाकर भी यह वाणी पर संयम रखती है, कठोर शब्दों का प्रयोग न कर केवल लाक्षणिक उक्तियों द्वारा उपालम्भ देती है। इसी लिये वह धीरा है। नायक को वह जता देना चाहती है कि उसकी गुप्त हरकतों से वह अनभिज्ञ नहीं है। वह रोग की चिकित्सा कटु औषधियों से नहीं, बोली की मीठी गोलियों से करना चाहती है। उदाहरण लीजिए—

दीससि पिआणि जम्पसि सब्भावो सुहग एत्तिअ व्वेअ।
फालेइऊण हिअअं साहसु को दावए कस्स ॥५।८६॥

---

१. गाथा० १/२३
२. [illegible]

दर्शन देते हो मधुर बोलते हो, बस यही तो स्नेह होता है। यों कोई अपना हृदय फाड़ कर थोडे ही दिखाता है।

मध्या अधीरा

मध्या अधीरा धीरज से काम नहीं ले पाती और कठोर वचनों से अपनी ईर्ष्या व्यक्त करती है। नायक के प्रति रोष होने पर भी लज्जा का अंकुश होने से इस की उक्तियाँ प्रौढा के समान कटु नहीं हो पातीं—

णूणं हिअअणिहित्ताइ वससि जाआइ अम्ह हिअअम्मि।
अण्णह मणोरहा में सुहअ कहं तीअ विण्णाआ ॥४।३७॥

जरूर आप मेरे मन में अपनी प्रियतमा के साथ रहते हैं, अन्यथा मेरे मनोरथों का पता उसे कैसे चल जाता ?

मध्या धीरा-अधीरा

यह नायिका न तो धीरा के समान गम्भीर रहकर और न अधीरा के समान कटुवचन कह कर ही अपना रोष व्यक्त करती है। अपितु दोनों के मध्य का मार्ग पकड़ती है। चेष्टाओं द्वारा या मृदु, किन्तु नायक के स्खलन के स्पष्ट अभिव्यञ्जक, शब्दों से अपनी मनोदशा प्रकट करती है—

वाहरउ मं सहीओ तिस्सा गोत्तेण किं त्थ भणिएण।
थिरपेम्मा होउ जहिं तहिं पि मा किं पि णं भणह ॥२।२१॥

सखियो ! ये मुझे उसके ही नाम से पुकारें। कुछ कहने से क्या ? चलो ये वहीं स्थिर प्रेम रखें। इनसे कुछ न कहो।

प्रौढा धीरा

प्रौढा धीरा नायिका अपने रोष को पूर्णतया छिपा लेती है। मध्या धीरा अपना रोष न तो चुप रह कर ही प्रकट कर सकती है और न ही कटु वचन कह कर अपना आवेश हलका कर सकती है। फलतः उसे वक्र-कथन का आश्रय लेना पड़ता है। प्रौढा धीरा अपने रोष को शब्दों से प्रकट न कर चेष्टाओं और व्यवहार-परिवर्तन द्वारा करती है। वह पहले से अधिक सम्मानपूर्ण और शिष्ट प्रतीत होती है। कभी कभी तटस्थ भाव धारण कर लेती है। यह परिवर्तन ही उसके मान का सूचक होता है। गाथाकार के ही शब्दों में—

हसिएहिं उपालम्भा अच्चुवचारेहिं रूसिअव्वाइं ॥
अँसूहिं भण्डणाइं एसो मग्गो सुमहिलाणम् ।६।१३॥

अच्छी महिलाओं का यह मार्ग होता है कि वे हँसकर उपालम्भ, अत्यन्त उपचार द्वारा रोष और आँसुओं द्वारा कलह प्रकट करती हैं।

ण वि तह अणालवन्ती हिअअं दूमेइ माणिणी अहिअम्।
जह दूरविअम्भिअगरुअरोसमज्झत्थभणिएहिं ॥६।६४॥

मानिनी के न बोलने से हृदय इतना दुखित नहीं होता जितना उसके अत्यन्त प्रवृद्ध रोष के कारण तटस्थ आलाप से।

प्रियतम अपनी चहेती के यहाँ न चला जाय, इस का प्रबन्ध हँसते-हँसते प्रौढा धीरा नायिका इस प्रकार कर डालती है—

सालोए व्वि सूरे घरिणी घरसामिअस्स घेत्तूण।
णेच्छन्तस्स वि पाए धुअइ हसन्ती हसन्तस्स ॥२।३०॥

सूरज डूबा भी नहीं कि हँसती हुई गृहिणी हँसते हुए गृहपति के पैर उसकी इच्छा के विपरीत धुला रही है। शयन करने से पहले पैर धोने चाहिएँ। प्रौढा धीरा नायक के पैर धुला कर यही प्रकट करती है कि अब कहीं नहीं जा सकते। चुपचाप आराम फ़रमाइए।

प्रौढा अधीरा

प्रौढा अधीरा में कोप की पराकाष्ठा होती है। वह कटु से कटु शब्द कहने में भी नहीं चूकती। यहाँ तक कि मार-पीट तक पहुँच जाती है।

सा आम सुहअ गुणरूअसोहिरी आम णिग्गुणा अ अहम्।
भण तीअ जो ण सरिसो किं सो सव्वो जणो मरउ ॥६।११॥

हे सुन्दर! सचमुच वह गुणवती है और मैं गुणरहित, परन्तु बताओ जो लोग उस जैसे नहीं हैं वे सब मर जायें?

अन्य उदाहरण लीजिए—

किं दाव कआ अहवा करेसि कारिस्सि सुहअ एत्ताहे।
अवराहाणं अलज्जिर साहसु कअए खमिज्जन्तु ॥१/६०॥

बेशर्म! कहो कौन से अपराध क्षमाकरूँ? जो तुम कर चुके हो वे? कर रहे हो वे? या फिर जो आगे करोगे वे?

प्रौढ़ा धीरा-अधीरा

प्रौढा धीरा-अधीरा न तो धीरा के समान कोप को छिपा ही पाती है और न हा अधीरा के समान अत्यन्त कटु शब्दों का प्रयोग करती है। अपना क्षोभ यह व्यंगोक्तियों द्वारा प्रकट करती है। मध्या धीरा भी व्यंग्य-कथन का आश्रय लेती है किन्तु वह नायक का अपराध स्पष्ट नहीं कहती। प्रौढा धीरा-अधीरा स्पष्ट रूप से दोप का प्रख्यापन करती है। सुनिए—

सा तुज्झ वल्लहा तं सि मज्झवेसो सि तीअ तुज्झ अहम्।
वालअ फुडं भणामो पेम्मं किर बहुविआरं त्ति ।२/२६

वह तुम्हारी प्रिया है और तुम मेरे परन्तु वह तुम से द्वेष करती है और तुम मुझ से। वस्तुतः प्रेम में बहुत से विकार होते हैं।

परकीया

कन्या

कन्या यद्यपि पर-स्त्री नहीं होती फिर भी 'पिता रक्षति कौमारे' के अनुसार गुरुजन के अधीन रहने के कारण उसका मिलन, सुरत आदि स्वकीया के समान सुलभ नहीं है। धर्मशास्त्र एवं लोकमर्यादा की दृष्टि से कन्या-प्रेम अनुचित ही माना जाता है। हाँ, यदि वह दाम्पत्य-प्रेम के रूप में परिणत हो जाय तो धर्मशास्त्र की दृष्टि से भी बुरा नहीं। इसीलिए कामशास्त्र और धर्मशास्त्र दोनों में ही गान्धर्व-विवाह का भी विधान है। अत: शास्त्र की, दबी हुई आवाज से ही सही, अनुमति होने के कारण भारतीय साहित्य में कुमारी-प्रणय को भी मुख्य रस के रूप में आस्वाद्य स्वीकार कर लिया गया है। 'सूर ने 'लरिकाई का प्रेम कहो अलि कैसे छूटै' कह कर इसी प्रेम की पुष्टि की है। किशोरावस्था की स्वाभाविक स्वच्छन्द क्रीडाओं की उर्वर पृष्ठभूमि विकसित होने वाला प्रेमांकुर समय पाकर निःसन्देह सघन हो जाता है गाथा सप्तशती में कन्या-प्रेम के अनेक उदाहरण मिलते हैं—

हिअअट्ठिअस्स दिज्जउ तणुआअन्ति ण पेच्छह पिउच्छा।
हिअअट्ठिओ अम्ह कंतो भणिऊ मोहं गआ कुमरी ॥३/९८॥

बुआ! आप नहीं देखतीं? ये कृश होती जा रही हैं। इन्हें उसे प्रदान कर दो जो इनके हृदय में है। हमारे हृदय में स्थित कौन है? यह कहकर कुमारी मूर्छित हो गई।

एक अन्य उदाहरण लीजिए जिसका प्रसङ्ग बड़ा विचित्र है—

कारिममाणन्दवडं भामिज्जन्तं वहूअ सहिआहिं।
पेच्छइ कुमारिजारो हासुम्मिस्सेहिं अच्छीहिं ॥५/५७॥

वधू की सखियों द्वारा घुमाये जाते कृत्रिम आनन्दपट (वधू के प्रथम समागम के समय पहिना हुआ रुधिर-लिप्त वस्त्र) को उसकी कुमारावस्था के प्रच्छन्न प्रेमी ने (जो अब किसी बहाने से उसके साथ ही ससुराल भी पहुँच गया था) हँसती हुई दृष्टि से देखा।

परकीया परोढा

परोढा का प्रेम न तो लोकानुमत ही है और न शास्त्रसम्मत ही। अतः काव्यशास्त्रियों ने उसे अङ्गी रूप में स्वीकार नहीं किया है। सर्वत्र रसाभास ही माना है। फिर भी साहित्य में परकीया प्रेम का जितना चित्रण मिलता है उतना स्वकीया का नहीं। इसका एक मनोवैज्ञानिक कारण है जो 'चोरी का गुड़ मीठा' जैसी लोकोक्तियों में व्यक्त हुआ है। सबाध होने के कारण ही चौर्यरत अधिक आनन्दप्रद माना गया है क्योंकि उसमें उत्कण्ठा की शान्ति का साधन (नायिका) दुर्लभ होता है जिससे अभिलाषा उत्तरोत्तर गहन होती चली जाती है। इसीलिए तो भक्त कवियों ने

भी ईश-प्रेम का आदर्श परकीया-प्रेम को ही माना है। गाथासप्तशती में स्वच्छन्द प्रेम का उन्मुक्त चित्रण है। अतः परोढा के उदाहरण भरे पड़े हैं।

णवलअपहरं अङ्गे जहिं जहिं महइ देवरो दाउम्।
रोमञ्चदण्डराई तहिं तहिं दीसइ वहूए ॥१/२८॥

देवर जहाँ-जहाँ नवीन लता से प्रहार करना चाहता है, वहीं-वहीं वधू को रोमाञ्च हो जाता है।

भाभी-देवर का माँ-वेटे जैसा पवित्र सम्वन्ध धीरे-धीरे दूसरा रूप धारण करता गया और भावी-देवर की अनेक कहानियाँ परकीया-प्रेम के उदाहरण रूप में प्रसिद्ध हुई।

एक दूसरी नायिका को देखिए। पति की आँखों में धूल झोंक कर उसने किस प्रकार अपने वैद्य उपपति के पास जाने का वानक वनाया—

पइपुरओ व्विअ णिज्जइ विच्छुअदटेठति जारवेज्जघरम्।
णिउणसहीकरधारिअ भुअजुअलन्दोलिणी वाला ॥३/३७॥

निपुण सखियाँ पति के सामने ही यह कहकर कि 'इसे विच्छू ने काट लिया है', दोनों भुजाओं को पटकती हुई नायिका का हाथ पकड़े उसके प्रच्छन्न प्रेमी वैद्य के पास ले जा रही हैं।

यह गृहिणी जिसने रातभर के लिए आवास की याचना करने वाले पथिक को खरी-खोटी सुनाते हुए विस्तर के रूप में पुआल ही दिया था और अव प्रातः-काल उसके चले जाने पर रो रही है, परकीया ही तो है—

भण्डन्तीए तणाइं सोत्तुं दिण्णाइँ जाइँ पहिअस्स।
ताइँ च्चेअ पहाए अज्जा आअड्ढइ रुअन्ती ॥४/७९॥

पथिक की भर्त्सना करते हुए जो तिनके उसे सोने के लिए दिये थे, सुन्दरी प्रातःकाल उन्हें उठाती हुई रोती जाती है। परकीया के सभी प्रकार गाथासप्तशती में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं। उदाहरण लीजिए—

१ गुप्ता

जव नायिका अपने चिह्नों द्वारा स्पष्ट प्रकट प्रेम व्यापार को भी छिपाने का प्रयत्न करती है तो वह गुप्ता कहलाती है। इसे भाव-गोपना और सुरत-गोपना भेद से दो प्रकार की मान सकते हैं—

भाव-गोपना

पाअडिअणेह सब्भावणिब्भरं तीअ जह तुमं दिट्ठो।
संवरणवावडाए अण्णो वि जणो तह व्वेअ ॥ १|९९ ॥

स्नेह और सद्भाव की दृष्टि से जिस प्रकार उसने तुम्हें देखा था अपने सम्वन्ध (प्रेम-भाव) को छिपाने के लिये दूसरे-पुरुषों को भी उसी प्रकार देखा।

सुरत-गोपना

सिक्करिअमणिअमुहवेविआइँ धुअ हत्थसिञ्जिअव्वाइँ ।
सिक्खवन्तु वोडहीओ कुसुम्भ तुम्ह पसाएण ॥ ४/६२ ॥

हे कुसुम्भ ! सीत्कार, मणित (सुरतकाल में मुख से निर्गत विशेष प्रकार की ध्वनि) मुख हटाना, हाथ हिलाने से कंगनों की झनझनाहट, यह सब कुमारियाँ तुम से सीखें ।

यहाँ नायिका सुरत-कालीन उक्त लक्षणों को कुसुम्भ-चयन-प्रसूत कहकर अपनी रतिविषयक अनभिज्ञता एवं मुग्धता प्रकट करती है ।

२ विदग्धा

अपने मनोभाव को चतुराई-पूर्वक अन्य लोगों के समक्ष भी प्रिय के प्रति प्रकट करने वाली नायिका विदग्धा कहलाती है । यह भी दो प्रकार की होती है । वाग्विदग्धा और क्रियाविदग्धा । वाग्विदग्धा वाणीद्वारा और क्रियाविदग्धा चेष्टाओं द्वारा अपनी बात कहती है—

वाग्विदग्धा

कमलाअरा ण मलिआ हंसा उड्डाविआ ण अ पिउच्छा ।
केणावि गाम-तडाए अब्भं उत्ताणअं छूढम् ॥ २/१० ॥

बुआ ! किसी ने गाँव के सरोवर में आकाश को उलटकर ऐसे डाल दिया कि न तो कमल ही टूटे और न ही हंस उड़े ।

यह सरोवर प्रेमी-युगल का सहेट था । प्रेमिका साफ जल लाने के बहाने कुछ रात रहे ही वहाँ पहुँची परन्तु नायक नहीं पहुंचा । उसी को सुनाकर नायिका ने यह जताते हुए कि "मैं वहाँ गई थी परन्तु तुम नहीं पहुँचे" उक्त बात कही ।

क्रियाविदग्धा

परिओसविअसिएहिं भणिअं अच्छीहि तेण जणमज्झे ।
पडिवण्णं तीअ वि उव्वमन्तसेएहि अङ्गेहि ॥ ४/४१ ॥

उस (नायिका) ने अपनी हर्ष-भरी आँखों से लोगों के बीच में उस (नायक) से कुछ कहा और उसने भी स्वेदक्लिन्न अङ्गों द्वारा उसके प्रस्ताव की स्वीकृति सूचित की ।

३ विलक्षिता

प्रयत्न करने पर भी जब गुप्ता नायिका अपने भाव या सुरत का गोपन नहीं कर पाती तो लज्जित हो जाने के कारण वह विलक्षिता कहलाती है—

अद्धच्छिपेच्छिअं मा करेहि साहाविअं पलोएहि ।
सो वि सुदिट्ठो होहिइ तुमं पि मुद्धा कलिज्जिहिसि ॥ ३/२५ ॥

दबी-दबी, दृष्टि से क्यों देखती हो, स्वाभाविक रूप से देखो । उसे अच्छी प्रकार देख भी लोगी और मुग्धा भी समझी जाओगी ।

पुंछ्हि पुससु किसोअरि पडोहरङ्कोलपत्तचित्तलिअम् ।
छेआहि दिअरजाआहि उज्जुए मा कलिज्जिहिसि ॥ ४/१३ ॥

कृशोदरि ! अपनी कमर तो पोंछ लो । उस पर पिछवाड़े खड़े अंकोट की पत्तियाँ लगी हुई हैं । ऋजुके ! ऐसा न हो कि देवर की पत्नियाँ तुम्हें लक्षित कर लें ।

जइ सो ण वल्लहो व्विअ गोत्तग्गहणेण तस्स सहि कीस ॥
होइ मुहं ते रविअरफंसव्विसदं व्व तामरसम् ॥ ३/४३ ॥

सखि ! यदि वह तुम्हारा प्रिय नहीं है तो उसका नाम लेते ही तुम्हारा मुख सूर्य की किरणों के स्पर्श से विकसित लाल कमल-जैसा कैसे हो गया ?

४ कुलटा

अह अम्ह आअदो अज्ज कुलहराओ त्ति छेञ्छई जारम् ।
सहसागअस्स तुरिअं पइणो कण्ठं मिलावेइ ॥ ४/१ ॥

'यह मेरे पीहर से आया है' यों कहकर असती ने अपने जार को अचानक आये हुये पति से गले लग कर मिलवाया ।

५ अनुशयाना

जब स्वयं समय पर संकेत-स्थल पर न पहुँच सकने के कारण, नायक के मिलन की संभावना न रहने से या संकेतस्थल के नष्ट हो जाने से नायिका पश्चात्ताप् करने लगती है तो अनुशयाना कहलाती है ।

सामाइ सामलिज्जइ अद्धच्छिपलोइरीअ मुहसोहा ।
जम्बूदलकअकण्णावअंसभरिए हलिअपुत्ते ॥ २/८० ॥

जब हलिक पुत्र को जामुन के पल्लवों से अपने कान सजाये हुए देखा तो तिरछी चितवन वाली श्यामा (श्रेष्ठ नायिका) के मुख का रंग स्याह पड़ गया ।

जामुनों के कुञ्ज में निश्चित समय पर स्वयं न पहुंच सकी और नायक वहाँ पहुँचकर लौट आया, प्रमाण-स्वरूप कानों में उस कुञ्ज के पल्लव भी लगा लिये । अतः नायिका स्वयं वहाँ न पहुँचने पर खिन्न होती है ।

संकेतस्थल के नष्ट होने की संभावना से यह रोना-धोना और व्याकुलता भी देखिए—

किं रुअसि ओणअमुही धवलाअन्तेसु सालिछेत्तेसु ।
हरिआलमण्डिअमुही णडि व्व सणवाडिआ जाआ ॥ १/९ ॥

शालि के खेतों के पक जाने पर क्यों नीचा मुख किये रो रही हो ? देखो अब सन की बाड़ी हरिताल से रँगे मुख वाली नटी के समान हो गई है ।

फसल के साथ ही प्रतिदिन मुरझाती जाती हुई सन की बाड़ी को देखे

कोटि में आती है। नित्य प्रति करञ्ज की दातुन करने वाले धर्मनिष्ठ साधु पर यह सुन्दरी क्यों खफ़ा हो रही है—

एद्दहमेत्ते गामे ण पडइ भिक्खा त्ति कीस मं भणसि।
धम्मिअ करञ्जभञ्जअ जं जीअसि तं पि दे बहुअं॥ ६|५२॥

धार्मिक! तुम यह कहते हो कि इतने बड़े गांव में भीख भी नहीं पड़ती। तुम करञ्ज तोड़ते हो न? यही गनीमत समझो कि फिर भी जिन्दा हो!

और यह कुलटा हर एक पर कुपित है। कुछ पूछिए तो? उत्तर नहीं। कारण बस इतना है कि किसी ने नदी के कछार में आग लगा दी है—

वाहित्ता पडिवअणं ण देइ रूसेइ एक्कमेक्कस्स।
असई कज्जेण विणा पइप्पमाणे णईकच्छे॥ ५|१६॥

और निराशा की चरम स्थिति का सूचक यह निर्वेद—

ते वोलिआ वअस्सा ताण कुडङ्गाण थाणुआ सेसा।
अम्हे वि गअवआओ मूलुच्छेअं गअं पेम्मम्॥ ३|३२॥

वे सब समानवयस्क मित्र चलते बने, उन कुञ्जों के भी ठूँठ शेष रह गये हैं और हमारी भी उम्र ढल गई। प्रेम समूल ही नष्ट हो गया।

मुदिता

अनुशयाना से बिल्कुल विपरीत परिस्थिति वाली परकीया मुदिता कहलाती है। अर्थात् सम्भोग-सुख-प्राप्ति की संभावना से मुदित होने के कारण ही इसे मुदिता कहते हैं—

फलहीवाहणपुण्णाहमङ्गलं लङ्गले कुणन्तीए।
असईअ मणोरहगब्भिणीअ हत्था थरहरन्ति॥ २|६५॥

कपास बोने के लिये खेत में हल चलाने के शुभ दिन मङ्गलविधान करती हुई कुलटा के हाथ (भावी सहेट की प्रसन्नता के कारण सात्त्विक कम्प से) थराथरा उठे।

साधारणी

पाणउडीअ वि जलिऊण हुअवहो जलइ जण्णवाडम्मि।
ण हु ते परिहरिअव्वा विसमदसासंठिआ पुरिसा॥ ३|२७॥

अग्नि चण्डाल की कुटिया में भी जलती है और यज्ञशाला में भी। तुझे विषम स्थिति में पड़े हुए पुरुषों का भी परित्याग नहीं करना चाहिए।

यह वेश्या युवति को उसकी अनुभवी बूढी माँ का उपदेश है—

के उव्वरिआ के इह ण खण्डिआ के ण लुत्तगुरुविहवा।
णहराइं वेसिणीओ गणणारेहा उव वहन्ति॥ ५|७४॥

कौन लोग अभी आकृष्ट नहीं किये गये? किन का व्रत खण्डित नहीं किया

गया, किन का धन नहीं हरा गया ? वेश्याओं के शरीर पर नखचिह्न मानो इसी की गिनती के लिये खींची हुई रेखाएँ हैं।

नायक के प्रेम-परिमाण पर आधारित भेद

जिस नायिका के प्रति नायक का प्रेम अधिक उत्कण्ठापूर्ण होता है वह नायिका-भेद की भाषा में ज्येष्ठा और जिसके प्रति अपेक्षाकृत कम होता है वह कनिष्ठा कहलाती है।

ज्येष्ठा

गामणिणो सव्वासु वि पिआसु अणुमरणगहीअवेसासु।
मम्मच्छेएसु वि वल्लहाइ उवरी वलइ दिट्ठी ॥ ५।४९ ॥

सभी प्रियाओं के सती होने के लिये उपयुक्त वेष धारण कर लेने पर भी, मर्म्मान्तक व्यथा में भी ग्रामणी की दृष्टि केवल प्रियतमा के ऊपर ही गई।

कनिष्ठा

वाहरउ तं सहीओ तिस्सा गोत्तेण किं त्थ भणिएण।
थिरपेम्मा होउ जहिं तहिं पि मा किं पि णं आणह ॥ २।३१ ॥

सखियो ! ये उसी का नाम लेकर मुझे पुकारें। रोको मत, अच्छा है ये वहीं स्थिर-प्रेमा हों।

अवस्था-भेद से नायिकाओं के प्रकार

स्वाधीनपतिका

जिस नायिका का पति किसी अन्य में आसक्त न होकर एकान्ततः उसी में रत हो उसे स्वाधीनपतिका कहा गया है—

मुहपेच्छओ पई से सा वि हु सविसेसदंसणुम्मइआ।
दो वि कअत्था पुहइं अमहिलपुरिसं व मण्णन्ति ॥ ५।९८ ॥

पति उसके मुँह की ओर ताकता रहता है और वह उसके दर्शन से उन्मत्त रहती है। दोनों अपने आपको कृतार्थ मानते हुए पृथ्वी को स्त्री और पुरुष से रहित समझते हैं।

वासकसज्जा

प्रसाधन से सज्जित होकर प्रियतम की प्रतीक्षा करने वाली नायिका वासक-सज्जा कहलाती है—

कं तुङ्गथणुक्खित्तेण पुत्ति दारट्ठिआ पलोएसि।
उण्णामिअ कलसणिवेसिअग्घकमलेण व मुहेण ॥ ३।५६ ॥

से) उच्च कुचों पर रखे हुए मुख के कारण मानों ऊपर किए हुए मङ्गलघट पर कमल रखे, किस की प्रतीक्षा कर रही हो ?

विरहोत्कण्ठिता[1]

अनेक कार्यों में निमग्न रहने के कारण जिसका प्रिय (अवधि पर भी) आ न सका हो और विरह-दुःख से संतप्त नायिका मिलने के लिए व्याकुल हो, वह विरहोत्कंण्ठिता कहलाती है—

विट्ठा चूआ अग्घाइआ सुरा दक्खिणाणिलो सहिओ।
कज्जाइं ब्विअ गरुआइँ मामि को वल्लहो कस्स ॥ १|६७ ॥

आमों को बौरते हुए देखा, सुरा की गन्ध ली और दक्षिण वायु को भी सह लिया (पर लौटे नहीं) मामि ! लोग कार्यों को ही महत्त्व देते हैं। प्यारा कोई किसी का नहीं।

दूसरा उदाहरण लीजिए—

एहइ सो वि पउत्थो अहं अ कुप्पेज्ज सो वि अणुणेज्ज।
इअ कस्स वि फलइ मणोरहाणँ माला पिअअमम्मि ॥ १/१७ ॥

वे प्रवास से लौटेंगे, मैं कुपित होऊँगी, वे मनायेंगे। इस प्रकार के मनोरथ किसी भाग्यशालिनी के ही पूरे होते हैं।

खण्डिता

अन्य नायिका के साथ रमण करने में रत नायक कालातिक्रम के होने पर नायिका के पास संभोग-चिह्न आदि धारण किये हुए पहुँचता है तो वह खण्डिता कहलाती है। खण्डिता की उक्तियों से गाथा सप्तशती भरी पड़ी है। विरहोत्कण्ठिता और खण्डिता में अन्तर यही है कि संभोग चिह्नों से नायक की अन्य-रति सिद्ध होने पर नायिका खण्डिता मानी जाती है। उदाहरण प्रस्तुत है—

तीअ मुहाहि तुह मुहँ तुज्झ मुहाओ अ मज्झ चलणम्मि।
हत्थाहत्थीअ गओ अइदुक्करआरओ तिलओ ॥ २|७६ ॥

इस तिलक को बड़ा कठिन काम करना पड़ा। यह बेचारा हाथों हाथ उसके मुख से तुम्हारे मुख पर और वहाँ से मेरे चरणों पर आया।

अभिसारिका

संकेत-स्थल पर प्रिय से मिलने के लिये स्वयं जाने वाली नायिका अभिसारिका कहलाती है। अँधेरी रात में अंधकार में छिपी रहने के उद्देश्य से कृष्ण वस्त्र तथा शुक्ल पक्ष में चाँदनी के साथ एक रूप होने के उद्देश्य से श्वेत वस्त्र धारण कर अभिसार करने वाली अभिसारिकाएँ क्रमशः कृष्णाभिसारिका और शुक्लाभिसारिका कहलाती हैं—

---

[1] नाट्य शास्त्र २४|२०६

कृष्णाभिसारिका

अज्ज मए गन्तव्वं घणन्धआरे वि तस्स सुहअस्स ।
अज्जा णिमीलिअच्छी पअपरिवाडिं घरे कुणइ ॥ ३/४६ ॥

आज घने अंधकार में मुझे उस सुभग के घर जाना है यह सोचकर आर्या आँखें मूंद कर चलने का अभ्यास कर रही है ।

शुक्लाभिसारिका

गम्मिहिसि तस्स पासं सुन्दरि मा तुरअ वड्ढउ मिअङ्को ।
दुद्धे दुद्धं विअ चन्दिआइ को पेच्छइ मुहँ दे ॥ ७/७ ॥

सुन्दरि ! जल्दी मत करो उसके पास जाओगी तो हो ही, परन्तु चन्द्रमा को चढ़ने दो । फिर दूध में मिले हुए दूध के समान चाँदनी में तुम्हारा मुख कोई नहीं देख सकेगा ।

विप्रलब्धा

वह नायिका होती है जो संकेतस्थल पर जाकर भी प्रिय का दर्शन न पा सके—

एहिसि तुमं त्ति णिमिसं व जग्गिअं जामिणीअ पढमद्धम् ।
सेसं संतावपरव्वसाइ वरिसं व वोलीणम् ॥ ४/८५ ॥

तुम आओगे इस आशा में उसने रात्रि का पूर्वार्ध एक क्षण के समान जागकर बिता दिया शेष भाग संतापवश एक वर्ष के समान कटा ।

प्रोषितपतिका

प्रोषितपतिका के भेद-उपभेदों के उदाहरण वर्ण्यविषय शीर्षक अध्याय में दिये गये हैं यहाँ अलग से उन्हें दुहराना उचित नहीं जान पड़ता ।

कलहान्तरिता

नायक के अनुनय-विनय को न मान उसका तिरस्कार करके पुनः मिलन के लिये उत्सुक हो पश्चात्ताप करने वाली नायिका कलहान्तरिता कहलाती है—

माणुम्मत्ताइ मए अकारणं कारणं कुणन्तीए ।
अद्दंसणेण पेम्मं विणासिअं पोढ़वाएण ॥ ६/२२ ॥

रोष में उन्मत्त मैंने बात का बतंगड़ बनाकर इस लोकोक्ति को चरितार्थ ही कर दिया कि 'अदर्शन से प्रेम नष्ट हो जाता है' ।

भानुदत्त ने रसमञ्जरी में दशाभेद से नायिकाओं के तीन भेद किये हैं—अन्यसंभोगदुःखिता, गर्विता तथा मानवती ।

अन्य संभोग दुःखिता

जब नायिका नायक के पास प्रेषित अपनी सखी, दूती, या सपत्नी को सुरत-चिह्नों के कारण नायक द्वारा उपभुक्त अनुमान करती है तो तीव्र वेदना का अनुभव

करती है। इस समय वह अन्यसंभोगदुःखिता कहलाती है। खण्डिता से इसका भेद यह है कि खण्डिता के सामने सुरतचिह्नों से युक्त नायक आता है और अन्यसंभोगदुःखिता के समक्ष अन्य नायिका।

जो तीएँ अहरराओ रत्तिं उव्वासिओ पिअअमेण।
सो व्विअ दीसइ गोसे सवत्तिणअणेसु संकन्तो॥ २.६॥

उसका अधरराग जो रात को प्रियतम ने (अत्यधिक अधरपान करके) दूर कर दिया था, प्रातः काल सपत्नी के नयनों में संक्रमण कर गया।

यहाँ सपत्नी अन्यसंभोगदुःखिता है क्योंकि नायिका को सुरतचिह्न युक्त पाकर ही उसे रोष हुआ है।

गर्विता

गर्विता के अनेक भेद हो सकते हैं। जैसे रूपगर्विता, गुणगर्विता, सौभाग्यगर्विता आदि।

रूपगर्विता

हल्लफलह्णाणपसाहिआणं छणवासरे सवत्तीणम्।
अज्जाएँ मज्जणाणाअरेण कहिअं व सोहग्गम्॥१।७६॥

उत्सव के समय उत्साह और उमङ्ग के साथ स्नान-प्रसाधन में लगी हुई सपत्नियों के मध्य आर्या ने स्नान के प्रति अनादर प्रकट कर अपना सौभाग्य व्यक्त कर दिया।

गुणगर्विता

अण्णमहिलापसङ्गं दे देव करेसु अह्म दइअस्स।
पुरिसा एक्कन्तरसा ण हु दोसगुणे विआणन्ति॥१।४८॥

हे देव! हमारे प्रिय का प्रणय-संबन्ध अन्य महिलाओं से कर दो। एकासक्त पुरुष दोष-गुण नहीं समझते।

नायिका को विश्वास है कि वह सर्वोपरि गुणवती है। अन्य नायिका का प्रणय पाकर उनके प्रिय को उसके गुणों का उत्कर्ष ही ज्ञात होगा। इस धारणा के कारण ही वह ऐसी कामना करती है।

प्रेमगर्विता

अहं लज्जालुइणी तस्स अ उम्मच्छराइं पेम्माइं।
सहिआअणो वि णिउणो अलाहि किं पाअराएण॥१।२७॥

मैं शर्मीली हूँ और प्रिय का प्रेम उत्कट है। सखियाँ भी निपुण हैं (तनिक से चिह्न से सब कुछ ताड़ जायेंगी) हटा, पैरों में महावर लगा कर क्या होगा?

मानवती

अच्छोडिअवत्थद्धन्तपत्थिए मन्थरं तुमं वच्च ।
चिन्तेसि थणहराआसिअस्स मज्झस्स वि ण भङ्गम् ॥२१६०॥

बलपूर्वक आँचल को झटक कर जाने वाली ! धीरे चलो। तुम्हें उरोजों से दबे अपने मध्यभाग के टूटने की चिन्ता भी नहीं।

नायिका की सहायिकाएँ

कामसूत्र में नायिका की सहायिकाओं की एक लम्बी सूची दी है। दूती-भेद के प्रसङ्ग में सखी, नटी, दासी, धाय-पुत्री, पड़ोसिन, सन्यासिनी, शिल्पकारी आदि का उल्लेख किया गया है। इसमें सन्देह नहीं कि दूती का कार्य बड़ा महत्त्वपूर्ण होता है। नायक-नायिका में एक दूसरे के प्रति उत्कण्ठा तथा सहानुभूति जागरित करना, निवेदित प्रेम को सफल बनाना, दो हृदयों में पारस्परिक विश्वास उत्पन्न करना, विषम मन-स्थिति में विद्यमान युवक-युवति को प्रणय के समान स्तर पर लाना आदि कार्य आसान नहीं है। संकेत-स्थान निश्चित करना तथा मान की दशा में ईर्ष्या और सन्देह के वातावरण को सहयोग और विश्वास में बदलना और भी दुःसाध्य है। और यह सब कार्य अपने आपको प्रणय-सरोवर के जल से पद्मपत्र के समान असंपृक्त रख कर करना होता है। इसीलिये दूती का महत्त्व बताती हुई गाथासप्तशती की एक नायिका कहती है—

दूइ तुमं विअ कुसला कक्खउमउआइँ जाणसे वोल्लुम ।
कण्डूइअपण्डुरं जह ण होइ तह तं करेज्जासु ॥२८८१॥

दूति ! (समयानुसार) कर्कश मधुर बोलना तुम ही जानती हो। ऐसा काम करना कि साँप भी मर जाय और लाठी भी न टूटे।

कहीं वह नायिका के प्रति नायक के अनुराग का वर्णन करती है—

अगणिअसेसजुआणा बालअ वोलीणलोअमज्जाआ ।
अह सा भमइ दिसामुहपसारिअच्छी तुह कएण ॥१५६॥

सभी निःशेष युवकों की अवहेलना कर तथा समस्त लोकमर्यादा को तिलाञ्जलि देकर वह चारों ओर तुम्हारे लिये आँखे फाड़-फाड़ कर देखती हुई घूमती है।

कभी नायिका से नायक की दशा का बखान करती है—

सो तुज्झ कए सुन्दरि तह छीणो [illegible] ।
जह से मच्छरिणीएँ वि दोच्चं [illegible] ॥[illegible]॥

सुन्दरी ! तुम्हारे वियोग में [illegible] कृश हो गया [illegible] है कि उसकी ईर्ष्यालु पत्नी ने भी [illegible] स्वीकार कर लिया है।

कभी वह मानिनी को [illegible] है—

णववहुपेम्मतणुइओ पणअं पढमघरणीअ रक्खन्तो ।
आलिहिअदुप्परिल्लं पि णेइ रण्णं घणुं वाहो ॥२।२२॥

नव वधू के प्रेम में क्षीणकाय होता हुआ भी व्याव पहली गृहिणी के प्रणय की रक्षा के उद्देश्य से, छीलकर हलका करने पर भी कठिनाई से खींचे जाने योग्य धनुप को लेकर वन को जा रहा है ।

शठ

शठ नायक प्रेम करता किसी से है और जताता किसी से । एक को प्रिय-वचनों का भुलावा और दूसरी को प्रणय का मधुर दान देने की अपनी दुरंगी चाल के कारण ही यह शठ कहलाता है—

अवराहेहिं वि ण तहा पत्तिअ जह मं इमेहिं दुम्मेसि ।
अवहत्थिअ सब्भावेहिं सुहअ दक्खिण्णभणिएहिं ॥४।५३॥

विश्वास रखो, तुम्हारे अपराधों से मुझे इतना दुःख नहीं होता जितना तुम्हारे निष्प्रेम मधुर वचनों से होता है ।

धृष्ट

जो अपराध करके भी शङ्कित नहीं होता । दोप सिद्ध हो जाने पर भी झूठे बहाने बनाता है और गाली ही नहीं मार तक खाकर भी लज्जित नहीं होता । उस योगीसम महानुभाव को धृष्ट नायक कहते हैं—

रसिअ विअड्ढ विलासिअ समअण्णअ सच्चअं असोओ सि ।
वरजुअइचलणकमलाहओ वि जं विअससि सएह्लम् ॥५।५॥

रसिक ! विदग्ध ! विलासिन् ! समयज्ञ ! (अवसरवादिन् !) तुम सचमुच अशोक हो तभी तो युवति की लात खाकर भी विकसित होते हुए तृप्त नहीं होते ।

इस प्रकार सभी प्रकार के नायक-नायिकाओं के उदाहरण प्रचुर मात्रा में गाथा-सप्तशती में भरे पड़े हैं । संस्कृत साहित्य की अत्यन्त प्राचीन परम्परा की झलक जिसमें कवि-रूढियाँ, शास्त्रीय दृष्टि आदि सभी का समावेश है, गाथा सप्तशती में मिलती है किन्तु गाथाकारों ने अपना मार्ग स्वयं भी निकाला है । अनेक उदाहरण ऐसे मिलेंगे जिन्हें नायिका-भेद के अन्तर्गत किसी वर्ग में रखा ही नहीं जा सकता । कतिपय उदाहरण प्रस्तुत हैं—

अह सा तहिं तहिं व्विअ वाणीरवणम्मि चुक्कसंकेआ ।
तुह दंसणं विमग्गइ पब्भट्ठणिहण्णठाणं व ॥४।१८॥

वह वेतसकुञ्जों में सहेट को भूल कर तुम्हारे दर्शन की इच्छा से उस स्थान की खोज खजाना गाड़ कर विस्मृत हो गये स्थान के सदृश कर रही है ।

यह विप्रलब्धा नहीं है क्योंकि नायक संकेतस्थल पर न पहुंचा हो यह बात नहीं है। इसीलिये शास्त्रीय-दृष्टि से विरहोत्कण्ठिता भी नहीं है। अनुशयाना भी नहीं है क्योंकि संकेतस्थल नष्ट नहीं हुआ है जिससे भविष्य में वहां न मिल सकने की आशङ्का का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

भग्गपिअसंगमं केत्तिअं व जोह्लाजलं णहसरम्मि।
चन्दअरपणालणिज्झरणिवहपउन्तं ण णिट्ठाइ ॥५।६१॥

न जाने आकाश रूपी सरोवर में चांदनी रूपी जल कितना है कि चन्द्रमा के कर रूपी पनालों से निर्झरों के रूप में बह रहा है फिर भी समाप्त नहीं होता। प्रियतम के संगम का इसने लोप ही कर दिया है।

यह नायिका कृष्णाभिसारिका प्रतीत होती है क्योंकि चांदनी के कारण प्रिय-संगम का लोप मानती है। परन्तु अभिसार किया नहीं है. इस बात का भी संकेत नहीं है कि अभिसार के लिये वह चांदनी में ही, अथवा उसके बाद ही सही, जायेगी भी। इसलिये न कृष्णाभिसारिका रही और न शुक्लाभिसारिका ही।

शृङ्गारेतरविषय

सांसारिक अनुभवों पर आधारित कथनों में सज्जन-प्रशंसा-विषयक उक्तियां सबसे अधिक हैं। सत्पुरुष को किसी पर क्रोध नहीं आता। अगर वह कुपित होता भी है तो बुरा नहीं चाहता। बुरा चाहता भी है तो कहता नहीं और कहता भी है तो लज्जित होता है।[1] वह द्वेष्य व्यक्ति के प्रति भी अपनी मुखमुद्रा से प्रसन्नता ही प्रकट करता है। स्वतन्त्र होता हुआ भी कुलीनता के वश में होता है।[2] उसका हृदय विशाल वृक्ष के शिखर के समान फल सम्पत्ति मे अवनत और फलविपत्ति में उन्नत रहता है।[3] अन्तिम दशा में भी उसका हृदय अस्त होते हुए सूर्य की किरणों के समान ऊंचा ही रहता है।[4] अपना पेट तो पक्षि-गण भी भर लेते हैं किन्तु विह्वल व्यक्तियों का उद्धार करने के आदी विरले ही सत्पुरुष होते हैं।[5] घोर क्रोध से क्षुब्ध होने पर भी सज्जन के मुख से अप्रिय बात नहीं निकलती। चन्द्रमा की किरणें राहु के मुख में भी अमृत ही विकीर्ण करती हैं।[6] कलह होने पर भी वह किसी के रहस्यों का प्रख्यापन नहीं करता। उसकी मृत्यु के पश्चात् अग्नि उसके सुने हुए रहस्यों को जला देती है।[7] सज्जनों का स्वभाव सम्पत्ति और विपत्ति दोनों में ही

---

१. गाथा सप्तशती ३/५०
२. ,, ३/६५
३. ,, ३/८२
४. ,, ३/८४
५. ,, ३/८५
६. ,, ४/१६
७. ,, ४/२१

समान रहता है। आपत्तिकाल में वे उद्विग्न नहीं होते और संपत्ति-काल में गर्वित नहीं हो पाते।[1]

सज्जन-प्रशंसा के समान ही दुर्जन-निन्दा भी गाथाकारों की रुचि का विषय रहा है। दुष्ट व्यक्ति जहाँ भी स्नेह प्राप्त करके पलता है उसी घर को दीपक के समान शीघ्र मलिन भी कर देता है।[2] खल का माल भी खल ही खाते हैं।[3] अकुलीन व्यक्ति दो-मुखी बात करता है। वह तवले जैसा होता है क्योंकि जब तक उसके मुँह में भोजन दिया जाता रहता है तब तक वह मुखर बोलता है पर भोजन के जीर्ण होते ही विरस-ध्वनि देने लगता है।[4] अभिमान के कारण चुप रहने वाला दुष्ट जब पास आकर बात करने लगता है तो उससे किसको शंका नहीं हो जाती।[5] खल (खलिहान) के साथ अपने भावी सम्पर्क की संभावना मात्र से ही धान के पौधे ओसकण के बहाने रोने लगते हैं[6] (फिर चेतन मनुष्यों का तो कहना ही क्या ?)

आदर्श मित्र के गुणों का स्थापन करता हुआ एक गाथाकार कहता है कि ऐसे व्यक्ति से मित्रता करनी चाहिए जो आपत्तिकाल में भी देश-काल आदि की सीमा चीरकर साथ दे और दीवार पर चित्रित पुतले के समान कभी विमुख न हो।[7] सच्चा मित्र वही है जो आपत्ति में भी बदल न जाय।[8] नादान दोस्त से दाना दुश्मन भी अच्छा होता है। तभी तो एक गाथाकार विद्वान् के साथ द्वेष करना भी गौरव का तथा मूर्ख के साथ प्रेम करना भी लज्जा का कारण मानता है।[9]

दुष्ट की मैत्री पानी में खींची हुई रेखा के समान तत्काल नष्ट हो जाती है किन्तु भले आदमी की मित्रता पत्थर की लकीर होती है।[10] ऋजु और वक्र का साथ कभी नहीं हो सकता।[11]

दारिद्र्य बुरी बला है। यह सब प्रकार के दोषों का मूल है। अतएव गाथाकार को किसी वन में बिना शाखाओं और पंक्तियों का टेढा-मेढा वृक्ष होना तक पसन्द है परन्तु मनुष्य लोक में दरिद्र होना पसन्द नहीं। विशेष रूप से यदि मनुष्य त्यागी और रसिक हो[12] तो दरिद्रता और भी अधिक खटकती है क्योंकि दारिद्र्य अथवा प्रवास से इतना घोर मानसिक कष्ट नहीं होता जितना प्रार्थित वस्तु को न पाकर निराश लौटते हुए प्रियजन को देखकर होता है।[13] लेकिन दारिद्र्य भी किसी

---

१. गाथा सप्तशती ४/८०
२. ,, ३/३५
३. ,, ३/४८
४. ,, ३/५३
५. ,, ६/३३
६. ,, ७/६५
७. ,, ३/१७
८. गाथा सप्तशती ३/५१
९. ,, ३/६१
१०. ,, ३/७२
११. ,, ५/२४
१२. ,, ३/३०
१३. ,, ३/७६

गुण-ग्राही विद्वान् के समान गुणी, त्यागी और विद्वानों के प्रति ही अधिक प्रेम दिखाता है।[1]

गाथा सप्तशती में कर्म के प्रति आस्था प्रकट की गई है और कहा गया है कि (जोखिम लेकर) कार्य प्रारम्भ करने वाले को लक्ष्मी अथवा मृत्यु की प्राप्ति निश्चित है। लेकिन कार्य शुरू न करने पर भी मरण तो (कभी न कभी) होगा ही। हाँ, लक्ष्मी अवश्य न होगी।[2] कार्य करने में दीर्घसूत्री भी नहीं होना चाहिए और उसके गुण-अवगुणों की चिन्ता में ही देर तक नहीं उलझा रहना चाहिए क्योंकि प्रतिक्षण शङ्कालु रहने वाला पुरुष कार्य को नष्ट कर डालता है।[3] कार्य किये बिना ही अथवा कार्य पूरा करने पर भी अपनी प्रशंसा करना क्षुद्रता का चिह्न है।[4] अपना ही पेट भरने वाले स्वार्थी मनुष्यों में गौरव नहीं रह जाता।[5]

काल की अबाध एवं निरंकुश गति के सामने किसी की कुछ नहीं चलती। स्वर्ण-निर्मित कुण्डलों द्वारा चुम्बित-कपोला नायिका समय के फेर से ही तालवृन्त धारण करती है।[6] कालजनित परिवर्तन के कारण ही नदीतट के हरे भरे अशोक वृक्ष के ठूँठमात्र शेष रह गये हैं।[7] समय की गति के कारण ऐसे-ऐसे उत्थान-पतन होते रहते हैं—

खिप्पइ हारो थणमण्डलाहि तरुणीअ रमण-परिरम्भे।
अच्चिअगुणा वि गुणिनो लहन्ति लहुअत्तणं काले॥[8]

प्रियतम का आलिङ्गन करने में युवतियाँ हार को भी दूर फेंक देती हैं। सच है प्रशस्त गुण वाले गुणी भी कालवश लघुता को प्राप्त हो जाते हैं।

कालवश ही क्यों अपने कर्म से तो बड़े से बड़ा व्यक्ति भी लघुता को प्राप्त हो जाता है—

लहुअन्ति लहु पुरिसं पव्वअमेत्तं पि दो वि कज्जाइं।
णिव्वरणमणिव्वूढे णिव्वूढे जं अ णिव्वरणम्॥

अर्थात् पर्वत सरीखे पुरुष को भी दो कार्य लघु बना देते हैं—अपने द्वारा न किये गये कार्य को अपना किया बताना और स्वयं कार्य करके भी उसका बखान करना।

१.	गाथा सप्तशती	७/७१	५.	वही	१/८३, ७/५९
२.	,,	१/४२	६.	,,	४/९८
३.	,,	३/१४	७.	,,	५/२२
४.	,,	३/५५	८.	,,	५२९

निःसन्देह कुछ गाथाओं में नीति और तथ्य-कथन बड़े ही सुन्दर बन पड़े हैं। अन्य उदाहरण लीजिये—

कहं णाम तीअ तह सो सहावगुरुओ वि थणहरो पडिओ ।
अहवा महिलाणं चिरं को वि ण हिअअम्मि संठाइ ।[1]

किसी पीन-स्तनी नायिका को कालान्तर में शिथिल-स्तनी देखकर कोई नायक अपने मित्र से कहता है कि इस सुन्दरी का यह स्वभाव से ही गुरु कुचमण्डल कैसे गिर गया। अथवा महिलाओं के हृदय में चिरकाल तक कोई भी नहीं ठहर सकता।

लता द्वारा वृक्ष के परिवेष्टन के माध्यम से चपल कामिनी द्वारा गंभीर पुरुष को भी आकृष्ट कर लेने का तथ्य निम्नलिखित गाथा में प्रकट किया गया है—

जह जह वाएइ पिओ तह तह णच्चामि चञ्चले पेम्मे ।
वली वलेइ अङ्गं सहावत्थे वि रुक्खम्मि ।।[2]

प्रिय जैसे-जैसे बजाते हैं। मैं वैसे-वैसे चञ्चल प्रेम में नाचती जाती हूँ। स्वभाव से ही स्तब्ध वृक्ष को भी लता अपने अङ्गों के आवेष्टन में ले लेती है।

सरल प्रकृति सज्जन एवं कुटिल प्रकृति दुष्ट का सम्बन्ध चिरस्थायी नहीं हो सकता क्योंकि कुटिल व्यक्ति सीधे-साधे पुरुष को झटक ही देता है। इस तथ्य की अभिव्यक्ति धनुष और बाण के उदाहरण से अत्यन्त मार्मिक हो उठी है—

चावो सहावसरलं विच्छिवइ सरं गुणम्मि वि पडन्तम् ।
वङ्कस्स उज्जुअस्स अ सम्बन्धो किं चिरं होइ ।[3]

धनुष (जो स्वभाव से ही कुटिल होता है) गुण (प्रत्यञ्चा, और मानवोचित, गुण दया आदि) से लगे हुए बाण को भी फेंक देता है। सच है कुटिल और सरल का सम्बन्ध देर तक नहीं रहता।

नीतिकथन एवं जीवन के शाश्वत तथ्यों के प्रतिपादन में अन्योक्ति शैली का भी पर्याप्त आश्रय लिया गया है। ये अन्योक्तियाँ दो प्रकार की हैं। कुछ तो विशुद्ध रूप से नीति का ही प्रतिपादन करती हैं और कुछ शृङ्गारिक उक्तियाँ-मात्र हैं।

गुणशाली व्यक्ति को अपने गौरव की प्रतिष्ठा करने के लिये बाह्य आडम्बर की आवश्यकता नहीं होती' इस तथ्य को निम्नलिखित गज-विषयक अन्योक्ति में कितनी सुन्दरता के साथ अभिव्यक्त किया गया है—

---

१. गाथा सप्तशती ३/६८
२. ,, ४/४
३. ,, ५/२४

धूलिमइलो वि पङ्कङ्किओ वि तणरइअदेहभरणो वि ।
तह वि गइन्दो गरुअत्तणेण ढक्कं समुव्वहइ ॥[1]

धूलि-धूसर और कीचड़ में सना हुआ तथा तिनकों से ही उदर पूर्ति कर लेने वाला होता हुआ भी हाथी अपने गौरव के कारण डंके की चोट प्रसिद्ध है।

अविवेकी समाज में नित्यप्रति आजमाये जाते हुए कृशकाय गुणी सत्पुरुष को मरकत वर्णन के वहाने इस प्रकार चेतावनी दी गई है—

दुस्सिक्खिअरअण परिक्खएहिँ घिट्ठोसि पत्थरे तावा ।
जा तिलमेत्तं वट्टसि मरगअ का तुज्झ मल्लकहा ॥[2]

हे मरकत! दुःशिक्षित रत्न-परीक्षकों ने पत्थर पर घिसते-घिसते तुम्हें तिलमात्र कर दिया है। तुम्हारे मूल्य-निर्धारण की तो वात ही क्या ?

प्रभावशाली व्यक्ति किशोरावस्था में ही सामान्य प्रौढजन को अतिक्रान्त कर जाता है—

एक्केण वि वडवीअङ्कुरेण सअलवणराइमज्झम्मि ।
तह तेण कओ अप्पा जह सेसदुमा तले तस्स ॥[3]

अकेले वटवृक्ष के नवीन अंकुर ने अपने आप को ऐसा वनाया कि शेप वृक्ष उससे हीन ही रहे।

भक्ति विषयक उक्तियाँ

नीतिकथन एवं सूक्तियों के अतिरिक्त कुछ उक्तियां भक्ति-विपयक भी मिलती हैं। इन्हें निश्चित रूप से साधना-परक तो नहीं कहा जा सकता फिर भी देव-विशेप के प्रति नमस्कार अथवा उसकी लीलाओं का स्मरण इनका विपय है। विष्णु के वामनावतार के प्रति अधिक आस्था प्रकट की गई जान पड़ती है।

वलिणो वाआवन्धे चोज्जं णिउअत्तणं च पअडन्तो ।
सुरसत्थक-आणन्दो वामणरूवो हरी जअइ ॥[4]

वाणी द्वारा वलि के वन्धन में आश्चर्य और निपुणता प्रकट करते हुए देव-गण को आनन्दित करने वाले वामन रूप हरि की जय हो।

अपहुप्पन्तं महिमण्डलम्मि णहंसठिअं चिरं हरिणो ।
तारापुप्फप्पअरञ्चिअं व तइअं पअं णमह ॥[5]

---

१. गाथा सप्तशती ६/२६
२. ,, ७/२७
३. ,, ७/७०
४. गाथा सप्तशती ५/६
५. ,, ५/११

महीमण्डल में न समा सकने पर देर तक आकाश में स्थित एवं तारा रूपी पुष्प-समूह से अर्चित से प्रतीत होते हुए हरि के तृतीय पद (डग) को नमस्कार करो।

गणपति को नमस्कार करते हुए कहा गया है—

हेलाकरग्गअड्ढिअजलरिक्कं साअरं पआसन्तो।
जअइ अणिग्गअवडवग्गिभरिअगगणो गणाहिवई ॥[1]

खेलमात्र में ही कर के अग्र भाग द्वारा आकृष्ट जल से सागर को रिक्त करते हुए और निर्बाध प्रज्वलित वडवाग्नि से आकाश को भर देने वाले गणपति की जय हो।

शिव-पार्वती को नमस्कार करके तो गाथा सप्तशती का आरम्भ ही किया गया है[2]। एक गाथा में विष्णु और लक्ष्मी का उल्लेख भी आया है और विष्णु को नमस्कार किया गया है।[3] वस्तुतः ये दोनों ही गाथाएँ देव-विशेष के प्रति नमस्कारात्मक होते हुए भी शुद्ध रूप में भक्तिपरक नहीं कही जा सकतीं क्योंकि इनमें शृङ्गार का पुट भी मिलता है। सत्य तो यह है कि भक्ति का जो स्वरूप आलवार और आडवार भक्तों की साधना के परिणामस्वरूप आठवीं शती में प्रतिष्ठित हुआ, वह गाथा सप्तशती काल में प्रारम्भ भी हो चुका था या नहीं, इसमें संदेह है, किन्तु, जैसा कि ऊपर उद्धृत गाथाओं से प्रतीत होता है, वैदिक युग से ही भक्ति का जो बीज अन्तर्निहित था वह धीरे-धीरे अङ्कुरित अवश्य होता आ रहा था।

राधाकृष्ण की प्रेम-विषयक उक्ति भी गाथा सप्तशती में मिलती है, परन्तु इससे भी भक्ति विषयक प्रश्न पर कोई स्पष्ट प्रकाश नहीं पड़ता, फिर भी राधा कृष्ण के प्रेम-वर्णन का यह सबसे प्राचीन साहित्यिक उदाहरण कहा जा सकता है जो उत्तरवर्ती कवियों की एतद्विषयक भक्ति एवं शृङ्गार-परक उक्तियों का पूर्वज अवश्य कहा जाना चाहिये। कम से कम रीतिकालीन शृङ्गारी कवियों में भक्ति-विषयक जो उक्तियाँ पाई जाती हैं, उनसे तो इन उक्तियों का सीधा सम्बन्ध प्रतीत होता ही है।

राजप्रशस्ति

कुछ गाथाओं में राजा की प्रशस्ति भी की गई है। शालिवाहन के समय में ही विक्रमादित्य की दानवीरता और उदारता की कहानियाँ प्रसिद्ध हो चुकी थीं। एक गाथा में विक्रमादित्य द्वारा अपने संवाहक (हाथ-पैर दबाने वाले या मालिश करने वाले) को प्रसन्न होकर लाख-लाख मुद्राएं देने का उल्लेख किया गया है।[4] एक अन्य

---

१. गाथा सप्तशती ५/३
२. " १/१
३. गाथा सप्तशती २/५१
४. " ५/६४

गाथा में, जो शालिवाहन के ही किसी आश्रित कवि द्वारा लिखी गई प्रतीत होती है, शालिवाहन के आर्त्तरक्षक-गुण की प्रशंसा है और श्लेष के बल पर उसकी तुलना गौरीपति शिव से की गई है।[1] एक स्थान पर किसी राजा विशेष का नामोल्लेख किये बिना ही सामान्य रूप से राजा की वीरता की स्तुति मिलती है जिसे टीकाकारों ने शालिवाहन ही की प्रशंसा में माना है। वह गाथा यह है—

हंसेहि व तुह रणजलअसमअभअ चलिअविहलवक्खेहिं।
परिसेसिअपोम्मासेहिं माणसं गम्मइ रिऊहि ॥[2]

जिस प्रकार गर्जन करते हुए मेघों के समय (वर्षा ऋतु) में भय के कारण चञ्चल और विह्वल पंखों वाले हंस (वर्षा में कमलों के लुप्त हो जाने के कारण) कमलों की आशा त्याग कर मान-सरोवर को उड़ जाते हैं उसी प्रकार तुम्हारे रण-रूपी मेघ-समय के भय से चञ्चल और विह्वल पक्ष (सहायकों) वाले रिपु कमला (लक्ष्मी) की आशा त्याग कर तुम्हारे मानस का अनुवर्तन करने लगते हैं।

इसी प्रकार की एक और गाथा है—

विसमट्ठिअपिक्कक्कम्ब दसणे तुज्झ सत्तुघरिणीए।
का को ण पत्थिओ पहिआणं डिम्भे रुअन्तम्मि ॥[3]

दुर्गम स्थान (अत्यन्त पतली ऊँची शाखा के अग्रभाग) पर लगे हुए आम के एक पक्के फल को देखकर बालक के रोने पर तुम्हारे शत्रु की गृहिणी ने किस पथिक से याचना नहीं की ?

टीकाकारों ने इस गाथा को भी शालिवाहन से ही सम्बद्ध प्रसङ्ग में लिखित माना है।

रसिक राजा का विलासी चित्र भी एक गाथा में चित्रित मिलता है :—

कोत्थ जअम्मि समत्थो थइउं वित्थिण्णणिम्मलुत्तुङ्गम्।
हिअअं तुज्झ णराहिव गअणं च पओहरं मोत्तुम् ॥[4]

पयोधरों (उरोज एवं बादलों) को छोड़ कर तुम्हारे विस्तीर्ण निर्मल तथा उत्तुङ्ग हृदय और आकाश को कौन स्थगित करने में समर्थ हो सकता है। अर्थात् बादलों के अतिरिक्त कोई भी पदार्थ विशाल, निर्मल और ऊँचे आकाश को नहीं ढक सकता। इसी प्रकार उरोजों के अतिरिक्त अन्य कुछ भी तुम्हारे हृदय को आवृत नहीं कर सकता।

इस प्रकार गाथा सप्तशती में मुख्य रूप से शृङ्गार का चित्रण हुआ है। इसके अतिरिक्त नीतिकथन, भक्ति-विषयक उक्तियाँ और राजप्रशस्ति-विषयक उक्तियाँ

१. गाथा सप्तशती ५/६७
२. ” ५/७१
३. गाथा सप्तशती ६/६५
४. ” ४/६४

भी आई हैं। संख्या की दृष्टि से शृङ्गार के पश्चात् क्रम से नीति, भक्ति और राज-प्रशस्ति विषयक उक्तियाँ रखी जायेंगी। नीतिविषयक उक्तियों की संख्या पर्याप्त है। इस प्रकार सप्तशती के आकार-प्रकार गठन एवं वर्ण्यविषय की तुलना इसकी उत्तरवर्ती अन्य सतसइयों से सहज ही की जा सकती है और यह बात एक दम स्पष्ट हो जाती है कि संस्कृत की आर्या सप्तशती और रीतिकालीन हिन्दी सतसइयों की रचना का आदर्श हाल की गाथा सप्तशती ही रही है। सभी में शृङ्गार रस की प्रधानता है। नीति, भक्ति, राज-प्रशस्ति, सज्जन-प्रशंसा, दुर्जन-निन्दा आदि भी सब में मिलती है। हाँ, हिन्दी सतसइयों में भक्ति विषय उक्तियों की संख्या अपेक्षाकृत अधिक है। यही बात राज-प्रशस्ति परक उक्तियों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है।

प्रकृति-चित्रण

* *

प्रकृति के विविध रूप

१. आलम्बन रूप—भारतीय वाङ्मय का आदिग्रन्थ ऋग्वेद प्रकृति के सजीव चित्रों से ओत-प्रोत है। चिरसहचरी प्रकृति के विविध रूपों को देखकर मन्त्रद्रष्टा ऋषियों के हृदय में जिन अनुभूतियों का संचार होता था उनके उदात्त उदाहरण ऋग्वेद के मन्त्रों में भरे पड़े हैं। इन मन्त्रों में 'ज्ञान' की अपेक्षा भाव की ही अधिक प्रतिष्ठा हुई है। प्रकृति में उन्होंने चैतन्य तथा संवेदन के दर्शन किये थे। अतः प्रकृति उनके प्रेम का आलम्बन बन गई थी। किन्तु प्रकृति का यह आलम्बन रूप, जिसमें भावमग्न कवि प्रकृति के सौन्दर्य की अनुभूति से प्रसूत भावों को प्रकृति की ही पृष्ठ-भूमि पर अभिव्यक्त करता है, उत्तरोत्तर लुप्त होता चला गया। वाल्मीकि अश्वघोष और कालिदास की कृतियों में इसके उदाहरण खोजे अवश्य जा सकते हैं किन्तु साधारणतया संश्लिष्ट चित्रण को उत्तरोत्तर आलङ्कारिक योजना द्वारा व्यञ्जनात्मक बनाकर शैली का ही अङ्ग बना देने की प्रवृत्ति विकसित होती रही और स्वतन्त्र वर्णन को उद्दीपन की परिधि में बाँधने का प्रयास जोरों से चलता रहा। अन्त में प्रथम प्रवृत्ति की परिणति रूढि एवं वैचित्र्य में तथा दूसरी की वस्तुओं के नाम-परिगणन में हुई। प्रकृति को अचेतन मानकर उसमें कवि के भाव की समुचित प्रतिक्रिया का अभाव समझते हुए काव्य-शास्त्रियों ने उसे एक-तरफा अनुराग कहा। एकतरफा अनुराग अनुचित होता है। अतः इस आधार पर उसे रस के क्षेत्र से धकेल कर रसाभास और भावाभास के समकक्ष खड़ा कर दिया गया।[1] प्रकृति में मानवीय भावों का आरोप उन्हें कुछ पसन्द सा न आया और प्रकृति के आलम्बन रूप की संभावना तक का उल्लेख उन्होंने नहीं किया। परन्तु क्या चिरसहचरी प्रकृति का रूप-रङ्ग, अङ्ग-प्रत्यङ्ग, परिस्थिति और व्यापारों के सम्यग् विवरण तथा संश्लिष्ट चित्रण से पाठक या श्रोता के हृदय में अन्तर्हित अनुराग उद्‌बुद्ध होकर आनन्दानुभूति में

---

१. 'तत्र वृक्षादिष्वनौचित्येनारोप्यमाणौ रसभावौ रसभावाभासतां भजतः' (वाग्भट्ट अ० ५, पृष्ठ ५६).
अर्थात् वृक्षादि में अनुचित रूप से आरोपित रस और भाव रसाभास तथा भावाभास होते हैं।

तथा

निरिन्द्रियेषु तिर्यगादिषु चारोपाद्रसभावाभासौ (हेमचन्द्र, काव्यानुशासन, पृष्ठ १०१)
इन्द्रियरहित पदार्थों एवं पशु-पक्षियों में आरोप करने से रसाभास और भावाभास होते हैं।

परिणत नहीं हो जाता ? जिन्हें प्रकृति के उन्मुक्त सौन्दर्य का समीप से पान करने का अवसर अधिक प्राप्त नहीं हुआ है उनकी बातें वे जानें। निःसन्देह 'मनुष्य शेष प्रकृति के साथ अपने रागात्मक सम्बन्ध का विच्छेद करने से अपने आनन्द की व्यापकता को नष्ट करता है। बुद्धि की व्याप्ति के लिये मनुष्य को जिस प्रकार विस्तृत और अनेक रूपात्मक क्षेत्र मिला है उसी प्रकार भावों की व्याप्ति के लिये भी[1]। अतएव आचार्य शुक्ल ने प्रकृति के आलम्बन रूप को स्वीकार करते हुए जोरदार शब्दों में कहा है कि मैं आलम्बन मात्र के विशद वर्णन को श्रोता में रसानुभव करने में पूर्ण समर्थ मानता हूँ"[2]

आश्चर्य की बात है कि किसी-किसी आचार्य ने तो प्रकृति को उद्दीपन में भी चतुर्थ श्रेणी का स्थान दिया है।

उद्दीपनं चतुर्धा स्यादालम्बनरसाश्रयम्
गुणचेष्टालंकृतयस्तटा स्थाश्चेति भेवतः ॥ ।

अथ तटस्थाः

तटस्थाश्चन्द्रिका धारागृह-चन्द्रोदयावपि ।
कोकिलालापमाकन्दमन्दमारुतषट्पदाः ॥
लतामण्डपभूगेहदीर्घिका जलदारवाः ।
प्रासादगर्भसंगीतक्रीडाद्रिसरिदादयः ॥[3]

अर्थात् शृङ्गार रस के उद्दीपन (आलम्बन के) गुण, चेष्टा, अलङ्कार और तटस्थ भेद से चार प्रकार के होते हैं। तटस्थ उद्दीपनों में चन्द्रिका, धारागृह, चन्द्रोदय, कोकिल-काकली, मन्द-मन्द पवन, भ्रमर-गुञ्जन, लतामण्डप, भूगर्भ में घर, वापी, मेघगर्जन, प्रासाद, संगीत, क्रीडापर्वत और सरित् आदि हैं।

२. पृष्ठभूमि—वस्तु-आलम्बन और भाव-आलम्बन—के रूप में—कभी-कभी कवि किसी घटना या परिस्थिति के आधाररूप में भी प्रकृति का चित्रण करता है। घटना के समय और स्थान की अभिव्यक्ति प्रकृति के परिवर्तित रूपों द्वारा इतने मनोरम और स्वाभाविक रूप में हो जाती है कि पाठक कुछ कहे-सुने विना ही सब कुछ समझ लेता है। वह मानसिक रूप से स्वयं घटना-स्थल पर उपस्थित होकर प्रत्यक्ष-दर्शन का आनन्द लाभ करता है। इस रूप में प्रकृति स्वतन्त्र आलम्बन तो नहीं होती, किन्तु घटनाओं के विकास और परिस्थितियों के प्रसार से उसका समवाय सम्बन्ध होने के कारण समवेत-आलम्बन अवश्य कही जा सकती है। रामायण, महाभारत, अश्वघोष, कालिदास और भवभूति की रचनाओं तथा वाण की कादम्बरी में इस प्रकार के बहुत से स्थल हैं। कादम्बरी तो इस दृष्टि से बेजोड़ ही है।

---

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, चिन्तामणि भाग २, पृष्ठ ३७
२. चिन्तामणि भाग २, पृष्ठ ३७
३. शिङ्गभूपाल, रसार्णवसागर, पृष्ठ ८६-८७

कुमार सम्भव का वसन्त-वर्णन इसी कोटि का है। उत्तरोत्तर रूढिग्रस्त कलात्मकता की प्रवलता के कारण पिछले खेवे के संस्कृत कवियों में विचित्र ऊहा और स्थूल आरोप की प्रवृत्ति बढ़ती गई।

४. अप्रस्तुत विधान के रूप में—प्रस्तुत को अधिक भावगम्य और स्पष्ट बनाने के लिये प्रकृति के विस्तृत क्षेत्र से अनेक प्रकार के सदृश रूपों और व्यापारों का विधान कवि-समुदाय प्रारम्भ से ही करता आया है। प्रकृति के इन प्रयोगों में स्वतः संभवी के अतिरिक्त कवि-कल्पना-प्रसूत रूपों का भी समावेश किया गया है, परन्तु यह कल्पना निराधार नहीं समझनी चाहिए। इसका आधार कवि के व्यापक अनुभव में आये विविध रूप-रंग, आकार-प्रकार गुण-दोष आदि का अक्षय भण्डार है जिससे वह अपनी रुचि के अनुसार किसी भी आकार में रंग-रूप गुण आदि का औचित्यपूर्ण समावेश कर नया उपमान बना लेता है, जो इस लोक का न होता हुआ भी इसी के तत्त्वों से बना होता है और कल्पित होकर भी सत्य का मनोरम उद्घाटन करता है। किन्तु क्रमशः इस कल्पना का आधार लोक न रहकर कवि का मस्तिष्क ही रह गया। अतः इसमें भी क्लिष्टता आती गई। शाश्वत मानवीय अनुभवों पर आधारित न होने के कारण साधारण पाठक इसे अजनवी के रूप में ही ग्रहण कर सकता है क्योंकि कवि के मस्तिष्क के साथ वह अपनी बुद्धि का सामञ्जस्य नहीं बैठा सकता। यही कारण है कि वह इसमें हृदय को रसमग्न करने वाले तत्त्व न पाकर शुद्ध चमत्कार ही पाता है। संस्कृत के उत्तरकालीन कवियों में इस चमत्कार-प्रदर्शन की बड़ी-बड़ी बाजियाँ लगीं।

५. कवि-समय अथवा रूढियाँ—काव्य में प्रकृति-विषयक कुछ ऐसी भी बातें पायी जाती हैं जो न तो देखी ही जाती हैं और न अन्यत्र सुनी ही जाती हैं। देश, काल, प्रकृति आदि के विरुद्ध होते हुए भी इन्हें काव्य का दूषण नहीं माना जाता क्योंकि कवि लोग परम्परा से इस प्रकार का वर्णन करते चले आये हैं। 'भारतीय जीवन के हर एक पहलू पर परम्पराओं की कितनी दृढ जकड़ है' इस बात का यह जीता जागता सबूत है। ये प्रकृति-विरुद्ध कथन—जैसे हंस का दूध पानी अलग-अलग कर देना, चकवा-चकवी का रात्रि में वियुक्त हो जाना, चकोर का चिनगारियाँ चुनना, स्त्रियों के चरण-प्रहार से अशोक का विकसित होना आदि—कवि-समय कहलाते है जिसका अर्थ होता है कवियों का आचार अथवा सम्प्रदाय।

गाथा सप्तशती में प्रकृति-चित्रण

आलम्बन के रूप में

गाथा सप्तशती प्रकृति के विस्तृत आङ्गन में खेलने वाले प्रेमियों की प्रणय-केलियों के चित्र उपस्थित करती है, किन्तु इसमें सब कुछ शृङ्गारी ही नहीं है। वस्तुतः यह एक संकलित ग्रन्थ है जिसमें नीति और शुद्ध प्रकृति-वर्णन की उक्तियां भी मिलती हैं। हाँ, प्रधानता शृङ्गार रस की ही है। गाथा सप्तशती के टीकाकारों ने प्रत्येक गाथा का प्रसङ्ग शृङ्गारिक क्षेत्र से ही संबन्धित माना है। इसके लिए

उन्होंने कल्पना की ऊँची उड़ान भी भरी है किन्तु, जैसा कि हमने अन्यत्र कहा है, उनकी प्रसङ्ग-कल्पना वास्तविकता से बहुत दूर जा पड़ती है। अनेक गाथाओं में विशुद्ध रूप से प्रकृति का चित्रण पाया जाता है। संध्या के समय अपने निवास-वृक्ष पर एकत्र हुए पक्षियों का स्वाभाविक वर्णन इस गाथा में देखिये—

भरणमिअणील-साहग्ग-खलिअ-चलणद्धविहुअवक्खउडा।
तरुसिहरेसु विहंगा कह कह वि लहन्ति संठाणम्॥[1]

"भार के कारण झुकी हुई शाखा के अग्र भाग पर बैठने के कारण पंजों के फिसल जाने से अपने पंखों को फड़-फड़ाते हुए विहग वृक्षों के शिखरों पर बड़ी कठिनाई से स्थान पाते हैं।"

कवि ने पक्षियों के तरुशिखर पर बैठने के दृश्य को सूक्ष्म रूप से देखा है और उनकी सूक्ष्मातिसूक्ष्म क्रियाओं के वर्णन द्वारा स्वाभाविक चित्र उपस्थित कर दिया है दूर से उड़कर आये हुए श्रान्त विहग अपने आश्रयभूत वृक्ष के पहले ही सामने पड़ने वाले शिखर की लघु शाखाओं पर बैठना चाहते हैं, किन्तु वे भार से झुक जाती हैं अतएव कुछ-कुछ जमाये हुए उनके पैर स्निग्ध शाखाओं पर से फिसल जाते हैं जिससे वे गिरते-गिरते पंख फड़-फड़ा कर सँभल जाते हैं। रात्रि में किसी वृक्ष पर निवास के इच्छुक पक्षियों का यह सहज स्वभाव होता है।

अपने बच्चों की रक्षा में प्राणों की भी चिन्ता न करने वाली काक-पत्नी का यह साहस कैसा स्वाभाविक और स्पृहणीय है—

तडसंठिअणीडेक्कन्तपीलुआरक्खणेक्कदिण्णमणा।
अगणिअविणिवाअभआ पूरेण समं वहइ काई॥[2]

तटस्थित घोंसले में वर्तमान बच्चों की रक्षा में ही तल्लीन हृदय काक-पत्नी अपनी मृत्यु की भी चिन्ता न करती हुई प्रवाह के साथ बही जा रही है।

शरदृतु की निर्मल ज्योत्स्ना में कुमुद-दलों पर निश्चल बैठे हुए भौंरे चन्द्रमा की किरणों से नष्ट अन्धकार की जहाँ-तहाँ बिखरी हुई ग्रन्थियों के सदृश प्रतीत होते हैं।[3]

यह देखा गया है कि सायंकाल के प्रारम्भ होते ही मच्छर काली वस्तुओं के ऊपर झुण्ड बना कर उड़ने लगते हैं और जब वे इकट्ठे होकर किसी पशु को अपनी वीणा सुनाने लगते हैं तो वह सिर हिलाने लगता है। प्रकृति के इस दैनिक व्यापार को लेकर कवि ने एक सुन्दर और स्वाभाविक चित्र प्रस्तुत किया है—

१. गाथा सप्तशती, ७/६०
२. गाथा० २/२
३. „ ६/६१

महिसक्खन्धविलग्गं घोलइ सिङ्गाहग्रं सिमिसिमन्तम् ।
ग्राहग्र-वीणा-झंकारसद्दमुहलं मसग्रवुन्दम् ॥[1]

भैंसे के कन्धों के ऊपर लगा हुआ तथा सींगों से आहत मच्छरों का समुदाय आहत वीणा की झङ्कार के सदृश मुखरित होता हुआ 'सिम सिम' करता हुआ उड़ रहा है।

किसी दृश्य को शब्द एवं गति समेत साकार रूप देकर चित्रित करना उन्हीं कवियों के भाग्य में बदा होता है जिन्हें प्रकृति का समीप से सूक्ष्म-दर्शन करने के अवसरों की कमी नहीं रहती।
कलात्मक होता हुआ भी कमलों पर गूंजते हुए भ्रमरों का यह वर्णन कितना सहज है—

रून्दारविन्दमन्दिरमग्ररन्दाणन्दिग्रालिरिञ्छोली ।
झणझणइ कसणमणिमेहल व्व महुमास-लच्छीए ॥[2]

विकसित होते हुए अरविन्द रूपी मन्दिर में मकरन्द पान से आनन्दित होकर गुनगुनाती हुई भ्रमरों की पंक्ति मानों वसन्त ऋतु की लक्ष्मी की झनझनाती हुई नीलमणियों की मेखला है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि कवि ने न केवल विकसित होते कमल का वर्णन किया है अपितु अपनी सुन्दर पद-शय्या द्वारा भ्रमरों के गुञ्जन और मेखला की झनझनाहट को भी प्रत्यक्ष कर दिया है। पूर्वार्ध में अनुनासिक तवर्गीय अक्षर भौंरों के गुञ्जन की प्रतिध्वनि उत्पन्न करते प्रतीत होते हैं और उत्तरार्ध के णकार-बहुल शब्दों की ध्वनि में मेखला की झनझनाहट सुनाई पड़ती है। यह गाथा ऋग्वेद की उषावर्णनविषयक किसी भी ऋचा से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। वासन्ती लक्ष्मी ने साकार रूप धारण कर कवि के हृदय को मोह लिया है और वह उसके भाव-विलासों से उद्दीप्त रति का आस्वादन करने लगा है। प्रकृति का यह चित्रण उसके आलम्बन रूप की ही ओर अधिक झुका हुआ है।

वस्तु-आलम्बन

अब वस्तु-आलम्बन रूप में प्रकृति-चित्रण का एक उदाहरण लीजिए—

तडविणिहिग्रग्गहत्था वारितरङ्गेहिं घोलिरणिग्रम्वा ।
सालूरी पडिविम्वे पुरिसाग्रन्तिव्व पडिहाइ ॥[3]

"तट पर अपने हाथों का अग्रभाग जमाकर जल-तरङ्गों के कारण इधर-उधर चलते हुए नितम्बों वाली मेंढकी जल में अपने प्रतिविम्ब के ऊपर पुरुषरत (विपरीत रति) करती हुई सी प्रतीत हो रही है।

यद्यपि सुसंस्कृत रुचि वाले रसिकों को इसमें रसाभास की ही प्रतीति होती

१. गाथा ६/६०
२. „ ६/७४

है तथापि जलाशय के तट पर जल में अर्धमग्न मेंढकी का उसके प्रतिबिम्ब सहित चित्रित किया हुआ यह चित्र कवि की सूक्ष्मदृष्टि एवं प्रकृति के प्रति उसकी जागरूकता का परिचायक है। नायक के प्रति नायिका की यह उक्ति उनके विपरीत सुरत की भूमिका मात्र है।

भाव-आलम्बन

भावालम्बन के रूप में प्रकृति-चित्रण के अनेक सुन्दर-सुन्दर उदाहरण गाथा सप्तशती में भरे पड़े हैं। बानगी के लिए केवल दो उदाहरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

थोअं पि ण णीसरई मज्भण्णे उह सरीरतललुक्का।
आअवभएण छाई वि पहिअ ता किं ण वीसमसि ॥[1]

मध्याह्न के समय धूप के भय से शरीर के नीचे छिपी हुई छाया भी तनिक बाहर नहीं निकलती। पथिक ! फिर तुम भी विश्राम क्यों नहीं करते ?

स्वयंदूतिका की इस उक्ति से "अचेतन छाया भी आतप के भय से बाहर नहीं निकलती फिर चेतन का तो कहना ही क्या ? अतः इस समय कामानल से सन्तप्त मुझे अपने शरीरतल में लीन कर लो" आदि भावों की अभिव्यक्ति होती है। भीषण आतप में कोई बाहर नहीं निकलेगा। अतः निर्द्वन्द्व होकर रमण करने के लिये प्रकृति ने वातावरण बना दिया है। शरीर के नीचे लीन छाया भी मानो अपने चिरसहचर (शरीर) के साथ रमण कर रही है।

उअ पोमराअमरगअसंवलिआ णहअलाओ ओअरइ।
णहसिरिकण्ठभट्ठ व्व कण्ठिआ कीररिञ्छोली ॥[2]

"देखो पद्मराग तथा मरकत मणियों से बनी हुई आकाश-लक्ष्मी के कण्ठ से गिरी हुई कण्ठी जैसी शुकपंक्ति नभमण्डल से उतर रही है।"

उद्यान में विहार करते हुए नायक की नायिका के प्रति इस उक्ति से व्यञ्जित है कि आकाशतल से आकाशलक्ष्मी के मणिहार के गिरने का कारण उद्दाम रति है।

स्वयं भी सुरत क्रीडा में आसक्त प्रकृति के तत्त्व मानो प्रेमियों को भी एतदर्थ प्रेरित कर रहे हैं।

उद्दीपन रूप में

दिट्ठा चूआ अग्घाइआ सुरा दक्खिणाणिलो सहिओ।
कज्जाइं विअ गरुआइं मामि को वल्लहो कस्स ॥[3]

आम के फूटते हुए अकुंरों का दर्शन किया। सुरा की गन्ध और मलयानिल

1. गाथा सप्तशती १/४०

को भी सहन कर लिया। मामि ! कार्यों का ही महत्त्व है (कार्य के पीछे विदेश जाकर प्रिय व्यक्ति को भी लोग भूल जाते हैं) प्यारा तो कौन किसका है ?

अवधि व्यतीत होने पर भी न आने वाले प्रियतम के विषय में प्रोषित-पतिका की उपालम्भभरी यह उक्ति आम्रांकुर और दक्षिणवायु के उद्दीपन की सूचक है।

सुप्पइ तइओ वि गओ जामोत्ति अहीओ कीस मं भणह।
सेहालिआणं गन्धो ण देइ सोत्तुं सुअह तुम्हे ॥[1]

सखियो ! मुझ से क्या कहती हो कि तीसरा पहर भी चला गया, सो जाओ ? शेफालिकाओं की गन्ध सोने ही नहीं देती। जाओ तुम सो रहो।

महुमासमारुआहअमहुअरझंकारणिब्भरे रण्णे।
गाअइ विरहक्खराबद्धपहिअमणमोहणं गोवी ॥[2]

मधुमास की वायु से आहत एवं मधुकरों के गुञ्जन से परिपूर्ण वन में गोपी पथिकों को मूर्च्छित कर देने वाला विरहगान गाती है।

प्रकृति-वर्णन के अन्तर्गत षड्ऋतु वर्णन की परम्परा भी प्रचलित है। कालिदास का ऋतुसंहार इस बात का प्रमाण है कि यह परम्परा बहुत पुरानी है। गाथा-सप्तशती में भी जाने-अनजाने इस परम्परा का निर्वाह हो गया है। ऋतु-वर्णन विषयक गाथाएँ एकत्र संगृहीत नहीं हैं अपितु जहाँ-तहाँ बिखरी हुई हैं। इनमें कहीं कहीं तो प्रकृति का स्वतन्त्र रूप से चित्रण है और कहीं-कहीं उद्दीपन रूप में।

वसन्त ऋतु कवियों को उद्दीपन के रूप में अत्यन्त प्रिय रही है। गाथा सप्तशती में नायिका की सखी नायक के प्रति अपनी सखी के अविचल प्रेम का उल्लेख करती हुई उसे शीघ्र ही नायिका से मिलने के लिये प्रेरित करती हुई कहती है कि "मैं सत्य कहती हूँ। वसन्त ऋतु के लिये कुछ भी अशक्य नहीं है। फिर भी कुरवक की सुगन्ध तक से वह (नायिका) अपने सतीत्व से विचलित नहीं हुई।"[3] आम के फूटते हुए किसलय प्रवासियों को काम के रुधिरक्लिन्न भाले जैसे प्रतीत होते हैं।[4]

वसन्त-वर्णन का एक अन्य उदाहरण लीजिए जो अधिक स्वतन्त्र एवं स्वाभाविक है।

चञ्चुपुडाहअविअलिअसहआर-रसेण सित्तदेहस्स।
कीरस्स मग्गलग्गं गन्धन्धं भमइ भमरउलम् ॥[5]

---

१. गाथा सप्तशती ५/१२
२. ,, २/२८
३. ,, ३/१६
४. ,, ६/८५

"चोंच द्वारा आहृत आम से विगलित रस में सने हुए शुक के मार्ग में लगा हुआ गन्ध से अन्धा भ्रमर-समुदाय मँडरा रहा है।

ग्रीष्म-वर्णन

ग्रीष्म ऋतु का वर्णन अन्य ऋतुओं की अपेक्षा अधिक व्यापक तथा मार्मिक हुआ है। गर्मी के कारण संतप्त जीव घबराहट में सब कुछ भूल जाते हैं। तभी तो—

गिरसोत्तो त्ति भुअंगं महिसो जीहइ लिहइ संतत्तो।
महिसस्स कह्लवत्थरझरो त्ति सप्पो पिअइ लालम्॥[1]

व्याकुल भैंसा सर्प को पहाड़ी सोता समझकर अपनी जीभ से चाट रहा है और सर्प भी भैंसे की लार को काले पत्थर से निकलता हुआ सोता समझ कर पी रहा है। "तडागों का जल सूखने पर कीचड़ भी सूखने लगता है तो मछलियाँ, कछुए आदि धूप से अत्यन्त व्याकुल हो उठते हैं।[2] बावड़ियों को सुखा देने वाला तथा कुञ्जों में पत्तों का ढेर लगा देने वाला ग्रीष्म हाथी तक को बेचैन कर देता है। बेचारा हाथी पर्वत के प्रान्त भाग में उलझी सर्प की केंचुली को निर्झर की धारा समझ कर व्यर्थ ही अपना सिर गीला करने का प्रयत्न करने लगता है।[3] धूप के भय से छाया भी शरीर के तले छिप जाती है। बाहर निकलना ही नहीं चाहती।[4]

वर्षा-वर्णन

ग्रीष्म ऋतु के इन उत्पातों का एक दिन अन्त होता है। "आकाश में काले-काले नये बादल घिर कर दिन को रात में परिणत करते हुए गरजने लगते हैं और मयूर वृन्द उत्सुकता के साथ अपनी ग्रीवा को उठाकर तानते हुए नृत्य में मग्न हो जाते हैं।"[5] आम के अंकुर फूटने लगते हैं। "पके हुए आम की गुठली में से निकलता हुआ कोमल अंकुर कुछ खुली हुई सीपी के संपुट में छिपे हुए हालाहल (ग्रह्म सर्प, साँप की बामनी) की पूँछ के अग्रभाग के समान दिखाई पड़ता है।"[6] खेतों के चारों ओर लगाई हुई काँटेदार सूखी झाड़ियों की बाड़ पर बरसते हुए मेह में पंखों को फैलाकर तथा ग्रीवा को सिकोड़कर चोंच ऊपर उठाये बैठे हुए कौए शूलों से अभिन्न प्रतीत होते हैं।[7] सूर्य, चन्द्रमा, तारे सब बादलों में अदृश्य हो गये और बगुलों की एक पंक्ति आकाश में उड़ती दिखाई पड़ी। मानो काल (समय) रूपी ज्योतिषी ने, 'सूर्य, चन्द्र और तारे कहाँ गये? इन ग्रहों के इस स्पष्टीकरण के लिये खड़िया से रेखा खींची हो।"[8] घास के अग्रभाग में उलझे जल बिन्दुओं के रूप में मोर मानो मरकत-मणि-निर्मित सुई में बिंधे हुए मोतियों का पान कर रहा है।[9]

---

१. गाथा सप्तशती ६/५१
२. ,, ५/२८
३. ,, ७/४०
४. ,, १/४६
५. ,, ६/५१
६. गाथा सप्तशती १/६२
७. ,, ६/६३
८. ,, ५/३५
९. ,, ४/६४

वर्षा ऋतु का ऐसा सूक्ष्म, संश्लिष्ट और व्यापक वर्णन, जिसमें स्वाभाविकता का बलिदान किये बिना ही कला का समावेश किया गया हो और प्रकृत तथ्यों के साथ कल्पना का मनोरम पुट दिया गया हो, समसामयिक साहित्य में कहीं नहीं मिलेगा। गर्जन-तर्जन के साथ मूसलाधार बरसते हुए मेघ का यह वर्णन उत्प्रेक्षा-मय होता हुआ भी बाह्य प्रकृति के चित्रण की दृष्टि से कैसा चित्रोपस्थापक और अन्तः प्रकृति की दृष्टि से अपने प्रयास में असफल होकर खीझे हुए व्यक्ति की मनोवैज्ञानिक चेष्टा का कैसा सुन्दर उदाहरण है :

अविरलपडन्तणवजल-धारारज्जु-घडिअं पअत्तेण।
अपहुत्तो उक्खेत्तुं रसइ व मेहो महिं उअह ॥[1]

निरन्तर गिरती हुई जलधारा रूपी रस्सियों से बँधी हुई पृथ्वी को प्रयत्न-पूर्वक ऊपर खींचने में असमर्थ होता हुआ मेघ मानो श्रम के कारण हुंकार रहा है।

वर्षा ऋतु में पर्वतीय ग्रामों की शोभा अत्यन्त मादक हो जाती है :

पफुल्लघणकलम्बा णिद्धोअसिलाअला मुइअमोरा।
पसरन्तोज्झरमुखरा ओसाहन्ते गिरिग्गमा ॥७–३६

फूले हुए कदम्बों से युक्त, धुले हुए शिलातल एवं हर्षित मयूरों वाले तथा गिरते हुए निर्झरों के रव से मुखरित पर्वतीय ग्राम उत्साहवर्धक हैं।

वायु और मेघ की हाथा-पाई में मेघ की दयनीय दशा देखिए :

खरपवणरअगलत्थिअगिरिऊडावडणभिण्णदेहस्स।
धुक्काधुक्कइ जीअं व विज्जुआ कालमेहस्स ॥[2]

'तीक्ष्ण पवन द्वारा वेग से गले में हाथ डालकर धकेलने के कारण पर्वत शृङ्ग से गिर कर क्षत-विक्षत शरीर वाले काले बादल के प्राण मानो विद्युत के रूप में धुक-धुक कर रहे हैं।'

"पर्वत के शिखर पर धनुष से सुसज्जित पुलिन्दों को नवीन मेघों से व्याप्त विन्ध्य पर्वत हाथियों के समूह से भरा हुआ सा प्रतीत होता है।[3] वही विन्ध्याचल परस्पर सटे हुए मेघों के छिन्न-भिन्न होकर दिशाओं में बिखर जाने पर ऐसा प्रतीत होता है मानो अपनी केंचुली को त्याग रहा हो[4]।"

शरद्-वर्णन

शरद् ऋतु का प्रारम्भ होते ही उन्नतपयोधर (उत्तुङ्गकुच) यौवन के सदृश उन्नतपयोधर (जल भरे बादलों वाले) वर्षा काल के व्यतीत हो जाने पर काश के प्रथम पुष्प के रूप में मानो धरती का बुढ़ापा प्रकट हो गया।[5] प्यासे पथिक सरोवरों

---

१. वही ५/३६
२. गाथा सप्तशती ६/८३
४. गाथा सप्तशती २/१५
५. ,, ५/३४

जाने पर श्यामवर्ण राख (छाई) में फूंक मारने से अन्दर ही अन्दर दहकती हुई अग्नि के रूप में मानो किसी भालू को फाड़ रहा है।

इस गाथा में भालू के फाड़ने की उपमा वीभत्स होती हुई भी ग्रामीण वातावरण में ग्रामीण पथिक के वर्णन से सम्बद्ध होने के कारण दूपण नहीं अपितु भूपण ही है। पुआल की अग्नि का स्वाभाविक चित्रण इस गाथा की विशेपता है। तिनकों के जल जाने पर काली-काली राख का ढेर रह जाता है जिसमें फूंक मारने से ऊपर तो काली राख ही रहती है किन्तु भीतर लाल अग्नि दिखाई देती है।

शिशिर-वर्णन

खरसिप्पिरउल्लिहिआइं कुणइ पहिओ हिमागमपहाए।
आअमणजलोल्लिअहत्थफंसमसिणाइँ अङ्गाइं[1] ॥

शिशिर में प्रातःकाल पथिक आचमन करने में जल से भीगे हुए हाथों से छू कर पुआल के तीखे तिनकों से फटे हुए अपने अङ्गों को मुलायम कर लेता है।

इस गाथा के कवि ने ग्रामीण जीवन का अनुभव नहीं तो साक्षात् तो अवश्य ही किया है। जाड़े के दिनों में यात्रा करता हुआ निर्वन पथिक रात हो जाने पर कहीं भी पुआल नीचे विछाकर पड़ रहता है और रात गुजार देता है। पुआल के तीखे तिनकों से उसके शरीर में खरोंचे आ जाती हैं। शीत-ऋतु में खरोंच वाले स्थान अकड़ जाया करते हैं। अतः प्रातःकाल ही शौचादि क्रिया से निवृत्त हो कुल्ला करने पर वह गीले हाथों से खरोंच वाले स्थानों का स्पर्श कर उन्हें कोमल बना लेता है। हाथ-मुंह धोने अथवा भोजन के पश्चात् मुख-शुद्धि करने के बाद भीगे हाथ अनायास ही शरीर के एवंविध स्थानों पर स्वतः ही चले जाते हैं। अतः यह वर्णन नितान्त स्वाभाविक है।

गाथा सप्तशती का यह संक्षिप्त सा ऋतु वर्णन परम्परागत रूढ़ियों से एकदम मुक्त है। इसके अन्तर्गत न तो उत्तरकालीन कवियों की भाँति तत्तत् ऋतु में उत्पन्न होने वाली वनस्पतियों और पुप्पों का उल्लेखमात्र ही है और न ही विभिन्न ऋतुओं को अधिकाधिक आनन्ददायी बनाने के लिए उपकरणों का संकलन ही किया गया है। शृङ्गारिक भावों को उद्दीप्त करने के लिए प्रयुक्त उक्तियां भी नगण्य हैं। यह दूसरी वात है कि शृङ्गार के पक्ष में ही अर्थ लगाने के लिए कृतप्रतिज्ञ हठी टीकाकारों ने बलात् इस प्रकार के प्रसङ्गों की कल्पना कर ली हो। वस्तुतः इसमें ग्रामीण एवं वन्यजीवन के निसर्गसिद्ध चित्र हैं जिनमें कला की काट-छांट नहीं जीवन का उन्मुक्त विकास है, कल्पना के आकाश में ऊँची उड़ान नहीं वास्तविकता के ठोस धरातल की दृढ़ता है। इनका लक्ष्य कुछ और नहीं है ये अपने लक्ष्य प्रायः आप ही हैं।

---

१. गाथा सप्तशती ४/३०

कवि-समय

कवि-समय-सिद्ध उक्तियों का प्रयोग भी यत्र-तत्र किया गया है। स्त्री के आलिङ्गन से कुरवक का[1] तथा पाद प्रहार से अशोक[2] का विकसित होना गज के मस्तक से मद का टपकना[3] और उनमें मोतियों का होना[4], हंस का दूध-पानी अलग-अलग कर लेना आदि कवि-प्रसिद्ध रूढ़ियों का भी जहाँ-तहाँ प्रयोग किया गया है। यह अच्छी बात है कि इस प्रकार के प्रसङ्ग गाथा सप्तशती में अधिक नहीं हैं।

सतसइयों का प्रकृति-चित्रण

रीतिकालीन कवियों ने प्रकृति का चित्रण प्राय दो रूपों में किया है—उद्दीपन रूप में तथा अप्रस्तुत योजना के रूप में। ऋतु के अनुसार विलास और ऐश्वर्य-विषयक वस्तु-व्यापारों की योजना के रूप में भी कुछ उक्तियाँ मिलती हैं। षड्ऋतु-वर्णन, बारहमासा, विभिन्न ऋतुओं के अन्तर्गत उत्सव एवं त्योहारों के आयोजन—जिनमें नायक-नायिकाओं की रँगरेलियों का उन्मुक्त वर्णन होता है—आदि प्रथम पक्ष में आते हैं। शृङ्गार के भावों को प्रभावित करने और उल्लास तथा व्यथा की नाप-जोख करने में प्रकृति का जो उपयोग हुआ है वह भी इसी के अन्तर्गत है। वास्तव में ऐश्वर्य की वस्तुओं और व्यापारों का केवल नाम-परिगणन होने के कारण इस प्रकार के वर्णन उद्दीपन कार्य का निर्वाह भी प्राय: नहीं कर पाते, जैसे विक्रमसाहि का निम्नलिखित दोहा—

सेज सुपेंती तरुन तिय सुय सुराही प्रीति।
देखि रीति भयभीत ह्वै भजत सिसिर की सीति ॥[5]

पीछे कहा जा चुका है कि संस्कृत के काव्य-शास्त्रियों ने प्रकृति को आलम्बन रूप में स्वीकार नहीं किया है अपितु उसे तटस्थ उद्दीपन के अन्तर्गत माना है। हिन्दी के प्रथम काव्यशास्त्री कृपाराम ने प्रकृति को भी अन्य प्रकार के उद्दीपनों (नायिका की चेष्टाएँ आदि) के समकक्ष रखा। उनके मत से—

उद्दीपन के भेद बहु सखीवचन है आदि।
समय साज लौं वरनिये कविकुल की मरजादि ॥[6]

देव के भाव विलास में भी गीत नृत्य आदि के साथ प्रकृति की गिनती भी उद्दीपन भावों में की गई है—

---

१. गाथा सप्तशती १/६
२. ,, १/७, ५/५
३. ,, २/२१
४. वही २/७३
५. विक्रम सतसई २७९
६. हित तरङ्गिणी

गीत नृत्य उपवन-गवन आभूषन वनकेलि।
उद्दीपन शृङ्गार के विघु वसन्त वन-वेलि ॥[1]

हिन्दी के केवल एक काव्यशास्त्री ने समूची परम्परा के प्रतिकूल प्रकृति को आलम्बन के अन्तर्गत स्थान दिया है, वह है केशव, जो 'हृदयहीन कवि' के नाम से बदनाम है—

अथ आलम्बनस्थान वर्णन

दंपति जोवन रूप जाति लक्षणयुत सखिजन।
कोकिल कलित बसन्त फूल फल दल अलि उपवन ॥
जलयुत जलचर अमल कमल-कमला कमलाकर।
चातक-मोर-सुशब्द, तड़ित्, घन अम्बुद अम्बर ॥
शुभ सेज दीप सौगंध गृह पान खान परिधान मनि।
नव नृत्य-भेद वीणादि सब आलम्बनि केशव बरनि ॥[2]

यद्यपि रसनिष्पत्ति में केशव ने भी प्रकृति को कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं दिया—उसे स्वतन्त्र-आलम्बन नहीं माना—तथापि आलम्बन और उद्दीपन को उन्होंने एक नवीन दृष्टिकोण से अवश्य देखा है। वे नायिका के साथ-साथ पृष्ठ-भूमि के रूप में चित्रित पदार्थों को भी आलम्बन ही मानते हैं। उद्दीपन के भीतर वे केवल अङ्गज चेष्टाओं को ही ग्रहण करते हैं।[3] केशव की प्रकृति-विषयक उपर्युक्त मान्यता उनसे आगे न चल सकी।

हमारे सतसईकारों में केवल विहारी ही ऐसे हैं जिनकी कुछ उक्तियाँ स्वतन्त्र प्रकृति-चित्रण के उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत की जा सकती हैं। उनमें उक्ति-वैचित्र्य के साथ-साथ स्वाभाविकता का भी योग है। नीचे दिये हुए दोहों में निदाघ इस प्रकार जगत् को तपोवन बना रहा है कि बनावट प्रतीत ही नहीं होती—

कहलाने एकत बसत अहि मयूर मृग बाघ।
जगत तपोवन सौं कियो दीरघ-दाघ निदाघ ॥[4]

सूरज के प्रखर तेज से चक्करी भूलकर संयोगवश एकत्र समवेत परस्पर विरोधी जीवों का एक स्पष्ट चित्र सामने आ जाता है और सहृदय पाठक भी ताप की अनुभूति करता हुआ दूसरे ही क्षण उनके पास ही छाया में पहुँच -कर तपोवन जैसी शान्ति प्राप्त करता है। इसी प्रकार मधुमयी वासन्ती सुषमा का यह साकार चित्र किस सहृदय के मन में रति उत्पन्न नहीं करेगा?

---

१. भावविलास
२. रसिकप्रिया, ४-७
३. अवलोकनि आलाप परिरम्भन नखरददान।
चुम्बनादि उद्दीपन ये मर्दन परस प्रमान ॥ रसिकप्रिया
४. बिहारी सतसई, ४८६

छकि रसाल सौरभ सने मधुर माधवी गंध।
ठौर-ठौर झूमत, झपत, भौंर-भौंर मधु-अंध ॥[1]

अपनी मूल-प्रेरणा में भले ही यह चित्रण उद्दीपन कहा जाए परन्तु प्रस्तुत प्राकृतिक तत्त्वों का प्रतिष्ठापन कुछ ऐसे ढंग से किया गया है कि प्रकृति-विषयक भाव ही व्यापक हो उठा है।

ऐसा ही चित्र दक्षिण देश से आये हुए इस वायु रूपी बटोही का भी है—

चुवतु सेद मकरंद कन तरुतरुतर बिरमाइ।
आवत दच्छिन देस तैं थक्यो बटोही बाइ।[2]

इस दोहे में वायु को स्पृश्य ही नहीं चाक्षुष भी बना दिया गया है। 'तरु-तरु तर बिरमाइ' में ह्रस्व 'र' का अनुप्रास अपने नादात्मक सौन्दर्य से पवन के चलने की आहट देकर चित्र में गति तो उत्पन्न करता ही है अपनी सौम्य ध्वनि से इस वाक्य की लक्षणामूलक ध्वनिरूप 'गति की मन्दता' की पुष्टि करता हुआ उसके उत्कर्ष का भी आधायक होता है। केवल दक्षिण से ही नहीं, दक्षिण देश से आने वाले पथिक का श्रान्त होना स्वाभाविक ही है। बिहारी के अंग्रेज आलोचक भी उनके इस चित्रण पर लट्टू हैं। इम्पीरियल गजटियर में लिखा है—

He is particular in his description of natural phenomena, such as the scent-ladden breeze of an Indian Blooming, the wayworn pilgrim from the Sandal south, adust, not from the weary road, but from his pollen quest, brow headed with rosedew for sweat, and lingering neath the trees, resting himself and inviting others to rest.[3]

बिहारी का प्रसिद्ध कुञ्जसमीर के कुञ्जर-रूप का रूपक भी इसी कोटि का है :—

रनित भृंगघंटावली झरित दान मधु-नीर।
मंद-मंद आवतु चल्यौ कुंजर कुंजसमीर ॥[4]

अन्य सत-सईकारों में केवल विक्रमसाहि के कतिपय दोहे ऐसे हैं जिनमें प्रकृति का स्वाभाविक चित्रण हुआ है। परिमाण की दृष्टि से उन्होंने सभी सतसईकारों की अपेक्षा प्रकृति-चित्रण अधिक किया है, जिसका अधिकांश परम्परायुक्त है, फिर भी कुछ उक्तियाँ निःसन्देह सुन्दर बन पड़ी हैं।

निम्नलिखित दोहों में वर्षा का कैसा नैसर्गिक चित्रण है—

झीने झर झुकि-झुकि झमकि झलनि झांपि झकझोर।
झुमड़ घुमड़ बरसत सघन उमड़ि घुमड़ि घनघोर ॥[1]

---

१. बिहारी सतसई ४६६
२. बिहारी, ३२६
३. इम्पीरियल गजटियर ऑफ इण्डिया, भाग २, पृष्ठ ४२३
४. बिहारी ३२८

लहराती लतिकांत नित छहराती छित छोर।
छहराती कारी घटा रंगराती वन मोर ॥
रहे घुमड़ि घन गगन घन भौ तन तोम विसेख।
निसि बासर समुझ न परत प्रफुलित पंकज पेख ॥[1]

वस्तु एवं भाव-आलम्बन के रूप में भी बहुत ही कम उक्तियाँ दिखाई पड़ती हैं। कतिपय उदाहरण प्रस्तुत हैं।

वस्तु-आलम्बन

कुंज भवनु तजि भवन कौं चलियै नंदकिसोर।
फूलति कली गुलाब की चटकाहट चहुंओर ॥[2]

बिहारी के इस दोहे में गुलाब की कलियों के फूलने और चिड़ियों के चहचहाने से प्रातःकाल होने की सूचना दी गई है। अतः कुंज-भवन में रात भर रतिकेलि करने के पश्चात् अब प्रातःकाल होते ही लोगों के निकलने से पहले घर पहुँच जाना उचित है'। इस वस्तुव्यङ्ग्य के आलम्बन रूप में ही यहाँ प्रकृति का चित्रण हुआ है।

गगन-लता तें वलित हैं जँह तमाल-तरु-जाल।
धेनु धावरी रावरी लखि आई गोपाल ॥[3]

'आकाश बेल से आच्छादित तमाल कुञ्ज गुप्त-मिलन के लिये उपयुक्त स्थल है, यहीं पर नायिका को तुम्हारी प्रतीक्षा में बिठा आई हूँ' उपर्युक्त प्रकृति-चित्रण नायक के प्रति दूती की इसी वस्तु-व्यञ्जना की पृष्ठभूमि है।

मतिराम का निम्नलिखित कलात्मक दोहा जो श्लेष के बल पर सर्वशुक्ला सरस्वती के चित्रण का आभास देता हुआ समासोक्ति द्वारा प्रस्तुत शुक्लाभिसारिका सुन्दरी के अभिसार की पृष्ठभूमि के रूप में शारदी विभावरी का चित्रण करता है, द्रष्टव्य है,

ललित मंद कलहंस गति मधुर मंद मुसिक्याति।
चली सारदा विसद-रुचि सरद-चाँदनी राति ॥[4]

विक्रमसाहि की भी एक उक्ति लीजिए—

चटकि-चटकि चहुँदिसि उठे चक्रवाक मिलि जात।
प्रफुलित भए सरोज सर भामिनि भयौ प्रभात ॥[5]

प्रातःकाल का यह वर्णन मानिनी नायिका के प्रति नायक के इस अनुनय का कि 'सारी रात्रि व्यतीत हो गई, अब तो मान का परित्याग कर दो' द्योतक मात्र है।

---

१. विक्रमसतसई २५८-२६०
२. बिहारी ८४
३. रामसहाय ३०६
४. मति० ३४६
५. विक्रम० १०१

इक तो मदन विसिख लगे मुरछि परी सुधि नाँहि ।
दूजे यद वदरा अरी घिरि-घिरि बिस बरसाँहि ॥[1]
भादौं भयकारी लगत पिय बन कारी रैन ।
धाराधर धारो लखै प्यारी मन नहिं चैन ॥[2]

षड्ऋतु-वर्णन

रीतिकालीन सतसईकारों ने षड्ऋतु-वर्णन की पुरानी परिपाटी का भी निर्वाह किया है । ऋतुराज वसन्त के उत्पातों का वर्णन करते हुए बिहारी कहते हैं—

दिसि-दिसि कुसुमित देखिए उपवन-विपिन-समाज ।
मनहुँ वियोगिन को कियो सर-पिंजर ऋतुराज ॥[3]

ऋतुराज जैसे एक निरंकुश राजा है । विक्रमसाहि के शब्दों में—

फौजदार कचनार किय दिय पलास भट साज ।
किय जुवराज रसाल को इहि वसन्त महाराज ॥
मौर धरे सव द्रुमलता अपने-अपने तौर ।
इहि ऋतुराज समाज मैं है रसाल सिर मौर ॥[4]
झरत मंद मकरंद मद गुंजत मंजुल भृंग ।
मनु वसन्त महाराज को मारुत मत्त मतंग ॥[5]

यह वसन्त चक्रवर्ती कामदेव का विश्वासी मनसवदार है जो मानिनी नायिका के मान रूपी दुर्ग को ढहाने के लिये आया है—

सुभट समीर हरोल करि मधुप मतंग समाज ।
आयो ढाहन मान गढ़ मैन हुकुम ऋतुराज ॥[6]

मतिराम के मत में—

जहाँ-तहाँ ऋतुराज मैं फूले किंसुक जाल ।
मानहु मान मतंग कैं अंकुस लोहू-लाल ॥[7]

रामसहाय ने धनुर्धारी वसन्त का पराक्रम देखा है—

वेलि कमान प्रसून सर गहि कमनैत वसन्त ।
मारि-मारि विरहीन के प्रान करै री अन्त ॥[8]
आयो दुरह वसन्त री कंत न आए वीर ।
तन मन बेधत तंत री मदन सुमन के तीर ॥[9]

---

१. रामसतसई ३६५
२. विक्रम २७२
३. विहारी ३६६
४. विक्रम २०१-२०२
६. विक्रम २१२
७. मति० २६
८. राम० २२९
९. ,, १६६

धुरवा होंहि न अलि उठै धुवाँ धरनि चहुँ कोद ।
जारत आवत जगत को पावस प्रथम पयोद ॥[1]

मतिराम की नायिका की विरहाग्नि से तो पावस ऋतु में उसके बाग के वृक्ष झुलस कर ठूंठ गात्र रह जाते हैं—

दसा सुनै निज बाग की लाल मानिहौ झूठ ।
पावस ऋतु हू मैं लखें डाढे ठाड़े ठूठ ॥[2]

विहारी की नायिका का कथन है कि 'वदावदी जिय लेत हैं ये बदरा बदराह' तो रामसहाय की वियोगिनी के काम-बाण-जर्जर हृदय पर ये बादल विष की वर्षा करते हैं—

इक तो मदन विसिख लगे मुरछि परी सुधि नाँहि ।
दूजे बद बदरा अरी घिरि-घिरि विष बरसाँहि ॥[3]

यह ऋतु वियोगियों के लिए जितनी दुःखदायी है संयुक्त प्रेमियों के लिये उतनी ही सुखदायिनी—

चढ़ी अटा छन जटा सी वह लचकीले लंक ।
अंक भरै पिय मोद सौं देखत घटा निसंक ।
उमड़ि घुमड़ि बरसै घटा मोर सोर सरसात ।
धनि दंपति सोवत सुखनि रस मोवत सुख गात ॥[4]

यह मान की अवधि को घटा देती है क्योंकि—

हट्ठ न हटीली करि सकै यह पावस ऋतु पाइ ।
आन गाँठ घुटि जाइ त्यौं मान गाँठि छुटि जाइ ।[5]
वस्तुतः पावस बात न गूढ यह बूढन हू रंग होत ॥[6]

वर्षाऋतु के वर्णन में कुछ स्वाभाविक उक्तियाँ भी मिलती हैं । चकवा-चकवी के मिलन-वियोग की रूढि का आश्रय लेकर भी विहारी का नीचे लिखा दोहा सघन घटाओं के अँधेरे का अच्छा चित्र प्रस्तुत करता है—

पावस निसि अँधियार में रह्यो भेद नहिं आन ।
रात द्यौस जान्यो परै लखि चकवी-चकवान ॥[7]

---

१. विहारी० ५४६
२. मति० ५३
३. रामसहाय० ३५६
४. विक्रम २५३-५४
५. विहारी० ५५१
६. ,, ४०३
७. विहारी ३६०

सुखद सरद ऋतु पाइ कर कुंजित सरनि सरोज।
चलि चलि दृगनि विलोकि यह प्रमुदित उदित मनोज ॥[1]

रामसहाय का वर्णन भी कुछ ऐसा ही है—शरद् के चन्द्रमा को देखकर उनकी विरहिन नायिका की आभा पीली पड़ जाती है और वह सोचने लगती है—

जाहि जोहि भारद भई मरी परी दुखकंद।
ताहि सुधाधर क्यों कहैं दारद सारद चंद ॥[2]

हेमन्त-वर्णन

हेमन्त ऋतु के वर्णन में विहारी के दो दोहे मिलते हैं—

ज्यों ज्यों बढ़त विभावरी त्यौं त्यौं बढ़त अनन्त।
ओक ओक सब लोक सुख कोक-सोक हेमन्त ॥[3]

मिलि विहरत विछुरत मरत दंपति अति रतिलीन।
नूतन विधि हेमन्त सब जगतु जुराफा कीन ॥[4]

हेमन्त की दीर्घरात्रि संयोगी प्रेमियों के लिये वरदान और वियोगियों के लिये अभिशाप है। चकवा-चकवी की वियोगावधि बढ़ जाती है। प्रेमी-युगल का इस ऋतु में वियुक्त होना मरणसदृश है और संयोगी दम्पती की तो पूरी रात क्षणवत् व्यतीत हो जाती है। मतिराम की नायिका के शब्दों में—

सखी सरस सकेलि मैं आपुनयौ सुधि जात।
कंत संग हेमन्त की छिन सी राति सिराति ॥[5]

वसन्त में मिलन-सुख का आश्वासन देकर विदेश-गमन के लिये उद्यत नायक से रामसहाय की नायिका कहती है—

जान कहौ तौ जाइए कुसल रहौ हे कंत।
हौं बाचिहौं हिमंत सौं सुख साचिहौ वसंत ॥[6]

शिशिर-वर्णन

शिशिर में भयङ्कर शीत का आक्रमण होता है और उष्णता उसके भय से कहाँ जाकर छिपती है यह विहारी से सुनिए—

रहि न सकी सब जगत मैं सिसिर सीत कैं त्रास।
गरम भाजि गढवै भई तियकुच-अचल-मवास ॥[7]

---

१. विक्रम २७४
२. राम० ४११
३. विहारी ४१२
४. ,, ४१७
५. मति ३०१
६. राम० ५३
७. विहारी २४२

बारहमासा

हिन्दी साहित्य में प्रकृति के उद्दीपन रूप के अन्तर्गत बारहमासे का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जायसी का बारहमासा तो अत्यन्त ही प्रसिद्ध है। हमारे सतसईकारों ने भी इस पद्धति को किसी अंश तक अपनाया है। बिहारी ने चैत, जेठ, अगहन, पूस, माह आदि महीनों का वर्णन किया है। उदाहरण प्रस्तुत है—

भो यह ऐसो ही समै जहां सुखद दुख देत।
चैत चांद की चांदनी, अग जग कियो अचेत॥[1]
कियौ सबै जग कामबस जीते जिते अजेय।
कुसुमसरहि सर धनुष कर अगहन गहन न देय॥[2]

बारहमासे में प्रायः सभी उक्तियां परम्परागत लकीर पीटने के लिये ही प्रतीत होती हैं। इनसे न तो तत्तत् मासों में होने वाले प्राकृतिक परिवर्तनों का ही कोई आभास मिलता है और न ही उद्दीपन का कोई उत्कृष्ट रूप खड़ा हो पाता है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित दोहे प्रस्तुत हैं—

---

१. बिहारी ३४३
२. राम २३३
३. " २६६
४. विक्रम २८०
५. विक्रम २७६
६. बिहारी ५१८
७. " ४६५

लाल तिहारे विरह में माघ मास की राति।
करि कपूर की कीच सो सखी समीपहि जाति ॥[1] मतिराम
राखै भरि दुपहरि सखी सघन छाँह में गोइ।
सहै घाम को थवार की ज्वार खेत जु न होइ ॥[2] मति०
पी आवन की को कहै सावन मास अँदेस।
पाती हू आती न ती अरु पाती न सँदेस ॥[3] रामसहाय
सीत असह विष चित चढै सुख न मढै परिजंक।
बिन मोहन अगहन हनै बीछू कैसो डंक ॥[4] राम०
मनभावन आवन भवन सुख सरसावन काज।
सावन बरसावन सुखनि समय सुहावन आज ॥[5] विक्रम

संस्कृत कवियों में षड्ऋतु-वर्णन का प्रचलन तो अत्यधिक था किन्तु बारहमासे की परिपाटी नहीं थी जिसका दर्शन प्राकृत साहित्य में भी नहीं होता। फलतः गाथा सप्तशती में भी बारहमासे का वर्णन नहीं है सतसईकारों ने इसका चलता-सा स्पर्श किया है। जायसी के बारहमासे की मार्मिकता का कोई भी अंश इनके फुटकर दोहों में नहीं मिल सकता। उद्धृत दोहों से स्पष्ट है इन कवियों का उद्देश्य विशुद्ध प्रकृति-चित्रण तो था ही नहीं, प्रतिमास परिवर्तित होते हुए प्रकृति के विविध रूपों के प्रति वियोगी हृदय की प्रतिक्रियाओं का भी सटीक चित्रण नहीं मिलता। अतः उद्दीपन के उद्देश्य में भी इनका बारहमासा सफल नहीं कहा जा सकता। विरहाग्नि के ताप की नाप-जोख, शाब्दिक चमत्कार की सृष्टि और सहेट-संकेत आदि की ही सूचना इनसे मिल सकती है।

तुलना और निष्कर्ष

गाथा सप्तशती से बानगी के रूप में गत पृष्ठों में उद्धृत कतिपय गाथाओं से ही यह भली-भाँति स्पष्ट है कि सप्तशती में प्रकृति का जैसा विशद, यथार्थ, सूक्ष्म, संश्लिष्ट, एवं स्वतः सिद्ध वर्णन हुआ है सतसइयों के दोहों में उसका लेशमात्र दृग्गोचर नहीं होता। प्रथम तो सतसईकारों ने प्रकृति-चित्रण ही स्वल्प मात्रा में किया है, प्रकृति की ओर देखने की उन्हें फुर्सत ही कहाँ थी। ले-देकर जो थोड़े-बहुत दोहे इस विषय पर कहे गये हैं उनमें बिहारी के एक-आध दोहे को छोड़कर आलम्बन रूप में प्रकृति-चित्रण कहीं नहीं मिलता। इतना ही नहीं उद्दीपन का भी वे घटिया रूप ही सामने लाते हैं क्योंकि सतसईकारों को ताप की नाप-जोख और चमत्कार के

---

१. मति० ८
२. " ३२८
३. राम० ८४
४. राम० १९०
५. विक्रम ३६५

भावाभिव्यञ्जन और अनुभावविधान

*   *

गाथा सप्तशती एक ध्वनिप्रधान काव्य है। यों तो ध्वनि के असंख्य भेद होते हैं किन्तु मोटे तौर पर वह दो प्रकार की होती है। एक तो वह जिसमें अभिधेय, लक्ष्य एवं व्यंग्य अर्थों में पौर्वापर्य सम्बन्ध स्पष्ट लक्षित किया जा सकता है और दूसरा वह जिसमें वाच्य एवं व्यंग्य का उपर्युक्त क्रम लक्षित नहीं होता। रस, भाव, रसाभास, भावशान्ति आदि ध्वनि के दूसरे प्रकार के अन्तर्गत हैं किन्तु स्थूल रूप से ध्वनि के इन सभी भेदों को रस या भाव नाम से अभिहित किया जाता है। अर्थात् रस, भाव, भावशान्ति आदि में शास्त्रीय दृष्टि से विभेद होते हुए भी व्यवहार में उन्हें भाव या रस ही कहा जाता है 'भावों का स्थान मानव मन है' उसके अतिरिक्त अन्यत्र भावों की स्थिति असम्भव है। अतः जब हम भावों को किसी कविता में निहित मानते हैं या यह कहते हैं कि अमुक कविता अमुक भाव की है तो हमारा मतलब होता है कि उस कविता के प्रभाव से किसी सहृदय व्यक्ति के हृदय में उस भाव विशेष का उद्बोध होता है।

रस व्यञ्जना के लिए रस के सभी अवयवों—स्थायी भाव, विभाव (आलम्बन तथा उद्दीपन) सञ्चारी भाव तथा अनुभावों—की योजना अपरिहार्य नहीं कही जा सकती क्योंकि जिन अवयवों का उल्लेख रचना में नहीं भी होता उनका आक्षेप कर लिया जाता है। कुछ रस तो ऐसे होते हैं कि आलम्बन के यथार्थ वर्णन से ही उनकी अभिव्यक्ति हो जाती है जैसे हास्य रस। इसी प्रकार श्रृङ्गार में भी यदि आलम्बन विभाव का स्वाभाविक संश्लिष्ट वर्णन कर दिया जाय तो भी रसानुभूति सम्भव है। रूप-वर्णन अथवा नख-शिख-वर्णन की परम्परा इसी तथ्य पर आधारित है। यह बात दूसरी है कि कालान्तर में यह परम्परा रूढि-ग्रस्त हो जाने के कारण उतनी कारगर न रही। सहृदय की मनोवृत्ति किसी संचारी विशेष में भी रम सकती है, ध्वनिवादी ऐसे स्थल में भाव ध्वनि मानते हैं और रसवादियों की दृष्टि में वहाँ भी रसानुभूति ही होती है, अन्तर केवल कोटि का रहता है। गाथा सप्तशती ध्वनि-प्रधान काव्य है और उसमें वस्तुध्वनि के साथ-साथ भावध्वनि भी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होती है। सञ्चारियों के कतिपय बिलकुल साफ उदाहरण लीजिए—

लज्जा

णिहुअणसिप्पं तह सारिआइ उल्लाविअं मह गुरुपुरओ।
जह तं वेलं माए ण आणिमो कत्थ वच्चामो ॥६।८९

हाय मैया ! सारिका ने गुरुजन के समक्ष हमारी कामकला को (जैसा देखा सुना था) ऐसा दुहराया कि उस क्षण लगता था कि न मालूम कहाँ चली जाऊँ !

यह कहकर आक्षेप अलङ्कार द्वारा नायक के प्रति रोष को और भी पुष्ट किया गया है। नायक की प्रेमिकाओं के प्रति ईर्ष्या का भाव भी इससे पुष्ट होता है।

श्रम

सिहिपिच्छलुलिअकेसे वेवन्तोरु विणिमीलिअद्धच्छि।
दरपुरुसाइरि विसुमरि जाणसु पुरिसाणें जं दुःखम् ॥१/५२॥

तनिक सी देर के लिये ही पुरुषायित (विपरीत रति) करने पर तुम्हारा मयूरपिच्छ जैसा केशपाश शिथिल हो गया, जङ्घाएँ काँपने लगीं, आँखें अर्धमुदित अवस्था में हैं। सोचो और अनुमान करो, भला पुरुषों को कितना कष्ट उठाना पड़ता होगा?

दैन्य

हत्थेसु अ पाएसु अअङ्गुलिगणणाइ अइगआ दिअहा।
एह्लि उण केण गणिज्जउ त्ति भणिऊ रुअइ मुद्धा ॥ ४|७ ॥

अब तक हाथ-पैरों की उँगलियों पर गिनगिन कर दिन बिताए परन्तु अब (जब गिनती उँगलियों की सम्मिलित संख्या से भी ऊँची पहुँची तो) यह कह कर मुग्धा प्रोपितपतिका रो पड़ी कि अब किससे गिनती करूँ?

चिन्ता

पेच्छइ अलद्धलक्खं दीहं णीससइ सुण्णअं हसइ।
जह जम्पइ अफुडत्यं तह से हिअअट्ठिअं किं पि ॥३|९६॥

बिना लक्ष्य के देखती है, दीर्घ आह भरती है, सूने में हँसती और अस्फुट बातें (आप ही आप) कहती है। ज्ञात होता है इसके हृदय में कुछ है।

लक्ष्य बिना देखना तथा दीर्घ श्वास लेना चिन्ता के अनुभाव हैं। सूने में हँसने और आप ही आप बात करने से प्रिय का स्मरण कर उसके साथ बात करना प्रतीत होता है। अतः इस गाथा में चिन्ता और स्मृति दोनों की गङ्गाजमुनी छाया है।

मोह

सेउल्लिअसव्वङ्गी गोत्तग्गहणेण तस्स सुहअस्स।
दूइं पट्ठाएन्ती तस्सेअ घरङ्गणं पत्ता ॥ ५|५० ॥

हे चिरकारक तुम्हारे विरह में उसके बहते हुए अश्रुओं से मलिन मुख ने सूर्य के रथ की ध्वजा के समान छाया (कान्ति) प्राप्त ही नहीं की।

अमर्ष

णिक्किव जाआभीरुअ दुद्दंसण णिम्बईडसारिच्छ।
गामो गामणिणन्दण तुज्झ कए तह वि तणुआए॥ १|३०॥

निष्ठुर! पत्नी-भीरु! दुर्दर्शन! नीम के कीड़े! ग्रामणी-नन्दन! सारा गाँव तुम्हारे कारण दुर्बल होता जा रहा है।

पत्नी-भीरु ग्रामणी-नन्दन का प्रेम पाने में असमर्थ अनुरक्ता परकीया का उसके प्रति अमर्ष उक्त शब्दों से स्पष्ट है।

अवहित्थ

पाअडिअणेहसब्भावणिब्भरं तह जह तुमं दिट्ठो।
संवरणवावडाए अण्णो वि जणो तह च्चेअ॥ २|९९॥

स्नेह और सद्भाव से पूर्ण जिस दृष्टि से उसने तुम्हें देखा भावगोपन के उद्देश्य से अन्य लोगों को भी उसी दृष्टि से देखा।

मति

दिट्ठा चूआ अग्घाइआ सुरा दक्खिणाणिलो सहिओ।
कज्जाइं च्चिअ गरुआइं मामि को वल्लहो कस्स॥ १|९७

आमों को बौरते हुए देखा, शराब की गन्ध भी ली, दक्षिण वायु को भी सह लिया (फिर भी नहीं लौटे) मामी! लोग तो कार्य को ही महत्त्व देते हैं। प्यारा कौन किसे है?

व्याधि

सुप्पउ तइओ वि गओ जामोत्ति सहिओ कीस मं भणह।
सेहालिआणं गन्धो ण देइ सोत्तुं सुअह तुह्मे॥ ४|१२॥

'सो जाओ, रात का तीसरा पहर भी गया' सखि! मुझसे ऐसा क्यों कहती हो? (मैं क्या करूँ?) शेफालिका की सुगन्ध सोने ही नहीं देती।

अनिन्द्रा रूप व्याधि स्पष्ट व्यञ्जित है।

उन्माद

अवलम्बह मा सङ्कह ण इमा गहलङ्घिआ परिब्भमइ।
अत्थक्क-गज्जिउब्भन्तहित्थहिअआ-पहिअजाआ॥ ४|८६॥

पकड़ लो, शङ्का न करो, इसे भूत नहीं चढ़ा है। यह अचानक ही बादल के गर्ज उठने से त्रस्त प्रोषितपतिका है।

वितर्क

जइ सो ण वल्लहो च्चिअ गोत्तग्गहणेण तस्य सहि कीस।
होइ मुहं ते रविअरफंसव्विसदं व तामरसम् ॥ ४/४३ ॥

यदि वह तुम्हारा प्रिय नहीं है तो सखि ! उसका नाम लेते ही तुम्हारा मुख सूर्य की किरणों के स्पर्श से विकसित लाल कमल के सदृश क्यों हो गया ?

मरण

ता रुण्णं जा रुव्वइ ता छीणं जाव छिज्जए अङ्गं।
ता णीससिअं वराइअ जाव अ सासा पहुप्पन्ति ॥ २/४१ ॥

तुम्हारे विरह में वह तब तक रोई जब तक रोया गया, तब तक क्षीण होती रही जब तक हुआ गया और बेचारी तब तक उसाँसें भर रही है जब तक प्राण साथ दे रहे हैं।

संचारी भावों के अन्तर्गत कुछ तो हृदय की वृत्तियाँ हैं और कुछ शारीरिक धर्म। आलस्य, निद्रा, श्रम आदि शारीरिक धर्म हैं। अतः उन्हें भाव नहीं कहा जाना चाहिए क्योंकि भाव निर्विकारात्मक चित्त में हुए प्रथम विकार को कहते हैं। इसीलिये भाव का ही दूसरा नाम मनोविकार भी है। फिर भी औपचारिक दृष्टि से काव्यशास्त्रियों ने इन शारीरिक धर्मों की गणना सञ्चारी भावों में की है क्योंकि चिन्ता त्रास आदि की भाँति ही रसानुभूति में ये भी सहायक होते हैं। किन्तु महत्त्व की दृष्टि से इन दोनों में एक मौलिक अन्तर है। हृदय की वृत्तियाँ तो स्वतन्त्र रूप में व्यञ्जित होकर भी अनुभूति उत्पन्न कर सकती हैं किन्तु शारीरिक व्यापार स्वतन्त्र रूप से आने पर किसी प्रकार की अनुभूति का उद्बोधन नहीं करते।

कभी-कभी हृदय में एक भाव के उठते-उठते दूसरा भाव और उत्पन्न हो जाता है। कभी एक भाव की शान्ति में और कभी उदय में चमत्कार की प्रतीति होती है तो कभी अनेक भाव एकत्र रहकर विचित्रता का समावेश करते हैं। इस प्रकार काव्यशास्त्रियों ने भाव की चार अवस्थाएँ आस्वादन में हेतु मानी हैं—

भावसन्धि, भावोदय, भावशान्ति और भाव-शबलता।

भाव-सन्धि

भाव सन्धि की अवस्था वह नहीं है कि जब दो भाव मिलकर समवेत रूप से आस्वाद्य बनें। क्योंकि एक ही स्थान में एकाधिक सञ्चारी तो प्रायः हुआ ही करते हैं। भावसन्धि की स्थिति वहाँ मानी जाती है जहाँ विरोधी भावों का एक साथ वर्णन हो और वे समवेत प्रभाव उत्पन्न न कर पृथक्-पृथक् आस्वाद के कारण हों।

भावसन्धिगत दो भावों की स्थिति किसी एक ही विभाव के प्रति भी हो सकती है और एकाधिक विभावों के प्रति भी :

एक्को पह्लुअइ थणो बीओ पुलएइ णहमुहालिहिओ ।
पुत्तस्स पिअअमस्स अ मज्झणिसण्णाएँ घरणीए ॥५|६॥

पुत्र और प्रियतम के मध्य बैठी हुई गृहिणी का एक स्तन दूध से भर आया और दूसरा नख चिह्न से सुशोभित होकर पुलकित हो रहा है ।

यहाँ पुत्र के प्रति वात्सल्य तथा प्रिय के प्रति रतिभाव की व्यञ्जना हुई है ।

भावोदय तथा भावशान्ति

भावोदय और भावशान्ति वास्तव में एक ही स्थल पर होते हैं । कारण विशेष से किसी भाव के शान्त होने पर जब अन्य विरुद्ध भाव का उदय होता है तब भावोदय की स्थिति होती है और किसी भाव के उदय होने से यदि उसके पूर्ववर्ती किसी भाव की शान्ति होती है तो वहाँ भावशान्ति मानी जाती है । इस प्रकार स्थूल दृष्टि से दोनों में कोई अन्तर प्रतीत नहीं होता किन्तु तनिक ध्यान से देखने पर दोनों का मौलिक अन्तर साफ नजर आ जाता है । जहाँ भाव के उदय में अधिक चमत्कार हो वहाँ भावोदय और जहाँ शान्ति में उत्कर्ष हो वहाँ भावशान्ति की स्थिति होती है ।

भावोदय

पाअपडिअस्स अ पइणो पुट्ठिं पुत्ते समारुहन्तम्मि ।
दढमण्णदुण्णिआएँ वि हासो घरिणीएँ णेक्कन्तो ॥१|११॥

मानापनयन के लिए चरणों में पड़े पति की पीठ पर पुत्र के चढ़ते ही कठोर मानिनी की हँसी एक दम फूट पड़ी ।

यहाँ कोप की शान्ति और ह्रास का उदय है किन्तु चमत्कार शान्ति में नहीं, उदय में ही है । अतः भावोदय ही माना जायगा ।

भावशान्ति

एक्कं पहरुव्विण्णं हत्थं मुहमारुएण वीअन्तो ।
सो वि हसन्तीएँ मए गहिओ बीएण कण्ठम्मि ॥१|८६॥

प्रहार से उद्विग्न मेरे एक हाथ का वह फूंक मार कर उपचार करने लगा तो मैंने भी हँसते हुए दूसरा हाथ उसके गले में डाल दिया ।

यहाँ नायक के प्रति नायिका के अमर्ष की शान्ति तथा उत्कण्ठा का उदय है किन्तु अमर्ष की शान्ति पर विशेष बल दिया गया है और उसी के अधिक आकर्षक होने के कारण भावशान्ति मानना उचित है ।

स्तम्भ सात्त्विक का एक उदाहरण लीजिये—

भिच्छाअरो पेच्छइ णाहिमण्डलं सावि तस्स मुहअन्दम्।
तं चडुअं अ करङ्कं दोह वि काआ विलुम्पन्ति ॥२|६२॥

भिक्षुक उसके नाभिमण्डल को देखता रह गया तथा वह भिक्षुक के मुखचन्द्र को देखती रही और नायिका की चुकटी एवं भिक्षुक के भिक्षापात्र को कौओं ने खाली कर दिया।

इसी प्रकार अश्रु, रोमाञ्च (६|७३) कम्प (२|६५) वैवर्ण्य (२|८०) स्वेद (४|१२) और स्वरभेद (४|२४) आदि सात्त्विकों का भी अनुभावों के रूप में अनेकत्र सुन्दर चित्रण किया गया है।

आहार्य अनुभावों के अन्तर्गत मानिनी के रोष को व्यक्त करने वाले इन अनुभावों का मुलाहिज़ा कीजिए जो नायिका के रोष की अभिव्यक्ति के साथ-साथ उसके सौन्दर्य की वृद्धि भी करते हैं और नायक को प्रवास-काल में मन बहलाव के लिए एक यादगार भी दे देते हैं—

आअम्वन्तकवोलं खलिअक्खरजम्पिरिं फुरन्तोट्ठिम्।
मा छिवसु त्ति सरोसं समोसरन्तिं पिअं भरिमो ॥२|६२॥

तमतमाते गाल, फड़कते ओठ और अवरुद्ध कण्ठ से यह कहकर कि 'मुझे मत छूना' दूर हटती हुई प्रियतमा की स्मृति आ ही जाती है।

पूर्वानुरागिणी नायिका की चेष्टाएँ देखिए—

पेच्छइ अलद्धलक्खं दीहं णीससइ सुण्णअं हसइ।
जह जम्पइ अफुडत्थं तह से हिअअट्ठिअं किं पि ॥३|९६॥

बिना लक्ष्य के देखती है, आहें भरती है, अकारण हँसती है और अस्पष्ट बड़बड़ाती रहती है। जान पड़ता है इसके मन में कुछ है। इसी प्रकार २|४८, ४|५६, ५|५६ और ७|३९ आदि गाथाओं में अनुभावों का चित्रण किया गया है।

गाथा सप्तशती के अनुभाव-विधान पर दृष्टि डालते ही एक बात स्पष्ट हो जाती है। वह यह कि जिस प्रकार नवीन-नवीन प्रसङ्गों की उद्भावना में गाथाकारों ने कल्पना की उर्वरता का परिचय दिया है उस प्रकार अनुभावों के विधान में नहीं। उनके अनुभाव प्रायः सीमित और परम्पराभुक्त हैं, विशेष रूप से आहार्य अनुभाव। प्रतीत होता है कि इसको लक्ष्य न मानकर इन कवियों ने समग्र रूप से ध्वनि को लक्ष्य माना है। अतः अनुभावों को द्वितीय श्रेणी की वस्तु समझ कर विशेष महत्त्व नहीं दिया।

प्रसङ्ग-विधान

अर्थगाम्भीर्य और ध्वनि मुक्तक की प्रकृति है। उसे समझने के लिये प्रसङ्ग या प्रवृत्त का अध्याहार करना पड़ता है। यद्यपि इस प्रसङ्ग तक पहुँचने का मार्ग

पाठक या श्रोता का है। उसका मानसिक एवं बौद्धिक विकास जितना अधिक होगा, लौकिक अनुभव जितना अधिक व्यापक होगा उतनी ही अधिक सफलता के साथ वह प्रसङ्ग का उन्नयन करने में तत्पर होगा; तथापि कवि को भी प्रसङ्ग का संकेत तो करना पड़ता ही है। यह संकेत इतना स्पष्ट होना चाहिए कि सहृदय पाठक सीधा लक्ष्य तक पहुँच जाये। वह यदि बीच में ही भटक गया तो मुक्तककार को भी अपने लक्ष्य से गिरा हुआ समझिए। साथ ही यह भी एक स्वतःसिद्ध तथ्य है कि वही कवि सफल कलाकार होता है जो अधिकाधिक सामाजिकों का हृदयानुरञ्जन कर सके। अतः सफल मुक्तककार के लिये यह भी आवश्यक है कि घटनाओं का चयन सामान्य जीवन से करे। उन भावनाओं, परिस्थितियों, अनुभवों और समस्याओं का चित्रण करे जो व्यापक जनसमूह से सम्बन्ध रखती हों, शाश्वत और सार्वभौम हों, तथा जीवन से उनका दैनन्दिन सम्पर्क हो। किसी संकुचित वर्ग की समस्याओं, विद्वत्ता-अपेक्षक शास्त्रीय गुत्थियों या अप्रचलित पौराणिक कथाओं से नत्थी कर प्रसङ्ग को बौद्धिक व्यायाम का अखाड़ा नहीं बना देना चाहिए। प्रसङ्ग एक प्रकार का अवगुंठन है जिसमें से मुक्तक की कला अपने पूर्ण सौन्दर्य के साथ झाँका करती है। यह अवगुण्ठन जितना पारदर्शी होगा उतना ही सौन्दर्यानुभूति में सहायक होगा। प्रसङ्गों का चुनाव जितना मार्मिक होगा रसोद्बोध उतना ही गम्भीर होगा। नूतन प्रसङ्ग ताजगी और रमणीयता का समावेश करते हैं और परम्पराभुक्त बासीपन का।

गाथा सप्तशती में प्राचीन और नवीन का, शिष्ट और मुग्ध का, शास्त्र और लोक का अद्भुत सामञ्जस्य है। नायिका-भेद के प्रभाव की चर्चा हम अन्यत्र कर चुके हैं। काम-शास्त्रीय प्रभाव का उल्लेख भी हो चुका है। कवि-सिद्ध रूढ़ियों का निर्वाह भी एक हद तक किया गया है। शास्त्र एवं रूढ़ि पर आधारित प्रसङ्गों में से बहुत से साधारण पाठकों की समझ में नहीं आ सकते। उदाहरण लीजिए—

वाउद्धअसिचअविहाविओरुदिट्ठेण दन्तमग्गेण।
वहुमाआ तोसिज्जइ णिहाणकलसस्स व मुहेण ॥६/७॥

वायु द्वारा वस्त्र के हट जाने से लक्षित जङ्घा पर दन्त-चिह्न देखकर वधू की माता ऐसी प्रसन्न हुई मानो उसे गड़े हुए धन का घड़ा दीख पड़ा हो।

जङ्घाओं पर नख और दन्तचिह्न काम-शास्त्रानुमत हैं। जामाता के काम-कला-कोविद तथा नववधू के प्रति पूर्ण आसक्त होने के कारण ही उसे प्रसन्नता हुई। काम-शास्त्र की उक्त मान्यता को न जानने वाला व्यक्ति इस गाथा को नहीं समझ सकता।

णोहलिअमप्पणो किं ण मग्गसे मग्गसे कुरवअस्स।
एअं तुह सुहअ हसइ वलिआणणपङ्कअं जाआ ॥१।६॥

'कुरवक का दोहद चाहते हो अपना क्यों नहीं'? यह विचार कर तुम्हारी पत्नी अपने मुख कमल को फेर कर हँसती है।

'कुरवक का वृक्ष युवति के आलिङ्गन से विकसित होता है'—यह एक कवि-समय है। वृक्ष या लता फूले फले, इस उद्देश्य से जो क्रिया की जाती है वह दोहद

चरणों में पड़े हुए पति की पीठ पर पुत्र सवार हो गया तो दारुण रोष से उद्विग्न होते हुए भी गृहिणी के मुख से हँसी फूट पड़ी।

इस प्रसङ्ग का पूरा ढाँचा दो पुराने ढाँचे जोड़ कर बनाया गया है जिनमें एक काव्य-शास्त्र से और दूसरा कामशास्त्र से संबद्ध है। दारुण मान की अवस्था में नायक नायिका के चरणों में गिरता है, यह मानापनयन का अन्तिम और कारगर समझा जाने वाला अस्त्र है। कामशास्त्र में सुरतबन्धों में धेनुकबंध और तुरगाधिरूढ बन्ध आये हैं।[1] इन्हीं बन्धों की याद आ जाने से नायिका को हँसी आ गई और रोष उसमें विलीन हो गया। इन दो शास्त्रीय रूढियों के ताने-बाने से एक ऐसा प्रसङ्ग-पट प्रस्तुत हुआ जिसमें मौलिक सूझ के स्पष्ट दर्शन होते हैं। हाँ इसका आनन्द वही उठा सकता है जो टैक्निकल अर्थ में 'सहृदय' हो।

एक अन्य गाथा लीजिए—

अज्ज मए गन्तव्वं घणन्धआरे वि तस्स सुहअस्स।
अज्जा णिमीलिअच्छी पअपरिवाडिं घरे कुणइ ॥३,४६

आज घोर अन्धकार में मुझे उस सुभग के पास जाना है यह सोचकर आर्या घर में आँखें बन्द करके चलने का अभ्यास कर रही है।

नायिकाभेद की दृष्टि से यह नायिका कृष्णाभिसारिका प्रतीत होती है, पर वास्तव में उसे भविष्यत्कृष्णाभिसारिका कहना चाहिए। दिन में आँखें बन्द करके चलने के अभ्यास में अतिशयोक्ति चाहे हो पर नायिका की तलाबेली की व्यञ्जना पूर्णतया हो जाती है। इसे समझने के लिये कुछ अभ्यास भी नहीं करना पड़ता।

परन्तु गाथासप्तशती की आत्मा का दर्शन तो उन सैंकड़ों गाथाओं में होता है जिनमें जीवन की दैनन्दिन अनुभूतियों का स्वाभाविक चित्रण प्रकृति की सुरम्य चित्रपटी पर हुआ है। ऐसे प्रसङ्गों के पारावार के उस पार जाने के लिये न तो शास्त्रीय नौका की आवश्यकता है और न रूढि के पतवारों की। सोचने की जरूरत नहीं, डूबिए और तिर जाइए। कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

रन्धणकम्मणिउणिए मा जूरसु रत्तपाडलसुअन्धम्।
मुहमारुअं पिअन्तो धूमाइ सिही ण पज्जलइ ॥१/१४

राँधने के कार्य में निपुण! नाराज न हो, (अग्नि नहीं जलता इसमें उस बेचारे का दोष नहीं) तुम्हारे लाल गुलाब सी सुगन्ध वाले मुख की वायु पीकर (वह शीतल हो जाता है) जलता नहीं।

पति के ऐसे रसभरे परिहास सहस्रों भारतीय घरों में गृहिणी को प्रेरणा देते रहते हैं।

देवर की करतूतों सेपीडित कुलवधू का यह असमञ्जस भी कितने ही घरों में देखा जा सकता है—

असरिसचित्ते दिअरे सुद्धमणा पिअअमे विसमसीले।
ण कहइ कुडुम्बविहडणभएण तणुआअए सोह्णा ॥१/५६॥

१. देखिये कामसूत्र २/६/३७-३९

देवर के मन में पाप है और पति स्वभाव से उग्र है। शुद्धमना कुलवधू कुटुम्ब के बारह-बाट होने के भय से कुछ नहीं कहती, पर दिन-दिन क्षीण होती जाती है।

सास-बहू का संबन्ध समाज में एक बहुचर्चित विषय है, पर साहित्य में इसका समावेश बहुत ही कम हुआ है। सास लाख गुस्से वाली हो पर उसके पैर पड़ते हुए वियोगिनी पुत्र-वधू के कंगन (दुर्बल हो जाने के कारण) हाथ से निकल कर नीचे गिर पड़ें तो सास का पत्थर दिल भी क्या रो न देगा ?

अइकोवणा वि सासू रुआविआ गअवईअ सोह्लाए।
पाअपडणोण्णआए दोसु वि गलिएसु वलएसु ॥१|६३॥

सास बहू दोनों ही मनचली हों तो यह नोक-झोंक भी देखी जा सकती है—

अइदीहराइँ बहुए सीसे दीसन्ति वंसवत्ताइं।
भणिए भणामि अत्ता तुम्हाणं वि पण्डुरा पुट्ठी ॥७|७४॥

सास—'बहू ! तुम्हारे सिर पर बाँस की लम्बी-लम्बी पत्तियाँ लगी दीख पड़ती हैं'।

बहू—'सास ! आपने कह ही दिया तो कहना पड़ रहा है कि तुम्हारी पीठ भी धूल से धूसरित हो रही है'।

पीस कर उठी हुई ग्रामीण बाला क्षीरसागर में निकली हुई लक्ष्मी सी लगती है। पथिक उसके सौन्दर्य को निहारते रह जाते हैं।

हजामत बनाने के लिये आये नाई से डर कर भागते हुए बच्चे को पकड़ने का प्रयत्न करती हुई ग्रामीण गृहिणी किसी भी गाँव की गली में इस रूप में आज भी मिल सकती है—

धावइ विअलिअधम्मिल्लसिचअसंजमणकरग्गा।
चन्दिलभअविवलाअन्तडिम्भपरिमग्गिणी घरिणी ॥ ३|६१ ॥

अस्त-व्यस्त केशों और खिसकते हुए वस्त्र को हाथों से सम्हालती हुई गृहिणी नाई के भय से भागते हुए बच्चे को पकड़ने के लिये भाग रही है।

खेत पर भोजन लेकर आई हुई सुन्दरी को देखकर हलवाहे युवक का यह विभ्रम अपनी व्याख्या के लिये किसी शास्त्र की अपेक्षा नहीं रखता—

णवकमिएण हअपामरेण दट्ठूण पाउहारीओ।
मोत्तव्वे जोत्तअपग्गहम्मि अवहासिणी मुक्का ॥ १|६२ ॥

नौसिखिया हलवाहे ने भात लेकर आई हुई सुन्दरी को देखकर जोत और पगहा न खोल कर बैलों की नाथ खोल दी।

इस कृषक-पत्नी का वर्षा ऋतु को कोसना उपयुक्त ही तो है—

चिचिखल्लखुत्तहलमुहकड्ढणसिढिले पइम्मि पासुत्ते।
अप्पत्तमोहणसुहा घणसमअं पामरी सवइ ॥ ४।२४ ॥

किसान की पत्नी गीली भूमि में हल चलाने के कारण थके हुए पति के सो जाने पर समागम का सुख न पाकर वर्षा ऋतु को कोसती है।

गाँव के किसी पनघट पर या किसी गाँव के गोरे (समीप) प्याऊ पर जल के साथ रूप के भी पीने-पिलाने का वह दृश्य आज भी दुर्लभ नहीं है—

उद्धच्छो पिअइ जलं जह जह विरलंगुली पहिओ।
पावालिआ वि तह तह धारं तणुअं पि तणुएइ ॥ २।६१ ॥

ऊपर को आँखें उठाकर पथिक जैसे-जैसे अंजलि की उंगलियों को खोलता हुआ जल पीता है, पिलाने वाली भी वैसे ही धार को पतली करती जाती है।

खेत-खलिहानों से गुजरते हुए घने जंगल में पहुँच कर खानाबदोशों में भी ऐसे दृश्य देखने को मिलते हैं—

महुमच्छिआइ दट्ठं दट्ठूण मुहं पिअस्स सूणोट्ठम्।
ईसालुई पुलिन्दी रुक्खच्छायं गआ अण्णम् ॥ ७।३४ ॥

मधुमक्खी के काटे से सूजे हुए प्रिय के अधर को देखकर भीलनी ईर्ष्यावश उठकर दूसरे पेड़ की छाया में चली गई।

कोमल किन्तु अटूट प्रेमसूत्र में बँधे हुए ये पशु—

भमइ पलित्तइ जूरइ उप्पिखविउं से करं पसारेइ।
करिणो पङ्कखुत्तस्स णेहणिअलाइआ करिणी ॥ ५।५४ ॥

प्रेम-पाश में बँधी हथिनी दलदल में फँसे हाथी के चारों ओर घूमती है, खिन्न होती है और उसे निकालने के लिये सूंड बढ़ाती है।

भारतीय ढंग की सुसराल में पत्नी से मुलाकात कठिनाई से ही होती है। लुकछिप कर रात-बेरात परकीया की भाँति ही मिलन संभव है। ऐसी स्थिति में बेचारा चिर-वियुक्त जामाता अपनी पत्नी के आभूषणों की रुनझुन सुनकर हृदय में जिस झनझनाहट की अनुभूति करता है उसका भी उल्लेख गाथा सप्तशती में मिलता है—

अवरह्लागअजामाउअस्स विउणेइ मोहणुक्कण्ठम्।
वहुआइ घरपलोहरमज्जणपिसुणो वलअसद्दो ॥ ७।७३ ॥

घर के पिछले भाग में स्नान करती हुई वधू के वलयों का शब्द अपराह्न में आये हुए जामाता की सुरत-उत्कण्ठा को तीव्र करता है।

'कुरती' निकालती हुई नायिका के मुख-चन्द्र का दर्शन गाथाकार इस प्रकार कराता है—

जइ कोतिओ सि सुन्दर सअलतिहीचंददंसणसुहाणम्।
ता मसिणं मोइज्जन्तकञ्चुअं पेक्खसु मुहं से ॥ ७।७२ ॥

अयि सुन्दर ! यदि सभी तिथियों के चन्द्रमा के एक साथ दर्शन करने का आनन्द प्राप्त करना चाहो तो कञ्चुक उतारते समय क्रम से कञ्चुक के आवरण से निकलते हुए उस सुन्दरी के मुख का दर्शन करो।

कुरती को निकालने में वह एक बार मुख को पूरा ढक लेती है और फिर धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों कुरती ऊपर उठती जाती है मुख का भाग चिबुक से प्रारम्भ होकर अधिकाधिक दिखाई देता चला जाता है, जैसे चन्द्रमा प्रतिदिन एक-एक कला बढ़ता चला जाता है। इस प्रकार नायिका का मुख प्रतिदिन क्रम से प्रतिपदा से लेकर पूर्णिमा तक बढ़ते हुए चन्द्रमा के समान प्रतीत होता हुआ मानो सभी तिथियों के चन्द्रमा को एक ही समय में दिखाने का अद्भुत कार्य करता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि अपनी कल्पना के बल पर कवि ने जैसा गतिशील चित्र प्रस्तुत किया है, वैसा कम ही देखने को मिलता है।

गाथा सप्तशती की विशाल चित्रपटी से जहाँ-तहाँ से उठाये हुए ये कतिपय नमूने हैं जो चिरपरिचित होते हुए भी कितने रमणीय हैं। सामान्य जीवन से चुने हुए इन प्रसङ्गों में हमें अपनी भावनाओं के स्पष्ट प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ते हैं, काव्य कला के इन निरलङ्कार उदाहरणों की सहज स्वाभाविकता में अद्भुत आकर्षण है और शाश्वत सत्य के उद्घाटक इन दृश्यों में ही गाथा सप्तशती की आत्मा बसती है।

गाथा सप्तशती का कला-पक्ष

* *

शैली और भाषा

गाथा सप्तशती मुक्तकों का संग्रह ग्रन्थ है। मुक्तककार को अपने भावों की अभिव्यक्ति के लिये प्रबन्धकार की सी स्वतन्त्रता नहीं होती। उसके लिये कहने-सुनने का अवसर कम ही होता है क्योंकि रस की पूरी सामग्री, भावों का पूरा चक्र, वस्तु का अशेष बखान, सब कुछ उसे एक ही छन्द में भर देना होता है। यदि छन्द भी छोटा सा ही हो जिसकी मुट्ठी चूहे की मुट्ठी के समान तनिक से ही पदार्थ से भर जाय, तब तो कठिनाई और भी अधिक बढ़ जाती है। अतः मुक्तककार को बहुत-कुछ सोच-समझ कर चलना पड़ता है। वह थोड़ा-बहुत शब्दों से और बहुत-कुछ संकेतों (व्यञ्जना) से कहता है, तिस पर भी अभीष्ट पूरा नहीं होता तो बचा-खुचा श्रोता या पाठक की प्रतिभा के ऊपर छोड़कर अपने कवि-कर्म का निर्वाह करता है। यही कारण है कि गाथा जैसे लघु-कलेवर छन्द में मानव के चिरन्तन भावों को बाँध रखने की सम्भावना ध्वन्यात्मक शैली के माध्यम से ही साकार की जा सकती थी। अतएव गाथा सप्तशती का आद्योपान्त ध्वनि-काव्य होना स्वाभाविक ही है। वस्तु, रस और भाव ध्वनि के सैकड़ों उदाहरण इस अमर कृति में भरे पड़े हैं जिनकी उत्कृष्टता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि संस्कृत के धुरन्धर काव्य-शास्त्रियों ने बहुत से उदाहरण संस्कृत की रचनाओं से न लेकर गाथा सप्तशती से ही प्रस्तुत किये हैं।

अलङ्कार-योजना अथवा शब्दाडम्बर के लिये भाव या ध्वनि की निर्मम हत्या करना गाथा सप्तशती के यशस्वी कवियों को अभीष्ट नहीं था। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि उन्होंने अलङ्कारों का प्रयोग किया ही नहीं है। अनेक गाथाओं में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, विरोध, आक्षेप आदि अलङ्कारों का सुन्दर समावेश हुआ है लेकिन ध्वनि या भाव को गौण नहीं बनाया गया है। हाँ, बहुत कुछ खोजने पर कोई ऐसी गाथा भी मिल सकती है जिसे शब्द चित्र के उदाहरण स्वरूप रखा जा सके या जो ऊहा से ओत-प्रोत हो। उक्ति-वक्रता अनेक स्थलों पर मिल जाती है। इस प्रकार स्थूल रूप से हम गाथा सप्तशती में तीन प्रकार की शैली का अनुगमन देखते हैं—व्यञ्जना-प्रधान अलंकृत शैली, व्यञ्जना-प्रधान सहज अनलंकृत शैली और वक्र-कथन शैली। कल्पना-प्रधान ऊहात्मक शैली में एक-आध उक्ति ही मिलती है।

व्यञ्जना-प्रधान अलंकृत शैली

यद्यपि प्रथम शतक की तीसरी गाथा में हाल ने कहा है कि एक कोटि सालंकार गाथाओं में से सात सौ गाथाओं का संग्रह किया गया है (यहाँ सालंकार

विशेषण से इन गाथाओं के अलंकार-प्रधान होने का भ्रम हो सकता है) तथापि परोक्ष रूप से काव्य का आदर्श इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

परिमलणसुहा गुरुआ अलद्धविवरा सलक्खणाहरणा ।
थणआ कव्वालाव व्व कस्स हिअए ण लग्गन्ति ॥[1]

पुनः पुनः विचारने में सुखकर, अर्थ गौरव से पूर्ण, दोष-रहित, लक्षणों एवं अलंकारों से युक्त काव्य-आलाप के समान परिमर्दन में सुखकर, पीन, निविड, सुलक्षण एवं हार आदि आभूषण से युक्त स्तन किस के मन में नहीं लगते ? (सीधी चोट नहीं करते) ।

उक्त गाथा के अवलोकन से स्पष्ट ज्ञात होता है कि हाल ने काव्य में ध्वनि को ही प्रथम स्थान दिया है। ध्वन्यात्मक काव्य ही पुनः पुनः विचारने पर रमणीय प्रतीत हो सकता है। काव्य का दूसरा गुण वे अर्थ-गाम्भीर्य को मानते हैं और अलङ्कार को अन्तिम स्थान देते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि काव्य के इस आदर्श का गाथा सप्तशती में आद्योपान्त निर्वाह मिलता है। अलङ्कारों का प्रयोग इसमें किया गया है और पर्याप्त मात्रा में किया गया है, किन्तु वह औचित्य की सीमा से बाहर न जाने पाया है। अलङ्कार के लिये अलङ्कार का प्रयोग कहीं नहीं हुआ। अतः अलंकृत शैली में भी व्यञ्जना का ही प्राधान्य मिलता है। उदाहरण लीजिए—

उअ णिच्चलणिप्पन्दा भिसिणीपत्तम्मि रेहइ बलाआ ।
णिम्मलमरगअभाअण परिट्ठिआ संखसुत्ति व्व ॥[2]

'देखो कमल के पत्तों में बैठी हुई बकपंक्ति मरकत मणि के निर्मल पात्र में रखी हुई शंखनिर्मित शुक्ति के समान शोभित हो रही है।'

इस गाथा में उत्कृष्ट कोटि की उपमा है किन्तु वह व्यंग्य अर्थ की साधिका ही है बाधिका नहीं। उपमान (शंखशुक्ति) के अचेतन होने से बकपंक्ति की पत्थर के समान निश्चलता व्यंग्य है जिससे ज्ञात होता है कि उसे कोई खटका नहीं है। उस से भी यह व्यंग्य निकलता है कि स्थान निर्जन है और निर्जनता से यह प्रतीत होता है कि यह अभिसार के लिये उपयुक्त संकेत-स्थल है। अथवा इस उक्ति से प्रतीत होता है कि विप्रलब्धा नायिका नायक से शिकायत कर रही है कि तुम यहाँ आये ही नहीं, अन्यथा यह बकपंक्ति इतनी निश्चिन्त न बैठी रहती। अथवा सुरतासक्ता नायिका ने दीर्घ रमण के हेतु नायक को अन्यमनस्क करने के लिये कहा है क्योंकि कामशास्त्र के अनुसार "नदी, वन, कन्दरा एवं दुःखित व्यक्ति में चित्त लगा कर सुरत करने से शिथिल पुरुष भी देर तक रमण करता रहता है—

[कल्लोलिनी-कानन-कन्दरादौ दुःखाश्रये चार्पितचित्तवृत्तिः ।
मृदुकुमारम्गमभिन्नधैर्यः श्लथोऽपि दीर्घं रमते मनुष्यः ॥]

---

१. गाथा सप्तशती ५/२८
२. वही, १/४

यह है इस गाथा की परिमर्दनसुखकरता "ज्यौं-ज्यौं नीके देखिए रूप अगाधु अपारु"।

एक अन्य उदाहरण और लीजिए :

अदंसणेण पुत्तअ सुट्ठु वि णेहाणुवन्धघडिआइं ।
हत्थउडपाणिआइँ व कालेण गलन्ति पेम्माइं ॥[1]

हे पुत्र ! दर्शन के अभाव में तो स्नेह के अनुबन्ध द्वारा भली प्रकार जोड़े हुए प्रेम भी हाथों की अञ्जलि में भरे हुए जल के समान समय के साथ नष्ट हो जाते हैं।

यहाँ प्रेम की उपमा अञ्जलि में भरे हुए जल से दी गई है। अञ्जलि का जल एक दम नहीं धीरे-धीरे निकल जाता है और अन्त में अञ्जलि खाली रह जाती है। इसी प्रकार अदर्शन के कारण प्रेम न्यून से न्यूनतर होता चला जाता है और अन्त में बिलकुल नहीं रहता। अतः कुछ दिन तक तो बिना किसी भय के प्रवासी हो सकते हो किन्तु अधिक दिन तक अनुपस्थित रहने में नायिका की आसक्ति तुम में न रहेगी। अतः शीघ्र लौटना। इस प्रकार उपमा व्यञ्जित भाव को पुष्ट ही करती है।

व्यञ्जनाप्रधान अनलंकृत शैली

गाथा सप्तशती की प्रतिनिधि शैली व्यञ्जनाप्रधान अनलंकृत शैली ही है। अधिकतर गाथाओं में अलंकार योजना को दूर से ही नमस्कार कर के सीधी-सादी भाषा में मनोरम भावों की अभिव्यक्ति की गई है। उदाहरण लीजिए—

सच्चं भणामि मरणे ट्ठिअह्मि पुण्णे तडम्मि ताबीए ।
अज्ज वि तत्थ कुडङ्गे णिवडइ दिट्ठी तह च्चेअ ॥[2]

सच कहती हूँ, मुझे भी मरना है, ताप्ती नदी के तट पर स्थित उस कुञ्ज की ओर अब भी दृष्टि चली ही जाती है।

इस गाथा में कोई अलङ्कार नहीं, शब्द-योजना में भी कोई प्रयत्न नहीं किया गया। उन्मुक्त हृदय के भावों का निर्बाध अभिव्यञ्जन स्वाभाविक शब्दों में हुआ है।

उत्तरार्ध से 'स्मृति' भाव की व्यञ्जना होती है और 'सच कहती हूँ, मुझे भी मरना है,' उक्तियाँ उसे पुष्ट करती हैं।

एक अन्य उदाहरण और लीजिए—

णिहुअणसिप्पं तह सारिआइ उल्लाविअं म्ह गुरुपुरओ ।
जह तं वेलं माए ण आणिमो कत्थ वच्चामो ॥[3]

---

१. गाथा सप्तशती ३/३६
२. वही ३/३२
३. वही, ६/८६

मैना ने गुरुजनों के समक्ष सारी कामकला इस प्रकार प्रकट कर दी कि न जानती उस समय कहाँ जायें"

'उस समय कहाँ जायें' में लज्जा का जैसा भाव प्रकट हो गया वैसा अलङ्का की चकाचौंध में शायद ही हो पाता।

अज्ज वि बालो दामोअरो त्ति इअ जम्पिए जसोआए।
कह्लमुहपेसिअच्छं णिहुअं हसिअं वअवहूहिं ॥[1]

'अभी तो दामोदर बालक ही है' यशोदा के यह कहने पर कृष्ण के मुख की ओर देख कर ब्रजवधुएँ चुपचाप मुसका दीं।

यहाँ दामोदर 'शब्द से ध्वनित है कि जैसे पहले मटकी आदि फोड़ने के अपराध में दाम (रस्सी) से बाँध दिया जाता था वैसे अब भी बाँधा जा सकता है किन्तु ब्रजाङ्गनाओं का कृष्ण के मुख की ओर देखकर मुसका देना उनके द्वारा अनुभूत कृष्ण के रतिकौशल का ही द्योतक हो सकता है।

ऊहात्मक शैली

यह कहा जा चुका है कि गाथा सप्तशती में ऊहात्मक शैली का प्रयोग नहीं के बराबर है। पूरे संग्रह में केवल गाथाएँ ऐसी मिली हैं जिन्हें ऊहात्मक शैली के अन्तर्गत माना जा सकता है—

विज्जाविज्जइ जलणो गहवइधूआइ वित्थअसिहो वि।
अणुमरणघनालिङ्ग णपिअअमसुहसिञ्जिरङ्गीए ॥[2]

नायिका के सती होते समय प्रियतम के (शव के) प्रगाढ आलिङ्गन के सुख से समुद्भूत स्वेद द्वारा अङ्गों के शीतल हो जाने से चिता की अग्नि ही बुझ गई।

प्रियतम के मरणानन्तर आलिङ्गन में सात्विक स्वेद का होना असंभव है। उस समय करुण का ही उद्रेक हो सकता है शृङ्गार का नहीं। फिर स्वेद भी इतना कि चिता की अग्नि ही बुझ गई! यह सब कल्पना की ऊँची उड़ान के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

पत्नी के निर्धूम तुषाग्नि सदृश उरोजों से आश्वस्त किसान को कम्बल के बदले में बैल खरीदते हुए देखकर शायद अधिक विस्मय नहीं होगा।[3] कारण यह कि उरोजों का आलिङ्गन शीत दूर करने के लिये फूंस की निर्धूम अग्नि के समान ही उष्णता प्रदान कर सकता है। इसके अतिरिक्त उपमा द्वारा प्रस्तावित साधर्म्य को पाठक की बुद्धि उचित काट-छांट के पश्चात् ही स्वीकार करती है। अतः यह बात ऐसी भद्दी नहीं लगती किन्तु यदि विधि नायिका के नितम्बभाग को उसकी प्रार्थना

---

१. गाथा सप्तशती १/१२
२. ,, ५/७
३. ,, ५/७

के अनुसार ही गली की चौड़ाई के बराबर बना देता, जिससे वह गुरुजनों से लज्जा का अनुभव किये बिना ही अपने अभीष्ट युवा का स्पर्श कर सकती, तो लोगों का तो उस गली से निकलना ही बन्द हो जाता। कितना अभद्र अभिलाष है—

जेत्तिअमेत्ता रच्छा णिअम्ब कह तेत्तिओ ण जाओसि।
जं छिप्पई गुरुअणलज्जिओ सरन्तो वि सो सुहओ[1]।

हे नितम्ब! तुम गली जितने ही आकार के क्यों नहीं हो गये जिससे गुरुजनों से लज्जा के कारण (गली के एक पार्श्व में सटकर) खिसकते हुए उस सुन्दर युवक का स्पर्श तो हो ही जाता।

वाग्वैदग्ध्यपूर्ण शैली

यद्यपि गाथा सप्तशती में प्रायः व्यञ्जना-प्रधान, अलङ्कार-रहित सीधी-सादी उक्तियाँ ही संगृहीत हैं, जो हृदय पर सीधी जाकर लगती हैं, तथापि कुछ उक्तियाँ ऐसी भी हैं जो कथन की वक्रता के कारण विस्मय अथवा बौद्धिक चमत्कृति भी उत्पन्न करती हैं। वाग्वैदग्ध्य द्वारा चमत्कार सृष्टि की जो प्रवृत्ति बाद के संस्कृत-कवियों में उत्तरोत्तर अधिकाधिक पाई जाती है उसका प्रादुर्भाव गाथा सप्तशती के युग में ही हो चुका था। आचार्य क्षेमेन्द्र ने कवि कण्ठाभरण में दस प्रकार के चमत्कार का उल्लेख किया है। इन गाथाओं में चमत्कार के ये दसों प्रकार देखे जा सकते हैं। उदाहरण लीजिए—

१ अविचारित-रमणीय

इस प्रकार का चमत्कार पाठक को सहसा ही चमत्कृत कर देता है किसी प्रकार का बौद्धिक अथवा मानसिक आयास उसे करना नहीं पड़ता—

अण्णो को वि सुहावो मम्महसिहिणो हला हआसस्स।
विज्झाइ णीरसाणं हिअए सरसाणं झत्ति पज्जलइ[2]॥

हे सखि! कम्बख्त काम की अग्नि का स्वभाव ही और है। यह नीरस हृदय में बुझ जाती है और सरस हृदय में तत्काल प्रज्वलित हो जाती है।

आग का रसहीन वस्तु में बुझ जाना और रस सहित में फौरन जल उठना सुन पड़ते ही चमत्कार की सृष्टि करता है।

२ विचार्यमाण-रमणीय

जहाँ चमत्कार की प्रतीति अनायास नहीं होती अपितु जैसे-जैसे बौद्धिक व्यापार द्वारा उक्ति में गम्भीरतर पैठ होती है वैसे-वैसे रमणीयता की प्रतीति होती जाती है—

---

१. गाथा सप्तशती ४/९३
२. वही ५/३०

लहुअन्ति लहुं पुरिसं पव्वअमेत्तं पि दो वि कज्जाइं ।
णिव्वरणमणिव्वूढे णिव्वूढे जं अ णिव्वरणम्[1] ॥

दो कार्य पर्वत-सदृश पुरुष को भी लघु बना देते हैं—बिना किये कहना और करके कहना ।

यहाँ सुनते ही एक दम चमत्कार की प्रतीति उतनी अधिक नहीं होती जितनी णिव्वरणमणिव्वूढे णिव्वूढे जं अ णिव्वरणम" के अर्थ पर विचार करने पर ।

और अधिक स्पष्ट उदाहरण लीजिए :

भुञ्जसु जं साहीणं कुत्तो लोणं कुगामरिद्धम्मि ।
सुहअ सलोणेण वि किं तेण सिणेहो जहिं णत्थि[2] ॥

जो कुछ प्राप्त है उसी को खालो । इस कुग्राम के रँधीन (पकाया हुआ साग आदि) में लौन (नमक) कहाँ ! हे सुन्दर ! जिसमें स्नेह न हो उस सलोने से भी क्या ?

यहाँ 'सलोने' और स्नेह के श्लिष्ट अर्थ (नमकीन होने पर भी बिना घी के पदार्थ तथा सुन्दर होने पर भी बिना प्रेम के व्यक्ति व्यर्थ है) से चमत्कार की सृष्टि होती है और वह अर्थ विचार करने पर ही प्रतीत होता है ।

३ सम्पूर्ण सूक्तकाव्य

उस स्थान पर होता है जहाँ चमत्कार पद्य में आद्यन्तव्यापी होता है जैसे :

कुसुममआ वि अइखरा अलद्धफंसा वि दूसहपआवा ।
भिन्दन्ता वि रइअरा कामस्स सरा बहुविअप्पा[3] ॥

काम के शर बहुत प्रकार के होते हैं । वे पुष्पमय होते हुए भी अत्यन्त तीक्ष्ण, अलब्धस्पर्श होते हुए भी असह्य प्रताप वाले और वेधने वाले होकर भी रति करने वाले होते हैं ।

एक अन्य उदाहरण लीजिए—

धवलो सि जइ वि सुन्दर तह वि तुए मज्झ रञ्जिअं हिअअम् ।
राअभरिए वि हिअए सुहअ णिहित्तो ण रत्तो सि[4] ।

हे सुभग तुम धवल (शुभ्र एवं श्रेष्ठ हो) तथापि तुम ने मेरे हृदय को रक्त कर दिया है । मैंने तुम्हें अपने राग भरे हृदय में रखा है किन्तु फिर भी तुम रक्त न हो सके ।

---

१. गाथा० ३/५५
२. „ ४/१६
३. „ ४/२६
४. „ ७/६५

४. मुक्तैकदेश

मुक्तैकदेश में चमत्कार पद्य में सर्वव्यापी न होकर उसके किसी एक अंशमात्र में हुआ करता है।

जैसे अविचारित रमणीय के उद्धृत उदाहरण में केवल उत्तरार्ध में ही चमत्कार है—

"कामाग्नि नीरस व्यक्तियों के हृदय में बुझ जाती है और सरस व्यक्तियों के हृदय में तत्काल जल उठती है।"

५. शब्द-चमत्कार

जहाँ चमत्कार केवल शब्दों में ही होता है—

मुहमारुएण तं कह्न गोरअं राहिआएअवणेन्तो ।
एताणं वल्लवीणं अण्णाणं वि गोरअं हरसि ॥[1]

'हे कृष्ण तुम अपने मुख के मारुत (फूंक) द्वारा राधिका के गोरअ (गोरज-गायों के चरणों से उठी हुई धूलि) को दूर करते हुए अन्य गोपियों के भी 'गोरअ' (गौरव अथवा गौर-वर्णत्व) को दूर कर देते हो'

यहाँ चमत्कार 'गोरअ' शब्द के श्लेष में ही है।

६. अर्थचमत्कार

जहाँ चमत्कार केवल अर्थ में निहित हो—

विरहकरवत्तदूसहफालिज्जन्तम्मि तीअ हिअअम्मि ।
अंसूकज्जलमइलं पमाण-सुत्तं व पडिहाइ ॥[2]

(वक्ष पर बीचों बीच बहता हुआ) काजल के कारण मलिन आँसू विरह रूपी आरे के द्वारा फाड़े जाते हुए उसके हृदय पर मानो प्रमाण-सूत्र का (निश्चित नाप के अनुसार लकड़ी आदि को चीरने के लिये धागे द्वारा लगाया हुआ एक रंगीन) चिह्न है।

७. शब्दार्थोभयगत

कहँ मे परिणइआले खलसङ्गो होइहि चिन्तन्तो ।
ओणअमुहो ससूओ रुवइ साली तुसारेण ॥[3]

अब परिणतिकाल (पकने के समय और बुढापे) में मेरा खल (खलिहान और दुष्ट) से सङ्गम होगा यह सोचकर नीचा मुख किये हुए शालि का पौधा मानो ओसकणों (के आँसुओं) से रो रहा है।

---

१. गाथा० १/८९
२. ,, २/५३
३. ,, ६/६८

इस गाथा के पूर्वार्ध में 'परिणइग्राले' और 'खलसङ्गो' शब्दों में चमत्कार है और उत्तरार्ध में उत्प्रेक्षित अर्थ में।

एक अन्य उदाहरण लीलिए—

चन्दमुहि चन्दधवला दीहा दीहच्छि तुम्र विम्रोअम्मि।
चउजामा सम्रजाम व्व जामिणी कहँ वि वोलीणा ॥[1]

'हे चन्द्रमुखि! दीर्घाक्षि! तुम्हारे वियोग में चाँदनी भरी चार पहर वाली दीर्घ रात्रि, जो मानो सौ पहरों की हो गई थी, जैसे-तैसे व्यतीत की।

अनुप्रास एवं विरोध के चमत्कार के साथ-साथ उत्प्रेक्षा तथा 'कहँ वि वोलीणा' (जैसे-तैसे बिताई) द्वारा व्यञ्जित अर्थ का चमत्कार भी यहाँ द्रष्टव्य है।

८. अलङ्कारगत

यो तीए अहरराम्रो रत्तिं उव्वासिम्रो पिम्रअमेण।
सो च्चिम्र दीसइ गोसे सवत्तिणम्रणेसु संकन्तो ॥[2]

रात्रि में प्रियतम ने उसके अधर से विसर्जित की हुई लालिमा प्रातःकाल सपत्नीजन की आँखों में संक्रान्त पाई जाती है।

सपत्नीजन की आँखों ने अपना गुण त्याग कर अन्य (नायिका के अधर) का गुण (लालिमा) धारण कर लिया। अधर-राग की यह संक्रान्ति चमत्कृति से रिक्त नहीं है। सरस्वती-कण्ठाभरण[3] में भोज ने इसमें 'व्यत्ययवती अमुख्या परिवृत्ति अलङ्कार बताया है।

९. रसगत

अणुहुत्तो करफंसो सम्रलम्रलापुण्ण पुण्णदिम्रहम्मि।
बीम्रासङ्गकिसङ्गम्र एह्णि तुह वन्दिमो चलणे ॥[4]

अयि सकलकलाओं से पूर्ण (चन्द्र!) पूर्णिमा के दिन तुम्हारी किरणों के स्पर्श का अनुभव किया और हे द्वितीया के सम्पर्क से कृशाङ्ग! अब तुम्हारे चरणों की वन्दना करती हूँ।

श्लिष्ट विशेषणों के बल पर दूसरे अर्थ की भी प्रतीति इस प्रकार होती है— अयि सब प्रकार की कामकलाओं से पूर्ण! (नायक!) पुण्यदिवस में तुम्हारे हाथ का स्पर्श हुआ (बड़ा शुभ दिन था जब तुमने मेरा पाणिग्रहण किया) किन्तु अब अन्य नायिका के आसङ्ग से दुर्बल शरीर! मैं तुम्हारे चरणों की वन्दना करती हूँ।

---

१. गाथा० ३/५७
२. ,, २/६
३. सरस्वती कण्ठाभरण ४/३०
३. गाथा सप्तशती ७/५७

खण्डिता की इस समासोक्तिपूर्ण उक्ति से सपत्नी के प्रति ईर्ष्या तथा अपने प्रति नायक के पूर्व-प्रेम की स्मृति की चमत्कारपूर्ण अभिव्यक्ति होती है।

१० प्रख्यात-वृत्तिगत

जब चमत्कार समास तद्धित आदि प्रख्यात-वृत्तियों में स्थित हो तब प्रख्यात-वृत्तिगत कहलाता है।

दुम्मेन्ति देन्ति में सोक्खं कुणन्ति अणुराअं रमावेन्ति।
अरइरइबन्धवाणं णमो णमो मअणवाणाणं[1]॥

अरति (व्याकुलता) तथा रति (मनोरञ्जकता) के बान्धव कामबाणों को नमस्कार है जो संतप्त करते है, सुख देते हैं, अनुराग उत्पन्न करते हैं और हृदय को प्रसन्न करते हैं।

इस गाथा के उत्तरार्ध में "अरइरइबान्धव' (अरतिरतिबान्धव) द्वारा अभिव्यक्त विरोध एवं यमक के समासगत होने के कारण वृत्तिगत चमत्कार हुआ।

इस प्रकार गाथा सप्तशती में प्रधान रूप से व्यञ्जना-प्रधान सरल अनलंकृत शैली के प्रयोग के साथ-साथ चमत्कार-विधान के भी विविध रूपों का समावेश यत्र-तत्र लक्षित किया जा सकता है जो आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के इस कथन का कि "सतर्कता और सावधानी जो संस्कृत साहित्य की जान है—इस में भी है"[2] पक्का प्रमाण है। फिर भी यह बेधड़क कहा जा सकता है कि चमत्कार सृष्टि के लिये भाव की बलि देने की प्रवृत्ति गाथा सप्तशती में नहीं पायी जाती। अपवाद-स्वरूप कोई गाथा मिल जाय तो दूसरी बात है। जैसे पलाशपुष्पों को श्लेष के बलपर लङ्कानिवासी राक्षस सिद्ध कर दिखाने वाली गाथा।[3] स्वाभाविकता, सादगी, जोश और रवानगी, जो काव्य की जान है, इस ग्रन्थ में आचूडमल देखे जा सकते हैं। एक उदाहरण लीजिए—

आम असई ह्य ओसर पइव्वए ण तुह मइलिअं गोत्तम्।
किं उण जणस्स जाअव्व चन्दिलं ता ण कामेमो॥[4]

हाँ हम तो कुलटा हैं। दूर हो पतिव्रते! तेरा कुल तो हमने मलिन नहीं किया। वेश्या के समान नाई तक की कामना तो हम नहीं करती।

'परोपदेश कुशल बहुतेरे' का पाठ पढी हुई समानशीला कुलटा के प्रति नायिका की यह खीजभरी उक्ति मनोवैज्ञानिक तो है ही, साथ ही छोटे-छोटे और प्रवाह-पूर्ण सरल वाक्यों में उमड़ते हुए आक्रोश को व्यक्त करने में भी पूर्णतया समर्थ है।

१. गाथा० ४/२५
२. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृष्ठ ६०
३. गाथा सप्तशती ४/११
४. वही ५/१७

यह शब्दावली दैनिक प्रयोग की दृढता से ओत-प्रोत है। सास-बहू की यह मजेदार नोक-झोंक भी सुन लीजिए—

अतिदीहराइँ बहुए सीसे दीसन्ति वंसवत्ताइँ।
भणिए भणामि अत्ता तुम्हाणं वि पण्डुरा पुट्ठी[1]॥

सास ने कहा—"बहू के सिर पर बाँस की लम्बी-लम्बी पत्तियाँ लगी हुई हैं।" इस पर बहू ने कहा—"कहने पर कह रही हूँ सासजी! तुम्हारी पीठ भी धूल से धूसरित है।" सास ने बहू के सिर में लगी हुई बाँस की पत्तियों का उल्लेख कर उसके गुप्त अभिसार की ओर संकेत किया तो बहू ने भी सास की धूलभरी पीठ की ओर उसका ध्यान दिलाकर समुचित उत्तर दे दिया। इसे कहते हैं नहले पर दहला। भावावेश में मनुष्य के मुख से जिस प्रकार की वाणी निकलती है उसका यह सुन्दर नमूना है।

अपनी कही किसी बात की सत्यता का विश्वास दिलाने के लिये 'मुझे मरना है' कह कर बात प्रारम्भ करने की प्रवृत्ति अत्यन्त पुरानी है। मौत की स्मृति झूठ बोलने से बचा देती है। मरता हुआ आदमी झूँठ क्यों बोलेगा? इसीलिये 'डाइँग डिक्लेरेशन' का आज के न्यायालयों में भी विश्वास किया जाता है। सत्य-प्रतिपादन की उक्त शैली में निहित इस भुक्तभोगा जरठा नायिका की 'स्मृति' कितनी मार्मिक हो उठती है—

सच्चं भणामि मरणे ट्ठिअह्मि पुण्णे तडम्मि तावीए।
अज्ज वि तत्थ कुडङ्गे णिवडइ दिट्ठी तह च्चेअ॥[2]

सच कहती हूँ, मुझे मरना है। ताप्ती नदी के पवित्र तट पर स्थित उस कुञ्ज पर आज भी मेरी दृष्टि वैसे ही पड़ती है।

शब्दावली

गाथासप्तशती में प्रयुक्त शब्दों को स्थूल रूप से चार वर्गों में बाँटा जा सकता है। कुछ शब्द ऐसे हैं जिनका स्वरूप संस्कृत में भी वैसा ही मिलता है जैसा प्राकृत में। ये तत्सम कहलाते हैं। कुछ शब्द ऐसे हैं जिनका स्वरूप मुखसुविधा आदि कारणों से प्रयोग में आते आते घिसने लगा है। इन्हें हम 'विकासोन्मुख' शब्द कह सकते हैं! तीसरे वर्ग में वे शब्द आते हैं जो संस्कृत शब्दों को प्राकृत के बनावटी ठप्पे में ठोक कर गढ लिये गये हैं। इन्हें हम 'गढ़े हुए शब्द' कहेंगे। इन शब्दों का प्राकृत में बड़ा भारी बहुमत है। चतुर्थ वर्ग में देशी शब्द आते हैं जो बाहर से आई हुई अथवा आर्येतर जातियों की भाषा की देन हैं।

तत्सम

अरुण (१-१) सलिल (१-१) तन्तु (१-१०) हास (१-११) मरण (१-१२) गण्ड (१-२०) अङ्ग (१-२०) गन्तुं (१-२५) देवर (१-२८) दण्ड

---

१. गाथासप्तशती ७/७४
२. " ३/२९

(१-२९) मल्ल (१-२९), दर=ईषत्, थोड़ा (१-२६) पल्ली (१-३१) तरुणी (१-३६) खर=तीक्ष्ण (१-४६) वसन्तमास (३-१९) पञ्जर (३-२०) अहो, गुण, वहु (४-२७) जरा (३-९९) पल्लव (३-७९) चिरम् (३-७७) तोरण (३-६२) कुम्भ (३-५८) खल (३-४८) महिला (३-६८) मूलवन्ध (३-७६) वाहू (३।७६) तुङ्ग (३-८४) किरण (३-८४) वान्धव (३-९०) सरसदन्तमण्डल (३-१००) सहसा (४-१) आदि।

विकासोन्मुख

संझा (१-१७) सं० संध्या, हिन्दी व्रज में संझा ही और खड़ी वोली में साँझ।
सहइ (१-७) संस्कृत सहते, हिन्दी सहै।
भिसिणिसण्डम् (१-८७) संस्कृत में विसिनी षण्ड था हिन्दी में भसींडा हो गया।
सण (१-९) सं० शण, हिन्दी व्रज सन, खड़ी वोली सन, कुछ स्थानों में सण भी, वाँगडू सण
सच्चं (१-१२) सं० सत्यम्, हि० सच, सच्च (खड़ी वोली), साँच व्रज।
जाणइ (क्रियापद १-१२) सं० जानाति, हि० जानैं।
सलाहणिज्ज (१-१२) सं० श्लाघनीय, हि० सराहनीय।
हत्थ (१-१३) सं० हस्त, अपभ्रंश हत्थ, हिन्दी हाथ।
चन्द (१-१३) सं० चन्द्र, हिन्दी चंदा, चाँद।
कम्म (१-१३) सं० कर्म, हि० काम।
मुहं (१-१३) सं० मुखम्, हिन्दी मुँह।
रत्त (१-१४) सं० रक्त, हिन्दी रत।
सुग्रन्ध (१-१४) सं० सुगन्ध, हिन्दी सौंध।
दिट्ठी (१-१५) सं० दृष्टि, हिन्दी डीठि (कहूँ डीठि लागी, विहारी)
मज्झ (१-२०) सं० मह्यम्, हिन्दी मुझे, मुझ।
घरं (१-१९) संस्कृत गृहम्, हिन्दी घर।
कल्लं (१-४६) सं० कल्यम्, हिन्दी कल, वोली कल्ल।
अक्खडइ (क्रिया पद) (१-४९) सं० आस्खलति, हिन्दी अखरैं।
थोअं (१-४९) सं० स्तोकम्, हिन्दी थोड़ा।
हलिद्दा (१-५८) सं० हरिद्रा, हिन्दी हल्दी।

वइल्ल (३-७५) सं० वलीवर्द, हिन्दी वैल। वास्तव में संस्कृत के वलीवर्द शब्द के दो भाग हुए। वली से प्राकृत वइल्ल और हि० वैल वना और दूसरे भाग वर्द से हिन्दी वोली का वल्ध, वलध या वड्ध वना।

अज्ज (४।१) सं० अद्य, हिन्दी आज।
दाहिण (५।४३) सं० दक्षिण, हिन्दी दाहिना। आदि।

गढ़े हुए शब्द

तिरिअवलिअमुहअन्दम् (१-१०) संस्कृत के तिर्यग्वलितमुखचन्द्रम् से प्राकृत व्याकरण के अनुसार परिवर्तित कर के ही यह समस्त पद गढ़ा गया। तभी तो चन्द्र

का अन्द ही रह गया जबकि वस्तुतः वह चन्द होना चाहिए था।

दिग्रहं (१-३५) सं० दिवस से गढ़ा गया। हिन्दी का द्यौस प्राकृत दिग्रहं की अपेक्षा सं० दिवस के ही अधिक समीप है।

राई (१-४५) सं० रात्रि, पाली रत्ति, हिन्दी रात (सं० रात्रि के अधिक निकट है)

इस प्रकार के और भी अनेक शब्द उपलब्ध हैं।

देशज

वालुङ्कि=(ककड़ी १-१०) गोसे=प्रातः (१-२३, ४-८१) चिक्खिल्ल=कीचड़=(४-२४, ५-४५) हिन्दी वोली के चिकल्लस शब्द की व्युत्पत्ति 'चिक्खिल्लसरिस' से विचारणीय है। छेञ्छई=असती (४-१) धम्मिल्ल=केशवेश, दविड शब्द है (३|९१) वाउलिआ=वावड़ी, (७-२६) वोल्लह=सुन्दर (६-९८) चुक्क=भ्रष्ट होना, चूकना (६-६५) वालामोडि=वलपूर्वक, वलात्कार (६|७२) अव्वो=दुःखसूचक अव्यय (४-७, ६-७५) भिसिणेमि=लीपने के अर्थ में (४-१९) पडोहर=पिछवाड़ा (४|१३) लुम्बी=गुच्छा (५-२२) पुप्फुआ=करीष, आन्ने, जंगल में पशुओं ने जहाँ जैसे किया वैसे ही पड़ा रहकर सूखा हुआ गोवर, सिप्पिर=पुआल (४-३०) हिन्दी छप्पर की व्युत्पत्ति इससे विचारणीय है। वोड्ही=कुमारी, मडह=स्वल्प (२|५) खड़ी वोली के कुछ क्षेत्र तथा वाँगरू में वोला जाने वाला अल्पार्थक माड़ा शब्द इसी से उत्पन्न प्रतीत होता है। पक्वल=वीर (२-१८) रुम्प=नई खाल (२-१९) फलही=कपास (२-६५) उल्लूरण छेदन (२|६६) पोट्टं=पेट (२-७०) हल्लफल=उत्साह, चपलता (१-७९) तालूर=जलावर्त्त, भौंर, भँवर, खुडक्किआ=क्रोध से मूक (३-२६) अत्थक्क=अचानक (७-७५) चन्दिल=नाई, राजस्थानी चांदड़ा (३-९१) साउली=स्यालू, (पंजावी) (३-६९) आदि।

गाथासप्तशती में प्रयुक्त शब्दों का भाषावैज्ञानिक अध्ययन एक अलग विषय है। यहाँ केवल वानगी प्रस्तुत की गई है। शब्दों के उपर्युक्त वर्गीकरण से एक वात स्पष्ट हो जाती है। वह यह कि शब्द-चयन में उदारता वरती गई है और भाषा को सशक्त वनाने के लिए सभी प्रकार के प्रचलित शब्दों को अपनाया गया है। उत्तर से लेकर दक्षिण तक की लोक भाषाओं के शब्द इस में उपलब्ध होते हैं।

गाथासप्तशती के सजग कवियों ने अपने वर्ण्य विषय के अनुरूप ही भाषा का प्रयोग किया है। शृङ्गार की कोमल भावनाओं को अभिव्यक्त करने के लिये गौडी रीति उपयुक्त नहीं कही जा सकती। उसके लिये वैदर्भी रीति औचित्यपूर्ण होती है। कालिदास की भाँति इन कवियों ने भी वैदर्भी रीति का अनुसरण किया है। समासों की अधिकता और दुरूह प्रयोगों को यथासंभव अलग रखा है। गिनी-चुनी गाथाएँ ही ऐसी हैं जिनमें समास-वहुल शैली प्रयुक्त हुई है। अधिकतर गाथाओं में दो-तीन शब्दों से अधिक के समास नहीं मिलते। वहुत सी गाथाएँ तो ऐसी हैं जिनमें छोटा-मोटा भी समस्त पद खोजने पर न मिलेगा। उदाहरणार्थ यह गाथा ही ले लीजिए :—

गम्मिहिसि तस्स पासं सुन्दरि मा तुरम्र वड्ढउ मिग्रङ्को ।
दुद्धे दुद्धं विग्र चन्दिग्राइ को पेच्छइ मुहं ते[1] ॥

मुहावरे श्रौर लोकोक्तियां

मुहावरों श्रौर लोकोक्तियों के प्रयोग से भाषा का सौन्दर्य बिहारी की नायिका के समान उसी अनुपात से बढ़ जाता है जिससे 'बर्क बिकारी देत ज्यौं दाम रुपैया होतु"। इसका कारण यह है कि जनसमाज युगयुगान्तर के संचित अनुभवों को कुछ लाक्षणिक शब्दों के सांचे में ढालकर मुहावरों का रूप देता है जो लाक्षणिक ही नहीं मनोवैज्ञानिक आधार पर भी टिके होते हैं। यही कारण है कि काल श्रौर देश की सीमाएँ भी इन्हें बांध नहीं सकतीं। विभिन्न समयों श्रौर देशों में बोली जाने वाली भाषाश्रों में एक ही भावना की अभिव्यक्ति करने वाले बहुत से मुहावरे दीख पड़ते हैं जो इस बात का प्रमाण है कि शाश्वत मानवीय भावों की अभिव्यक्ति के लिये इनका अविर्भाव आवश्यकता होने पर स्वतः हो गया था। उर्दू वालों को अपने मुहावरों की निधि पर बड़ा नाज है लेकिन यह बात समझ लेनी चाहिए कि मुहावरे स्वयं में साध्य नहीं हैं। वे साधन हैं, अनुभूति की मनोरम अभिव्यक्ति के साधन। बस इससे अधिक वे कुछ नहीं हैं। अतः यदि शब्दों की बाजीगरी दिखाने के लिये उन्हें बलपूर्वक पकड़-पकड़ कर किसी छन्द के पिटारे में बन्द किया जायगा तो वे चमत्कार सृष्टि तो कर सकेंगे किन्तु अनुभूति का स्वच्छन्द अभिव्यञ्जन न कर पायेंगे। गाथासप्तशती में यत्र-तत्र मुहावरों श्रौर लोकोक्तियों का बड़ा ही संयत प्रयोग मिलता है। एक उदाहरण लीजिए :

अन्धग्ररबोरपत्तं व माउग्रा मह पइं विलुम्पन्ति ।
ईसाग्रन्ति महं विग्र छेप्पाहिन्तो फणो जाग्रो[2] ॥

अन्धे के हाथ में स्थित बेरों के पात्र के समान मेरे पति को मुझसे लूटकर लिये जाती हैं श्रौर मुझी से ईर्ष्या करती हैं। यह अच्छा पूंछ का फन बन गया।

पूंछ पीछे छिपी रहती है। उसका आगे आकर फन का रूप धारण कर लेना श्रौर डंक मारना आश्चर्य एवं क्षोभ दोनों का कारण है। स्पष्ट है कि इस लोकोक्ति में हिन्दी की 'चोरी श्रौर सीनाजोरी' 'हमारा कबूतर श्रौर हमें ही गुटरगूं, श्रौर 'उलटा चोर कोतवाल को डाँटे' लोकोक्तियों के भाव एकत्र सन्निहित हैं।

एक अन्य उदाहरण लीजिए :

सुप्पं डड्ढं चणग्रा ण भज्जिग्रा सो जुग्रा अइक्कन्तो ।
अत्ता वि घरे कुविग्रा भूग्राणं व बाइग्रो वंसो[3] ॥

---

१. सुन्दरि! चन्द्रमा चढ़ रहा है तो जल्दी न करो। उसके (अपने प्रिय के) पास चली जाओगी श्रौर चाँदनी में तुम दूध में मिले हुए दूध के समान ही न दीख पड़ोगी। गाथा० ७/७

२. गाथा सप्तशती ३/४०

३. „ ६८/५७

जल गया और चने भी न भुने। वह युवक निकल गया और घर में सास कुपित
। भूतों (बहरे मनुष्यों ?) के सामने बाँसुरी बजाई।

'सूप जल गया और चने भी न भुने' उक्ति 'धोबी का कुत्ता घर का न घाट
कथन के समकक्ष है और भूतों के सामने बाँसुरी बजाना "अंधे के आगे रोने" के
र "भैंस के आगे बीन बजाने" के बराबर है।

'छँटाक की मन' और 'राई का पर्वत' बना देने वाले लोगों से तंग आई हुई नायिका की आहोजारी कैसे स्वाभाविक शब्दों में फूटी है :

सूईवेहे मुसलं विच्छहमाणेण दड्ढलोएण।
एक्कग्गामे वि पिओ समअं अच्छीहि वि ण दिट्ठो[१]॥

सुई द्वारा किये छिद्र में मूसल डालने (की आदत) वाले लोगों के डर से एक ही
में रहते हुये भी प्रिय को पूरी नजर भर कर देखा भी नहीं। इसी प्रकार जड़ से
होना[२], हृदय जलना[३], बालू की दीवार[४], ताली बजाकर हँसना[५], पेट भरना[६],
ी देना[७] (तर्पण करना, किसी वस्तु की आशा न करना), लगी हुई होना[८] (किसी
का पुरुष से गुप्त प्रणय-सम्बन्ध रखना), "बड़प्पन का ढिंढोरा पीटना[९],
हस्तित करना[१०], जलाञ्जलि देना[११], डंके की चोट[१२], 'मूक हो जाना[१३],
थर की लकीर[१४], आदि प्रसिद्ध मुहावरों के समानार्थ प्राकृत मुहावरों का बड़ा
मार्मिक प्रयोग इन गाथाओं में हुआ है जिससे यह सिद्ध हो जाता है कि हिन्दी के
अकांश मुहावरे परम्परागत लोकभाषा के स्वतःसिद्ध परिणाम हैं।

सांसारिक भावों के अस्थायित्व की अभिव्यक्ति हिन्दी में 'चार दिन' मुहावरे
द्वारा की जाती है। "चार दिन की चाँदनी" प्रसिद्ध है। प्राकृत में यह कार्य "पाँच
[१५]" से किया जाता है। सुना है रसखान ने कृष्ण को अहीर-छोकरियों द्वारा छछिया
छाछ पै "नाच नचवाया" था हमारे गाथाकार भी "नाच नचाना" जानते थे।
की सौन्दर्यसृष्टि स्वतः कहती है कि—

जह जह वाएइ पिओ तह तह णच्चामि चञ्चले पेम्मे[१६]

-जैसे प्रिय बजाता है वैसे-वैसे ही मैं चञ्चल प्रेम में नाचती जाती हूँ।

"हृदय तो फाड़ कर दिखाया नहीं जा सकता" यह एक बहुत प्रसिद्ध लोकोक्ति
। यह भी ज्यों की त्यों बड़े चमत्कार के साथ एक गाथा में मिलती है—

गाथासप्तशती	६/१	६.	गाथा०	३/८५	११.	गाथा०	७/६
गाथासप्तशती	३/३२	७.	गाथा०	४/३८	१२.	गाथा०	७/८५
गाथासप्तशती	१-३३	८.	,,	४/७५	१३.	,,	७/१६
,,	३/४१	९.	,,	६/२६	१४.	,,	३/७२
,,	३/६३	१०.	,,	६/८३	१५.	,,	१/७२
					१६.	,,	४/४

दीससि पिआणि जम्पसि सब्भावो सुहअ एत्तिअ च्चेअ।
फालेइऊण हिअअं साहसु को दावए कस्स[1]॥

हे सुभग ? दर्शन दे जाते हो और मधुर बातें कहते हो। प्रेम यही तो होता है। अपना हृदय फाड़कर कौन किस को दिखाता है ?

"चुपड़ी और दो दो" लोकोक्ति का भी प्रयोग हम बहुत करते हैं। प्राकृत में इसके स्थान में "मिट्ठं च बहुअं" (मीठा और बहुत !) प्रयुक्त हुआ करता था :—

बहुवल्लहस्स जा होइ वल्लहा कह वि पञ्च दिअहाइं।
सा किं छट्ठं मग्गइ कत्तो मिट्ठं अ बहुअं अ[2]॥

बहुप्रिय कि प्रिया कोई मुश्किल से ही पाँच दिन रहती है, छटा दिन वह खोजे भी क्यों ? मीठा और बहुत सा ? यह कहाँ से ?

'काम बन जाय और कुछ खोना भी न पड़े' इस भाव की श्रेण्ठ अभिव्यक्ति के लिये हम "साँप मरै, ना लाठी टूटै" का प्रयोग किया करते हैं। गाथा सप्तशती में इसके लिये "खुजला लिया जाय और (खुजलाया हुआ स्थान) पाण्डुर भी न हो" का प्रयोग हुआ है।

दूइ तुमं विअ कुसला कक्खडमउआइँ जाणसे वोल्लुम।
कण्डूइअपण्डुरं जह ण होइ तह तं करेज्जसु[3]॥

'हे दूति ! कर्कश और मृदु बोलने में तुम स्वयं ही चतुर हो। ऐसा करना कि खुजलाया हुआ पाण्डुर न हो।

'बूढी भेड़ भेड़िये को नहीं चला सकती" यह हम बराबर सुनते आये हैं। गाथाकार ने इसके स्थान में "बूढे बिलाव को कांजी से धोखा नहीं दिया जा सकता[4]" लोकोक्ति का प्रयोग किया है। "गँवार गन्ना नहीं देता, भेली देता है" से मिलती-जुलती "जो गाय हाथ तक गीला न करती थी अब घड़ाभर दूध देती है[5]" तथा "हाथ के स्पर्श से तो बूढी गाय भी पँवास जाती है[6]" उक्तियाँ भी द्रष्टव्य हैं। सारांश यह है कि भाषा की अभिव्यञ्जन-शक्ति बढ़ाने के लिये उस समय समाज में प्रचलित दैनंदिन प्रयुक्त होने वाले मुहावरों और लोकोक्तियों का भी गाथाकारों ने समुचित उपयोग किया है जिसके फलस्वरूप उनकी उक्तियों में अधिक प्रेषणीयता, सजीवता, स्वाभाविकता और वाग्विदग्धता का समावेश हो गया है।

अलङ्कार-विधान और अप्रस्तुत-योजना

काव्य में कलापक्ष को गौण मान कर भी उपेक्षणीय नहीं कहा जा सकता। अतः किसी भी काव्यकृति का विवेचन करते समय उसके अलङ्कार-विधान और अप्रस्तुत-योजना की चर्चा अत्यन्त आवश्यक है। काव्य में अलङ्कारों का प्रयोग

१. गाथा० ५/८६
२. ,, १/७२
३. ,, २/८१
४. गाथा० ३/८६
५. ,, ६/३७
६. ,, ५/७२

अत्यन्त प्राचीन काल से होता आया है। ऋग्वेद के कितने ही मन्त्रों में 'ज्ञान' की अपेक्षा भाव का ही उद्रेक मिलता है। भावों के प्रसाधन के लिये उसमें भी उपमा, रूपक आदि अलङ्कारों का प्रयोग हुआ है। स्वयं उपमा शब्द भी वैदिक साहित्य की देन है।[1] उपमा का एक बड़ा ही सुन्दर प्रयोग मुण्डकोपनिषद् में किया गया है।[2] उपनिषदों में आत्मतत्त्व को स्पष्ट करने के लिये रूपक का भी प्रयोग मिलता है।[3]

शास्त्रीय ढँग से अलङ्कारों का प्रतिपादन कब हुआ, यह एक विचारणीय प्रश्न है। यदि अग्निपुराण को, जिसमें सभी काव्याङ्गों का वर्णन है, नाट्यशास्त्र के बाद का ही माना जाये तो यह मानना पड़ेगा कि अलङ्कारों का शास्त्रीय ढँग से प्रतिपादन सर्वप्रथम भरतमुनि ने ही किया।

भरतमुनि ने उपमा, रूपक, दीपक और यमक का उल्लेख किया है—

उपमा रूपकं चैव दीपकं यमकं तथा।
अलङ्कारास्तु विज्ञेयाश्चत्वारो नाटकाश्रयाः॥[4]

भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में आठ रस माने हैं और इस की पुष्टि में अपने पूर्वाचार्यों का उल्लेख किया है—एते ह्यष्टौ रसाः प्रोक्ता द्रुहिणेन महात्मना।[5]

यदि नाट्यशास्त्र की गिनती काव्यशास्त्र में न की जाय तो यह कहा जा सकता है कि काव्यशास्त्र में अलङ्कारों की चर्चा रस से प्राचीन है। भरत के बाद के आचार्यों—दण्डी, भामह, वामन आदि—ने अलङ्कारों को प्रधानता दी है, परन्तु अलङ्कार को उन्होंने व्यापक अर्थ में ग्रहण किया है। काव्य के सभी सौन्दर्य साधक उपादानों को वे अलङ्कार में अन्तर्भूत मानते हैं। रस को भी इन आचार्यों ने माना अवश्य है, पर गौण रूप में। उसे रसवत् अलङ्कार के अन्तर्गत माना है।[6] आठवीं शताब्दी के आचार्य उद्भट ने भी रस को रसवत् अलङ्कार में रखा और अलङ्कारों की संख्या ४१ मानी। नवीं शती में रुद्रट ने भी अलङ्कारों को ही महत्त्व दिया। इसी समय के लगभग अभिनवगुप्त ने ध्वनिकार के ध्वनि-सिद्धान्त का विवेचन करते हुए रस का प्रतिपादन किया और अभिव्यक्ति के एक मौलिक सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की। रस को ध्वनि के अन्तर्गत मानकर भी ध्वनिकार ने रसध्वनि को ही प्रधानता दी थी और अलङ्कार को गौण माना था। ११ वीं शती में मम्मट ने भामह के 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' (शब्द और अर्थ मिलकर काव्य कहलाते हैं) तथा अग्निपुराण के 'काव्यं स्फुरदलङ्कारं गुणवद्दोषवर्जितम्'[7] (अलङ्कारों के स्फुरण और गुणों से युक्त

---

१. ईयुषीणामुपमा शाश्वतीनाम् (ऋग्वेद १-११३-१५)
तदप्युपमास्ति (शतपथ० १२-५-१-५)
२. अरा इव रथनाभौ संहता यत्र नाड्यः (मुण्डक० २-६)
३. बृहदारण्यक० (४-३-२१)
कठ० (१-३-३)
४. नाट्यशास्त्र (१६-४३)
५. " ६-१६
६. काव्यालङ्कार, भामह (३-३)
७. अग्निपुराण ३३७-७

रचना को काव्य कहते हैं) को जोड़कर अपनी नई परिभाषा बनाई तथा अलङ्कारों का बोझ कम करने के लिये कह दिया 'कि अलङ्कार न होने पर भी काव्यत्व रह सकता है। हाँ, शब्द और अर्थ दोषरहित होने आवश्यक हैं'—चन्द्रालोक में जयदेव ने मम्मट पर छींटाकशी करते हुए कहा कि जो विद्वान् काव्य को अलङ्काररहित मानता है वह अग्नि को भी उष्णतारहित क्यों नहीं मानता।

अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलङ्कृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलङ्कृती॥

१४ वीं सदी में विश्वनाथ ने 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' कह कर फिर रस को माना और बाद में पण्डितराज ने रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम् की घोषणा कर शब्द और रस को समानरूप से काव्य के लिये उत्तरदायी माना।

अग्निपुराण में कहा गया है कि अर्थालङ्कारों के बिना सरस्वती मानो विधवा है पर साथ ही यह भी स्वीकार किया कि 'वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्।' अर्थात् काव्य में वाग्विदग्धता प्रधान तो है पर उसका प्राण रस ही है। वस्तुतः जीवन-रहित प्रस्तर-प्रतिमा पर अलङ्कारों की जगमगाहट द्रष्टा को केवल प्रथम दृष्टि में ही आकृष्ट कर सकेगी। अलङ्कार-भूषित प्रतिमा के बाह्य और आन्तरिक तत्वों का असामञ्जस्य हृदय को रमा नहीं सकता; परन्तु जब उसमें ईश्वरभाव की प्रतिष्ठा कर ली जाती है तो सिर श्रद्धा से स्वतः ही झुक जाता है। इसी प्रकार कविता में भी जब तक भाव नहीं तब तक अलङ्कार-युक्त होने पर भी वह दिल पर असर नहीं कर सकती, उसे सुनकर श्रोता का सिर झूम नहीं सकता भले ही आँखें चाकचक्य-चकित रह जायें। भावभरी उक्ति अपने आप में एक अलङ्कार होती है। उसके लिये बाहरी अलङ्कार अनावश्यक हैं—

'किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्।'

गाथासप्तशती की गाथाएं प्रायः ऐसी ही हैं। अलङ्कारों के लिये भावों की उपेक्षा उनमें नहीं है। जहाँ कहीं अलङ्कारों का समावेश हुआ है वहाँ वह भार बन-कर कविताकामिनी की स्वाभाविक गति में बाधक नहीं हुआ है अपितु साधक ही रहा है। यों एक-दो उक्तियाँ अपवाद हो सकती हैं।

शब्दालङ्कार

जब काव्य में अर्थ-गौरव का परित्याग कर केवल शब्दालङ्कार की रुनझुन को लक्ष्य बना लिया जाता है तो वह हृदय में एक ऐसी चटपटी उत्पन्न कर देता है जो अनुभूति की गहराई तक पहुँचने में बाधक होती है। ऐसी कविता की तुलना उस खाली मोटरगाड़ी से की जा सकती है जिसकी ट्यूब में पूरी-पूरी हवा भरी

१. 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि। काव्यप्रकाश १-३

है और जो अपने भीतरी सूनेपन के साथ (मन्द होते हुए भी) उद्धत गति से हृदय पर कुछ अच्छा प्रभाव नहीं छोड़ जाती; जिस प्रकार उसकी गति सम नहीं रह सकती उसी प्रकार अर्थगौरव से रहित शब्दालङ्कारों की ध्वनि से भी काव्यसंगीत की तान सम पर नहीं आ सकती जहाँ श्रोता का सिर स्वतः ही झूमने लगता है। उसके शब्द गर्दन उठाकर और सीना तान कर ऐसे खड़े हो जाते हैं कि पाठक या श्रोता का व्यक्तित्व सहमा सा जाता है या फिर उनकी अकड़ पर मुँह फेर लेता है। परन्तु जहाँ शब्दालङ्कार के साथ अर्थ का गौरव भी बना रहता है वहाँ इस संतुलन के कारण मन सहज ही काव्यानुभूति तक पहुँच जाता है। तात्पर्य यह कि अलङ्कार काव्य में साध्य बनकर भी आ सकता है और साधन बनकर भी। जहाँ वह साध्य बनता है, भाव गौण हो जाता है जिससे बुद्धि तो चमत्कृत होती है किन्तु हृदय आत्म-विभोर नहीं होता। जब अलङ्कार साधन बन कर आता है तो अनुभूति को सान्द्र बनाता है और अपनी स्वतन्त्र सत्ता खोकर भी अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध होता है। स्वार्थी और परमार्थी में जो अन्तर है वही अलङ्कार के साध्य और साधन रूप में है। समाज परमार्थी की ही प्रशंसा करता है।

गाथा सप्तशती में शब्दालङ्कारों का विरल प्रयोग हुआ है। यमक और श्लेष ही इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय हैं। यमक का प्रयोग बड़ा ही सुन्दर बन पड़ा है—

अकअण्णुअ घणवण्णं घणवण्णन्तरिअतरणिअरणिअरम्।
जइ रे रे वाणीरं रेवाणीरं पि णो भरसि ॥६।६१॥

इसी प्रकार श्लेष का यह प्रयोग लक्षित करने योग्य है—

भुञ्जसु जं साहीणं कुत्तो लोणं कुगामरिद्धम्मि।
सुहअ सलोणेण वि किं तेण सिणेहो जहि णत्थि ॥४।१६॥

जो स्वाधीन है उसका भोग करो इस छोटे से गाँव के रँधीन (राँधे हुए भोजन) में लवण कहाँ। और उस सलोने से भी क्या जिसमें स्नेह न हो।

यहाँ सलोण और सिणेह शब्द श्लिष्ट हैं। सलोणे का अर्थ है नमकीन तथा सुन्दर और सिणेह का घी तथा प्रेम।

अनुरागिणी ग्रामीणा नायिका की उपेक्षा करने वाले नागरताभिमानी नायक के प्रति दूती की इस उक्ति में व्यञ्जना यह है कि नायिका सुन्दरी अधिक न सही किन्तु अनुरागिणी अवश्य है। सौन्दर्य की अपेक्षा स्नेह अधिक स्पृहणीय है। वह सौन्दर्य किस काम का जो स्नेह रहित हो? विरक्त सुन्दरी की अपेक्षा अनुरक्त ग्रामीणा कहीं अच्छी है। यह व्यङ्ग्यार्थ पूर्णतया सलोण और सिणेह शब्दों के श्लेष पर आधारित है और अलङ्कार से वस्तु ध्वनि का सुन्दर उदाहरण है। आज भी स्नेह अर्थात् घी का उत्पादन गांवों में ही अधिक होता है। नगर में घी दुर्लभ है।

साथ ही स्नेह (सहानुभूति और प्रेम) भी गाँव के लोगों में अधिक होता है। कहावत मशहूर है कि शहर की रिश्तेदारी और गाँव की जान-पहचान बराबर होती है। घी की भाँति लवण गाँवों में उत्पन्न नहीं होता; गाँवों में नगरों से ही आता है। इसी प्रकार कृत्रिम प्रसाधन और फैशन से जनित सलोनापन भी नगरों में ही मिल सकता है पर सच्चा स्नेह वहाँ नहीं होता। किन्तु क्षार (नमक) की अपेक्षा घी अधिक स्पृहणीय है। आयुर्वेद में घी को आयु कहा गया है। इसी प्रकार सलोनेपन की अपेक्षा प्रेम अधिक स्पृहणीय है। प्रेम के बिना सौन्दर्य एक शुष्क और कटु वस्तु है जैसे घी के बिना नमक।

सलोण और सिणेह शब्दों का श्लेष इतने व्यापक अर्थ को समोये हुए है। श्लेष का ऐसा प्रयोग अर्थ-गौरव की जान होता है।

एक अन्य उदाहरण लीजिए—

कहँ मे परिणइआले खलसङ्गो होहिइ त्ति चिन्तन्तो।
ओणअमुहो ससूओ रुवइ व साली तुसारेण॥ ६/३८॥

ओस टपकाता हुआ शालि (धान्य) का पौधा ऐसा प्रतीत होता है मानो 'अब परिणतिकाल में (पकने पर) मेरा संग खल (खलिहान) से होगा' यह सोचकर नीचा मुख किये हुए रो रहा हो। यहाँ उत्प्रेक्षा तब तक संगत नहीं होती जब तक 'खल' शब्द के श्लेष से खलिहान में खल (धूर्त) का आरोप करके रूपक नहीं बना लिया जाता। खलिहान की संगति से शालि को रोने की क्या आवश्यकता? पर जब खलिहान खल सिद्ध हो जाता है तो रोने की बात समझ में आ जाती है। इस प्रकार श्लेष रूपक का और रूपक उत्प्रेक्षा का साधक है। स्वयं उत्प्रेक्षा भी साध्य नहीं अपितु साधन है। शालि के रुदन की संभावना दुष्ट की संगति के दारुण परिणाम की व्यञ्जना करती है। जड़ वस्तु भी दुष्ट के संग की संभावना मात्र से बिलख उठती है तो हाड़-माँस के पुतले का तो कहना की क्या!

स्पष्ट है कि उक्त उदाहरणों में अलङ्कारों की अपेक्षा भाव प्रधान है। कहीं-कहीं पर शब्दालङ्कार और भाव दोनों ही समान स्तर के होते हैं और यह कहना कठिन हो जाता है कि अलङ्कार के चमत्कार तथा अर्थ की गम्भीरता या प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत में किसका पलड़ा भारी है। एक उदाहरण लीजिए—

परिमलणसुहा गुरुआ अलद्धविवरा सलक्खणाहरणा।
थणआ कव्वालाव व्व कस्स हिअए ण लग्गन्ति॥ ५/२८॥

गुरु (पुष्ट और उच्च) परिमर्दन करने से आनन्द प्रदान करने वाले, अलब्धविवर (परस्पर सटे हुए) लक्षण तथा आभरण सहित (सुन्दरता के लक्षणों तथा हार आदि आभूषणों से युक्त) कुच गुरु (अर्थगौरव से पूर्ण) परिमर्दन (बार बार अनुशीलन) से आनन्द प्रदान करने वाले, अलब्धविवर (दोष-रहित) सलक्षण (काव्यशास्त्रीय लक्षणों से युक्त) तथा आभरण-सहित

(उपमा आदि अलङ्कारों से युक्त) काव्य की भाँति किसके हृदय में स्थान नहीं पाते ।

श्लेष के वल पर प्रथम पंक्ति में आये चारों विशेषण कुच एवं काव्य दोनों के पक्ष में समान स्वाभाविकता के साथ संगत हो जाते हैं अतः प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत दोनों ही पक्ष समान रूप से आकर्षक हैं। साथ ही यह कहना कठिन है कि श्लेष का यह चमत्कार अधिक उत्कृष्ट है या कुचों एवं काव्य के अभिव्यक्त गुणों का वैशिष्ट्य।

एक-आध गाथा में कोरा चमत्कार भी लक्षित होता है—

लङ्कालअाणं पुत्तअ वसन्तमासेक्कलद्धपसराणम् ।
आपीअलोहिआणं वीहेइ जणो पलासाणम् ॥

वसन्त मास में ही विकास प्राप्त करने वाले, लङ्का (डालियां) जिनका स्थान है, ऐसे आपीतलोहित (कुछ पीलापन लिये लाल) पलाश पुष्पों से लोग डरते हैं। श्लेष के वल से दूसरा अर्थ व्यञ्जित होता है कि लङ्का में रहने वाले, वसन्त मास (वसा = चर्वी और अन्त्र-माँस के भक्षण) के लिये फिरने वाले, आपीत-लोहित (खून पिये हुए) राक्षसों से लोग डरते हैं।

यहाँ श्लेष ने पलाश पुष्पों को लङ्कावासी राक्षस वना देने का चमत्कार तो कर दिखाया पर पलाश पुष्पों का न तो अभीष्ट भौतिक स्वरूप ही और न उद्दीपन रूप ही इससे व्यक्त हुआ।

हर्ष की वात है ऐसे उदाहरण एक प्रतिशत भी नहीं हैं।

अर्थालङ्कार

प्रधान आधार के अनुसार अर्थालङ्कारों को चार वर्गों में वाँटा जा सकता है—साम्यमूलक, वैषम्यमूलक, शृङ्खलामूलक और न्यायमूलक।

साम्यमूलक

इस वर्ग के अलङ्कार भी कई उपवर्गों में विभक्त किये जा सकते हैं। जव प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत के रूप, गुण, धर्म आदि के साम्य के आधार पर उनमें अभेद मान लिया जाता है तो अभेद-प्रधान साम्यमूलक अलङ्कारों की सृष्टि होती है। रूपक, अपह्नुति, सन्देह, उल्लेख आदि ऐसे ही अलङ्कार हैं।

जव उपमान और उपमेय में साम्य की स्थापना करने पर भी उन्हें स्पष्टतः पृथक् प्रकट किया जाता है तो भेद-प्रधान साम्यमूलक अलङ्कारों का आविर्भाव होता है। प्रतीप, प्रतिवस्तूपमा, दीपक, दृष्टान्त, निदर्शना, सहोक्ति, विनोक्ति और व्यतिरेक में यही वात है। उपमा, अनन्वय, उपमानोपमेय और स्मरण भी ऐसे ही अलङ्कार हैं।

जिस अलङ्कार में उपमेय और उपमान के साम्य का कथन न होकर केवल प्रतीति होती है। उन्हें प्रतीति-प्रधान साम्यमूलक कह सकते हैं जैसे अतिशयोक्ति और उत्प्रेक्षा।

कुछ अलङ्कारों का अस्तित्व सामान्य (अभिधेय) अर्थ पर न रह कर व्यञ्जित अर्थ पर निर्भर रहता है। उन्हें व्यङ्ग्यप्रधान साम्यमूलक कहा जा सकता है। अप्रस्तुत प्रशंसा, व्याज-स्तुति, पर्यायोक्ति आदि अलङ्कार ऐसे ही हैं

वैषम्यमूलक

कार्य-कारण के विच्छेद या गुणों के आधार पर पदार्थों के पारस्परिक वैषम्य के कारण जब चमत्कार की प्रतीति होती है तब वैषम्यमूलक अलङ्कारों की सृष्टि होती है। विरोधाभास, विभावना, विशेषोक्ति, असंगति विषम और व्याघात इसी जाति के अलङ्कार हैं।

शृङ्खलामूलक

जब एक से अधिक पदार्थों का वर्णन इस प्रकार किया जाता है कि वे एक दूसरे से सम्बद्ध होते हुए एक शृङ्खला में आबद्ध हो जाते हैं तब शृङ्खलामूलक अलङ्कार जन्म लेते हैं। कारणमाला, माला-दीपक, एकावली और सार इसी प्रकार के अलङ्कार हैं।

न्यायमूलक

जब किसी युक्ति, तर्क, नियम लोक-व्यवहार आदि से अनुप्राणित वाक्य द्वारा अर्थ में चमत्कार आता है तो परिसंख्या, समुच्चय, काव्यलिङ्ग, अर्थान्तरन्यास भाविक आदि अलङ्कार होते हैं जिन्हें न्यायमूलक कहा जा सकता है।

प्रस्तुत वस्तु या विषय का पूरा-पूरा चित्र देने के लिये कवि बाह्य जगत् एवं कल्पना-लोक की अनेक अप्रस्तुत वस्तुओं की भी अवतारणा करता है जिससे अर्थ-वैचित्र्य द्वारा प्रस्तुत विषय की मानवहृदय का स्पर्श करने वाली शक्ति बढ़ जाती है—उससे प्रबुद्ध हुए भावों में सान्द्रता आ जाती है। इससे स्पष्ट है कि अर्थालङ्कार यदि अपने भावपोषण के क्षेत्र से आगे जाने की अनाधिकार चेष्टा करते हैं तो अनुचित है। उचित सीमा में रहकर ही वे भाव को उद्दीप्त कर सकते हैं और वर्ण्यवस्तु के प्रभाव को बढ़ा सकते हैं। विशेष रूप से सादृश्यमूलक अलङ्कार वस्तु के सहज गुणों और आधेय-व्यापारों का इतना स्पष्ट चित्र अङ्कित करते हैं कि हृदय उसकी अनुभूति में अनजाने ही डूब जाता है। इन अलङ्कारों की खूबी इसमें है कि वे मनोवेग के अनुचर बन कर चलें। यदि ये अपनी डफली अलग बजाते हैं तो हृदय को क्षणभर के लिये चमत्कृत ही कर पाते हैं रसमग्न नहीं कर पाते।

गाथा सप्तशती में सभी प्रकार के अलङ्कारों का समुचित प्रयोग हुआ है। कुछ के उदाहरण लीजिए—

अउलीणो दोमुहओ ता महुरो भोअणं मुहे जाव।
मुरओ व्व खलो जिणम्मि भोजणे विरसमारसइ ॥३/५३॥

उपमा

अकुलीन द्विमुख (कहीं कुछ और कहीं कुछ कहने वाला) व्यक्ति तबले के

समान होता है। वह जब तक मुख में (किसी के द्वारा दिया हुआ) भोजन रहता है तभी तक मधुर बोलता है। भोजन के जीर्ण होते ही विरस ध्वनि करने लगता है।

रूपक

विरहकरवत्तदूसहफालिज्जन्तम्मि तीग्र हिग्रग्रम्मि।
ग्रंसू कज्जलमइलं पमाणसुत्तं व्व पडिहाइ॥ २/५३॥

वियोगिनी के विरह रूपी आरे के द्वारा विदीर्ण किये जाते हुए हृदय पर काजल से मलिन अश्रुधारा मानो प्रमाण-सूत्र का चिह्न है।

पूर्वार्ध में विरह पर आरे का आरोप होने के कारण रूपक है।

उत्प्रेक्षा

मग्रणग्गिणो व्व धूमं मोहणपिच्छिं व लोग्रदिट्ठीए।
जोव्वणधग्रं व मुद्धा वहइ सुग्रन्धं चिउरभारम्॥ ६/७३॥

उस मुग्धा के केशपाश मानो कामाग्नि का धूम है, लोगों की दृष्टि का सम्मोहन करने वाला मोरछल है, यौवन का ध्वज है।

भ्रान्तिमान्

मुद्धे अपत्तिग्रन्ति पवालग्रंकुरग्रवण्णलोहिग्रए।
णिद्धोग्रधाउराए कीस सहत्थे पुणो धुग्रसि॥

मुग्धे! प्रवाल के अंकुर के सदृश रक्तवर्ण हाथों में लगे धातुराग (गेरु आदि) के धुलने पर भी विश्वास न करती हुई व्यर्थ ही बार बार क्यों धुला रही है।

यहाँ हाथों की स्वाभाविक लालिमा में धातुराग की भ्रान्ति होने से भ्रान्तिमान् है।

पुसिग्रा कण्णाहरणेन्दणीलकिरणाहग्रा ससिग्ररूहा।
माणिणिवग्रम्मि सकज्जलंसुसङ्काइ दइएण॥४/२॥

मानिनी के मुख पर कर्णाभूषण में जड़े हुए नीलम की छाया से आहत चन्द्र किरणों को प्रिय ने काजल से मलिन आँसू की आशङ्का से पोंछा।

चन्द्रकिरणों ने अपना रंग छोड़कर नीलम की छाया का ही गुण धारण कर लिया अतः पूर्वार्ध में तद्गुण भी है।

दृष्टान्त

जह जह वाएइ पिग्रो तह तह णच्चामि चञ्चले पेम्मे।
वल्ली वलेइ ग्रङ्गं सहावथद्धे वि रुक्खम्मि॥ ४/४॥

प्रिय जैसे-जैसे बजाते हैं मैं वैसे ही चञ्चल प्रेम में नाचती जाती हूँ। लता स्वभाव से ही स्तब्ध वृक्ष से अपने अङ्ग लपेट लेती है।

पर्यायोक्त

कहं सा सोहग्गगुणं मए समं वहइ णिग्घिण तुमम्मि।
जीग्र हरिज्जइ गोत्तं हरिऊण ग्र दिज्जइ मज्झ॥५/५२॥

कुछ अलङ्कारों का अस्तित्व सामान्य (अभिधेय) अर्थ पर न रह कर व्यञ्जित अर्थ पर निर्भर रहता है। उन्हें व्यङ्ग्यप्रधान साम्यमूलक कहा जा सकता है। अप्रस्तुत प्रशंसा, व्याज-स्तुति, पर्यायोक्ति आदि अलङ्कार ऐसे ही हैं

वैषम्यमूलक

कार्य-कारण के विच्छेद या गुणों के आधार पर पदार्थों के पारस्परिक वैषम्य के कारण जब चमत्कार की प्रतीति होती है तब वैषम्यमूलक अलङ्कारों की सृष्टि होती है। विरोधाभास, विभावना, विशेषोक्ति, असंगति विषम और व्याघात इसी जाति के अलङ्कार हैं।

शृङ्खलामूलक

जब एक से अधिक पदार्थों का वर्णन इस प्रकार किया जाता है कि वे एक दूसरे से सम्बद्ध होते हुए एक शृङ्खला में आबद्ध हो जाते हैं तक शृङ्खलामूलक अलङ्कार जन्म लेते हैं। कारणमाला, माला-दीपक, एकावली और सार इसी प्रकार के अलङ्कार हैं।

न्यायमूलक

जब किसी युक्ति, तर्क, नियम लोक-व्यवहार आदि से अनुप्राणित वाक्य द्वारा अर्थ में चमत्कार आता है तो परिसंख्या, समुच्चय, काव्यलिङ्ग, अर्थान्तरन्यास भाविक आदि अलङ्कार होते हैं जिन्हें न्यायमूलक कहा जा सकता है।

प्रस्तुत वस्तु या विषय का पूरा-पूरा चित्र देने के लिये कवि बाह्य जगत् एवं कल्पना-लोक की अनेक अप्रस्तुत वस्तुओं की भी अवतारणा करता है जिससे अर्थ-वैचित्र्य द्वारा प्रस्तुत विषय की मानवहृदय का स्पर्श करने वाली शक्ति बढ़ जाती है—उससे प्रबुद्ध हुए भावों में सान्द्रता आ जाती है। इससे स्पष्ट है कि अर्थालङ्कार यदि अपने भावपोषण के क्षेत्र से आगे जाने की अनाधिकार चेष्टा करते हैं तो अनुचित है। उचित सीमा में रहकर ही वे भाव को उद्दीप्त कर सकते हैं और वर्ण्यवस्तु के प्रभाव को बढ़ा सकते हैं। विशेष रूप से सादृश्यमूलक अलङ्कार वस्तु के सहज गुणों और आधेय-व्यापारों का इतना स्पष्ट चित्र अङ्कित करते हैं कि हृदय उसकी अनुभूति में अनजाने ही डूब जाता है। इन अलङ्कारों की खूबी इसमें है कि वे मनोवेग के अनुचर बन कर चलें। यदि ये अपनी डफली अलग बजाते हैं तो हृदय को क्षणभर के लिये चमत्कृत ही कर पाते हैं रसमग्न नहीं कर पाते।

गाथा सप्तशती में सभी प्रकार के अलङ्कारों का समुचित प्रयोग हुआ है। कुछ के उदाहरण लीजिए—

अउलीणो दोमुहओ ता महुरो भोअणं मुहे जाव।
मुरओ व्व खलो जिणम्मि भोजणे विरसमारसइ ॥३/५३॥

उपमा

अकुलीन द्विमुख (कहीं कुछ और कहीं कुछ कहने वाला) व्यक्ति

समान होता है। वह जब तक मुख में (किसी के द्वारा दिया हुआ) भोजन रहता है तभी तक मधुर बोलता है। भोजन के जीर्ण होते ही विरस ध्वनि करने लगता है।

रूपक

विरहकरवत्तदूसहफालिज्जन्तम्मि तीअ हिअअम्मि।
अंसू कज्जलमइलं पमाणसुत्तं व्व पडिहाइ॥ २/५३॥

वियोगिनी के विरह रूपी आरे के द्वारा विदीर्ण किये जाते हुए हृदय पर काजल से मलिन अश्रुधारा मानो प्रमाण-सूत्र का चिह्न है।

पूर्वार्ध में विरह पर आरे का आरोप होने के कारण रूपक है।

उत्प्रेक्षा

मअणग्गिणो व्व धूमं मोहणपिच्छिं व लोअदिट्ठीए।
जोव्वणधअं व मुद्धा वहइ सुअन्धं चिउरभारम्॥ ६/७३॥

उस मुग्धा के केशपाश मानो कामाग्नि का धूम है, लोगों की दृष्टि का सम्मोहन करने वाला मोरछल है, यौवन का ध्वज है।

भ्रान्तिमान्

मुद्धे अपत्तिअन्ति पवालअंकुरअवण्णलोहिअए।
णिद्धोअधाउराए कीस सहत्थे पुणो धुअसि॥

मुग्धे! प्रवाल के अंकुर के सदृश रक्तवर्ण हाथों में लगे धातुराग (गेरु आदि) के धुलने पर भी विश्वास न करती हुई व्यर्थ ही बार बार क्यों धुला रही है।

यहाँ हाथों की स्वाभाविक लालिमा में धातुराग की भ्रान्ति होने से भ्रान्तिमान् है।

पुसिआ अण्णाहरणेन्दणीलकिरणाहआ ससिइऊहा।
माणिणिवअम्मि सकज्जलंसुसङ्काइ दइएण॥४/२॥

मानिनी के मुख पर कर्णाभूषण में जड़े हुए नीलम की छाया से आहत चन्द्र किरणों को प्रिय ने काजल से मलिन आँसू की आशङ्का से पोंछा।

चन्द्रकिरणों ने अपना रंग छोडकर नीलम की छाया का ही गुण धारण कर लिया अतः पूर्वार्ध में तद्गुण भी है।

दृष्टान्त

जह जह वाएइ पिओ तह तह णच्चामि चञ्चले पेम्मे।
वल्ली वलेइ अङ्गं सहावथद्धे वि रुक्खम्मि॥ ४/४॥

प्रिय जैसे-जैसे बजाते हैं मैं वैसे ही चञ्चल प्रेम में नाचती जाती हूँ। लता स्वभाव से ही स्तब्ध वृक्ष से अपने अङ्ग लपेट लेती है।

पर्यायोक्त

फहुँ ता सोहग्गगुणं मए समं वहइ णिग्घिण तुमम्मि।
जाअ हरिज्जइ गोत्तं हरिऊण अ दिज्जइ मज्झ॥५/५२॥

निठुर! तुम्हारे सम्बन्ध में वह मेरे सदृश सौभाग्यशाली कहाँ है जिसका नाम भी तुम मुझे दे रहे हो।

यहाँ प्रकारान्तर से यह उपालम्भ दिया गया है कि तुम्हारे मन में सदा वही बसी रहती है। तभी तो तुम मुझे भी उसी के नाम से पुकार उठे। सीधी उक्ति द्वारा न कहकर घुमा फिरा कर (पर्याय से) कहने के कारण ही यह पर्यायोक्त है।

रूपकातिशयोक्ति

अइ दिअर किं ण पेच्छसि आआसं किं मुहा पलोएसि।
जाआइ बाहुमूलम्मि अद्धअन्दाणं परिवाडिम् ॥६/७०॥

देवर! व्यर्थ ही आकाश की ओर ताक रहे हो। प्रियतमा के बाहुमूल (बगल के नीचे) (एक नहीं अनेक) अर्द्धचन्द्रों की पंक्ति मिलेगी।

यहाँ उपमेय नखचिह्न का नाम न लेकर उसके स्थान में उपमान अर्धचन्द्र प्रतिष्ठित कर दिया है, अतः उपमेय का निगिरण हो जाने के कारण यह रूपकातिशयोक्ति अलङ्कार हुआ।

अक्रमातिशयोक्ति

जह जह उव्वहइ वहू णवजोव्वणमणहराइँ अङ्गाइं।
तह तह से तणुआअइ मज्झो दइओ अ पडिवक्खो ॥ ३/९२ ॥

जैसे-जैसे नवयौवन के कारण वधू के अङ्ग मनोहर होते जाते हैं वैसे-वैसे ही उसका कटि प्रदेश, प्रिय तथा सपत्नी-वर्ग क्षीण होता जाता है।

यहाँ वधू के अङ्गों का मनोहर होना रूप कारण तथा सपत्नियों की क्षीणता रूपी कार्य में पौर्वापर्य क्रम न होने के कारण अक्रमातिशयोक्ति अलङ्कार है।

अपह्नुति

गिह्मे दवग्गिमसिमइलिआइँ दीसन्ति विज्झ-सिहराइं।
आससु पउत्थवइए ण होन्ति णवपाउसब्भाइँ। १/७० ॥

प्रोषितपतिके! धैर्य धारण करो। ये बादल नहीं हैं अपितु गर्मी में दावाग्नि की कालिमा से मलिन विन्ध्याचल के शिखर हैं।

उपमेय (बादलों) का निषेध कर उपमान (विन्ध्य-शिखरों) की स्थापना करने के कारण इस गाथा में अपह्नुति अलङ्कार हुआ।

सम

उप्पाइअदव्वाणं वि खलाणं को भाअणं खलो च्चेअ।
पक्काइँ वि णिम्बफलाइँ णवरँ काएहिँ खज्जन्ति ॥ ३/४८ ॥

दुष्ट जन यदि द्रव्य-अर्जन भी करें तो उनके पात्र (उपभोग करने वाले) भी दुष्ट ही हुआ करते हैं। पकने पर भी नीम के फलों को कौए ही खाते हैं।

गामवडस्स पिउच्छा आवण्डुमुहीणं पण्डुरच्छाअम् ।
हिअएण समं असईणं पडइ वाआहअं पत्तम् ॥ ३|९५ ॥

हे बुआ ! गाँव के वड़ का वायु द्वारा तोड़ा पीला पीला पत्ता कुलटाओं के हृदय के साथ ही नीचे गिरता है ।

उल्लेख

जो तीए अहरराओ रत्तिं उव्वासिओ पिअअमेण ।
सो व्विअ दीसइ गोसे सवत्तिणअणेसु संकन्तो ॥ २|६ ॥

उसके अधर की जो लालिमा प्रियतम ने (चुम्बन द्वारा) उद्वासित (विसर्जित) कर दी थी वही प्रातः काल सपत्नियों के नयनों में संक्रान्त दिखाई पड़ी ।

यहाँ एक ही लालिमा का क्रम से अनेक (नायिका के अधर और सपत्नियों के नयनों) में उल्लेख हुआ है अतः उल्लेख अलङ्कार हुआ ।

व्याजस्तुति

णीसासुक्कम्पिअपुलएहिँ जाणन्ति णच्चिउं धण्णा ।
अम्हारिसीहिँ दिट्ठे पिअम्मि अप्पा वि वीसरिओ ॥ ४|६१ ॥

निःश्वास उत्कम्प, पुलक आदि सात्त्विक भावों के साथ जो प्रिय के समक्ष नाचना जानती हैं, वे धन्य हैं । हम जैसी तो उसे देखते ही अपने आप को भूल जाती हैं !

यहाँ अभिधेय अर्थ के अनुसार नायिका अपनी निन्दा तथा प्रिय के समक्ष नर्तन में समर्थ स्त्रियों की प्रशंसा कर रही है किन्तु व्यङ्ग्यार्थ के अनुसार बात उलटी है । अतः व्याजस्तुति अलङ्कार हुआ । जिसका पर्यवसान 'मैं धन्य हूँ, वे अधन्य हैं' इस व्यङ्ग्य के माध्यम से व्यतिरेकालङ्कार की व्यञ्जना में है ।

दीपक

जीहाइ कुणन्ति पिअं भवन्ति हिअअम्मि णिव्वुइं काउम् ।
पीडिज्जन्ता वि रसं जणन्ति उच्छू कुलीणा अ ॥ ६|४१ ॥

ईख (के गन्ने) और कुलीन लोग जिह्वा द्वारा प्रिय (मधुर रस तथा मधुर वचन) करते हैं, हृदय में शान्ति उत्पन्न करते है, तथा पीडित होने पर भी रस देते हैं।

यहाँ ईख और कुलीन—अप्रस्तुत तथा प्रस्तुत—के समान धर्म का एक बार उल्लेख हुआ है अतः दीपक अलङ्कार है ।

व्यतिरेक

अहिलेन्ति सुरहिणीससिअपरिमलावद्धमण्डलं भमरा ।
अमुणिअचन्दपरिहवं अपुव्वकमलं मुहं तिस्सा ॥ ४|६६ ॥

उस के श्वास की गन्ध के कारण भौंरे उसके अपूर्व मुखकमल पर जिसे चन्द्रमा से कभी तिरस्कार प्राप्त नहीं हुआ (साधारण कमल चन्द्रमा के निकलते ही संकुचित हो जाता है) मँडराते हुए उसे ढक लेते हैं।

'अगुणिअचन्द परिहवं' विशेषण से मुख (उपमेय) की कमल (उपमान) से उत्कृष्टता सिद्ध होती है। व्यतिरेक अलङ्कार है।

विरोधाभास

कुसुममआ वि अइखरा अलद्धफंसा वि दूसहपआवा।
भिन्दन्ता वि रइअरा कामस्स सरा बहुविअप्पा॥ ४/२६॥

कुसुममय होते हुए भी अत्यन्त तीव्र हैं, स्पर्श के अभावों में भी असह्य प्रताप हैं, वेधते हुए भी रति उत्पन्न करते हैं काम के बाण विचित्र प्रकार के हैं।

विशेषोक्ति

चत्तरघरिणी पिअदंसणा अ तरुणी पउत्थ पइआ अ।
असईसपज्जिआ दुग्गआ अ ण हु खण्डिअं सीलम्॥ १/३६॥

चौराहे पर घर है, स्वयं सुन्दरी और तरुणी है, पति परदेश में है और पड़ोस में कुलटा रहती है, गरीब है, यह सब कुछ होते हुए भी उसने अपना शील खण्डित नहीं किया।

शील खण्डन के कारण तो हैं परन्तु कार्य नहीं हुआ। अतः विशेषोक्ति अलङ्कार है। पूर्वार्ध में समुच्चय है।

विषम

अव्वो अणुणअसुहकङ्खिरीअ अकअं कअं कुणन्तीए।
सरलसहावो वि पिओ अणिअमगं वलण्णीओ॥ ४/६॥

ओह! खुशामद का आनन्द प्राप्त करने की इच्छा से उसके द्वारा न किये अपराध को भी किया कहकर मैंने सरल स्वभाव प्रिय को ज़बर्दस्ती धृष्टता के पथ पर डाल दिया।

अवहत्थिऊण सहिजम्पिआइँ जाणं कएण रमिओसि।
एआइँ ताइँ सोक्खाइँ संसओ जेहिँ जीअस्स॥ २/५८॥

सामान्य

पिअदंसणसुहरसमउलिआइँ जइ से ण होन्ति णअणाइं।
ता केण कण्णरइअं लक्खिज्जइ कुवलअं तिस्सा॥ ४/२३

अगर उसके नयन प्रियदर्शन-सुख से मुकुलित न हो जाते तो उसके कानों में सुशोभित नीलकमल को कौन देख पाता।

प्रस्तुत नयन और अप्रस्तुत नीलकमल का परस्पर भेद कह कर भी अत्यन्त समानता के कारण ऐकात्म्य की स्थापना की गई। अतः सामान्य अलङ्कार है।

समुच्चय

पउरजुवाणो गामो महुमासो जोअणं पई ठेरो ।
जुण्णसुरा साहीणा असई मा होउ कि मरउ ॥ २/९७ ॥

अत्यधिक युवकों से भरा गाँव, वसन्त की ऋतु, यौवन काल तिस पर बूढ़ा पति और पुरानी शराब का स्वच्छन्द उपयोग, फिर (वह) कुलटा न हो तो क्या मर जाये ।

काव्यलिङ्ग

महिलासहस्सभरिए तुह हिअए सुहअ सा अमान्ती ।
दिअहं अणण्णकम्मा अङ्गं तणुअं पि तणुएइ ॥ २-८२ ॥

हे सुभग ! सहस्रों महिलाओं से भरे तुम्हारे हृदय में न आ सकने के कारण वह दिन प्रतिदिन अपने स्वभाव से ही कृश शरीर को और भी कृश बना रही है ।

यहाँ हृदय में न आने का कारण है हृदय का अन्य महिलाओं द्वारा अधिष्ठित होना और नायिका के क्षीण होने का कारण हृदय में न आ सकना । हृदय में नहीं आती, इसीलिए वह क्षीण होती जाती है ताकि जो कुछ भी थोड़ी-बहुत जगह हृदय में बची हो उसी में वह भी आ जाये । इस प्रकार वाक्यार्थहेतु काव्यलिङ्ग अलङ्कार स्पष्ट है ।

परिकर

आमजरो मे मन्दो अहव ण मन्दो जणस्स का तन्ती ।
सुहउच्छअ सुहअ सुअन्धअन्ध मा अन्धिअं छिवसु ॥ १/५१ ॥

मेरा आमज्वर मन्द हुआ हो, या न हुआ हो, लोगों को इससे क्या ? कुशलक्षेम पूछने वाले सुभग ! सुन्दर-गन्ध से सुगन्धित ! मुझ दुर्गन्धित को क्यों छूते हो ।

यहाँ नायक के लिये सुगन्धगन्ध तथा अपने लिये दुर्गन्धित विशेषण विशेषतः सभिप्राय हैं । अतः परिकर अलङ्कार है ।

आक्षेप

णाहं दूई ण तुमं पिओ त्ति को अह्म एत्थ वावारो ।
सा मरइ तुज्झ अअसो तेण अ धम्मक्खरं भणिमो ॥ २/७८ ॥

मैं दूती नहीं हूँ, न तुम प्रिय हो, हमें लेना ही क्या ? वह मर रही है । तुम्हारी अकीर्ति है । इसीलिये धर्मसम्मत बात कह रही हूँ ।

यहाँ निषेध वास्तविक निषेध नहीं है । दूती सविशेष कहने के लिये ही निषेध कर रही है अतः आक्षेप अलङ्कार हुआ ।

मीलित

गम्मिहिसि तस्स पासं सुन्दरि मा तुरअ वड्ढउ मिअङ्को ।
दुद्धे दुद्धं मिअ चन्दिआइ को पेच्छइ मुहं ते ॥ ७/७ ॥

उपमा और रूपक में स्फुट एवं समन्वित दोनों ही प्रकार की अप्रस्तुत-योजना होती है किन्तु उत्प्रेक्षा में प्रायः समन्वित रूप ही लिया जाता है।

जैसा कि कहा जा चुका है, उत्प्रेक्षागत अप्रस्तुत दो प्रकार के हो सकते हैं स्वतःसंभवी—अर्थात् जिनका अस्तित्व संसार में पाया जाता है—तथा कविकल्पित। कविकल्पित अप्रस्तुत वस्तु ऐसी होनी चाहिए जिसकी कल्पना साधारण श्रेणी का पाठक भी सहज ही कर ले और रमणीयता के साथ-साथ समीचीनता भी उस में हो। गाथासप्तशती में एक भी उदाहरण ऐसा नहीं मिलेगा जिसमें अप्रस्तुत बुद्धिग्राह्य न हो—

एक उदाहरण लीजिए—

उअ पोम्मराअमरगअसंवलिआ णहअलाओ ओअरइ ।
णहसिरिकण्ठब्भट्ठ व्व कण्ठिआ कीररिञ्छोली ॥ १/७५ ॥

देखो, आकाश से उतरती हुई सुग्गों की पंक्ति ऐसी प्रतीत होती है जैसे आकाश की लक्ष्मी के गले से गिरी हुई पद्मराग तथा मरकत रत्नों से बनी कण्ठी हो।

यद्यपि नभ लक्ष्मी का मानवीकरण कवि-कल्पित है परन्तु पाठक के लिये वह क़तई मुश्किल नहीं है! मरकत और पद्मराग मणियों से बनी हुई कण्ठी तो स्वतः संभवी ही है।

एक अन्य उदाहरण लीजिए—

सव्वत्थ दिसामुहपसारिएहिँ अण्णोण्णकडअलग्गेहि ।
छल्लिं व्व मुअइ विञ्झो मेहेहिँ विसंघडन्तेहि ॥ २/१५ ॥

(विन्ध्य के) कटि प्रदेश से परस्पर सटकर लगे हुए मेघ जब छिन्न-भिन्न होने लगते हैं तो लगता है जैसे विन्ध्य अपनी छाल छोड़ रहा हो।

अर्जुन आदि वृक्ष की ऊपर की महीन छाल हट जाती है और वह अन्दर से साफ निकल आता है। इसे छाल छोड़ना या वक्कल उड़ना कहते हैं। पर्वत इस प्रकार केंचुल नहीं छोड़ता परन्तु उक्त गाथा में कवि ने ऐसी कल्पना कर ली है जो प्रत्येक स्तर के पाठक के लिए सहज गम्य है।

साधारणतया उपमा में सादृश्य की प्रधानता रहती है और उत्प्रेक्षा में प्रभाव की। केवल दूर की कौड़ी लाने के लिये उत्प्रेक्षा का प्रयोग उसका दुरुपयोग ही समझना चाहिए। गाथासप्तशती में सभी उत्प्रेक्षाएँ समीचीन और प्रभावोत्पादक हैं—

थोअं पि ण णीसरइ मज्झण्णे उह सरीरतलुक्का ।
आअवभएण छाई वि पहिअ ता किं ण वीसमसि ॥ १/४९ ॥

आतप के भय से मध्याह्न में परछाईं भी शरीर के नीचे छिप गई है। तनिक भी नहीं निकलती। तो पथिक तुम (भी) विश्राम क्यों नहीं करते?

'छाया भी धूप के भय से छिप गई है' इस कल्पना से धूप की दारुणता

अभिव्यञ्जित हुई है। छाया जो वस्तुतः धूप से सबकी रक्षा करती है, वह भी त्रस्त है। अतः हृदय यह सुनकर बाहर जाने में सहम सा जाता है।

इस प्रकार के कितने ही उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। कुचों का मुख इस चिन्ता से काला पड़ गया है कि उन्नत अवस्था में रहकर उदरपतित (पेट भरने तक ही सीमित) रहने के लिये बाध्य होना पड़ा।[1] प्रिय के समक्ष नायिका के अङ्ग ऐसे हो जाते हैं मानो किसी से माँग कर लाये हों।[2] नदी-कुञ्ज में वधू को प्रथम बार शीलच्युत होते देखकर विहगकुल अपने पङ्खों से हा-हा! करता हुआ उड़ गया।[3] नदी के बहाव की ओर जल पीते हुए नायक ने स्नान करती हुई नायिका के उबटन से कटु जल के साथ मानो उसका हृदय भी पी लिया।[4] मध्याह्न में झींगुरों के बोलने से वृक्ष ऐसे प्रतीत होते हैं मानो धूप के कारण रो रहे हों।[5] सटे हुए कुचों के बीच में स्थान न पाकर हार यमुना के फेनपुञ्ज के समान उद्विग्न होकर इधर-उधर टकराता भटकता है।[6]

रूपवर्णन में उत्प्रेक्षा का प्रयोग यौवन तथा तज्जन्य लावण्य की प्रतीति कराने के लिये किया गया है। एक दो गाथाओं में अङ्ग आदि की नाप-जोख भी मिलती है। जैसे घर की पर्दा-दीवार के बाहर निकले हुए पत्तों से अरंड वृक्ष युवकों से मानो यह कहता है कि यहाँ इतने विस्तार वाले कुचों वाली हलिकवधू रहती है।[7] किन्तु ऐसी गाथाएँ दो-एक ही हैं। इन में बाह्य रूप से नाप-जोख होते हुए भी ऐसी ध्वनि निहित है कि एकदम अनुचित ही नहीं कहा जा सकता। प्रथम गाथा में हलिकवधू का पूर्णयौवना होना तथा दूसरी में पथिक के प्रिया-मिलन की संभावना से संतोष एवं आगे पैर बढ़ाते रहने के लिये प्रोत्साहन व्यञ्जित है। कर्णावतंस द्वारा झुककर नायिका के कपोलगत लावण्य के पान[8] तथा दुबले-पतले शरीर में न समाकर लावण्य के स्वेद के बहाने त्रिवलि के मार्ग से वह निकलने की कल्पना भी ऐसी ही ध्वनिपरक है, जबकि नायिका के मुख के समान न पाकर संपूर्ण चन्द्रमा को बार-बार तोड़ कर ब्रह्मा का पुनर्निर्माण का प्रयास कोरा वैचित्र्य है। परन्तु द्वार पर खड़ी, नीचा मुख कर उरोजों पर दृष्टि डालती हुई नायिका को कमलयुक्त पूर्णघट लिये हुए बताना नायक के स्वागत के लिये पूर्ण सामग्री का संयोजन कर उत्साह पूर्वक प्रतीक्षा का व्यंजक है।[9]

वियोग में चार पहर वाली रात्रि का शतयामा बन जाना उत्कण्ठा की तीव्रता प्रकट करता है तथा उसाँसों और निःश्वासों से तपकर आँसुओं से भीगे अधर द्वारा श्यामशबल व्रत की भावना अन्य वस्तुओं के प्रति निर्वेद, चिन्ता, उत्कण्ठा

---

१. गाथा० १/८३
२. गाथा० २/६५
३. ,, ३/१८
४. ,, ३/८०
५. ,, ५/६५
६. गाथा० ७/६६
७. ,, ३/५७
८. ,, ५/३६
९. ,, २/२६

आदि संचारियों से पुष्ट विप्रलम्भ की अभिव्यक्ति करती है।[1] झंझा द्वार तहस-नहस हो जाने पर बरसते हुए घन-घोर मेघों से त्रस्त हो कोने में दुबकी रोती हुई वियोगिनी को मानो बिजली चमक कर (अपने प्रिय) बादलों को दिखा रही है कि देखो यह यहाँ दुबकी हुई है।[2] इस उक्ति में चमत्कार के अतिरिक्त भाव की गहराई भी कुछ कम नहीं है। दैन्य विषाद, चिन्ता आदि भाव स्पष्ट हैं।

उत्प्रेक्षा में काव्यार्थ साध्य होता है। इसलिये कल्पना की ऊँची उड़ान भी उस में एक हद तक निभ जाती है। उसमें कहा जाता है 'मानो ऐसा है, या ऐसा लगता है' यह नहीं कि ऐसा ही है, जैसा कि रूपक में कहा जाता है जहाँ काव्यार्थ सिद्ध होता है। अतः रूपक की योजना करते समय अप्रस्तुत की अवतारणा अधिक संयत और औचित्यपूर्ण होनी चाहिए। अन्यथा वह उपहासास्पद चमत्कार-मात्र बन कर रह जाता है।

उदाहरण लीजिए—

> विरह करवत्तदूसहफालिज्जन्तम्मि तीअ हिअअम्मि।
> अंसू कज्जलमइलं पमाणसुत्तं व्व पडिहाइ ॥ २/५३ ॥

विरह में हृदय के फटने की बात कही और सुनी जाती है। परन्तु लाक्षणिक रूप में ही। अभिधेय अर्थ ग्रहण करके नाप-तोल के साथ निशानदेही कर उसका चीरना स्पृहणीय नहीं, जैसा कि इस गाथा में किया गया है, जहाँ 'विरह रूपी आरे से फाड़े जाते हुए उस वियोगिनी के हृदय में काजल से मलिन आँसू प्रमाणसूत्र के निशान सा लगता है।'

एक अन्य गाथा लीजिए

> मज्झण्हपत्थिअस्स वि गिम्हे पहिअस्स हरइ संतावं।
> हिअअट्ठिअजाआमुहमअङ्कजोह्लाजलप्पवहो ॥ ४/६६ ॥

ग्रीष्म के मध्याह्न में प्रस्थित पथिक के संताप को हृदय-स्थित प्रियतमा के मुखचन्द्र की ज्योत्स्ना रूपी जल का प्रवाह हर लेता है।

गहन प्रकृति-निरीक्षण और व्यापक लोकदर्शन के कारण गाथासप्तशती के कवियों की अप्रस्तुत योजना में विविधता और स्वाभाविकता का समावेश स्वतः ही हो गया है। प्राकृतिक पदार्थों, सामाजिक विश्वासों, शास्त्रीय सिद्धान्तों और पौराणिक कथाओं से अनेकानेक उपमान ग्रहण किये गये हैं। बहुत से उपमान ऐसे भी हैं जो इस लोक में नहीं होते। वे अलौकिक कहे जा सकते हैं। इस प्रकार सामान्यतया पाँच प्रकार के उपमानों का प्रयोग गाथासप्तशती में उपलब्ध होता है।

प्राकृतिक उपमान

प्राकृतिक उपमानों के अन्तर्गत रूपवर्णन में परम्परागत उपमानों का ही

१. गाथा० २/८५

प्रयोग हुआ है। केशपाश के लिये मयूरपिच्छ[1], नयन के लिये कुवलयदल[2], और उत्पल[3], मुख के लिये पङ्कज[4], चन्द्र[5], कमल[6], तामरस, कुचो के लिये गजकुम्भ, विल्व और घट[7], हाथ के लिये पल्लव[8], चरण के लिये कमल[9], शारीरिक कान्ति के लिये ज्योत्स्ना[10], कोमल अङ्गों के लिये शिरीष[11] और पुलकित अङ्गों के लिये कदम्ब पुष्प।[12]

अनेक नवीन उपमानों का समावेश किया गया है जिन्हें देखकर आश्चर्य होता है कि इन कवियों का प्रकृति-निरीक्षण कितना व्यापक और कितना सूक्ष्म था। कभी-कभी पके हुए आम की गुठली में अन्दर ही अन्दर अंकुर फूटा हुआ दिखाई देता है जिसके विषय में एक गाथा में कहा गया है कि वह ऐसा प्रतीत होता है जैसे किसी खुले मुख वाली सीपी में वहमनिया (साँप की वामनी नाम से प्रसिद्ध कीड़ा) घुसा हो और उसकी पूँछ का अग्रभाग दिखाई पड़ रहा हो।[13] अपने दुर्लक्ष्य धागे मे लटका हुआ मकड़ा एक अत्यन्त महीन धागे से लटके हुए बकुल पुष्प सा लगता है।[14] प्रेम की गति ककड़ी की वेल के तन्तुओं के समान कुटिल होती है।[15] तोड़ कर जोड़े हुए प्रेम सम्बन्ध में पहला जैसा आनन्द नहीं रह जाता जैसे गर्म करके शीतल किये हुए जल में।[16] रातभर नायक के साथ रतिक्रीड़ा में मग्न नायिका दिन में पेवसी पिये हुए भैंस के शिशु के समान पड़ी सोती है।[17]

हर किसी पर रीझ जाने वाला मन लकड़ी के उस लम्बे-चौड़े लट्ठे के समान है जो स्वल्प जल के प्रवाह में जहाँ-तहाँ अटकता हुआ बहता है।[18] नायिका के सुन्दर अङ्ग पर गड़ी हुई दृष्टि दलदल में फँसी हुई दुर्बल गौ के समान है।[19] गाँव की मनचली युवतियों के लिये एकाकी सुन्दर नायक गाँव में स्थित बड़ वाले कुए के जल के समान है जो शीतल तो है पर चाहने वाली अङ्गनाओं के आधिक्य के कारण देर में प्राप्त होता है।[20]

मान वृक्ष है और आलिङ्गन उसे जड़ से उखाड़ फेंकने वाला पवन।[21] नायिका शर के काण्ड (सरकण्डे) के समान सरल है। तारे मानो बिखेरे हुए पुष्प हैं।[22] बँदरिया का हाथ कौंच के पत्ते जैसा लगता है। बादल भैंसा है और विद्युत् उसकी अन्तड़ियाँ। पलाश-पुष्पों से लदा वन दावाग्नियुक्त सा प्रतीत होता है[23] जिसके भय से हिरन पास नहीं जाते। नायिका के उरोज मुखकमल की छाया में बैठे राजहंस

१. गाथा० १/५२	९. गाथा० ५/५	१७. गाथा० १/६५
२. ,, १/५	१०. ,, ४/९९	१८. ,, २/५
३. ,, २/५०	११. ,, १/५५	१९. ,, ३/७१
४. ,, १/६	१२. ,, ४/१३	२०. ,, ३/९६
५. ,, २/४८, ३/१३	१३. ,, १/६२	२१. ,, ४/४४
६. ,, १/७८	१४. ,, १-६३	२२. ,, ५/११
७. ,, ३/५८, ६/७३, ३/६१	१५. ,, ५-१०	२३. ,, ६/८९
८. ,, ५/४	१६. ,, १/५२	

हैं।[1] जनरव में मिले हुए नायक के शब्द को नायिका उसी प्रकार अलग करके पी लेती है जैसे राजहंसी दूध और जल के मिश्रण में से दूध को।[2] सफेद रंग के बादल ऐसे लगते हैं जैसे सैंधा नमक के पहाड़ या धुनी हुई रूई के पैल।[3] नायक के विरह में नायिका का मुख ऐसा सूना-सूना लगता है जैसे सूखा हुआ निर्भर-कुहर[4] और निर्गुण नायिका पर रीझा हुआ नायक निम्बकीट के समान प्रतीत होता है।[5] नीली कंचुकी से कुछ निकले हुए नायिका के कुच बादल से तनिक निकले हुए चन्द्रमा जैसे प्रतीत होते हैं (४|९५) यौवन नदी के प्रवाहसदृश है जो जाकर नहीं लौटता (१|४५)

प्राकृतिक दृश्यों और वस्तुओं के लिये प्रकृति-भिन्न उपमानों का भी प्रयोग किया गया है। कांस के फूल ऐसे लगते हैं जैसे पृथ्वी का बुढापा प्रकट हुआ है।[6] हरे पत्तों वाले कमल-स्थल में बैठी बकपंक्ति ऐसी प्रतीत होती है मानो मरकत-मणि से बने पात्र में रखा शंख[7] हो। महुए का फूल वियोगी नायक को अपनी गृहिणी के कपोल सा प्रतीत होता है।[8] वियोगिनी को बादल की ध्वनि वध्यपटह (मृत्युदण्ड प्राप्त व्यक्ति का वध करने के समय बजने वाले ढोल) की ध्वनि सी प्रतीत होती है।[9]

लौकिक उपमान

लौकिक उपमानों के अन्तर्गत सामाजिक विश्वास एवं विचार, मानव द्वारा निर्मित पदार्थ, और विभिन्न क्रियाओं के आधार पर जुटाए हुए उपमान आते हैं। इनमें कहीं तो मूर्त के लिये मूर्त और कहीं अमूर्त, तथा अमूर्त के लिये भी मूर्तामूर्त उपमानों की अवतरणा की गई है। बिम्बग्रहण एवं प्रभावसृष्टि में से कोई एक या दोनों ही को लक्ष्य कर सुन्दर ढंग से इन उपमानों की योजना की गई है।

वियोगिनी के वक्ष पर पड़ी काजल से मलिन आंसू की धार ऐसी प्रतीत होती है मानो विरह रूपी आरे से फाड़ने के लिये लगाया हुआ सूत का निशान हो।[10] गुरु मान (रोष) के कारण नायिका वैसे ही क्षीण होती चली जाती है जैसे गुरुमान (भारी बाट) से तोली जाती हुई (अन्न की) रास।[11] कृपण पुरुष का वैभव पथिक की अपनी ही छाया के समान होता है जिसका लाभ वह स्वयं नहीं उठा सकता।[12] दुर्जन व्यक्ति दीपक के समान है जो जिस घर में स्नेह देकर पाला जाता है उसी को अपने व्यापार से मलिन कर देता है।[13] प्रिय को देखते ही मानिनी मुग्धा का

---

१. गाथा० ७/२४ ६. गाथा० ५/३४ १०. गाथा० २/५३
२. ,, ७/७६ ७. ,, १/४ ११. ,, २/५२
३. ,, ७/७९ ८. ,, ७/३१ १२. ,, २/३६
४. ,, ७/९ ९. ,, १/२९ १३. ,, २/३६
५. ,, १/३०

मान बालू की मुट्ठी के समान भुरभुराता हुआ निकल जाता है[1] और दर्शन न होते रहने से प्रेम अंजलि के जल के समान धीरे-धीरे विगलित हो जाता है।[2] मित्र वही है जो दीवार पर चित्रित चित्र की भांति कभी पराङ्मुख नहीं होता[3] लेकिन दुष्ट व्यक्ति मुरज की भांति तभी तक मधुर बोलता है जब तक उसके मुँह में हाथ (द्वारा दिया हुआ भोजन) रहता है, भोजन के समाप्त होते ही वह फिर विरस ध्वनि देने लगता है।[4] बेवफ़ा हृदय में प्रेयसी का दुःख उसी प्रकार अन्दर नहीं पैठता जिस प्रकार दर्पण में प्रतिबिम्ब।[5] चन्द्रमा रात्रिरूपी नायिका का तिलक है[6] और उड़ती हुई सुग्गों की पंक्ति आकाशलक्ष्मी के गले से गिरी पद्मराग और मरकत रत्नों की कण्ठी।[7] प्रिय के क्षणभर के दर्शन से उत्कण्ठा शान्त नहीं होती जैसे स्वप्न में पिये पानी से प्यास।[8] नायिका के वस्त्ररहित अंग का दर्शन एक आश्चर्य है, निधि है, स्वर्ग का राज्य और अमृत का पान है।[9] चारदीवारी की जाली में से जहाँ तहाँ नायक को झाँकने की चेष्टा में चक्कर काटती हुई नायिका पिंजरे में बन्द पक्षी के समान प्रतीत होती है।[10] नायक द्वारा दी हुई कलातिक्रम से शुष्क पुष्पमाला को धारण किये वह उजड़े नगर की देवी के समान प्रतीत होती है।[11] नायक की प्रतीक्षा में वह वंदनवार की भांति दरवाजे पर स्थित रह कर सूखती जाती है।[12] उधर वियोगी नायक के मन से वह प्रच्छन्न पाप की शङ्का के समान निकलती ही नहीं।[13] लहलहाता हुआ धान का खेत किसान को पुत्र के समान आनन्दित करता है[14] और शरदृतु में तालाबों का जल सज्जन पुरुष के हृदय के समान ऊपर से गर्म पर भीतर से शीतल होता है।[15] पति की दरिद्रता के कारण कुलीन पत्नी की गर्भावस्था में किसी वस्तु की इच्छा बान्धवों के प्रति दुर्वाक्य के समान मुख से नहीं निकलती।[16] भाग्य प्रतिकूल होता है तो कार्य बालू की दीवार की भांति सँभालने में ही नहीं आता।[17]

नायिका अँधेरे में दीपशिखा के समान दूर से ही दीखती है।[18] वह अपने कपोल पर प्रिय द्वारा किये चिह्न की न्यास के समान रक्षा करती है[19] और उस मण्डल के मध्य में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा सिन्दूरयुक्त शंखपात्र सा प्रतीत होता है।[20] नायक के वियोग में उसका मुख धनरहित घर और गायों से हीन गोष्ठ की भांति निःश्रीक लगता है[21] नायक के दर्शन की खोज वह धन गाड़कर भूले हुए स्थान की भांति करती है।[22] लज्जालु रमणी के मन की बात निर्धन के अरमान के समान मन में ही विलीन

१.	गाथा०	१/७८	९.	गाथा०	२/२५	१७.	गाथा०	३/४५
२.	,,	३/३६	१०.	,,	३/२०	१८.	,,	५/१५
३.	,,	३/१७	११.	,,	२/९४	१९.	,,	३/१००
४.	,,	३/२३	१२.	,,	३/६२	२०.	,,	७/९
५.	,,	३/४	१३.	,,	२/८३	२१.	,,	४/१८
६.	,,	१/१६	१४.	,,	६/६८	२२.	,,	७/१०
७.	,,	१/७५	१५.	,,	२/८६			
८.	,,	१/९३	१६.	,,	३/९०			

परवर्ती साहित्य पर प्रभाव

* *

प्राकृत की शृङ्गारोपयोगिता और शृङ्गारिक क्षेत्र में उसके प्रभाव पर पीछे विचार किया जा चुका है। यह सत्य है कि प्राकृत-साहित्य पर संस्कृत-साहित्य की परम्पराओं का भारी प्रभाव है और कहना अनुचित न होगा कि वह प्रायः संस्कृत-साहित्य की ही लीक पर चला है, फिर भी प्राकृत-साहित्य अपने आप में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और संस्कृत-काव्य-धारा को नई दिशा देने में उसका भी कुछ योग है। उन्मुक्त प्रेम के चित्रण की परिपाटी संस्कृत में प्राकृत से ही आई। यदि अकेली गाथासप्तशती की ही देन पर विचार किया जाय तो ज्ञात होगा कि संस्कृत के शृङ्गारिक प्रगीत मुक्तकों को प्रभावित करने के अतिरिक्त सप्तशती-परम्परा को जन्म देने का कार्य भी उसी का है जो संस्कृत साहित्य को प्रभावित कर आर्यासप्तशती और तत्पश्चात् रीतिकालीन शृङ्गार-सतसइयों का आदर्श बनी।

संस्कृत साहित्य में रसपरिपाक की दृष्टि से प्रबन्धशतायमान पद्यों के प्रणेता अमरुक भी गाथाकारों के ऋणी हैं। उन्होंने अनेक गाथाओं के भाव छायारूप से अपनाये हैं। उदाहरण लीजिए—

अलिअपसुत्तअविणिमीलिअच्छ दे सुहअ मज्झ ओआसम्।
गण्डपरिउम्बणापुलइअङ्ग ण पुणो चिराइस्सम्[1]॥

सोने के बहाने आँखें मूँदकर पड़े हुए और कपोल-चुम्बन से पुलकित-अङ्ग प्रियतम! मुझे भी (शय्या पर) अवकाश दो। फिर विलम्ब न करूँगी।

इस भाव को अमरुक ने अधिक पल्लवित करके इन श्लोकों की रचना की है—

शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनै-
र्निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम्।
विस्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीम्।
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता।

घर को सूना देख और शयन से कुछ उठकर प्रिया ने सोने का बहाना कर के पड़े हुए प्रिय का मुख देर तक निश्चिन्तता के साथ चूम लिया जिससे उसका कपोल पुलकित हो उठा। यह देखकर वह लज्जित हो गई और प्रियतम ने हँसते हुए उसे देर तक चूमा।

सुप्तोऽयं सखि! सुप्यतामिति गताः सख्यस्ततोऽनन्तरम्।
प्रेमावेशितया मया सरलया न्यस्तं मुखं तन्मुखे।

---

1 सप्तशती १/२०

परवर्ती साहित्य पर प्रभाव

*   *

प्राकृत की श्रृङ्गारोपयोगिता और श्रृङ्गारिक क्षेत्र में उसके प्रभाव पर पीछे विचार किया जा चुका है। यह सत्य है कि प्राकृत-साहित्य पर संस्कृत-साहित्य की परम्पराओं का भारी प्रभाव है और कहना अनुचित न होगा कि वह प्रायः संस्कृत-साहित्य की ही लीक पर चला है, फिर भी प्राकृत-साहित्य अपने आप में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और संस्कृत-काव्य-धारा को नई दिशा देने में उसका भी कुछ योग है। उन्मुक्त प्रेम के चित्रण की परिपाटी संस्कृत में प्राकृत से ही आई। यदि अकेली गाथासप्तशती की ही देन पर विचार किया जाय तो ज्ञात होगा कि संस्कृत के श्रृङ्गारिक प्रगीत मुक्तकों को प्रभावित करने के अतिरिक्त सप्तशती-परम्परा को जन्म देने का कार्य भी उसी का है जो संस्कृत साहित्य को प्रभावित कर आर्यासप्तशती और तत्पश्चात् रीतिकालीन श्रृङ्गार-सतसइयों का आदर्श बनी।

संस्कृत साहित्य में रसपरिपाक की दृष्टि से प्रबन्धशतायमान पद्यों के प्रणेता अमरुक भी गाथाकारों के ऋणी हैं। उन्होंने अनेक गाथाओं के भाव छायारूप से अपनाये हैं। उदाहरण लीजिए—

> अलिअपसुत्तअविणिमीलिअच्छ दे सुहअ मज्झ ओआसम्।
> गण्डपरिउम्बणापुलइअङ्ग ण पुणो चिराइस्सम्[1]॥

सोने के बहाने आँखें मूंदकर पड़े हुए और कपोल-चुम्बन से पुलकित-अङ्ग प्रियतम! मुझे भी (शय्या पर) अवकाश दो। फिर विलम्ब न करूँगी।

इस भाव को अमरुक ने अधिक पल्लवित करके इन श्लोकों की रचना की है—

> शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनै-
> र्निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम्।
> विस्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीम्।
> लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता।

घर को सूना देख और शयन से कुछ उठकर प्रिया ने सोने का बहाना कर के पड़े हुए प्रिय का मुख देर तक निश्चिन्तता के साथ चूम लिया जिससे उसका कपोल पुलकित हो उठा। यह देखकर वह लज्जित हो गई और प्रियतम ने हँसते हुए उसे देर तक चूमा।

> सुप्तोऽयं सखि! सुप्यतामिति गताः सख्यस्ततोऽनन्तरम्।
> प्रेमावेशितया मया सरलया न्यस्तं मुखं तन्मुखे।

[1] गाथासप्तशती १/२०

ज्ञातेऽलीकनिमीलने नयनयोर्धूर्तस्य रोमाञ्चतो ।
लज्जासीन्मम तेन साप्यपहृता तत्कालयोग्यैः क्रमैः[1]

सखियाँ, यह कह कर कि, 'यह तो सो गये तुम भी सो जाओ,' अपने घर चली गई। मैंने सरल स्वभाव से प्रेमावेश में प्रिय के मुख पर अपना मुख रख दिया किन्तु उस कपटी के रोमाञ्च से उसके झूठे ही आँखें बन्द करने का भेद खुला तो मुझे लज्जा आ गई। उसने समयोचित व्यापारों से उसे भी दूर कर दिया।

आअम्बन्तकवोलं खलिअक्खरजम्पिरि फुरन्तोट्ठिम् ।
मा छिवसु त्ति सरोसं समोसरन्तिं पिअं भरिमो[2] ।

तमतमाते कपोल और फड़कते हुए ओठ से टूटे-फूटे शब्दों में कोपवश यह कह कर कि 'मुझे मत छुओ' जाती हुई प्रिया की स्मृति आज भी आती है।

गाथा के इस भाव को अमरुक ने इस प्रकार प्रकट किया है—

स्वं दृष्ट्वा करजक्षतं मधुमदक्षीवा विचार्येर्ष्यया ।
गच्छन्ती क्व नु गच्छसीति विधृता बाला पटान्ते मया ।
प्रत्यावृत्तमुखी सबाष्पनयना मां मुञ्च मुञ्चेति सा ।
कोपप्रस्फुरिताधरा यदवदत्तत् केन विस्मार्यते[3] ।

अपने द्वारा ही (मेरे अङ्ग पर) किये हुए नखचिह्न को देख कर मधुमत्त प्रिया जब ईर्ष्यावश कुछ सोच कर जाने लगी तो मैंने यह कहते हुए 'कि कहाँ जा रही हो' ? उसका आँचल पकड़ लिया। उसने मुड़कर सजल नयनों और कोप से काँपते अधरों से जो कुछ कहा उसे कौन भुला सकता है ?

गाथाकार की एक विरहिणी अपनी सखी से कहती है—

अज्ज सहि केण गोसे कंपि मणे वल्लहं भरन्तेण ।
अह्मं मअणसराहअहिअअव्वणफोडनं गीअम् ॥[4]

हे सखि ! जान पड़ता है आज प्रातः ही किसी ने अपनी प्रियतमा का स्मरण करते हुए ऐसा गीत गाया जिसने हमारे काम के बाणों से आहत हृदय के घावों पर चोट की।

इस भाव को अमरुक ने इस प्रकार प्रकट किया है:—

रात में जलभरे मेघ की ध्वनि सुनकर बेचैन सजल-नयन पथिक ने अपने वियोग का सूचक गीत ऐसी विकलता के साथ गाया कि लोगों ने, प्रवास की बात तो दूर रही, मान को भी तिलाञ्जलि दे दी।

एक अन्य श्लोक में भी अमरुक ने कहा है कि आधी रात में मेघध्वनि सुनकर आह और आँसू भर कर पथिक ने विरहिणी प्रिया को स्मरण करते हुए ऐसा क्रन्दन किया कि तब से लोगों ने किसी पथिक को गाँव में ठहराना बन्द कर दिया।[1]

गाथाकार के नायक-नायिका का यह आलाप सुनिए—

पसिअ पिए का कुविआ सुअणु तुमं परअणम्मि को कोवो।
को हु परो नाथ तुमं कीस अपुण्णाणं मे सत्ती[2]॥

'प्रिये मान जाओ'!
'कुपित ही कौन हैं'?
'सुन्दरि! तुम'
'पराये आदमी पर क्या रोष'?
'पराया कौन है'?
'तुम'
'कैसे'
'मेरी बुरी तकदीर के कारण'

अब अमरुक के नायक-नायिका के वार्तालाप से इसकी तुलना कीजिए—

बाले नाथ विमुञ्च मानिनि रुषं रोषान्मया किं कृतम्।
खेदोऽस्मासु न मेऽपराध्यति भवान् सर्वेऽपराधा मयि।
तत्किं रोदिषि गद्गदेन वचसा कस्याग्रतो रुद्यते।
नन्वेतन्मम का तवास्मि दयिता नास्मीत्यतो रुद्यते।[3]

'बाले'!
'नाथ!
'मानिनि! रोष को छोड़ दो'
'रोष से मैंने कर भी क्या दिया'
'मुझे दुःख'
'आप तो कुछ करते ही नहीं, सब दोष मुझ में ही हैं।'
'तो फिर रुँधे हुए कण्ठ से क्यों रो रही हो?'
'किसके आगे रोती हूँ'
'अरे! मेरे आगे'

---

१. अमरुक शतक १२
२. गाथा० ४/८४
३. अमरुक

'तुम्हारी मैं होती ही कौन हूँ ?

'प्रिया'

'यही तो नहीं हूँ, तभी रो रही हूँ।'

स्पष्ट है कि अमरुक का श्लोक अधिक मार्मिक है किन्तु इससे गाथाकार के ऋण से इनकार नहीं किया जा सकता। बस इतना कह सकते हैं कि अमरुक ने उधार लिये हुए भाव का अत्यन्त सुन्दर उपयोग किया है और उसकी श्रीवृद्धि भी की है। यही उसकी मौलिकता है।

गाथा की इस मानिनी की खीज भी देखिए जो प्रियदर्शन के लिए मचलते हुए अपने हृदय की भर्त्सना इन शब्दों में करती है—

उज्झसि उज्झसु कढसि कढसु अह फुडसि हिअअ ता फुडसु।
तह वि परिसेसिओ च्चिअ सो हु मए गलिअसब्भावो ॥[1]

हृदय ! यदि तुम जलते हो तो जलो, औटते हो तो औटते रहो और विदीर्ण होते हो तो हुआ करो, मैं तो उस कम्बख्त प्रेम को त्याग चुकी।'

रससिद्ध कवि अमरुक ने इसी भाव को यों पल्लवित किया है—

स्फुटतु हृदयं कामः कामं करोतु तनुं तनुम्।
न सखि ! चपलप्रेम्णा कार्यं पुनर्दयितेन मे।
इति सरभसं मानावेशादुदीर्य वचस्तया।
रमण-पदवी सारङ्गाक्ष्या निरन्तरमीक्षिता ॥[2]

हृदय फटता है तो फटा करे; काम शरीर को क्षीण करता है तो किया करे; किन्तु सखि ! अस्थिर-प्रेम प्रिय से मेरा अब कोई सरोकार नहीं।' मृगनयनी मान के आवेश में एकदन यह कहकर निरन्तर उस ओर देखती रही जिधर उसका प्रिय चला गया था।

एक गाथा में सिखाने पर भी मानधारण करने में असमर्थ नायिका को उपालम्भ देती हुई सखी कहती है।

पाअपडणाणं मुद्धे रहसबलामोडिचुम्बिअव्वाणम्।
दंसणमेत्तपसण्णे चुक्कासि सुहाणं बहुआणम् ॥[3]

चरणपतनं सख्यालापा मनोहरचाटवः।
कृशतरतनोर्गाढाश्लेषो हठात्परिचुम्बनम्।
इति हि चपलो मानारम्भस्तथापि हि नोत्सहे।
हृदयदयितः कान्तः कामं किमत्र करोम्यहम्।[1]

प्रियतम का चरणों में गिरना, सखियों के आलाप; मनोहर मनुहारें, क्षीणतर शरीर का गाढ आलिङ्गन और वलपूर्वक चुम्बन आदि मान के आकर्षण हैं, फिर भी मुझे मान करने के लिये उत्साह ही नहीं होता। क्या करूँ? प्रियतम हृदय को प्यारे ही लगते हैं।

इसी प्रकार का एक अन्य उदाहरण लीजिए—

तस्स कहाकण्टइए सद्दाअण्णणसमोसरिअकोवे।
समुहालोअणकम्पिरि उवऊढा किं पवज्जिहिसि।[2]

उसके उल्लेखमात्र से रोमाञ्चित, शब्द सुनने से ही विगतरोष तथा सम्मुख दर्शन से ही कम्पयुत हो उठने वाली! आलिङ्गन करने पर तेरी क्या दशा होगी?

उत्तर अमरुक की नायिका देती है—

श्रुत्वा नामापि यस्य स्फुटघनपुलकं जायतेऽङ्गं समन्तात्।
दृष्ट्वा यस्याननेन्दुं भवति वपुरिदं चन्द्रकान्तानुकारि।
तस्मिन्नागत्य कण्ठग्रहनिकटपदस्थायिनि प्राणनाथे।
भग्ना मानस्य चिन्ता भवति मयि पुनर्वज्रमय्यां कदाचित्।[3]

जिसका नाम सुनकर अङ्ग पुलकित हो जाता है और जिसके मुखचन्द्र को देखकर शरीर चन्द्रकान्त मणि का अनुकरण करने लगता है (स्वेद से भीग जाता है) वही प्राणनाथ जब इतने समीप आ जायें कि आलिङ्गन हो सके, तो मान का टूटा हुआ इरादा मुझ पापाणी में फिर कभी हो सकता है?

गाथा की नायिका सारिका द्वारा अपनी सुरतकेलि का भेद गुरुजन के समक्ष खोल देने पर लज्जित है—

णिहुअणसिप्पं तह सारिआइ उल्लाविअं म्ह गुरुपुरओ।
जह तं वेलं माए ण आणिमो कत्थ वच्चामो॥[4]

सारिका (मैना) ने गुरुजन के समक्ष सुरतकला को ऐसा प्रकट किया कि उस समय मन में यही आया कि न जाने कहाँ चली जाऊँ?

अमरुक की नायिका के साथ तोते ने यही हरकत की किन्तु उसने बुद्धिमानी से परिस्थिति को सँभाल लिया—

---

१. अमरु० ६५
२. गाथा० ७,५८
३. अमरु० ५६
४. गाथा० १/८२

तन्व्या सर्वमिदं स्वभावजमिति व्याहृत्य पक्ष्मान्तर -
व्यापी बाष्पभरस्तया चलितया निःश्वस्य मुक्तोऽन्यतः ।[१]

'मुग्धे ! तुम्हारे अङ्गों की कृशता और कम्प का कारण क्या है और तुम्हारा मुख पाण्डुकपोल क्यों है' ? प्राणनाथ के यह पूछने पर कृशाङ्गी नायिका ने यह कह कर कि 'यह सब कुछ प्रकृति-जन्य है' दीर्घ श्वास के साथ पलकों में उलझे हुए आँसुओं को एक ओर हटकर छोड़ दिया ।

प्रवासी प्रियतम की शिकायत के रूप में गाथा की नायिका कहती है :—

दिट्ठा चूआ अग्घाइआ सुरा दक्खिणाणिलो सहिओ ।
कज्जाइं व्विअ गरुआइं मामि को वल्लहो कस्स[२] ।

आम को बौराया हुआ देखा, सुरा की गन्ध भी ली और दक्षिण पवन को भी सह लिया (किन्तु प्रिय अब भी नहीं आये) । मामी ! कौन किस का प्यारा है, लोग काम को ही महत्त्व देते हैं ।

अमरुक की नायिका भी कुछ ऐसा ही भाव प्रकट करती है :—

मलयमरुतां व्राता वाता विकासितमल्लिका -
परिमलभरो भग्नो ग्रीष्मस्त्वमुत्सहसे यदि ।
घन घटयितुं तं निःस्नेहं य एव निवर्तने
प्रभवति गवां किं नश्छिन्नं स एव धनञ्जय[३] ।।

दक्षिण पवन भी चला और चमेली को विकसित करके सौरभ से सम्पन्न ग्रीष्म भी समाप्त हो गया । हे घन ! शायद तुम उस स्नेह-हीन को (मुझ से) मिलाने के लिये उत्सुक हो । हमारा क्या जाता है ? हमारे लिये तो जो भी गौओं को लौटा लाये वही धनञ्जय ।

गाथाकार ने श्रेष्ठ महिलाओं के मान का लक्षण इस प्रकार किया है—

हसिएहिं उवालम्भा अच्चुवचारेहिं रूसिअव्वाइं ।
अंसूहिं भण्डणाइं एसो मग्गो सुमहिलाणं[४] ।।

हँसी के द्वारा उपालम्भ, अति शिष्टाचार द्वारा रोष तथा आँसुओं से कलह प्रकट करना, श्रेष्ठ महिलाओं का मार्ग यही है ।

अमरुक ने इस लक्षण को चरितार्थ करते हुए रचना प्रस्तुत की है :—

कृतो दूरादेव स्मितमधुरमभ्युद्गमविधिः ।
शिरस्याज्ञा न्यस्ता प्रतिवचनमत्यानतिमति ।

---

१. अमरुक ८४
२. गाथा० [illegible]
३. अमरुक [illegible]
४. गाथा० [illegible]

न वृष्टेः शैथिल्यं मिलन इति चेतो दहति मे ।
निगूढान्तःकोपा कठिनहृदये संवृतिरियं ॥[1]

दूर से ही मुस्कान के साथ मधुर अभ्युत्थान दे दिया । अत्यन्त विनय के साथ सिर झुका कर आज्ञा स्वीकार की । दृष्टि मिलने पर दृष्टि में कोई शैथिल्य नहीं आया । इस सब ने मेरे हृदय को सतप्त कर दिया है । हे कठिन-हृदये ! तुम्हारे इस (अन्यादर के) आवरण में कोप अन्तर्निहित है ।

प्रणयकुपित नायक को मनाती हुई गाथा की नायिका कहती है :—

वालअ तुमाहि अहिअं णिअअं विअ वल्लहं महं जीअम् ।
तं तइ विणा ण होइ त्ति तेण कुविअं पसाएम ॥[2]

बालक ! तुमसे भी अधिक प्यारा मुझे अपना जीवन है । तुम्हारे बिना वह न रह सकेगा इसीलिये तुमको मना रही हूँ ।

अमरुक इसी भाव को इस प्रकार व्यक्त करते है :—

चिन्तामोहविनिश्चलेन मनसा मौनेन पादानतः ।
प्रत्याख्यानपराङ्मुखः प्रियतमो गन्तुं प्रवृत्तोऽधुना ।
सव्रीडैरलसैर्निरन्तरलुठद्बाष्पाकुलैरीक्षणैः
श्वासोत्कम्पिकुचं निरीक्ष्य सुचिरं जीवाशया वारितः ॥[3]

चरणों में झुकने पर भी मनुहार स्वीकृत न हुई देखकर पराङ्मुख प्रिय चिन्तामूढ मन से चुपचाप जाने लगे तो प्रिया ने निरन्तर आँसू बरसाते हुए लजीले अलस नयनों से देर तक देख कर जीने की आशा से रोक लिया ।

प्रिया के अधररस के समक्ष अमृत को तुच्छ स्वीकार करता हुआ गाथाकार कहता है :—

मण्णे आसाओ च्चिअ ण पाविओ पिअअमाहररसस्स ।
तिअसेहिं जेण रअणाअराहि अमअं समुद्धरिअं ॥[4]

जान पड़ता है देवताओं को प्रियतमा के अधररस का अस्वादन ही नहीं प्राप्त हुआ था तभी तो उन्होंने समुद्र से अमृत निकाला ।

इसी भाव को अमरुक ने प्रकारान्तर से व्यक्त किया है :—

संदष्टेऽधरपल्लवे सचकितं हस्ताग्रमाधुन्वती ।
मा मा मुञ्च शठेति कोपवचनैरानर्तितभ्रूलता ।
सीत्काराञ्चितलोचना सरभसं यैश्चुम्बिता मानिनी ।
प्राप्तं तैरमृतं श्रमाय मथितो मूढैः सुरैः सागरः ॥[5]

१. अमरुक १५
२. गाथा० ३/१५
३. अमरुक ८७
४. गाथा० ६/६३
५. अमरुक ३७

अधरपल्लव का दंशन करने पर हाथ हिलाकर क्रोध के साथ यह कहती हुई कि 'शठ मुझे छोड़ो' तथा भ्रकुटि चढाकर सिसियाती हुई मानिनी का चुम्बन जिन्होंने किया, अमृत उन्हीं को मिला। मूढ सुरगण ने तो व्यर्थ ही परिश्रम-मात्र के लिये सागर का मन्थन किया।

गाथा की विरहिणी नायिका सर्वत्र प्रियतम की ही मूर्ति के दर्शन करती है:—

जं जं पुलएमि दिसं पुरओ लिहिअ व्व दीससे तत्तो।
तुह पडिमापडिवाडिं वहइ व्व सअलं दिसाअक्कम् ॥[1]

जिस-जिस दिशा की ओर आगे देखती हूँ वहीं वहीं तुम चित्रित दृष्टि आते हो। मानो सम्पूर्ण दिङ्मण्डल तुम्हारी प्रतिमाओं की पक्तियाँ धारण किए हुए है।

अमरुक का नायक नायिका के विरह में ऐसा ही अनुभव करता हुआ अद्भुत अद्वैतवाद की सृष्टि करता है :—

प्रासादे सा दिशि दिशि च सा पृष्ठतः सा पुरः सा।
पर्यङ्के सा पथि पथि च सा तद्वियोगातुरस्य।
हंहो चेतः प्रकृतिरपरा नास्ति मे कापि सा सा।
सा सा सा सा जगति सकले कोऽयमद्वैतवादः ॥[2]

उसके वियोग में आतुर होने के कारण मुझे प्रासाद और दिशाओं में, आगे-पीछे, पलँग अथवा मार्ग पर वही दिखाई देती है। मेरे चित्त का और कोई स्वभाव रह ही नहीं गया है। समस्त जगत् में वही वह है। यह कैसा अद्वैतवाद है!

गाथाकार का एक नायक कहता है कि प्रियतमा के मनोहर तथा अमूल्य मुखदर्शन की बात तो जाने दीजिये, उसके गाँव के क्षेत्र की सीमा भी आनन्द प्रदान करती है।[3]

अमरुक का नायक अपनी प्रेयसी की गली में चक्कर काटने में परा निर्वृति अनुभव करता है :—

आस्तां दूरेण तावत्सरभसदयितालिङ्गनानङ्गलाभ।
स्तद्गेहोपान्तरथ्याभ्रमणमपि परां निर्वृतिं संतनोति ॥[4]

प्रिया के बलपूर्वक आलिङ्गन से स्फूर्जित अनङ्गरङ्ग तो दूर रहा उसके घर के पास की गली में घूमने में भी अत्यन्त आनन्द मिलता है।

सखी से अपने सौभाग्य का वर्णन करती हुई गाथा की नायिका कहती है :—

एक्कं पहरुव्विण्णं हत्थं मुहमारुएण वीअन्तो।
सो वि हसन्तीएँ मए गहिओ बीएण कण्ठम्मि ॥

---

१. गाथा० ६/३७
२. अमरुक १०१
३. गाथा० २/६८
४. अमरुक १००

श्रीहर्ष के नागानन्द का निम्नलिखित प्रसिद्ध श्लोक इसी भाव पर आधारित है :—

दृष्टा दृष्टिमधो ददाति कुरुते नालापमाभाषिता ।
शय्यायां परिवृत्य तिष्ठति बलादालिङ्गिता वेपते ।
निर्यान्तीषु सखीषु वासभवनान्निर्गन्तुमेवेहते ।
जाता वामतयैव सम्प्रति मम प्रीत्यै नवोढा वधूः ॥

(मेरे द्वारा) देखी जाने पर दृष्टि नीचे कर लेती है, बोलने पर भाषण नहीं करती, शय्या पर मुँह फेर कर लेटती है, बलपूर्वक आलिङ्गन करने पर काँपने लगती है, सखियाँ वासगृह से निकल जाती हैं तो वह भी उनके साथ ही निकल जाना चाहती है। इस प्रकार वामता धारण करने पर भी नव वधू मेरे हृदय में प्रेम ही उत्पन्न करती है।

णीसासुक्कम्पिअपुलइएहिँ जाणन्ति णच्चिउं धण्णा ।
अम्हारिसीहिँ दिट्ठे पिअम्मि अप्पा वि वीसरिओ ॥'

इस गाथा में कोई सुन्दरी अपने सौभाग्य का प्रदर्शन करती हुई कहती है कि जो निश्वास, कम्प और पुलक के साथ नाचना जानती हैं, वे धन्य हैं। हम जैसी तो प्रिय को देखते ही अपने आप को भी भूल जाती हैं।

प्रसिद्ध कवयित्री विज्जका की इस उक्ति की उपर्युक्त गाथा से तुलना कीजिए—

धन्यासि या कथयसि प्रियसङ्गमेऽपि विस्रब्धचाटुकशतानि रतान्तरेषु ।
नीवीं प्रति प्रणिहिते तु करे प्रियेण सख्यः शपामि यदि किंचिदपि स्मरामि ॥

सखि ! तू धन्य है जो प्रिय के साथ रमण करती हुई भी सैकड़ों प्रकार की प्रेमभरी मीठी-मीठी बातें कर लेती है। सखियो ! मैं तो शपथ-पूर्वक कहती हूँ कि प्रिय के मेरी नीवी की ओर हाथ बढ़ाते ही मुझे तो कुछ भी याद नहीं रहता।

मानिनी नायिका का आँचल नायक ने पकड़ा तो वह उसे झटक कर तेजी से चल दी। इसपर नायक ने उससे जो कुछ कहा वह गाथाकार के शब्दों में इस प्रकार है—

अतः हम सब को और हमारे साथ कामदेव को (जो इस विडम्बना का मूल कारण है) धिक्कार है।

ग्रीष्मऋतु की उष्णता से बेचैन प्राणियों का वर्णन करता हुआ गाथाकार कहता है—

गिरिसोत्तो त्ति भुअंगं महिसो जीहइ लिहइ संतत्तो।
महिसस्स कल्लवत्थरभरो त्ति सप्पो पिअइ लालम् ॥ ६/५१ ॥

संतप्त भैंसा यह समझ कर कि यह पहाड़ी सोता है, सर्प को जीभ से चाटता है और सर्प भी उसकी लार को काले पत्थरों से टपकता हुआ स्रोत समझकर पी रहा है।

भवभूति ने भी कुछ ऐसा ही भाव प्रकट किया है—

सीमानः प्रदरोदरेषु विरलस्वच्छाम्भसो यास्वयम्।
तृष्यद्भिः प्रतिसूर्यकैरजगरस्वेदद्रवः पीयते ॥[1]

ये (जनस्थान के) वे प्रदेश है जहाँ विरल जल वाली गुफाओं में प्यासे गिरगिट अजगरों के स्वेदजल को पी रहे हैं।

विरहिणी नायिका का वर्णन करती हुई कोई सखी गाथासप्तशती में कहती है—

भरिउच्चरन्तपसरिअपिअसंभरणपिसुणो वराईए।
परिवाहो विअ दुक्खस्स वहइ णअणट्ठिओ बाहो ॥४/७७॥

उस बेचारी के नयनों में स्थित प्रिय के स्मरण का सूचक अश्रुजल लबालब भर कर ऊपर से प्रसृत होता हुआ दुःख के परीवाह सदृश बहता रहता है।

भवभूति ने भी यही भाव प्रकट किया है—

पूरोत्पीडे तडाकस्य परीवाहः प्रतिक्रिया।
शोकक्षोभे च हृदयं प्रलापैरेव धार्यते ॥[2]

जल का आधिक्य होने पर तालाब के किनारों को लांघ कर बहना ही उसकी प्रतिक्रिया है। शोक और क्षोभ में हृदय प्रलापों द्वारा ही धारण किया जाता है।

गाथाकार की नायिका का सौन्दर्य देखिए—

पिअदंसणसुहरसमउलिआइँ जइ से ण होन्ति णअणाइँ।
ता केण कण्णरइअं लक्खिज्जइ कुवलअं तिस्सा ॥[1]

यदि उसके नयन प्रियतम के दर्शन सुख से मुकुलित न हो जाते तो कान में पहिना हुआ कुवलय किसे दीख पड़ता ?

काव्यप्रकाश में उदाहृत यह श्लोक भी इसके साथ रख लीजिए—

अप्यपि साहसकारिणि ! किं तव चङ्क्रमणेन ।
दलदिति भङ्गमवाप्स्यसि कुचयुगभारभरेण ॥

अयि साहसकारिणि ! चक्कर काटने (भाई-माई फिरने) में क्या लोगी ? अपने कुचों के भार से दस् से बीच में से टूट जाओगी ।

गाथा का वियोगी नायक मेघ से प्रार्थना करता है—

गज्ज महं च्चिअ उवरिं सव्वत्थामेण लोहहिअअस्स ।
जलहर लम्बालइअं मा रे मारेहिसि वराइं ॥

हे जलधर ? मुझ लोहहृदय के ऊपर अपनी पूरी-शक्ति के साथ गरज । अरे बेचारी लम्बे केशों वाली (मेरी वियोगिनी) को मत मारना ।

काव्य प्रकाश के चतुर्थ समुल्लास में उदाहृत यह श्लोक भी इसी भाव को प्रस्तुत करता है—

स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेल्लद्बलाका घनाः ।
वाताः शीकरिणः पयोदसुहृदामानन्दकेकाः कलाः ॥
कामं सन्तु दृढं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे ।
वैदेही तु कथं भविष्यति ह हा हा देवि धीरा भव ॥

स्निग्ध और श्यामल कान्ति से आकाश को भर देने वाले मेघ जिनमें बकपंक्तियाँ सविलास खेल रही हैं, जलकणों से आर्द्र वायु, मोरों की आनन्दजन्य केका, सब कुछ होवे और पर्याप्त होवे । मैं तो कठोरहृदय राम हूँ न, सब कुछ सह सकता हूँ, किन्तु वैदेही कैसी हो रही होगी । हा देवि ! तुम धैर्य रखना ।

प्रेमचक्र की विडम्बना का उद्घाटन करती हुई गाथा की नायिका नायक से कहती है—

सा तुज्झ वल्लहा तं सि मज्झ वेसो सि तीअ तुज्झ अहम् ।
बालअ फुडं भणामो पेम्मं किर बहुविआरं त्ति ॥ गाथा० २/२६

हे बालक ! (अविवेकी) वह तुम्हारी प्रिया है, तुम मेरे प्रिय हो, उसे तुम से द्वेष है और तुम्हें मुझ से । प्रेम में बहुत दोष हैं ।

भर्तृहरि का यह निर्वेदपरक श्लोक भी द्रष्टव्य है जो उनके जीवन की किसी सत्य घटना से संबद्ध माना जाता है—

यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता ।
साप्यन्यमिच्छति जनं स जनोऽन्यसक्तः ॥
अस्मत्कृते तु परितुष्यति काचिदन्या ।
धिक् तां च तं च मदनं च इमां च मां च ॥

मैं जिसे चाहता हूँ वह मुझ से विरक्त है तथा किसी अन्य व्यक्ति को चाहती है । वह व्यक्ति भी अन्य सुन्दरी में आसक्त है जो उसे न चाह कर मुझे चाहती है ।

हे उपकारक ज्वर ! प्राण लेते हुए भी तुमने दुर्लभ व्यक्ति को दूर से कुशल पूछने के लिये यहाँ लाने के कारण मेरा कोई अपराध नहीं किया है। (अपितु उपकार किया है।)

ज्वर ! वीतौषधबाधस्तिष्ठ सुखं दत्तमङ्गमखिलं ते।
असुलभलोकाकर्षणपाषाण सखे न मोक्ष्यसि माम्। आर्या० २४०

हे ज्वर ! मैंने प्रसन्नता के साथ तुम्हें अपना शरीर दिया। औषधि के भय से रहित होकर रहो, दुर्लभ व्यक्ति को खींच लाने वाले चुम्बक ! मुझे छोड़ कर न जाओ।

महिलासहस्सभरिए तुह हिअए सुहअ सा अमाअन्ती।
दिअहं अणण्णकम्मा अङ्गं तणुअं पि तणुएइ ॥ गाथा० २|८२

हे सुभग ! सहस्रों महिलाओं से भरे तुम्हारे हृदय में स्थान न पाने के कारण वह दिन भर अन्य काम छोड़ कर अपने कृश शरीर को और भी कृश करती रहती है।

गाथा के इस भाव को आर्याकार ने कुछ घुमा-फिरा कर इस प्रकार प्रस्तुत किया है।

प्रददाति नापरासां प्रवेशमपि पीनतुङ्गजघनोरुः।
या लुप्तकीलभावं याता हृदि वहिरदृश्यापि ॥ आर्या ३७४

पीन जघनस्थल वाली वह सुन्दरी, जो बाहर न दिखती हुई भी हृदय में गुप्त कील के सदृश गड़ी हुई है, अन्य सुन्दरियों का प्रवेश नहीं होने देती।

गाथाकार ने विष्णु तथा लक्ष्मी के विपरीत सुरत की अभिव्यक्ति व्यञ्जना द्वारा की है—

तं णमह जस्स वच्छे लच्छिमुहं कोत्थहम्मि संकन्तम्।
दीसइ मअपरिहीणं ससिविम्वं सूरविम्व व्व ॥

जिसके वक्ष पर कौस्तुभ-मणि में प्रतिविम्बित लक्ष्मी का मुख सूर्य-मण्डल में स्थित मृग-रहित चन्द्रमण्डल के सदृश प्रतीत होता है, उसे नमस्कार करो।

आचार्य गोवर्धन ने इसी भाव को अभिधा में इस प्रकार कहा है—

प्रतिविम्बितप्रियातनु सकौस्तुभं जयति मधुभिदो वक्षः।
पुरुषायितमभ्यस्यति लक्ष्मीर्यद्वीक्ष्य मुकुरमिव ॥ आर्या० १२

विष्णु भगवान् के कौस्तुभ-मण्डित वक्ष की, जिसे दर्पण के समान देखती हुई लक्ष्मी विपरीतरति का अभ्यास करती है और जिस में उसका (लक्ष्मी) का शरीर प्रतिविम्बित है, जय हो।

गाथा में गतयौवना के कुचों की उपमा कृतकार्य भटों (वीरों) से दी गई है—

वेत्रत्वचातुल्यरुचां वधूनां कर्णाग्रतो गण्डतलागतानि ।
भृङ्गाः सहेलं यदि नापतिष्यन् कोऽवेदयिष्यन्नवचम्पकानि ॥[1]

बेंत के छिलके के समान कान्ति वाली वधूओं के कान से कपोलों पर लटके हुए चम्पा के फूलों पर यदि भौंरे न टूट पड़े होते तो कौन जान पाता ?

नायिका के मुख की प्रशंसा गाथा का नायक इस प्रकार करता है—

तुह मुहसारिच्छं ण लहइ त्ति संपुण्णमण्डलो विहिणा ।
अण्णमअं व्व घडइउं पुणो वि खण्डिज्जइ मिअङ्को ॥[2]

तुम्हारे मुख के समान न बन पड़ने के कारण विधि मानो अन्य चन्द्रमा (जो तुम्हारे मुख के समान ही हो) का निर्माण करने के लिये संपूर्ण चन्द्र को तोड़ दिया करता है।

श्रीहर्ष ने हंस के मुख से नल का वर्णन इस प्रकार कराया है—

धिक् तं विधेः पाणिमजातलज्जं निर्माति यः पर्वणि पूर्णमिन्दुम् ।
मन्ये स विज्ञः स्मृततन्मुखश्रीः कृत्वार्धमौज्झद्धरमूर्ध्नि यस्तम् ॥[3]

ब्रह्मा के उस निर्लज्ज हाथ को धिक्कार है जो पूर्णिमा के दिन पूर्णचन्द्र का निर्माण करता है (क्योंकि वह नल के मुख के समान उसे कभी नहीं बना पाया) मेरे विचार से तो विधि का वह हाथ विवेकी था जिसने नल के मुख की शोभा याद आते ही अध-बने चन्द्रमा को शिव के सिर पर त्याग दिया।

आर्या सप्तशती तो सर्वथा गाथासप्तशती अथवा गाहासत्तसई के अनुकरण पर लिखा हुआ मुक्तक कोश है और नामकरण, आकार-प्रकार, वर्ण्यविषय आदि की दृष्टि से पूर्णतया उसी पर आधृत है। गोवर्धनाचार्य ने अपनी आर्याओं का संग्रह आकारादि के क्रम से व्रज्याओं में अवश्य किया है। एक-दो नहीं, पचासों गाथाओं की भावच्छाया ग्रहण करके इन्होंने अपनी आर्याओं की रचना की है और स्पष्ट कहा है कि प्राकृत भाषा की ही एकाधिकार समझी जाने वाली शृङ्गारिक वाणी को वे बलात् संस्कृत में खींच लाये हैं।[4] इस उक्ति से ऐसा आभास मिलता है कि आचार्य गोवर्धन से पहले संभवतः गाथासप्तशती के आधार पर संस्कृत में कोई अन्य रचना अस्तित्व में नहीं आई थी और वे पहले कवि थे जो इस ओर आजमाइश करने के इरादे से प्रवृत्त हुए। गाथाओं के भाव पर आधृत उनकी कुछ आर्याएँ देखिए—

मुहपुच्छिअं जणं दुल्लहं वि दूराहि अम्ह आणन्त ।
उअआरअ जर जीअं पि णेन्त ण कआवराहोसि गाथा० १/५०

---

१. काव्यप्रकाश, (झलकीकर) पृष्ठ ७४०
२. गाथा० ३/७
३. नैषधीयचरित २/३२
४. वाणी प्राकृत समुचितरसा बलादेव संस्कृतं नीता ।

हे उपकारक ज्वर ! प्राण लेते हुए भी तुमने दुर्लभ व्यक्ति को दूर से कुशल पूछने के लिये यहाँ लाने के कारण मेरा कोई अपराध नहीं किया है। (अपितु उपकार किया है।)

ज्वर ! वीतौषधबाधस्तिष्ठ मुदा दत्तमङ्गमखिलं ते ।
असुलभलोकाकर्षणपाषाण सखे न मोक्ष्यसि माम् । आर्या० २४०

हे ज्वर ! मैंने प्रसन्नता के साथ तुम्हें अपना शरीर दिया । औषधि के भय से रहित होकर रहो, दुर्लभ व्यक्ति को खींच लाने वाले चुम्बक ! मुझे छोड़ कर न जाओ ।

महिलासहस्सभरिए तुह हिअए सुहअ सा अमाअन्ती ।
दिअहं अणण्णकम्मा अङ्गं तणुअं पि तणुएइ ॥ गाथा० २।८२

हे सुभग ! सहस्रों महिलाओं से भरे तुम्हारे हृदय में स्थान न पाने के कारण वह दिन भर अन्य काम छोड़ कर अपने कृश शरीर को और भी कृश करती रहती है ।

गाथा के इस भाव को आर्याकार ने कुछ घुमा-फिरा कर इस प्रकार प्रस्तुत किया है ।

प्रददाति नापरासां प्रवेशमपि पीनतुङ्गजघनोरुः ।
या लुप्तकीलभावं याता हृदि बहिरदृश्यापि ॥ आर्या ३७४

पीन जघनस्थल वाली वह सुन्दरी, जो बाहर न दिखती हुई भी हृदय में गुप्त कील के सदृश गड़ी हुई है, अन्य सुन्दरियों का प्रवेश नहीं होने देती ।

गाथाकार ने विष्णु तथा लक्ष्मी के विपरीत सुरत की अभिव्यक्ति व्यञ्जना द्वारा की है—

तं णमह जस्स वच्छे लच्छिमुहं कोत्थुहम्मि संकन्तम् ।
दीसइ मअपरिहीणं ससिबिम्बं सूरबिम्ब व्व ॥

जिसके वक्ष पर कौस्तुभ-मणि में प्रतिबिम्बित लक्ष्मी का मुख सूर्य-मण्डल में स्थित मृग-रहित चन्द्रमण्डल के सदृश प्रतीत होता है, उसे नमस्कार करो ।

आचार्य गोवर्धन ने इसी भाव को अभिधा में इस प्रकार कहा है—

प्रतिबिम्बितप्रियातनु सकौस्तुभं जयति मधुभिदो वक्षः ।
पुरुषायितमभ्यस्यति लक्ष्मीर्यद्वीक्ष्य मुकुरमिव ॥ आर्या० १२

विष्णु भगवान् के कौस्तुभ-मण्डित वक्ष की, जिसे दर्पण के समान देखती हुई लक्ष्मी विपरीतरति का अभ्यास करती है और जिस में उसका (लक्ष्मी) का शरीर प्रतिबिम्बित है, जय हो ।

गाथा में नवयौवना के कुचों की उपमा कुम्भाकार मठों (थीगों) से दी गई है—

तुङ्गाणं विसेसनिरन्तराणं वणलद्धसोहाणं ।
कग्रकज्जाणं भडाणं व थणाणं पडणं वि रमणिज्जम् ॥ गाथा ५/२७

तुङ्ग, सटे हुए तथा (प्रणयकेलि में नख आदि के) क्षतों से शोभित कृतकार्य कुचों का गिर जाना (शिथिल होना) भी मानगर्वित, समशक्ति तथा युद्ध में लगे घावों से शोभित विजय-प्राप्त भटों के पतन के समान श्रेष्ठ ही होता है।

इसी प्रकार आर्याकार ने श्लेष के बल पर कुचों की उपमा सज्जनों से दी है—

महतोः सुवृत्तयोः सखि हृदयग्रहयोग्ययोः समुच्छ्रितयोः ।
सज्जनयो स्तनयोरिव निरन्तरं संगतं भवति ॥ आर्या० ४३८

हे सखी विशाल, वर्तुल (गोल), वक्ष पर आधिपत्य जमा लेने वाले उत्तुङ्ग कुचों का सटाव (परस्पर सटे रहना) महान्, सदाचारी, हृदयहारी और अभिजात सज्जनों की मैत्री के समान निरन्तर रहता है।

अण्णासग्राइं देन्ति तह सुरए हरिसविग्रसिग्रकवोला ।
गोसे वि ओणग्रमुही अह सेत्ति पिग्रां ण सद्दहिमो ॥ गाथा० १/२३

सुरतकाल में हर्ष से विकसित कपोलों वाली प्रिया सुरतविषयक सैंकड़ों आज्ञाएँ देती है और प्रातःकाल लज्जा से अवनतमुखी दिखाई देती है तो विश्वास नहीं होता कि यह वही है।

विनयविनता दिनेऽसौ निशि मदनकलाविलासलसदङ्गी ।
निर्वाणज्वलितौषधिरिव निपुणप्रत्यभिज्ञेया ॥ आर्या ५१३

दिन में विनयनत तथा रात में कामकला के विलास से शोभित शरीर यह सुन्दरी भस्म की हुई ओषधि के समान कठिनाई से पहिचान में आती है।

विपरीत रति में शीघ्र ही श्रान्त हुई नायिका को गाथा का नायक उपालम्भ देता है—

सिहिपिच्छलुलिग्रकेसे वेवन्तोरु विणिमीलिग्रद्धच्छि ।
दरपुरुसाइरि विसुमरि जाणसु पुरिसाणं जं दुःखम् ॥गाथा० १/५२॥

लो तुम्हारा मयूर के पिच्छ जैसा केशपाश बिखर गया है, आँखें मूंदी जा रही हैं और जङ्घाएं काँप रही हैं। तनिक देर ही विपरीत रति करने में थक जाने वाली! समझ लो पुरुषों को कितना कष्ट उठाना पड़ता है।

आर्याकार ने इसी भाव का चित्रण इस प्रकार किया है—

वक्षः प्रणयिनि सान्द्रश्वासे वाङ्मात्रसुभटि घनघर्मे !
सुतनु ललाटनिवेशितललाटिके तिष्ठ विजितासि ॥ आर्या ५२६॥

आअण्णाअड्ढिअणिसिअभल्लमम्माहआइ हरिणीए ।
अदंसणो पिओ होहिइ त्ति वलिउं चिरं दिट्ठो ।। गाथा ६|६४।।

कान तक खींच कर छोड़े हुए तीक्ष्ण वाण से मर्माहत हिरनी, यह सोचकर कि अब कभी प्रिय का दर्शन न हो सकेगा, देर तक उसे देखती रही ।

दृष्ट्यैव विरहकातरतारकया प्रियमुखे समर्पितया ।
यान्ति मृगवल्लभायाः पुलिन्दवाणार्दिताः प्राणाः ।। आर्या २८३

शवर के वाण से आहत मृगी के प्राण प्रिय के मुख पर डाली हुई विरहकातर दृष्टि के साथ ही चले गये ।

सो तुज्भ कए सुन्दरि तह छीणो सुमहिलो हलिअउत्तो ।
जह से मच्छरिणीए वि दोच्चं जाआए पडिवण्णम् ।। गाथा० १|८४

हे सुन्दरि ! अच्छी पत्नी वाला वह हलिक युवा तुम्हारे कारण इतना क्षीण हो गया है कि उसकी ईर्ष्यालु पत्नी ने स्वयं दूती का कार्य स्वीकार कर लिया है ।

प्रियविरहनिःसहायाः सहजविपक्षाभिरपि सपत्नीभिः ।
रक्ष्यन्ते हरिणाक्ष्याः प्राणा गृहभङ्गभीताभिः ।। आर्या ३८०

प्रिय के विरह को न सहने वाली सहज विरुद्ध सपतिनयाँ भी घर बिगड़ जाने के भय से उस मृगनयनी के प्राणों की रक्षा करती हैं ।

नायिका के संकेत-स्थल पर न पहुँचने और नायक के वहाँ जाकर लौट आने तथा अपनी इस विडम्बना को जताने पर गाथा की नायिका का मुँह फीका पड़ गया—

सामाइ सामलिज्जइ अद्धच्छिपलोइरीअ मुहसोहा ।
जम्बूदलकअकण्णावअंसभरिए हलिअपुत्ते ।। गाथा २|८०

हलिक युवा जब जामुन की कोंपल को कान में खोंस कर घूमता हुआ दिखाई दिया तो कटाक्ष-दक्ष सुन्दरी के मुख की छाया श्याम हो गई ।

आर्याकार ने इसी भाव का अनुवाद इस प्रकार किया है—

कोपवति पाणिलीलाचञ्चलचूतांकुरे त्वयि भ्रमति ।
करकम्पितकरवाले स्मर इव सा मूर्च्छिता सुतनुः ।। आर्या १९०

हाथ में तलवार लिये काम के समान अपने हाथ में स्थित आम की मञ्जरी से क्रीडा करते हुए तुम्हारे सरोष घूमने पर वह कृशोदरी मूर्च्छित हो गई ।

रुद्रटालङ्कार में उदाहृत इस पद्य को भी देखिए—

ग्रामतरुणं तरुण्या नववञ्जुलमञ्जरीसनाथकरं ।
पश्यन्त्या भवति मुहुर्नितरां मलिना मुखच्छाया ।।

हे सुभग ! तुमने जो माला उसे अपने हाथ से दी थी वह यद्यपि गन्धहीन हो गई है तो भी परित्यक्त नगर-देवता के समान वह उसे धारण किये रहती है।

इस भाव को गोवर्धनाचार्य ने इस प्रकार अपनाया है—

अपनीतनिखिलतापां सुभग स्वकरेण विनिहितां भवता।
पतिशयनवारपालिज्वरौषधि वहति सा मालाम् ॥ आर्या ४६[1]

हे सुभग ! तुमने अपने हाथ से समस्त ताप हरने वाली जो माला उसे पहनाई थी उसे वह अपने पति के साथ शयन रूपी तिजारी ज्वर की औषधि के रूप में रखती है।

प्राकृत और अपभ्रंश-साहित्य

जब संस्कृत साहित्य के स्रष्टाओं को गाथासप्तशती ने इतना आकृष्ट किया तो प्राकृत की तो वह अपनी ही वस्तु थी और उससे अपभ्रंश को सीधी विरासत के रूप में प्राप्त हुई थी। जयवल्लभ का 'वज्जालग्गम्' गाथासप्तशती की ही परम्परा में संगृहीत प्रसिद्ध कोश है। जयवल्लभ के विषय में अभी तक कुछ अधिक ज्ञात नहीं हो सका है। 'वज्जालग्गम्' के सम्पादक जूलियस लेबर के अनुसार यह श्वेताम्बर जैन थे। उनका कथन है कि ऐसा प्रतीत होता है कि जैन कवि की कृति होने के कारण यह जैनक्षेत्र में ही सीमित रही।[1] अतः संस्कृत के काव्यशास्त्रियों ने जहाँ गाथासप्तशती से अनेकानेक उदाहरण दिये हैं वहाँ उक्त कृति से प्रायः नहीं।[2] जाकोबी का कथन है कि इसकी एक गाथा अगददत्त ने एक वाक्य के रूप में उद्धृत की है।[3] हेमचन्द्र के प्राकृतव्याकरण में भी एक गाथा मिलती है[4] तथा एक मम्मट के काव्यप्रकाश में भी आई है।[5] रत्नसेन नामक व्यक्ति ने १४ वीं शताब्दी में इसकी संस्कृत छाया प्रस्तुत की। डेकन कालेज लाइब्रेरी में प्रतिलिपि नं० ४२० वज्जालग्गं की प्रतिलिपि है जो संवत् १६७७ में लिपि की गई थी। इसके अन्त की पुष्पिका में चार श्लोक कहे गये हैं जो छायाकार और छाया के काल की सूचना देते हैं।

अन्तिम श्लोक इस प्रकार है—

शिखिग्रहाग्निचन्द्रे (१३९३) हि प्रमिते वत्सरे वरे।
ग्रन्थोऽयं संख्ययाख्यातः सहस्रतृतयं ननु ॥

वज्जालग्गम् में प्राय उन्हीं विषयों से संबद्ध रचनाएँ संगृहीत हैं जो गाथासप्तशती में चित्रित किये गये हैं। अन्तर केवल इतना है कि इसमें गाथाओं का

1. Introduction to Vajjalaggam p. 7
2. ,, ,, p. 6-7
3. ,, ,, 7.
4. ,,
5. Weber, Hala 38-39 ,,

वर्गीकरण व्रज्याओं के रूप में मिलता है। प्रारम्भ से ही इसका स्वरूप व्रज्यामय था, यह इसके नाम से ही प्रकट है। यद्यपि गाथासप्तशती की भी कुछ प्रतियाँ ऐसी हैं जिनमें गाथाओं को व्रज्याओं में बाँटा गया है, तथापि उसके मूल रूप में इस प्रकार का वर्गीकरण नहीं था। प्रतीत होता है कि यह व्यवस्था वाद की है, क्योंकि सभी पुरानी प्रतियों में यह नहीं मिलती। व्रज्या का लक्षण देते हुए विश्वनाथ ने उसे 'सजातीयानामेकत्र सन्निवेशः' कहा है जिसका अर्थ है समान विषय पर आधृत मुक्तकों का एक ही प्रकरण में संग्रह। वज्जालग्गं की चतुर्थ गाथा से स्पष्ट है कि जयवल्लभ ने भी व्रज्या का यही अर्थ लिया है। उसके अनुसार।

एक्कत्थे पत्थावे जत्थ पढिज्जन्ति पउरगाहाओ।
तं खलु वज्जालग्गं वज्ज त्ति य पद्धई भणिया॥

अर्थात् एकार्थक प्रस्ताव में (किसी एक विषय से संबद्ध प्रकरण में) जहाँ बहुत सी गाथाएँ पढी जाती हैं, वह वज्जलग्ग है। वज्जा पद्धति को कहा गया है।

इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय बात यह है कि गोवर्धनाचार्य ने व्रज्या का यह अर्थ न लेकर अकारादिक्रम लिया है और विषय की समानता पर ध्यान न देकर अकारादि वर्ण से प्रारम्भ होने वाली विविधविषयों से संबद्ध गाथाओं को भी अकारादि व्रज्याओं के अन्तर्गत रखा है। यह हम पीछे कह आये हैं।

गाथा सप्तशती के परवर्ती पाठों में, जो व्रज्याओं में विभक्त हैं, साठ व्रज्याएँ मिलती हैं, इनमें से पच्चीस के शीर्षक गाथासप्तशती से मेल खाते हैं। गाथासप्तशती का जैनों का निजी पाठ भी मिलता है जिस का वेबर ने अपने संस्करण में उपयोग भी किया है। वज्जालग्गम् में गाथा सप्तशती की जो लगभग १०० गाथाएँ उद्धृत हैं, उनका पाठ जैनों के वज्जालग्गम् के पाठ से मेल खाता है। अतः एव, जैसा कि जूलियस लेबर ने कहा है, हम कह सकते हैं कि जयवल्लभ ने हाल की कृति की किसी प्रति का उपयोग किया है।[१]

काम-कला-कोविद नायक के विविध-विध सुरत का विस्मयजनक प्रभाव गाथासप्तशती में इस प्रकार प्रकट किया गया है—

दट्ठूण तरुणसुरअं विविहविलासेहिँ करणसोहिल्लं।
दीओ वि तग्गअमणो गअं पि तेल्लं ण लक्खेइ॥[1]

तरुण प्रेमियों के विविध-विलास-युक्त आसनों से शोभित सुरत को तल्लीन होकर देखता हुआ दीपक अपने तेल की समाप्ति भी लक्षित नहीं कर पाता।

वज्जालग्गं में यह गाथा २१६ वीं संख्या पर उद्धृत है, किन्तु इसी भाव पर आधारित एक अन्य गाथा भी इसमें तीसरे नम्बर पर संकलित है—

दट्ठूण रयणिमज्झ बहुविहकरणेहिं निब्भरं सुरयम्।
ओधुणइ दीवओ विम्भओ व्व पवणाहओ सीसं॥[2]

अर्थात् रात्रि में बहुत प्रकार के आसनों से भरपूर सुरत को देखकर पवनाहत दीपक मानो विस्मित हुआ सा सिर हिला रहा है।

आणत्तं तेण तुमं पइणो पहएण पटहसद्देण।
मल्लि ण लज्जसि णच्चसि दोहग्गे पाअडिज्जन्ते॥ गाथा० ७/८५

हे मल्लि! पति ने ढोल बजा कर तुम्हारे प्रति जो दौर्भाग्य (प्रेम का अभाव) घोषित किया उसके प्रकट किये जाने पर भी तुम लज्जित नहीं होतीं प्रत्युत नाच रही हो।

इसी भाव को वज्जालग्गं में इस प्रकार प्रकट किया गया है—

एक्कसरपहरदारिय-माइन्दगइन्दजुज्झमाभिढिए।
वाहि न लज्जसि नच्चसि दोहग्गे पायडिज्जन्ते॥ वज्जा० २०४॥

हे व्याधपत्नी! अपने पति द्वारा एक बाण के प्रहार से ही मृगेन्द्र और गजेन्द्र के युद्ध को समाप्त किया देखकर तुम लज्जित नहीं होती अपितु अपना दौर्भाग्य प्रकट होने पर भी (प्रसन्नता से) नाच रही हो।

जार के साथ पकड़ी गई कुलटा की प्रत्युत्पन्न मति गाथासप्तशती में इस प्रकार प्रकट की गई है—

अह अम्ह आअदो अज्ज कुलहराओ त्ति छेञ्छई जारम्।
सहसागअस्स तुरिअं पइणो कण्ठं मिलावेइ॥[3]

'यह आज मेरे मैके से आया है" यह कह कर कुलटा ने जार को अकस्मात् आये हुए पति के गले से लगा दिया।

वज्जालग्गं में कुलटा की करामात इस प्रकार दिखाई गई है :—

---

१. गाथासप्तशती ६/४७
२. वज्जालग्गम् ३२२
३. गाथा ४/१

पेक्खह महाणुचोज्जं काणाघरिणीए जं कयं कज्जं ।
चुम्बेइ न लहु नयणं झडित्ति नीसारिओ जारो ॥४७५॥

देखो, काणे की पत्नी ने क्या महान् आश्चर्य का कार्य किया कि शीघ्रता से पति की (इकलौती) आँख को चूम कर फौरन जार को निकाल दिया।

गाथा की एक नायिका खीझ कर हृदय से कहती है—

डज्झसि डज्झसु कहसि कहसु अह फुडसि फुडसु ।
तह वि परिसेसिओ च्चिअ सो हु मए गलिअसब्भावः ॥गाथा० ५/१

हे हृदय ! यदि जलते हो तो जलो, औट रहे हो तो औटा करो और विदीर्ण होते हो तो हो जाओ, मैं तो उस अस्पृहणीय प्रणय का परित्याग कर चुकी हूँ।

वज्जालग्गं में इस भाव को इन शब्दों में प्रकट किया गया—

डज्झसि डज्झसु कड्ढसि कड्ढसु अह फुडसि हियय ता फुडसु ।
जेण पुणो न कयाइय अन्नासत्ते मइं कुणसि ॥वज्जा० ४५४

हे हृदय यदि जलते हो तो जलो, औटते रहो, और विदीर्ण होते हो तो होते रहो। अब कभी अन्यासक्त व्यक्ति से प्रेम तो न करोगे।

प्रियतमा के गाँव की सीमा ही गाथा सप्तशती के नायक को आनन्द प्रदान करने के लिये पर्याप्त है—

अच्छउ दाव मणहरं पिआइ मुहंदसणं अइमहग्घम् ।
तग्गामच्छेत्तसीमा वि झत्ति दिट्ठा सुहावेइ ॥गाथा० २।६८

प्रिया के मुख का मनोहर एवं अमूल्य दर्शन तो दूर रहा, उसके गाँव की सीमा भी देखते ही सुख प्रदान करती है।

वज्जालग्गं का नायक भी कुछ ऐसे ही विचार प्रकट करता है—

अच्छउ ताव सविब्भमकडक्खविक्खेववजम्पिरी दूई ।
तग्गामकुटिलसुणहिल्लया वि दिट्ठा सुहावेइ ।

(प्रिया के) विभ्रमसहित कटाक्षविक्षेप की बात कहने वाली दूती तो दूर रही, उसके गाँव के घूरे की कुतिया भी दीख जाती है तो सुखप्रद होती है।

गाथासप्तशती की एक सरस सूक्ति भी लीजिए—

खिप्पइ हारो थणमण्डलाहि तरुणीअ रमणपरिरम्भे ।
अच्चिअगुणा वि गुणिनो लहन्ति लहुअत्तणं काले ॥

युवतियाँ प्रियतम का आलिङ्गन करते समय हार को भी फेंक देती हैं। प्रशस्त गुणों वाले गुणी व्यक्ति भी कालवश लघुता को प्राप्त हो जाते हैं।

इसी भाव पर आधारित वज्जालग्गं की उक्ति भी लीजिए—

पियअकेलिसंगमोगालिएण हारेण चिन्तियं एयं ।
अवसर-रहिया गुणवन्तया वि दूरे परिच्चजन्ति ॥ वज्जा० ६६४

प्रिय के साथ रमण करते समय दूर हटा दिये गये हार ने सोचा कि अवसर न होने पर गुणवान् व्यक्ति भी दूर हटा दिये जाते हैं।

अतिबाला नायिका के साथ नायक को 'उत्फुल्लक' नामक आसन से रमण करने का उपदेश गाथा में मालती कलिका एवं भ्रमर की अन्योक्ति द्वारा इस प्रकार दिया गया है—

णिअवक्खारोविअदेहभारणिउणं रसं लिहन्तेण।
विअसाविऊण पिज्जइ मालइकलिआ महुअरेण ॥ गाथा० ५/४२॥

पंखों पर अपने शरीर का भार संभाल कर सावधानी से रस लेता हुआ भौंरा मालती की कली को विकसित करके उसका रसपान करता है।

वज्जालग्गं में यही प्रसङ्ग इन शब्दों में उद्धृत किया गया है—

निबिडदलसंठियं पि हु कलियं वियसाविऊण सविसेसं।
जे पयमं तीए रसं पियन्ति ते छप्पया छेया ॥ वज्जा० २५२ ॥

जो पूर्णतया मुंदी हुई पंखुड़ियों वाली कलिका को विशेष रूप से विकसित करके उसके प्रथम रस का पान करते हैं, वे ही भ्रमर विदग्ध हैं।

सुन्दरी के पुष्ट कुचमण्डल पर पड़े हुए हार का वर्णन गाथासप्तशती में इस प्रकार मिलता है—

मग्गं च्चिअ अलहन्तो हारो पीणुण्णआणं थणआणम्।
उव्विग्गो भमइ उरे जमुणाणइफेणपुञ्जो व्व ॥ गाथा० ७/६६ ॥

सुन्दरी के पीन एवं उत्तुङ्ग कुचों पर पड़ा हुआ हार ऐसा प्रतीत होता है मानो यमुना-नदी का फेन, मार्ग प्राप्त न होने के कारण, इधर-उधर थपेड़े खाता हुआ भ्रमण कर रहा है।

वज्जालग्गं में इसी भाव ने यह रूप धारण किया है—

उव्विम्बे थणहारे रेहइ बालाए घोलिरो हारो।
हिमगिरिवरसिहराओ खलिओ गङ्गापवाहो व्व ॥ वज्जा० २०६ ॥

बाला के उभरे हुए कुचभार पर घूमता हुआ हार ऐसा शोभायमान होता है जैसे हिमालय पर्वत के शिखर से गिरा हुआ गङ्गा का प्रवाह हो।

निम्नलिखित गाथाओं की भी तुलना कीजिए—

ण विणा सब्भावेण घेप्पइ परमत्थजाणुओ लोओ।
को जुण्णमज्जरं कज्जिएण वेआरिउं तरइ ॥ गाथा० ३/८६

वस्तु-तत्त्व को समझने वाले व्यक्ति को सद्भाव (प्रेम) के बिना वश में नहीं किया जा सकता। बूढ़े बिलाव को काँजी द्वारा कौन बहका सकता है ?

लीलावलोयणेण वि मुणन्ति जे पुत्ति हियय परमत्थं।
ते कारिमउवयारेहि कह नु छेया छलिज्जन्ति ॥ वज्जा० २८३॥

पुत्रि ! जो दृष्टिमात्र से ही वस्तु-तत्त्व को समझ जाते हैं उन विदग्ध पुरुषों को कृत्रिम उपायों से कौन छल सकता है ?

अण्णण्णं कुसुमरसं जं किर सो महइ महुअरो पाउं ।
तं णीरसाणं दोसो कुसुमाणं णेअ भमरस्स ॥ गाथा० २/३६ ॥
जइ भमसि भमसु एमेअ कह्ह सोहग्गगव्विरो गोट्ठे ।
महिलाणं दोसगुणे विचारअइउं जइ खमो सि ॥ गाथा० ५/४७ ॥

भौंरा जो एक के बाद दूसरे फूल का रस पीने के लिए घूमता है, इसमें नीरस फूलों का ही दोष है, भौंरे का नहीं ।

हे कृष्ण ! यदि तुम में महिलाओं के दोष-गुण समझने की शक्ति है और तब अपने सौभाग्य पर फूले हुए फिरते हो, तो फिरो ।

इन दोनों गाथाओं के भाव को वज्जालग्गं की एक ही गाथा में बन्द करने का प्रयास किया गया है—

भमरो-भमरो त्ति गुणोज्झिएहि कुसुमेहि लाइओ दोसो ।
लहिऊण मालइं पुण सो निउणो भमउ जइ भमइ ॥ वज्जा २४७ ॥

गुण रहित फूलों ने यह दोष लगा दिया है कि भौंरा (कली-कली पर) घूमने वाला होता है । मालती को प्राप्त करके भी यदि वह निपुण घूमा करता है तो घूमा करे ।

जाव ण कोसविकासं पावइ ईसीस मालईकलिआ ।
मअरन्दपाणलोहिल्ल तावच्चिअ मलेसि ॥ गाथा० ५/४४ ॥

हे रस के लोलुप भौंरे! मालती की कली का कोष विकसित भी न हुआ कि तूने उसका मर्दन कर डाला ।

जाव ण वियसइ सरसा वरइ न ईसं पि मालईकलिया ।
अविणीयमहुयरेहि ताव च्चिअ पाउमारद्धा ॥ वज्जा० २४२॥

मालती की कली, विकसित होकर सरस होना तो दूर रहा, तनिक खुली भी न थी कि अविनीत मधुकरों ने उसका रस पीना प्रारम्भ कर दिया ।

कदम्ब के पुष्पों में कामदेव की गुलेल की गोली की कल्पना सबसे पहले गाथा सप्तशती में ही की गई है—

सहि दुम्मेन्ति कलम्बाइं जह मं तह ण सेसकुसुमाइं ।
णूणं इमेसु दिअहेसु वहइ गुडिआधणुं कामो ॥[1]

---

१. गाथा० २/७७

सखि मुझे! जितना कष्ट कदम्ब के पुष्प देते हैं, उतना अन्य नहीं। अवश्य ही इन दिनों कामदेव गुटिकाधनु (गुलेल) धारण करने लगा है।

प्राकृतपैङ्गलम् में उदाहृत इस निम्नलिखित गाथा की तुलना अभिव्यक्ति की दृष्टि से कीजिए—

परिहर माणिणि माणं पेक्ख कुसुमाइं णीवस्स।
तुम्ह कए खरहिअो गेह्णइ गुडिआधणुहि किल कामो॥[1]

हे मानिनी! मान का त्याग करो, कदम्ब के फूलों को देखो। तुम्हारे लिये निष्ठुर कामदेव ने अब गुटिका धनुष सँभाल लिया है।

गर्मी की दुपहरी में पथिक को विश्राम के लिये निमन्त्रित करती हुई इस स्वयं-दूतिका को देखिए—

थोअं पि ण णीसरई मज्झण्णे उह सरीरतललुक्का।
आअवभएण छाई वि पहिअ ता किं ण विसमसि॥[2]

देखो दुपहरी में छाया भी धूप के भय से शरीर के नीचे छिपी हुई है, तनिक भी नहीं निकलती। फिर पथिक! तुम विश्राम क्यों नहीं करते?

अपभ्रंश के एक अज्ञात कवि की यह नायिका भी ऐसी ही तो है—

तरुण तरणि तवइ धरणि पवण वह खरा।
लग नहि जल वड़ मरुथल जणजिअहरा॥
दिसइ चलइ हिअअ डुलइ हम इकलि बहू।
घर णहि पिअ सुणहि पहिअ मण इछह कहू॥[3]

दोपहर का सूरज तप रहा है, तीव्र पवन चल रहा है। जल समीप नहीं है, मरुस्थल लोगों के लिये घातक है, दिशाएँ चल सी रही हैं। हृदय डोल रहा है, प्रिय घर पर नहीं हैं। पथिक! सुनो, अपने मन की इच्छा कहो।

गाथासप्तशती की गाथाओं की परम्परा में अपभ्रंश के बहुत से दोहे दिखाई पड़ते हैं।

कुछ उदाहरण लीजिये—

जेण विणा ण जिविज्जइ अणुणिज्जइ सो कआवराहो वि।
पत्ते वि णअरदाहे भण कस्स ण वल्लहो अग्गी॥[4]

जिसके विना जीवित ही नहीं रहा जा सकता है अपराधी होने पर भी उसे मनाया ही जाता है। नगर को जलाने पर भी अग्नि किसे प्रिय नहीं।

---

१. प्राकृतपैङ्गलम्, पृष्ठ १२२
२. गाथा० १/४९
३. प्राकृत पैङ्गलम्, पृष्ठ ५४१
४. गाथा० २/६३

प्रवासगमनवेला में नायक के यह कहने पर कि 'हमें याद रखना', गाथा की नायिका कहती है—

नो णाम संभरिज्जइ पब्भसिओ जो खणं पि हिअआहि ।
संभरिअव्वं च कअं गअं च पेम्मं णिरालम्बं ॥ गाथा० १/९५

उसी का स्मरण किया जा सकता है जो क्षण भर के लिए तो हृदय से निकला हो। प्रेम स्मरण करने योग्य हुआ तो समझ लो कि निरालम्ब हो गया।

दोहाकार की नायिका भी ठीक यही बात कहती है—

सुमिरिज्जइ तं वल्लहउँ जं वीसरइ मणाउँ ।
जहि पुणु सुमरणु जाउँ गउँ तहो नेहहो कइँ णाउ ।[1]

वही स्मरण किया जाता है जो तनिक भी विस्मृत हो जाता है। जिस में प्रिय स्मरण करने तक की अवस्था को प्राप्त हो जाय, उस प्रेम का नाम भी क्या लेना।

इसी प्रकार गाथा की एक नायिका अपनी समवयस्का मामी से कहती है कि हे मामी ! निर्निमेष नयनों से देखने योग्य प्रिय को उस क्षण देखने से दर्शन की प्यास ही न मिटी जैसे स्वप्न में पिये हुए पानी से प्यास नहीं मिटती।

इस भाव को दोहे में इस प्रकार ढाला गया है—

संदेसे काइँ तुहारेण जँ सङ्गहो ण मिलिज्जइ ।
सुइणन्तरि पिएँ पाणिएण पिअ पिआस किंछिज्जइ[2] ॥

हे प्रिय ! जब मिलन ही नहीं होता, तो तुम्हारा संदेश ही क्या ! क्या स्वप्न में पिये हुए पानी से प्यास बुझ जाती है ?

गाथा सप्तशती और हिन्दी की शृङ्गारिक सतसइयाँ

हम बार-बार कह आये हैं कि संस्कृत के ही नहीं, हिन्दी के मध्यकालीन शृङ्गारिक साहित्य—विशेषतया मुक्तक रचनाओं—पर भी गाथा सप्तशती का व्यापक प्रभाव लक्षित होता है। हमारा विचार है कि रीतिकाल में शृङ्गारिक सतसइयों की परम्परा की प्रेरणा मूलतः गाथासप्तशती से ही प्राप्त हुई। गाथासप्तशती के साथ इनका तुलनात्मक अध्ययन करने पर अनेक रोचक तथ्यों के उद्घाटन की संभावना है तथा विहङ्गम दृष्टि डालते ही लक्षित किया जा सकता है कि आकार-प्रकार गठन, वर्ण्यविषय, शैली, भाषा और भाव की दृष्टि से गाथासप्तशती ही हिन्दी के उक्त सतसई-साहित्य का आदर्श रही है और बिहारी आदि सतसईकारों ने इस पुराने राजपथ को अपने युग के अनुरूप उपलब्ध सामग्री से सँवार-सजाकर

---

१. सिद्ध हेम० सूत्र ४२६ दो० १
२. " " ४३४ " १

अपनी कला का मार्ग प्रशस्त किया है। निःसन्देह गाथासप्तशती और हिन्दी सतसइयों के जन्म की तिथियों में सहस्राब्दी से भी अधिक दीर्घ समय की दूरी और व्यवधान रहा है, फिर भी सामाजिक परम्परा, विचारधारा, रुचि और मान्यताओं की दृष्टि से अन्तर अपेक्षाकृत अत्यन्त कम रहा, जबकि पिछली दो शताब्दियों में इतना अधिक परिवर्तन हो गया कि देखकर आश्चर्य होता है, और यह बेधड़क कहा जा सकता है कि सामाजिक और साहित्यिक परम्पराओं, मान्यताओं, रुचि-अरुचि आदि की दृष्टि से रीतिकालीन काव्य का आधार गाथासप्तशती के आधारभूत धरातल से बहुत भिन्न नहीं है जबकि आधुनिक साहित्य को जन्म देने वाली परिस्थितियां रीतिकालीन वातावरण से बिलकुल मेल नहीं खातीं। भारतीय आर्य-भाषाओं के साहित्य के इतिहास पर व्यापक दृष्टि डाल कर देखें तो हम गाथासप्तशती और रीति-कालीन शृङ्गारिक सतसइयों को मध्यकाल की, जिसके सामन्तशाही स्वरूप की अपनी निजी विशेषताएं हैं, मूर्त्त सीमाओं के रूप में पाते हैं।

सौन्दर्य और प्रणय-केलियों का ही वर्णन करते थे। इस प्रकार सामन्तों की प्रशस्ति भी कवियों के लिये एक वर्ण्यवस्तु हो गई थी।

पौराणिक धर्म का विकास भी इसी युग में हुआ। अनेक पुराणों की सर्जना और प्रचार ने न केवल शिष्टवर्ग को ही प्रभावित किया अपितु समान रूप से समूचे लोक-जीवन पर अपनी गहरी छाप छोड़ी। भक्ति के विकास और प्रसार तथा अन्त में ह्रास का आभास भी इस युग की विशेषताएँ हैं। गाथासप्तशती की कतिपय गाथाओं से स्पष्ट है कि पौराणिक भक्ति का स्वरूप उस समय निर्मित होता जा रहा था। बाद में दक्षिण के आलवार और आडवार भक्तों ने भक्ति की सरस्वती का जो स्रोत प्रवृत्त किया; वह बहुमुख रूप धारण कर अनेकानेक धाराओं में परिवर्तित होता हुआ चारों ओर फूट निकला जिसमें तत्तत प्रदेश के भक्त सन्तों की वाणी का रंग आकर मिलता रहा और अन्ततोगत्वा वह साहित्य को अपने माधुर्य विजृम्भित रस से शराबोर करता हुआ विशाल सरिता के रूप में लहराने लगा। कालान्तर में सामयिक और देशीय परिस्थितियों के कारण अन्तर्हित होने से सूक्ष्म रूप में अवशिष्ट इस धारा ने शृङ्गार की उमड़ती हुई मन्दाकिनी और नीति की शान्त निश्चल मन्द-मन्द बहती हुई कालिन्दी से मिलकर जो त्रिवेणी-सङ्गम प्रस्तुत किया वह रीति-कालीन कवियों का तीर्थराज बना जिसमें उन्होंने जी भर कर अवगाहन किया है। इस प्रकार गाथासप्तशती में भक्ति का जो अत्यन्त क्षीण स्वर उठा था वह उत्तरोत्तर एक के बाद दूसरी मूर्च्छना से गुजरता हुआ भक्तिकाल में पराकाष्ठा पर पहुँच कर अवरोह करता हुआ रीतिकाल के आरम्भ तक सम पर आ चुका था और इसके पश्चात् तो उसकी प्रतिध्वनि ही कवियों के कानों में गूंजती रही थी। अतः गाथासप्तशती और हिन्दी की सतसइयों को भक्ति का आधार धरातल प्रायः एक सा ही मिला था। एक का अवस्थानबिन्दु वहाँ है जहाँ भक्ति के शैल की चढाई प्रारम्भ होती है और दूसरी का वहाँ जहाँ उसकी उतराई समाप्त होती है। अतः गाथासप्तशती और हिन्दी की सप्तशतियों में कालकृत सुदीर्घ व्यवधान होने पर भी अत्यधिक साम्य एवं उपजीव्य-उपजीवी भाव स्वाभाविक ही समझना चाहिए।

गाथासप्तशती में अप्रत्यक्ष रूप से आदर्श काव्य के गुणों का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि उसमें अर्थगाम्भीर्य, विचारितरमणीयता, दोषों का अभाव तथा गुणों और अलङ्कारों का निर्वाह होना चाहिये।[1] जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, काव्य के इस आदर्श का परिपालन गाथासप्तशती में आद्योपान्त किया गया है जिसके

---

१ परिमलणसुहा गुरुआ अलद्धविवरा सलक्खणाहरणा।
थणआ कव्वालाव व्व कस्स हिअए ण लग्गन्ति ॥ २८ ॥

अर्थात् परिमर्दन करने पर सुखकर, पुष्ट, सटे हुए (जिसके बीच में विवर अथवा अवकाश न हो) सलक्षण और आभरणयुक्त कुच परिमर्दन (पुनः पुनः विचार) करने पर नव-नव आनन्द देने वाले, अलब्धविवर (दोषरहित) सलक्षण (लक्षणों-गुणों से युक्त), सालङ्कार काव्य के समान किसके हृदय में नहीं गड़ जाते।

कारण वह उत्कृष्ट ध्वनिकाव्य का नमूना बन गया है और संस्कृत के आचार्यों को अपने काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थों के लिये उदाहरण-चयन करने के हेतु इस रचना ने जितना आकृष्ट किया है उतना अन्य ने नहीं। अतः गाथाकारों का काव्यशास्त्र से भली-भाँति सुपरिचित होना सिद्ध है। रीतिकालीन कवियों के विषय में भी यही कहा जा सकता है। रीतिकालीन काव्य के प्रति विशेष अभिरुचि न रखने वाले आलोचक-कुल-गुरु पण्डित रामचन्द्र शुक्ल जैसे सजग दाद देने वाले व्यक्ति ने भी इस दृष्टि से रीतिकालीन काव्य की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। सतसई-काव्य भी इसका अपवाद नहीं है। कारण स्पष्ट है कि हिन्दी काव्यशास्त्र का बहुत-कुछ विकास भी इसी युग की देन है।

इस प्रकार गाथासप्तशती तथा हिन्दी-सतसइयों के रचनाकाल की परिस्थितियों में साम्य होने के कारण बहुत कुछ अंश में वर्ण्यवस्तु तथा शैलीगत साम्य का स्वतः निवेश एक नैसर्गिक परिणाम था। इधर रीतिकाल के शृङ्गारी कवियों को संस्कृत मुक्तकों की जो अपार निधि विरासत में मिली थी वह स्वयं भी एक सीमा तक गाथासप्तशती से प्रभावित थी और गाथासप्तशती के आधार पर आर्यासप्तशती की रचना बारहवीं शती का अन्त होते-होते हो चुकी थी। रीतिकालीन आचार्य संस्कृत काव्यशास्त्र के अनुकरण पर धड़ाधड़ हिन्दी काव्यशास्त्र की रचनाओं को अग्रसर कर रहे थे। इस पृष्ठभूमि पर आधृत सतसइयों में यदि प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से गाथासप्तशती का प्रभाव न हुआ होता तो बड़े आश्चर्य की बात होती।

भोगनाथ नरनाथ के लोचन लसत बिसाल ।
रहत गरीबी गहि दुखन नीबी गहि बर बाल ॥[1]

इसलिये मतिराम रूपगर्विता सुन्दरी को चेतावनी देकर कहते हैं—

तब लौं सजनी बोलियै ये गरबीले बैन ।
जब लगि तुम निरखे नहीं भोगनाथ के नैन ॥[2]

अच्चासण्णविवाहे समं जसोग्राइ तरुणगोवीहिं ।
वड्ढन्ते महुमहणे सम्वन्धा णिह्लु विज्जन्ति ॥[1]

बढ़ते हुए कृष्ण को अत्यन्त निकट भविष्य में ही विवाहयोग्य समझकर तरुण गोपियां यशोदा के साथ अपनी पहली रिश्तेदारी को छिपाने लगीं ।

इन पांच गाथाओं से कृष्ण-चरित की अनेक लीलाओं का उद्घाटन होता है। प्रथम गाथा से स्पष्ट है कि कृष्ण सभी गोपियों से प्रेम तो करते हैं किन्तु उनके हृदय की रानी राधा ही है जिसे वे अन्य प्रेयसियों की अपेक्षा बहुमान की दृष्टि से देखते हैं। दूसरी गाथा से रासलीला का चित्र मस्तिष्क में उभरता है। संभव है अपनी सहेली-गोपियों के कपोल पर प्रतिबिम्बित कृष्ण को चूमने वाली गोपी राधा ही हो। समान रूप से सभी गोपियों के कपोलों पर कृष्ण का प्रतिबिम्बित होना प्रकट करता है कि नृत्य के समय गोपियां मण्डल बनाकर कृष्ण को बीच में लिये हुए नृत्य कर रही हैं। अन्यथा सबके कपोलों पर कृष्ण का प्रतिबिम्ब पड़ना संभव ही न होता। स्पष्टतः यह रासलीला का चित्र है। तीसरी गाथा में यशोदा का ब्रजवधुओं के प्रति यह कथन कि "अभी तो मेरा दामोदर बालक ही है" व्यक्त करता है कि ब्रजयुवतियां कृष्ण की कोई शिकायत लेकर यशोदा के पास आई हैं और शिकायत भी कुछ ऐसी मालूम होती है कि कृष्ण ने उनके साथ छेड़-छाड़ की है। बिहारी के शब्दों में हम कह सकते हैं कि ब्रजाङ्गनाओं ने शिकायत की कि तुम्हारा कृष्ण "गोरस चाहत फिरत है गोरस चाहत नाहिं" और इस पर यशोदा ने अपने लड़ैते की तरफदारी करते हुए कहा कि 'मेरा दामोदर अभी बालक ही है' जिससे व्यञ्जित होता है कि उसे इन सब बातों का ज्ञान भी कहां ? तुम स्वयं ही यौवन की मस्ती उतारना चाहती होगी। 'दामोदर' शब्द की व्यञ्जना विशेष रूप से लक्ष्य करने योग्य है। दामोदर शब्द का शाब्दिक अर्थ है दाम = रस्सी है उदर पर जिसके। मक्खन चोर बालक कृष्ण को सजा देने के लिये यशोदा रस्सी से बांध दिया करती थी जिसका लपेट कृष्ण के उदर पर आ जाता था। इसीलिये कृष्ण का नाम दामोदर पड़ा। यशोदा ने यहां इस शब्द का प्रयोग साभिप्राय किया है। वह जताना चाहती है कि उसका बेटा अभी उतना ही अबोध है जितना वह उस समय था जब मक्खन चुराया करता था। इसके अतिरिक्त वह यह भी प्रकट कर देना चाहती है कि 'सजा देने के लिये उसे अब भी बांधकर रक्खा जा सकता है और वह कुछ न कहेगा, पर उसका कोई दोष तो हो'। इस पर ब्रजवधुओं का कृष्ण की ओर चुपचाप हँस देना व्यक्त करता है कि कृष्ण न तो बालक ही है और न सीधे ही, जैसा कि यशोदा समझती है। वे सम्भवतः यौवन का स्वागत कर चुके हैं (अथवा किशोर अवस्था में तो हैं ही) और उनकी चतुरता से भी परिचित है। संभवतः कामकला में भी चतुर हैं और उनके इन गुणों से ब्रजवधुएँ न केवल परिचित हैं अपितु भुक्तभोगी हैं। [illegible]

के कारण यह गाथा गाथाकार के ही काव्यत्व के आदर्श के अनुसार 'परिमर्दनसुन्दर' है। अस्तु, उपर्युक्त गाथा मे यह स्पष्ट भासित होता है कि कृष्ण ने व्रजवधुओं के साथ कोई ऐसी हरकत की है जिसका सम्बन्ध यौवन और शृङ्गार अथवा काम से अवश्य है तथा बाल्यावस्था के साथ उसका सम्बन्ध जोड़ा नहीं जा सकता। हमारा अनुमान है कि यह चीर-हरण लीला या दान-लीला की ओर संकेत करती है।

चतुर्थ गाथा में वसन्त के मादक वातावरण में विरहिणी गोपी के पथिकजन-मनोमोहक गीत का वर्णन है जो गोपियों के साथ कृष्ण की अनेक प्रेमलीलाओं—रास के समय अन्तर्धान होना आदि—का द्योतक है और पांचवीं से कृष्ण के प्रति गोपियों के साहचर्य-पुष्ट प्रेम की प्रतीति होती है।

इस प्रकार ऊपर उद्धृत गाथाओं से कृष्ण का राधा के प्रति अनन्य प्रेम, रास-लीला, चीरहरण लीला या दधिदान-लीला तथा कृष्ण के मथुरागमन के पश्चात् विरहिणी गोपियों के मनस्ताप आदि कृष्णकथा के कतिपय मार्मिक अंशों की प्रतीति होती है।

कृष्ण के सम्बन्ध में एक छटी गाथा और है जो कृष्ण का वही स्वरूप अंकित करती है जो बाद में रीतिकालीन कवियों ने किया। वह गाथा यों है:—

जइ भमसि भमसु एमेअ कह्न सोहग्गव्विरो गोट्ठे।
महिलाणं दोसगुणे विचारअद्धउ जइ खमो सि ॥[1]

हे कृष्ण! यदि महिलाओं के दोष और गुणों को समझने का विवेक तुम में है और तब अपने सौभाग्य पर फूल कर गोओं के बाड़े में घूमते हो तो घूमा करो।

इस गाथा का कृष्ण राधावल्लभ व्रजविहारी कृष्ण नहीं है। वह एक साधारण नायक है, बल्कि सच तो यह है कि यहाँ कृष्ण शब्द नायक का पर्यायवाची ही बन गया है।

इस गाथा में किसी अन्यनायिकासक्त नवयुवक की उपेक्षिता प्रेमिका उसको उलाहना देती हुई कहती है कि यदि तुम्हें अङ्गनाओं के गुण और दोषों की परख है और तुम वस्तुतः अपनी नई प्रेयसी को गुणवती समझते हो तो तुम्हारा गर्व उचित है, किन्तु बात ऐसी नहीं है। गुण-दोषों के विवेक की क्षमता तुम में नहीं है, अन्यथा मेरा त्याग क्यों करते? स्पष्ट है कि कृष्ण के चरित अथवा भक्ति से इस गाथा का लेशमात्र भी सम्बन्ध नहीं। गोष्ठ शब्द कुछ भ्रम उत्पन्न कर सकता है किन्तु वक्तृ-बोद्धव्य और प्रसङ्ग पर तनिक सा विचार करते ही उसका स्वतः निराकरण हो जाता है। यह प्रयोग ऐसा ही है जैसे हम किसी से खीझ कर कह दें कि 'कभी आदमियों में भी रहे हो या अभी तक घुड़साल में ही बंधे हो? अर्थात् गोष्ठ शब्द से उस सुन्दरी की पशुतुल्य गुणहीनता अभिव्यक्त की गई है जिसमें नायक, अपनी पुरानी प्रेयसी को त्याग कर, आसक्त हो गया है। अतः यह गाथा सामान्य नायकपरक

---

१. गाथासप्तशती ५/४७

है कृष्णपरक नहीं। कृष्ण यहाँ नायक का पर्यायवाचीमात्र है जैसाकि रीति-कालीन कवियों की रचनाओं में प्रायः पाया जाता है। निःसन्देह यह नहीं कहा जा सकता कि इस अकेले उदाहरण ने ही रीतिकालीन कवियों को उक्त प्रवृत्ति की प्रेरणा दी किन्तु यह भी नितान्त संगत बात है कि उक्त प्रवृत्ति के विकास की शृङ्खला में इस कड़ी को भी, जो कालक्रम की दृष्टि से सबसे पहले आती है, विस्मृत नहीं कर देना चाहिए।

उपर्युक्त विषयों के अतिरिक्त गाथासप्तशती में प्रकृति चित्रण-विषयक गाथाएँ भी आई हैं। शृङ्गार के उद्दीपन रूप में तथा अभिव्यक्ति को मार्मिक बनाने के लिए अप्रस्तुत विधान के अन्तर्गत तो प्रकृति का चित्रण किया ही गया है, शुद्ध आलम्बन रूप में भी प्रकृति-चित्रण मिलता है जिसका उल्लेख हम यथास्थान कर चुके हैं। इस प्रकार की रचनाएँ सतसईकारों में भी जहाँ तहाँ मिल जाती हैं। यह प्रश्न अलग है कि उनका प्रकृति-चित्रण परिमाण और गुणों की दृष्टि से किस कोटि का है। उल्लेखनीय बात है षड्ऋतु-वर्णन, जिसका गाथासप्तशती में जाने-अनजाने समावेश हो गया है। षड्ऋतु-वर्णन की गाथाएँ एक ही स्थान में किसी क्रम से नहीं सँजोई गई हैं अपितु जहाँ-तहाँ बिखरी हुई हैं, हिन्दी की सतसइयों में भी ऐसा ही हुआ है।

सहइ सहइ त्ति तह तेण रामिग्रा सुरग्रदुव्विग्रद्धेण ।
पम्माग्रसिरीसाइँ व जह से जाग्राइँ ग्रङ्गाइं ॥[1]

'उस सुरत-दुर्विदग्ध नायक ने यह देखकर कि 'यह सुरत के इस प्रकार को भी सह गई, इसको भी सह गई', उसके साथ ऐसा रमण किया कि उसके शिरीष पुष्प के समान कोमल ग्रङ्ग मुरझा गये ।'

विहारी कहते हैं कि—

यौं दलमलियत निर्दई, दई कुसुम सौ गात ।
कर धर देखौ धरधरा, उर कौ ग्रजौं न जात ॥[2]

इसी भाव पर रसलीन का यह दोहा है—

यों मींजत कोऊ लला, ग्रवलन ग्रङ्ग बनाइ ।
मले पुहुप की बास लौं, सांस न जानी जाइ ॥

रूपवर्णन के ग्रन्तर्गत बहुत सी उक्तियों में साम्य मिलता है । गाथाकार की नायिका के मुख को देखकर उपवासिनी सुन्दरियों ने चन्द्रमा समझ कर ग्रर्घ दे दिया[3] तो विहारी को भी ग्रपनी नायिका के मुख से यह गड़बड़ फैलाने की पूरी ग्राशा थी । तभी तो उन्होंने उसे रोक कर कहा कि —

तूँ रहि हौंहीं सखि लखौं चढ़ि न ग्रटा बलि बाल ।
सबहिनु बिनुही ससि लखैं दीजतु ग्ररघु ग्रकाल ॥

मतिराम की नायिका को तो दिन में भी ग्रट्टालिका पर देखकर स्त्रियाँ यही समझती हैं कि चन्द्रमा निकल ग्राया है ग्रौर रात हुई समझकर वे दीपक भी जलाकर रख देती हैं—

जब जब चढ़ति ग्रटानि दिन चन्दमुखी यह बाम ।
तब-तब घर घर धरत हैं दीप बारि सब गाम ॥[4]

सपत्नियों पर नायिका के बढ़ते हुए यौवन की प्रतिक्रिया का वर्णन गाथाकार ने इस प्रकार किया है—

जह जह उव्वहइ बहू णवजोव्वणमणहराइँ ग्रङ्गाइं ।
तह तह से तणुग्राग्रइ मज्झो दइग्रो ग्र पडिवक्खो ॥[5]

ग्रर्थात् वधू के ग्रङ्ग ज्यों ज्यों यौवन से मनोहरतर होते जाते हैं त्यों-त्यों उसका मध्यभाग, प्रिय तथा सपत्नी वर्ग क्षीण होता जाता है ।

इसी भाव को विहारी ने इस रूप में ग्रपनाया है—

देह दुलहिया की बढ़ै ज्यौं ज्यौं जोवन जोति ।
त्यौं त्यौं लखि सौत्यैं सबै बदन मलिन दुति होति ॥

---

१. गाथा सप्तशती १/५५
२. विहारी सतसई ६५१
३. गाथा० ४/४६
४. मतिराम सतसई ११६
५. गाथा० ३/९२

और मतिराम कहते हैं:—

ज्यों ज्यों ऊँचे होत हैं उरज बाल के ऐन।
सब सौतिनि के होत हैं त्यों त्यों नीचे नैन ॥[1]

गाथाकार ने सुन्दरी के उरोजों को उसके मुखकमल की छाया में स्थित हंस बतलाया है—

मुहपुण्डरीअच्छाआइ संठिआ उअह राजहंसे व्व।
छणपिट्ठकुट्टणच्छलिअघूलिधवले थणे वहइ ॥[2]

देखो (विवाहादि) उत्सव के लिये आटा पीसने के कारण श्वेत हुए इस सुन्दरी के कुच मुखकमल की छाया में बैठे हुए राजहंसों जैसे लगते हैं।

अब मतिराम की नायिका के उरोजों को देखिये—

मुख नीचें ऊँचें लसें तरुनि उरज उस माँह।
मनो मुदितमन कोकजुग पाइ कोकनद छाँह ॥[3]

गाथाकार ने संयोग में आनन्द और विरह में दुःख की कारणभूत प्रेयसी के विषय में कहा है—

विरहे विस व विसमा अमअमआ होइ संगमे अहिअं।
किं विहिणा समअं विअ दोहि वि पिआ विणिम्मिअआ ॥[4]

प्रियतमा विरह में विष के सदृश तथा संगम में अमृतमय हो जाती है। क्या विधि ने उसे एक साथ विष और अमृत दोनों से ही बनाया है।

मतिराम ने यही बात नायिका की मुस्कान के लिये कही है—

विषमय कियौं पियूषमय तेरी मृदु मुसिक्यानि।
यहै मुरछित करति है यहै जियावति प्रानि ॥[5]

इसी भाव पर बिहारी ने यह दोहा कहा है—

अज्यौं न आये सहज रँग बिरह दूबरे गात।
अबही कहा चलाइयत ललन चलन की बात॥

मतिराम ने इसी भाव को अन्य प्रसङ्ग में फ़िट कर दिया है—

लगे निसा-अभिसार में कण्टक तिय कें पाइ।
अजों न सरुहे निठुर तुम भए और ही भाइ॥[1]

गाथाकार की नायिका अपने हाथों की लालिमा से ऐसा धोखा खाती है कि महावर का रँग छूटने पर भी उन्हें बार-बार धुलाती है।[2] और मतिराम की नायिका अपने चरणों से ऐसा ही धोखा खाती है तो उसकी सखी उसे वस्तुस्थिति से परिचित कराती है—

गयौ महाउर छूटि यह रह्यौ सहज इक अंग।
फिरि फिरि भ्रांवति है कहा रुचिर चरन के रंग॥५५२॥

बिहारी की नाइन नायिका की एड़ी को महावर की गोली समझ कर बार-बार मीड़े जाती है—

पाइ महावर दैन को नाइनि बैठी आइ।
फिरि फिरि जानि महावरी एड़ी मीड़त जाइ॥[3]

विक्रम की नाइन भी ऐसा ही धोखा खाती है—

सहज अरुन एड़ीनि की लाली लखें बिसेखि।
जावक दीब जकि रही नाइन पाइन पेखि॥

नायक संकेतस्थल पर पहुँच कर और वायदे के अनुसार नायिका को न पाकर वहाँ पर स्थित जामुन का किसलय कान में लगाकर लौट आया जिसे देखकर नायिका का मुख मलिन हो गया।[4] गाथासप्तशती के इस भाव को विक्रम ने अपने दो दोहों में इस प्रकार दुहराया है—

आवत केलि-निकुञ्ज कर लिये मंजरी लाल।
देखि मंजरी मंजरी रूप मंजरी बाल॥
लखी कंज-कर आम की मंजु मंजरी ऐन।
पीरी सब अंगन परी बीरी लेत बनै न॥

मतिराम भी कहते हैं—

छरी सपल्लव लाल कर लखि तमाल की बाल।
मुरझानी हिय साल धरि फूल-माल सी हाल॥२५१॥

---

१. मतिराम सतसई ६१५
२. गाथा० ७/७८
३. बिहारी०
४. गाथा सप्तशती २-८०

स्वाधीनपतिका व्याधवधू के सौभाग्य का वर्णन करता हुआ गाथाकार कहता है—

सिहिपेहुणावअंसा वहुआ वाहस्स गव्विरी भमइ ।
गअमोत्तिअरइअपसाहणाणं मज्झे सवत्तीणम् ॥[1]

गजमौतिकों से अलङ्कृत सपत्नियों के मध्य में मयूरपिच्छ से ही अलङ्कृत व्याधवधू गर्व के साथ घूम रही है ।

इस भाव पर बिहारी का दोहा है—

तीज परब सौतिन सजे भूषन बसन सरीर ।
सबै मरगजे मुँह करीं, उहै मरगजे चीर ॥[2]

किसी रमणी के कटाक्षों की मार्मिकता का वर्णन करता हुआ गाथाकार कहता है कि आयत, धवल, कजरारे और पक्ष्मल नयन तो अन्य सुन्दरियों के मुख पर भी है, किन्तु वे देखना नहीं जानतीं ।[3]

बिहारी ने इस भाव को इन शब्दों में बांधा है—

अनियारे दीरघ दृगनि किती न तरुनि समान ।
वह चितवनि और कछू, जिहिं बस होत सुजान ॥[4]

मतिराम का दोहा है—

औरनि हूँ के लसत है अति अनियारे नैन ।
मन भावत ह्वै हैं न वे सो मन लागत पैन ॥६१०॥

गाथाकार की स्वयंदूतिका नायिका पडोसी को इन शब्दों के साथ आमन्त्रित करती है—

बहलतमा हअराई अज्ज पउत्थो पई घरं सुण्णम् ।
तह जग्गेसु सअज्जिअ ण जहा अम्हे मुसिज्जामो ॥

रात घोर अँधियारी है, पतिदेव आज ही परदेश गये हैं, घर सूना है । अतः हे पड़ोसी ! जरा ऐसे जागते रहना कि हम मुषित (वञ्चित तथा चोरों द्वारा लुटे हुए) न हो जायँ ।[5]

मतिराम की स्वयंदूतिका रात में ठहरने के लिये स्थान की याचना करते हुए पथिक से कहती है—

जु पै द्वार में बसत तो पथिक जाइ जनि सोइ ।
मेरो घर सूनो इहां चोरनि को डर होइ ॥[6]

गाथाकार की प्रोषित-पतिका अपने बायें नेत्र को फड़कता देखकर कहती है कि 'यदि तुम्हारे स्फुरण के फलस्वरूप प्रियतम आज आ गये तो दाहिने नेत्र को बन्द करके तुझ से ही उनका दर्शन करूंगी'।[1]

बिहारी की नायिका अपनी बाम बाहु को ऐसा ही इनाम देने का वायदा करती है—

बाम बाहु फरकत मिलैं, जो हरि जीवनमूरि।
तौ तोही सौं भेटिहौं राखि दाहिनी दूरि॥[2]

गाथासप्तशती की एक अन्य नायिका पथिक को सुरत का निमन्त्रण देती हुई कहती है कि मेरी सास तो यहां (निद्रा में) निमग्न होती है और मैं यहां सोती हूं, दिन में देख लो। हे रात्र्यन्ध पथिक! कहीं ऐसा न हो कि तुम हमारी शय्या में आ पड़ो।[3]

अब विक्रमसाहि की नायिका की भी सुन लीजिए जो कह रही है—

बसौ बरोठे पथिक ह्वां बसन न पावत और।
यह मेरो यह सास को यह ननदी को ठौर॥[4]

एक अन्य गाथा की उद्दामयौवन कामिनी नायिका पथिक से कहती है—

पथिअ ण एत्थ सत्थरमत्थि मणं पत्थरत्थले गामे।
उण्णअपओहरं पेक्खिऊण जइ वससि ता वससु॥[5]

हे पथिक! इस पथरिले गांव में चटाई आदि कुछ बिछाने के लिये तो है नहीं। उन्नत पयोधर (बादल और कुचमण्डल) को देखकर रुकते हो तो रुक जाओ।

घन रस का प्रलोभन देती हुई रामसहाय की स्वयंदूतिका भी ऐसी ही बात करती है—

चढ़े पयोधर कौं चितै जात कितैं मति खोइ।
छन में घन रस बरसिहै रहो बरोठे सोइ॥[6]

गाथाकार की एक अन्य नायिका जेठ की भरी दुपहरी में पथिक का स्वागत करती हुई कहती है—

---

१. गाथा० २/३७
२. बिहारी १४२
३. गाथासप्तशती ७/६७
४. विक्रमसतसई ४६२
५. यह गाथा काव्यप्रकाश के चतुर्थ उल्लास में उदाहृत है। गाथासप्तशती में तो देखने को मिली नहीं। वज्जालग्गं में संगृहीत है।
६. रामसतसई ७१६

थोअं पि ण णीसरई मज्झण्णे उह सरीरतललुक्का ।
आअवभएण छाई वि पहिअ ता किं ण वीसमसि ॥[1]

देखो मध्याह्न में धूप के भय से शरीर के नीचे छिपी हुई छाया तनिक भी नहीं निकलती । पथिक ! फिर तुम विश्राम क्यों नहीं करते ?

इस भाव पर आधृत विहारी का दोहा भी देखिए—

बैठि रही अति सघन वन पैठि सदनतन मांह ।
देखि दुपहरी जेठ की छांहौं चाहति छांह ॥[2]

शत्रु द्वारा अपहृत वीरपत्नी का वर्णन करता हुआ गाथाकार कहता है—

वज्जपडणाइरिक्कं पइणो सोऊण सिञ्जिणीघोसम् ।
पुसिआइं करिमरिए सरिसवन्दीणं पि णअणाइं ॥[1]

वज्रपात से भी अधिक पति के धनुष की टंकार को सुनकर वन्दिनी ने अपनी जैसी अन्य वन्दिनियों के नयन भी पोंछ डाले ।

अब विहारी की उक्ति लीजिए—

नाह गरज नाहरगरज, बोलु सुनायो टेरि ।
फँसी फौज में वन्दिविच, हँसी सवनि मुखहेरि ॥[2]

गाथासप्तशती की नायिका के मुखमारुत को पी पी कर तृप्त न होता हुआ अग्नि जलने का नाम ही नहीं लेता—

रन्धणकम्मणिउणिए मा जूरसु रत्तपाडलसुअन्धम् ।
मुहमारुअं पिअन्तो धूमाइ सिहो ण पज्जलइ ॥१।१४।

रामसहाय की नवल वधू के साथ भी अग्नि यही तमाशा करता है—

ज्यौं ज्यौं फूंकै नव वधू पगी रसोई लागि ।
त्यौं त्यौं धूम दे रह्यो लगी तमासे आगि ॥[3]

गाथाकार की नायिका का निर्मल-मुख रसोई का कार्य करने में कालौंस लगने से चन्द्रमा के समान हो गया तो पतिदेव ने उसका मज़ाक बना लिया ।[4] इधर विहारी की नायिका के साथ भी ऐसी ही घटना घटी तो—

पिय तिय सों हँसि कै कह्यो लख्यो डिठौना दीन ।
चन्द्रमुखि मुख चन्द सों भलो, चन्दसम कीन ॥[5]

विश्वनाथ ने इसी भाव को यों अपनाया—

मिही अँगौछनि पोंछ लै फैल्यो काजर नैन।
सरद चंद अति मंद यह चाहत समता ऐन ॥विक्रम० ७३

है मुख अतिछबि-आगरो कहा सरद को चंद।
पै हित मान समान किय तुव ठोडी को बुंद ॥७४॥

गाथाकार की मानिनी का दर्शन कीजिए जिससे उसकी सखी कह रही है—

अवलम्बिअमाणपरम्मुहीए एन्तस्स माणिणि पिअस्स।
पुट्ठपुलउग्गमो तुह कहेइ संमुहठिअं हिअअम् ॥[1]

आते हुए प्रियतम के प्रति मान का अवलम्बन लेकर पराङ्मुख होने पर भी तुम्हारी पीठ का रोमाञ्च उसके प्रति तुम्हारे हृदय की उन्मुखता व्यक्त कर रहा है।

बिहारी की नायिका को भी देख लीजिए—

रही फेरि मुख हेरि इत हितसमुहौ चितु नारि।
दीठि परत उठि पीठिकै पुलकैं कहत पुकारि ॥[2]

गाथाकार और बिहारी दोनों के नायकों की हरकत भी देखिए जो मालिन के उरोजों पर दृष्टि गड़ाये हुए हैं—

मालारीए वेल्लहलबाहुमूलावलोअणसअह्लो।
अलिअं पि भमइ कुसुमग्घपुच्छिरो पंसुलजुआणो ॥१|६८

मालिन के सुन्दर भूजमूलों को देखने का लोभी लम्पट युवक झूठे ही फूलों का मूल्य पूछता हुआ उसके साथ-साथ घूमता है। बेचारा युवक भी क्या करे मालिन ही ताजे तोड़े हुए फूलों को दिखाती हुई युवकों के हृदयों को चोंट लेती है।[3]

बिहारी को भी यही शिकायत है—

बढत निकसि कुचकोर-रुचि कढत गौर भुजमूल।
मनु लुटि गौ लोटनु चढत चोंटत ऊँचे फूल ॥[4]

एक गाथा में प्रिय को मनाती हुई कलहान्तरिता कहती है मुझे तुमसे अधिक अपना जीवन प्रिय है, तुम्हारे विना वह नहीं रहेगा। इसीलिये तुम्हें मना रही हूँ।[5] ठीक यही बात बिहारी की नायिका ने भी दुहराई है—

अपनी गरजनि बोलियत कहा निहारो तोहि।
तू प्यारो मो जीय को मो जिय प्यारो मोहि ॥[6]

एक गाथा में नायिका केलिभवन में पिंजरे में बैठी हुई मैना की शिकायत करती हुई उसे वहाँ से हटा देने के लिये समवयस्का मामी से कहती है—

---

१. गाथा० १/८७
२. बिहारी सतसई ५७७
३. गाथासप्तशती १/६६
४. बिहारी० ६६८
५. गाथा० ३/१५
६. बिहारी० ३५१

पञ्जरसारिं अत्ता ण णेसि किं एत्थ रइहराहिन्तो ।
वीसम्भजम्पिआइं एसा लोआणं पअडेइ ॥[1]

मामी ! तुम पिंजरे में बैठी हुई इस मैना को रतिगृह से क्यों नहीं ले जातीं ? यह लोगों के सामने रतिसमय में कही हुई सभी बातें व्यक्त कर देती है।

इस भाव पर मतिराम का यह दोहा है—

पति-विलास सुक सारिकनि कहे गुरुनि में प्रात ।
लाजललित गुन-गौरि के दुरे गात में गात ॥[2]

गाथासप्तशती का एक नायक अपनी भ्रान्ति के कारण स्वकीया के सरोष उपालम्भ का पात्र बन जाता है। वह कहती है—

णिअघणिअं उवऊहसु कुक्कुडसद्देन झत्ति पडिवुद्ध ।
परवसइवाससङ्किर णिअए वि घरम्मि मा भासु ॥[3]

मुर्गे की बाँग सुनकर एकदम (हड़बड़ा कर) उठ बैठने वाले ! दूसरे के घर में अपने (रात्रि) वास की भ्रान्ति से अपने ही घर में मत डरो। अपनी गृहिणी का आलिङ्गन करो।

अब मतिराम की नायिका जो कुछ कह रही है उसे भी सुन लीजिए—

मिले मोंहि अति प्रेम सों लटपटात उठि प्रात ।
छोड़ि आपनो भौन तुम भौन कौन के जात ॥[4]

गाथा की नायिका का देवर के प्रति प्रेम देखिए—

णवलअपहरं अङ्गे जहिं जहिं महइ देअरो दाउम् ।
रोमाञ्चदण्डराई तहिं तहिं दीसइ वहूए ॥[5]

देवर जहाँ-जहाँ नवीन लता का प्रहार करना चाहता वधू के अङ्ग में वहीं रोमाञ्चराजि दीखने लगती है।

बिहारी की नायिका की दशा भी देख लें—

देवर फूल हने जु सु सु उठे हरषि अँग फूलि ।
हँसी करति औषधि सखिनु देह-ददोरनु भूलि ॥[6]

गाथा की इस नायिका का मोह कैसा प्रबल है—

सेउल्लिअसव्वङ्गी गोत्तग्गहणेण तस्स सुहअस्स ।
दूइं पट्ठाएन्ती तस्सेअ घरङ्गणं पत्ता ॥[7]

दूती को भेजती हुई नायिका नायक का नाम लेते ही स्वेद से लथपथ शरीर होकर स्वयं ही उसके (नायक के) घर के आँगन में पहुँच गई।

विहारी की नायिका भी ऐसी ही मोहग्रस्त है—

चलतु घरै घर घर तऊ घरी न घर ठहराइ।
समुझि उहीं घर कौं चलै भूलि उहीं घर जाइ॥[1]

उत्सवों–विशेषकर व्याह-शादियों अथवा बहू-बेटियों के मैके या सुसराल से आने—पर परिचित घरों में मिठाई आदि बाँटने का रिवाज गाँवों में आज भी पाया जाता है। इस उपहार को 'वायना' कहा जाता है। वायना बाँटने का काम प्रायः सजधज कर घर की युवति लड़कियाँ ही करती हैं। गाथासप्तशती की एक ऐसी ही युवति के प्रणयपात्र युवक को उलाहना देती हुई उसकी दूती कहती है—

णीआइँ अज्ज णिक्किव पिणद्धणवरङ्गअ्रोह वराईए।
घर परिवाडीअ पहेणआइँ तुह दंसणासाए॥ ४|२८॥

निठुर! तुम्हारे दर्शन की आशा से वह आज घर-घर 'वायना' देती हुई फिरी।

मतिराम की दूती कहती है—

निज पाइन वलि आइ कै तो घर वाइनि देइ।
जाति वाल निज गेह कौं उर उछाह दृग सेइ॥ ३८१॥

गाथाकार की नायिका प्रिय के प्रति मान धारण करने में अपनी असमर्थता प्रकट करती हुई कहती है कि उसके शिष्टता (विनय) से च्युत होने पर भी मुझ से मान नहीं किया जाता क्योंकि ये अङ्ग ही (उसके समक्ष) माँगे हुए से (पराधीन) हो जाते हैं।[2] विहारी की नायिका भी कहती है कि—

मोंहि लजावत निलज ये हुलसि मिलै सब गात।
भानु उदै की ओस लौं मान न जान्यौ जात॥ १००॥

गाथासप्तशती का नायक लोगों के समक्ष ही सूर्य को नमस्कार करने के वहाने अपनी प्रेयसी को प्रणाम करता है किन्तु पकड़ा जाता है और ज़माना देखे हुए एक बुढ़िया उसे टोक ही बैठती है—

सूरच्छलेण पुत्तअ कस्स तुमं अञ्जलिं पणामेसि।
हासकडक्खुम्मिस्सा ण होन्ति देवाणं जेक्कारा॥[3]

हे पुत्र! सूर्य को प्रणाम करने के वहाने किसे हाथ जोड़ रहे हो। देवताओं के लिए मुस्कान और कटाक्षों के साथ प्रणाम नहीं किये जाते।

विक्रमसाहि की नायिका अपनी सखियों के सामने बड़ी चतुराई से मित्र (सूर्य) के वहाने अपने मित्र (जार) से प्रणाम कर जाती है और पकड़ी नहीं जाती—

१. विहारी० ४/६०
२. गाथा० २/६५
३. ,, ४/३२

न्हात सरोवर सखिन्ह सँग विहँस बेस वर बाम ।
जोरि जुगल कर मित्र मिस मित्रहि करत प्रनाम ॥[1]

गाथासप्तशती की एक नायिका का दावा है कि उसका प्रिय जव उसके साथ रमण करके एक ही पग दूर जाता है और फिर आलिङ्गन करने के लिये लौट पड़ता है, उस समय वह प्रोषितपतिका के समान और वह प्रवासी के मसान हो जाता है।[2]

विहारी के प्रेमी-युगल का भी हाल-देख लीजिए। नायक घर के दरवाजे से बाहर भी नहीं हुआ कि दोनों ओर से करोड़ों संदेशों का आदान-प्रदान हो गया—

चाह भरी अतिरसभरी विरहभरी सव वात ।
कोरि सँदेसे दुहुन के चले पौरि लौं जात ॥[3]

इसी प्रेमी-युगल की दशा संयोग में देखिये—

तह तेण वि सा दिट्ठा तीअ वि तह तस्स पेसिआ दिट्ठी ।
जह दोण्ह वि समअं चिअ णिव्वुत्तरआइँ जाआइं ॥[4]

नायक और नायिका ने एक दूसरे पर इस प्रकार दृष्टि डाली कि वे एक साथ ही कृतसमागम से हो गये !

विहारी के नायक-नायिका का हाल भी यही है—

सुख सौं बीती सव निसा मनु सोए मिलि साथ ।
मूका मेलि गहे सु छिनु हाथ न छोड़े हाथ ॥[5]

गाथाकार की नायिका प्रिया द्वारा दी गई माला को मुरझा कर गन्धहीन हो जाने पर भी धारण करके अपनी आसक्ति का परिचय देती है। उसकी दूती नायक से कहती है कि—

सा तुह सहत्थदिण्णं अज्ज वि रे सुहअ गन्धरहिअं पि ।
उव्वसिअणअरघरदेवदे व्व ओमालिअं वहइ ॥[6]

हे सुभग ! तुम्हारे हाथ द्वारा दी गई माला को परित्यक्त गृहदेवता के समान वह गन्धरहित हो जाने पर भी धारण किये है।

विहारी की नायिका भी ऐसी ही वफ़ादार है—

नैंकौं उहि न जुदी करी हरषि जु दी तुम माल ।
उर तैं वासु छुट्यौ नहीं वास छुटैं हू लाल ॥[7]

---

१. विहारीसतसई ४७२
२. गाथा० १/८=
३. विहारी सतसई ६२२
४. गाथा सप्तशती ७/२५
५. विहारी सतसई ५७१
६. गाथा० २/९४
७. विहारी० ६१६

गाथाकार की गँवार नायिका को उसके ऐसे ही प्रणयी ने दो वेरो का गुच्छा दे दिया जिसे धारण करके वह लोकलाज की अवहेलना करती हुई गाँव की गली में से गुज़रती हुई घर को गई। उसकी दूती नायक को उपालम्भ देती हुई कहती है—

वालअ तुमाइ दिण्णं कण्णे काऊण वोरसंघाडिम्।
लज्जालुइणी वि वहू घरं गआ गामरच्छाए ॥[1]

हे वालक ! लजीली होने पर भी वह वहू तुम्हारे द्वारा दिये हुए वेरों के गुच्छे को कान में पहन कर गाँव की गली से घर को गई।

इसी प्रकार की शिकायत मतिराम के नागर नायक की नागरी प्रियतमा, जिसे उसने अपने कान का गुलाव का गुच्छा दे दिया था, अपनी दूती के द्वारा करती है—

दियौ कान्ह निज कान तें तुम गुलाव का गुच्छ।
गुरुजन में अवतंस करि फिरति लाज करि तुच्छ ॥[2]

सुरत-रस के आस्वादन की मधुर स्मृतियों में पगे हुए संकेत-स्थल को याद करती हुई गाथा सप्तशती की नायिका कहती है—

सच्चं भणामि मरणे ट्ठिअम्मि पुण्णे तडम्मि तावीए।
अज्ज वि तत्थ कुडङ्गे णिवडइ दिट्ठी तह च्चेअ ॥[3]

सच कहती हूँ, मुझे मरना है। तापी नदी के पवित्र कूल पर स्थित निकुञ्ज पर आज भी मेरी दृष्टि उसी प्रकार पड़ती है।

विहारी की नायिका भी जमुना-किनारे के सघन कुंज को याद करती है—

सघन कुंज छाया सुखद सीतल सुरभि समीर।
मन ह्वै जात अजौं वहै उहि जमुना के तीर ॥[4]

गाथाकार लक्षिता दूतिका के प्रति उसकी सखी की उक्ति को इस प्रकार बाँधते हैं—

जइ सो ण वल्लहो च्चिअ गोत्तग्गहणेन तस्स सहि कीस।
होइ मुहं ते रविअरफंसव्विसदं व तामरसं ॥[5]

हे सखि ! यदि वह तुम्हारा प्रिय नहीं है तो उसका नाम लेते ही तुम्हारा मुख सूर्य के करों से स्पृष्ट लाल कमल के समान क्यों हो गया ?

विहारी अपनी नायिका के विषय में कहते हैं—

नाम सुनत ही ह्वै गयो तन औरै मन और।
दवै नहीं चित चढि रह्यो कहा चढाये त्यौर ॥

---

१. गाथा० ५/१९
२. मतिराम सतसई ६४०
३. गाथा० ३/३४
४. विहारी सतसई ६८१
५. गाथा० ४/४३

प्रियतम द्वारा स्तनपृष्ठ पर दिये हुए नखचिह्न को देखती हुई नायिका की चेष्टाएँ गाथाकार इस प्रकार चित्रित करता है—

पुसइ खणं धुवइ खणं पप्फोडइ तक्खणं अआणन्ती ।
मुद्धवहू थणवहे दिण्णं दइएण णहरवअम् ॥[1]

अपने स्तनपृष्ठ पर प्रियतम द्वारा किये नखचिह्न को न समझती हुई मुग्धा वधू क्षण में पोंछती है, क्षण में धोती है और क्षण में झाड़ने लगती है।

विहारी की नायिका भी कुछ ऐसा ही कर रही है—

छिनकु उघारति, छिन छुवति राखति छिनक छिपाइ ।
सब दिन पियखण्डित अधर दरपन देखति जाइ ॥[2]

चिट्ठियों का मजमून भी पढ़ लीजिए । गाथाकार की नायिका लिखती है—

वाआइ किं भणिज्जउ केत्तिअमेत्तं व लिक्खए लेहे ।
तुह विरहे ज दुक्खं तस्स तुमं चेअ गहिअत्यो ॥[3]

वाणी से क्या कहा जाय ? और लेख में लिखा ही कितना जा सकता है ? तुम्हारे विरह में मुझे कितना दुःख है उसे तुम ही जानते हो ।

विहारी की नायिका लिखती है—

कागद पर लिखत न बनै कहत सँदेस लजात ।
कहिहै सबु तेरो हियौ मेरे हिय की बात ॥

गाथा की नायिका कुटुम्ब का विघटन होने के भय से देवर द्वारा की गई छेड़-छाड़ को नहीं कहती किन्तु घुल-घुल कर क्षीण होती जाती है[4] तो विहारी की नायिका भी—

कहति न देवर की कुवत कुलतिय कलह डराइ ।
पंजर गत मंजार ढिग सुग लौं सूकत जाइ ॥

गाथासप्तशती की एक कुलवधू अपने देवर को गांव के मुखिया की पत्नी से गुप्त प्रणय करते हुए लक्षित कर अपनी सास का ध्यान इस प्रेम-काण्ड से संभावित दुष्परिणाम की ओर आकृष्ट करती हुई कहती है—

गामणिघरम्मि अत्ता एक्क च्चिअ पाटला इह गामे ।
बहुपाटलं च सीसं दिअरस्स ण सुन्दरं एअम् ॥[5]

मां ! इस गांव में केवल गांव के मुखिया के घर में ही एक पाटला है और देवर लाला के सिर पर पाटला के बहुत से पुष्प दिखाई पड़ते हैं । यह बात अच्छी नहीं ।

---

१. गाथा० ५/३३ ४. गाथासप्तशती १/५१
२. बिहारी० १०६ ५. ,, ५/६१
३. गाथा० ६/७१

मतिराम की कुलवधू भी यही संकेत करती है—

> है इहि गाँव गुलाव वर पुर-ठाकुर कें गेह।
> भली न ग्रावति वास है जो देवर की देह ॥[1]

स्पष्ट है कि मतिराम ने पूरे प्रसङ्ग ग्रौर भाव का ग्रनुवाद कर दिया है।

गाथाकार की नायिका नायक द्वारा उपेक्षित होकर ज्वर-ग्रस्त हो जाती है ग्रौर जब नायक उसका कुशल-क्षेम पूछने ग्राता है तो वह प्रिय से मिला देने वाले ज्वर का शुक्रिया इन शब्दों में ग्रदा करती है—

> सुहउच्छग्रं जणं दुल्लहं वि दूराहि ग्रम्ह ग्राणन्त।
> उग्रग्रारग्र जर जीग्रं पि णेन्त ण कग्रावराहोसि ॥[2]

उपकारक ज्वर! मेरे प्राण लेते हुए भी तुमने ग्रपराध नहीं किया है क्योंकि दुर्लभ व्यक्ति को भी कुशल पूछने के लिये इतनी दूर से हमारे पास ला दिया।

विहारी की नायिका काँटे को धन्यवाद देती हुई ग्राभार प्रकट करती है—

> इहि काटें मो पाइ गड़ि लीनी मरति जिवाइ।
> प्रीति जनावत भीति सों मीत जु काढ्यौ ग्राइ ॥ ६०५ ॥

गाथासप्तशती में ग्रामीण नायक-नायिकाग्रों की प्रणय-लीलाग्रों का ही चित्रण ग्रधिक हुग्रा है। गाँव में ग्रामणी की स्थिति ग्रत्यन्त उच्च समझी जाती थी ग्रौर वह ग्रभिजातवर्ग का प्रतिनिधि माना जाता था। उसके युवक पुत्र गाँव की कामिनियों के स्पृहणीय प्रेयान् रहते तो युवति पुत्री मनचले युवकों की प्रणयकेलि का लक्ष्य। ग्रतः ग्रनेक गाथाग्रों में ग्रामणी की पुत्री के प्रणय की कथा ग्रङ्कित की गई है। मतिराम के समय में कहीं-कहीं ग्रामणी को पटेल कहा जाता था। पटेल की पुत्री की प्रणय-साधना का वर्णन इस वे प्रकार करते हैं—

> सूखी सुता पटेल की सूखी ऊखनि पेखि।
> ग्रव फूली फूली फिरै फूली ग्ररहरि देखि ॥[3]

हिन्दी की सतसइयों से ग्रन्य भी सैंकड़ों उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं जिनमें गाथासप्शती के भावों की छाया ही नहीं प्रसङ्गविधान की माया भी स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। यह साम्य एकान्ततः परिस्थितियों की समानता का ही परिणाम नहीं है। इन उदाहरणों की ग्रत्यधिक संख्या इस वात का भी प्रवल प्रमाण है कि भावों की यह समानता ग्राकस्मिक भी नहीं कही जा सकती। वस्तुतः गाथासप्तशती के भावपक्ष ने ही नहीं कलापक्ष ने भी सतसई साहित्य को प्रभावित किया है। प्रायः

१. मतिराम सतसई ६११
२. गाथा० १/५०
३. [illegible]

विद्वान् यह कहते सुने जाते हैं कि गाथा सप्तशती लोकसाहित्य है अथवा लोकसाहित्य से अत्यधिक प्रभावित है। मेरी धारणा है कि यह भ्रम है। प्रत्येक गाथा की रचना बड़ी सजगता के साथ की गई है और, जैसा कि हम अन्यत्र दिखा चुके हैं, कामशास्त्र और काव्यशास्त्र के साथ-साथ उस पर नायिका भेद का भी प्रभाव लक्षित होता है। उसकी भाषा सहज और सरल अवश्य है पर ग्राम्य नहीं। माना कि उसमें ग्रामीण-जीवन का व्यापक चित्रण है। ग्रामीण संस्कृति, आचार-विचार और रुचि-अरुचि के साथ-साथ वहाँ के सरस वातावरण में पले हुए युवक-युवतियों के उन्मुक्त प्रेम की कहानी कलरव करते हुए पक्षियों के आवासभूत सघन कुञ्जों, कलकल बहती हुई सरिताओं के शोभन कछारों और हरे-भरे खेतों के विशाल मखमली चित्र फलकों पर अङ्कित है, पर क्या इसके कारण ही उसे लोकसाहित्य कहा जा सकता है ? यदि हाँ, तो प्रेमचन्द के गोदान को भी लोककथा कहा जाना चाहिए। संस्कृत के शिष्ट और 'बुर्जुआ' काव्यशास्त्री ध्वनि के सूक्ष्म भेदों, रस के सरस उदाहरणों तथा अलङ्कारों के रमणीय रूपों को खोजने के लिए लोकसाहित्य की खाक छानना पसन्द न करते। वस्तुतः लोकजीवन को युग-युगान्तर से चली आती हुई पुष्ट साहित्यिक परम्पराओं की निसर्ग-सुन्दर कलात्मक पृष्ठभूमि पर चित्रित करने वाली गाथासप्तशती अपनी उपमा आप है।

अभिव्यक्ति के क्षेत्र में भी सतसईकार गाथाकारों से उपकृत हुए हैं। अन्योक्ति के माध्यम से भावाभिव्यक्ति को तीव्र बनाने की परिपाटी काव्यजगत् में न जाने कब से चली आ रही है। शृङ्गारिक क्षेत्र में अस्थिर प्रेम नायक को भँवरे का और सरल मुग्धा नायिका को कलिका अथवा कुसुम का रूप देकर उपालम्भ देने की परिपाटी अत्यन्त प्रसिद्ध है। यों तो कविकुलगुरु कालिदास ने भी अभिज्ञान-शाकुन्तल में हंसपदिका द्वारा दुष्यन्त को इसी शैली में उपालम्भ दिलाया है तथापि प्रथम तो उनका तथा कोषकार हाल का पौर्वापर्य ही विवादग्रस्त है। इसके अतिरिक्त गाथासप्तशती में भ्रमर विषयक अनेक अन्योक्तियाँ संगृहीत हैं। इस दृष्टि से प्रथम शतक की ९२वीं, दूसरे की ३९ वीं, चौथे की ८७ वीं, पांचवें की ४२ और ४४वीं तथा सातवें की १३, १९ और ४१ वीं गाथाएँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। बिहारी की 'नहिं पराग नहीं मधुर मधु नहिं बिकास इहिकाल, अली कली ही सौं बंध्यो आगें कौन हवाल' वाली अन्योक्ति गाथा सप्तशती की इस गाथा पर आधारित है—

जाव ण कोसविकासं पावइ ईसीस मालईकलिआ।
मअरन्दपाणलोहिल्ल भमर तावच्चिअ मलेसि ॥ ५/४४ ॥

मालती की कली के कोष का विकास भी नहीं हो पाता और मकरन्द-पान के लोभी भौंरे ! तुम उसे मसल डालते हो।

इस प्रसङ्ग में मतिराम सतसई का ७४ वां और विक्रम सतसई के २ २३१, २३२ और २३५ वें दोहे भी द्रष्टव्य हैं।

अप्रस्तुत-विधान के अन्तर्गत ज्योतिष और आयुर्वेद के सामान्य ज्ञान का उपयोग गाथासप्तशती में भी किया गया है और हिन्दी की सतसइयों में भी। एक गाथा में अङ्गारकवार और विष्टि (भद्रा) दिवसों पर यात्रा का निषेध होने के कारण उन्हें प्रियतमा की प्रणय-लीलाओं में आसक्त भावी प्रवासी के लिए सुखकर बनाया गया है।[1] इसी प्रकार एक अन्य गाथा में मेघघटाओं से आकाश मण्डल के आच्छन्न हो जाने पर लुप्त सूर्यमण्डल और चांद तारों का पता लगाने के लिये कालरूपी ज्योतिषी के बलाकारूपी होरा (रेखा) के खींचने की कल्पना मिलती है।[2] लेकिन नक्षत्रों को विविध रंगों का प्रतीक मानकर उन्हें तिलक स्वेन्दबिन्दु आदि के रूप में नायिका के कोमल शरीर पर जड़ देने वाली उक्ति गाथासप्तशती में कहीं-नहीं मिलती। नक्षत्रों में विविध रंगों की कल्पना और उसके आधार पर सौन्दर्य चित्रण की प्रवृत्ति संभवतः बाद में अस्तित्व में आई जो रीतिकालीन कवियों को और उनसे भी पहले सूर आदि कृष्ण भक्त कवियों को अत्यधिक प्रिय रही।

हृदय को चमत्कृत कर देने वाली मार्मिक चमत्कार-सृष्टि के लिये रीतिकाल के कवि अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। बिहारी और मतिराम आदि रससिद्ध कवियों की वाणी जहाँ ध्वनि की सुरम्य कन्दराओं से बहते हुए रस के स्रोत को उपस्थित करती है वहाँ शब्दों के सघन मेघों के अन्योन्य संपर्क से चमत्कार की चपला को भी चमकाती है। ठीक यही बात गाथासप्तशती में भी पाई जाती है। चमत्कार-सृष्टि का सबसे अधिक उपयुक्त साधन है श्लेष। अनेकार्थ शब्दों की उपयुक्त शय्या प्रस्तुत कर अभिप्रेत प्रभाव अथवा चमत्कार की सृष्टि करने में श्लेष कवि का बड़ा भारी सहायक होता है। कभी विरोधाभास के रूप में परिणत होकर तो कभी समासोक्ति का जामा पहन कर यह अपना कर्त्तव्य पूरा करता है। इसके बाद यमक और अनुप्रास का स्थान आता है और उसके पश्चात् उत्प्रेक्षा आदि अर्थालङ्कारों का। शृङ्गार के क्षेत्र में 'सलोना', नेह' और 'राम' शब्दों का इस दृष्टि से बहुत कुछ उपयोग हुआ है। गाथासप्तशती की एक गाथा लीजिए—

भुञ्जसु जं साहीणं कुतो लोणं कुगामरिद्धम्मि।
सुहअ सलोणेण वि, किं तेण सिणेहो जहिं णत्थि ॥[3]

अनुरक्त नायिका को गंवार बताकर उपेक्षा कर देने वाले नायक से दूती कहती है कि जो कुछ तुम्हें प्राप्त है उसी का उपभोग करो। इस गाँव में लोन (नमक और लावण्य) कहाँ? सुभग! जिसमें स्नेह (प्रेम और चिकनाई) न हो उस सलोने (सुन्दर और नमकीन) से भी क्या?

बिहारी की ये उक्तियाँ भी देखिए—

---

१. गाथा सप्तसती ३/६१
२. ,, ५/३५
३. ,, ४/१६

ललन सलोने अरु रहे अतिसनेह सों पागि ।
तनक कचाई देति दुख सूरन लौं मुंह लागि ॥[1]
रूखे कैसे होत ए नेह-चीकने नैन ॥[2]

त्यौं त्यौं प्यासेई रहत ज्यौं ज्यौं पियत अघाइ ।
सगुन सलोने रूप की जु न चख-तृषा बुझाइ ॥[3]
रही लटू ह्वै लाल हौं लखि वह बाल अनूप ।
कितौ मिठास दयौ दई इतै सलोनें रूप ॥[4]

मतिराम के नायक के सलोने नैन भी कैसी दुहरी मार कर रहे हैं और हठात् नायिका के जले पर नमक छिड़क रहे हैं—

हियो जरायो बाल कौ अनल ओज निज मैन ।
ता पर तेरे देत दुख लाल सलोने नैन ॥[5]

और रामसहाय की सलोनी की यह मीठी बात भी कितनी चमत्कार-पूर्ण है—

जऊ सौंह नख-खत भरे खरी ढिठाई खात ।
तऊ सलोनी की रही भरी मिठाई बात ॥[6]

नेह शब्द के श्लेष पर आधारित मतिराम के इस परम्परित रूपक की झलक भी देखिए—

ज्यौं ज्यौं विषम वियोग की अनल-ज्वाल अधिकाइ ।
त्यौं त्यौं तिय की देह में नेह उठत उफिनाइ ॥[7]

रसनिधि की ये उक्तियां भी द्रष्टव्य हैं—

या घट के सौ टूक करि दीजे नदी बहाइ ।
नेह भरे हूं पै जिन्हैं दौर रुखाई जाइ ॥
रूखे रूखे जे रहत नेह बास नहिं लेइं ।
उन तें वे मखियां भली नेह परत जिय देइं ॥[8]
हित बतियनि की रसिकनिधि लखि अद्भुतगति एह ।
प्रीतम मुख पर जोत है मेरे हिय में नेह ॥[9]

रसिक-मण्डल-विहारी विहारी तो पहले ही अपनी नायिका को उपालम्भ दे चुके थे ।

एरी यह तेरी दई क्यों हू प्रकृति न जाइ ।
नेह भरै हिय राखियै तउ रूखियै लखाइ ॥ ६०४ ॥

अतिशयोक्ति और विरोधाभास का आश्रय लेकर गाथाकार ने कामानल की विचित्रता इन शब्दों में प्रकट की है—

---

१. बिहारी सतसई ३९३ ६. राम सतसई ५६
२. ,, ,, ४१५ ७. मतिराम सतसई ६२८
३. ,, ,, ४१७ ८. रसनिधि सतसई ४४९-५०
४. ,, ,, ४७३ ९. ,, ,, ४९३

अण्णो को वि सुहावो मम्महसिहिणो हला हआसस्स ।
विज्झाइ णीरसाणं हिअए सरसाणं झत्ति पज्जलइ ॥[1]

कम्बख्त काम की आग का कुछ और ही स्वभाव होता है । यह सरस व्यक्तियों के हृदय में फौरन जल उठती है और नीरस हृदयों में बुझ जाती है ।

अब बिहारी और मतिराम का वर्णन लीजिए—

याके उर ऐसी लगी कछू विरह की लाइ ।
पजरै नीर गुलाब के पिय की बात बुझाइ ॥ (बिहारी)
इन्द्रजाल कंदर्प को कहै कहा मतिराम ।
आगि-लपट बरषा करै ताप हरै घनस्याम ॥[2] (मतिराम)

गायासप्तशती में 'गोरअ' शब्द के साथ खिलवाड़ करके इस प्रकार वैचित्र्य उत्पन्न किया गया है—

मुहमारुएण तं कह्न गोरअं राहिआएँ अवणेन्तो ।
एताणं वल्लवीणं अण्णाणं वि गोरअं हरसि ॥ १/८९ ॥

हे कृष्ण ! तुम अपने मुखमारुत से राधिका के मुख का गोरअ (गोरज) हरते हुए अन्य गोपियों के गोरअ (गौरव या गोरता) को भी हर लेते हो ।

बिहारी और रसनिधि ने इसी प्रकार गोरस शब्द के साथ खिलवाड़ किया है । उदाहरण लीजिए—

गोरस चाहत फिरत हो गोरस चाहत नाहिं । (बिहारी)
तेरे घर विधि को दयौ दयौ न कोऊ खात ।
गोरस हित घर घर लला काहे फिरत ललात ॥[3]

विक्रम ने 'रस' शब्द के साथ यही खेल किया है—

ज्यौं ज्यौं दुहू दुहून के रस सौं भिजवत गात ।
त्यौं त्यौं चित्त दुहूनि के रस सो भींजत जात ॥[4]

कभी-कभी कुछ शब्दों को हेर-फेर के साथ दुहरा कर भी चमत्कार की सृष्टि की जाती है । गायासप्तशती का एक उदाहरण लीजिए—

लहुअन्ति लहुं पुरिसं पव्वअमेत्तं पि दो वि कज्जाइं ।
णिव्वरणमणिव्वूढे णिव्वूढे जं अ णिव्वरणं ॥[5]

(अर्थात् दो काम पर्वतसदृश मनुष्य को भी शीघ्र ही लघु बना देते हैं—किसी काम को किये बिना ही शेखी बघारना और करके शेखी बघारना)

---

१. गाथा० ५/३०
२. मतिराम सतसई २१६
३. रसनिधि० ४९०
४. विक्रम सतसई २९६
५. गाथा० ३/५५

सतसईकारों की भी कुछ उक्तियाँ लीजिए—

नीठि नीठि आगें परं पैग पर्‌यौ जनु फंद ।
को न होति गति-मंद है लखि तेरी गति मंद ।।[1]

जोरत हूँ सजनी विपति तोरत विपति-समाज ।
नेह कियौ बिनुकाज पुनि तेह कियौ बिनु काज ।।[2]

माँगत विधि सौं ब्रजवधू प्रनपत कर वर एह ।
हम सौं मोहन नेह कै हम सौं करै न नेह ।।[3]

ऊधव माधव जू विना सुखदा हू दुख हेत ।
होत चेत हरि लेत चित चैत चांदनी चेत ।।[4]

विरोधाभास चमत्कार सृष्टि का सबसे प्रबल और प्रत्यक्ष प्रभावकारी उपाय है। यह श्लिष्ट पदों पर भी आधारित हो सकता है और श्लेष के बिना भी लक्षित अर्थ के आधार पर। श्लेष-रहित विरोधाभास का एक उदाहरण गाथासप्तशती से लीजिए—

समसोक्खदुक्खपरिवड्ढिआणं कालेण रूढपेम्माणं ।
मिहुणाणं मरइ जं तं खु जिअइ इअरं मुअं होइ ।।[5]

समान सुख-दुःख में पले हुए तथा शनैः शनैः पुष्टप्रेम प्रेमियों में से जो मर जाता है वह जीवित रहता है और जो जीवित रहा है वह मर जाता है।

विहारी का यह प्रसिद्ध दोहा भी इस शैली में लिखा गया है—

तन्त्रीनाद कवित्त-रस सरस-राग रति-रंग ।
अनबूड़े बूड़े तरे जे बूड़े सब अंग ।।

अब श्लेष पर आधृत विरोधाभास के चमत्कार का एक उदाहरण लीजिए—

धवलो सि जइ वि सुन्दर तह वि तुए मज्झ रञ्जिअं हिअअम् ।
राअभरिए वि हिअए सुहअ णिहित्तो ण रत्तो सि ।।[6]

हे सुन्दर ! तुम धवल (श्रेष्ठ और श्वेत) हो फिर भी तुमने मेरे हृदय को रंग दिया है तथा मैंने तुम्हें अपने रागभरे हृदय में रखा है फिर भी तुम रक्त नहीं हुए।

कहने की आवश्यकता नहीं कि रीतिकालीन सतसइयों में इस शैली का अत्यधिक अनुसरण किया गया है। केवल एक उदाहरण लीजिए जिसमें न केवल शैली अपितु समूचे प्रसङ्ग एवं भाव को भी अनूदित कर दिया गया है। दोहा मतिराम का है और सातवें शतक की ६५ वीं गाथा का अनुवाद है—

---

१. मतिराम सतसई १२७ ४. राम सतसई २५१
२. मतिराम सतसई २६९ ५. गाथा० ३/४२
३. रसनिधि सतसई ४६३ ६. ,, ७/६५

यमक और अनुप्रास भी शाब्दिक चमत्कार उत्पन्न करने के अच्छे साधन हैं। एक गाथा देखिए:—

चन्दमुहि चन्दधवला दीहा दीहच्छि तुह विओअम्मि।
चउजामा सअजाम व्व जामिणी कहँ वि वोलीणा ॥[1]

सतसइयों में तो ऐसे उदाहरण भरे ही पड़े हैं। उनसे उद्धरण देने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

रीतिकालीन कवियों की अभिव्यक्ति की एक विशेषता है ऊहात्मक शैली। कल्पना की ऊँची उड़ान भरने के कारण कहीं कहीं तो उनकी उक्तियाँ पूर्णतया हास्यास्पद ही हो गई हैं। बिहारी की नायिका विरह के अनल में इतनी तप जाती है कि उसके शरीर पर उँडेली हुई गुलाब-जल की शीशी बीच में ही सूख जाती है और शरीर पर एक छींटा तक नहीं पड़ता तथा मतिराम की नायिका के शरीर के स्पर्श से कमलिनी के पत्ते भुन कर पापड़ बन जाते हैं—

जागत ओज मनोज के परसि प्रिया के गात।
पापर होत पुरैनि के चन्दन पङ्किल पात ॥[2]

इस शैली का बीज-वपन भी गाथासप्तशती में हो चुका था जिसका एक-आध अंकुर यहाँ उदाहरण-रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है:—

विक्किणइ माहमासम्मि पामरो पाइडिं वइल्लेण।
णिद्धूमनुम्मुर व्विअ सामलीअ थणे पडिच्छन्तो।[3]

माघ के महीने में कृषक युवा अपनी सुन्दरी पत्नी के, भुस की अग्नि के सदृश, (गर्मी देने वाले) कुचों को देखकर कम्बल के बदले में बैल खरीद लेता है।

विज्झाविज्जइ जलणो गहवइधूआइ वित्यअसिहो वि।
अणुमरणघणालिङ्गणपिअअमसुहसिज्जिरङ्गीए ॥[4]

प्रिय के साथ सती होती हुई गृहपति की सुता ने प्रिय के (शव के) गाढ़ आलिङ्गन-जनित सुख से प्रसूत स्वेद द्वारा विस्तृत लपटों वाली (चिता की) अग्नि को भी बुझा दिया।

आस-पास 'नितप्रति पूनो' ही रहने लगी। अन्य कवियों ने भी उनका अनुकरण किया।

सारांश यह है कि जिस ऊहात्मक शैली के लिये रीतिकालीन कवि इतने बदनाम हैं और जिसका आगमन कुछ लोग फारसी साहित्य से मानते हैं, वह न तो एकान्ततः रीतिकालीन कवियों की बौद्धिक स्थली पर उगी थी और न ही विदेशी साहित्य से आई थी, अपितु उस बीज का स्वाभाविक फल थी जिसका वपन गाथा-सप्तशती काल में ही हो चुका था और जो तब से बराबर क्रमशः अंकुरित, पल्लवित, विकसित और पुष्पित होता हुआ रीतिकालीन वातावरण में विशाल वृक्ष का आकार धारण कर रंग-बिरंगे फलों से लद गया।

शैली ही नहीं उपमानों का भी अनुवाद रीतिकालीन सतसईकारों ने कर लिया है। कमल, चन्द्र, किसलय आदि स्वतः-सम्भवी परम्परागत रूढ़ उपमानों के अनुकरण को तो हम उल्लेखनीय ही नहीं समझते क्योंकि उनका प्रयोग तो भारतीय साहित्य में स्वतः सिद्ध ही समझना चाहिए। यहाँ उन उपमानों की बात है जो लीक के बाहर हैं।

प्राचीन साहित्य में काम के बाण प्रसिद्ध हैं। उसके भाले का उल्लेख कहीं नहीं मिलता, किन्तु गाथाकार ने उपमान के रूप में काम के भाले की कल्पना भी की है—

णवपल्लवं विसण्णा पहिआ पेच्छन्ति चूअरुक्खस्स।
कामस्स लोहिउप्पङ्गराइअं हत्थभल्लं व॥[1]

पथिक (प्रवासी) लोग आम्रवृक्ष के नवीन पल्लव को दुःखित होकर इस प्रकार देखते हैं जैसे वह काम का रुधिरलिप्त भाला हो।

बिहारी ने भी कहा है—

मन्मथ-नेजा-नोक सी खुभी खुभी जिय माहिं।

नायक के दर्शन से अतृप्त नायिका अपनी तृष्णा का उल्लेख इन शब्दों में करती है—

अविअह्लपेक्खज्जेण तक्खणं मामि तेण दिट्ठेण।
सिविणअपीएण व पाणिएण तह्ल च्चिअ ण फिट्टा॥[2]

हे मामी ! शान्त न होती हुई पिपासा के साथ दर्शनीय प्रिय को उस क्षण देखकर स्वप्न में पिये हुए पानी के सदृश तृष्णा ही न मिटी।

मतिराम का यह दोहा भी देखिए:—

देखें हू बिन देखि हू लगी रहै अति प्रास।
फैमें हू न बुझाति है ज्यों सपने की प्यास॥[1]

---

१. गाथा० ६/८४
२. ,, १/१२

द्वितीय भाग

[सप्त शतानि कविवत्सलेन कोटिमध्ये ।
हालेन विरचितानि सालङ्काराणां गाथानाम् ॥]

कविवत्सल हाल ने कोटि गाथाओं में से सात सौ सालङ्कार गाथाओं की रचना (संग्रह) की।

इस गाथा से स्पष्ट है कि यह हाल की संग्रह-कृति है। अनेक कवियों की रचनाओं को जीवित रखकर उसने उनके प्रति वत्सलता प्रकट की है।

उग्र णिच्चलणिप्पन्दा भिसणीपत्तम्मि रेहइ वलाआ।
णिम्मलमरगअभाअणपरिट्ठिआसंखसुत्ति व्व ॥४॥

[पश्य निश्चलनिःस्पन्दा बिसिनीपत्रे राजते बलाका ।
निर्मलमरकतभाजनपरिस्थिता शङ्खशुक्तिरिव ॥४॥]

प्रसंग—नायक और नायिका ने किसी सरोवर का कमलिनियों से आच्छादित, दुष्प्रेक्ष्य पुलिन संकेत-स्थल निश्चित किया। नायक अन्य नायिका में आसक्त होने के कारण न आ सका फिर भी उसने दोष नायिका के ही सिर रखा। इस पर नायिका कहती है :—

देखो, (संकेत-स्थल पर) निश्चल और निःस्पन्द बलाका मरकत-निर्मित पात्र में स्थित शङ्खशुक्ति (शङ्ख-निर्मित सीपी के आकार का चन्दन आदि रखने का पात्र) के समान शोभायमान हो रही है।

अचेतन उपमान द्वारा स्पन्दन का सर्वथा अभाव संकेतित है जिससे बकपंक्ति की निर्भयता और निर्भयता से उस स्थान की निर्जनता व्यञ्जित होती है तथा इस व्यङ्ग्य से नायिका का अभिप्रेत अर्थ ("तुम झूठ कहते हो, तुम वहाँ नहीं पहुँचे अन्यथा क्या यह बलाका इस प्रकार निर्भय निर्द्वन्द्व बैठी रह सकती थी?) व्यञ्जित होता है।

प्रसङ्ग यह भी हो सकता है कि नायिका स्थान की निर्जनता सूचित करती हुई नायक को संकेत-स्थल की ओर चलने के लिये और दीर्घ काल तक रमण के लिये संकेत कर रही है। क्योंकि कामशास्त्रीय सिद्धान्तों के अनुसार—

कल्लोलिनी काननकन्दरादौ दुःखाश्रये चापितचित्तवृत्तिः।
मृदुक्रमारम्भमभिन्नधैर्यः श्लथोऽपि दीर्घं रमते मनुष्यः॥

तावच्चिअ रइसमए महिलाणं विब्भमा विराअन्ति।
जाव ण कुवलअदलसेच्छआइं मउलेन्ति णअणाइं ॥५॥

[तावदेव रतिसमये महिलानां विभ्रमा विराजन्ते ।
यावन्न कुवलयदलसच्छायानि मुकुलीभवन्ति नयनानि ॥]

प्रसंग—रति से नायिका का परितोष नहीं हुआ। अतः वह नायक को रिझाने के लिये सुरत के पश्चात् भी कटाक्ष, अँगड़ाई आदि चेष्टाएँ करती है।

दूरदर्शिनी सखी उसे समझाती हुई कहती है—

"रति के समय महिलाओं के हाव-भाव तभी तक शोभायमान (पुरुष को आकृष्ट करने वाले) होते हैं जब तक नील कमल की पँखड़ी (दल) के सदृश उनके (महिलाओं के) नेत्र सुरत-जन्य आनन्द से निमीलित नहीं हो जाते।

नायिका के अपरितोष से नायक को आत्मग्लानि अथवा खीझ हो सकती है। अतः सखी नायिका को अप्रत्यक्ष रूप से शिक्षा देती है कि उसे सुरत-रसास्वादन प्रकट करने के लिए अपरितृप्त होने पर भी नेत्रनिमीलन करना चाहिए।

किसी-किसी टीकाकार ने "पुरुषों के नेत्र जब तक निमीलित नहीं हो जाते" ऐसा अर्थ किया है किन्तु कामशास्त्रीय ग्रन्थों में स्त्रियों के ही नेत्रनिमीलन का उल्लेख है—

नारी विसृष्टकुसुमेषुजला रतान्ते नित्यं करोति बहुवल्गनरोदने च।
कैवल्यमेति मुकुलीकृतचारुनेत्रा शक्नोति नो किमपि सोढुमतिप्रयासा॥

सुरत के अन्त में नारी स्वेदसिक्त हो जाती है, रोना और कराहना करती है, उसके नेत्र मुकुलित हो जाते हैं और वह अत्यन्त आयासित होने के कारण कुछ सह नहीं सकती।

णोहलिअमप्पणो किं मग्गसे मग्गसे कुरवअस्स।
एअं तुह सुहग हसइ वलिआणणपङ्कअं जाआ॥६॥

[दोहदमात्मनः किं न मृगयसे कुरवकस्य।
एवं तव सुभग हसति वलिताननपङ्कजं जाया॥]

प्रसंग—नायक नायिका की ओर से बहुत दिनों से उदासीन है और नायिका उसके लिये उत्कण्ठिता। नायक के उपवन का कुरवक फूल-फल नहीं रहा। वह चाहता है कि नायिका उस कुरवक का आलिङ्गन करे जिससे वह फलने लगे। इस पर नायिका की सखी कहती है—

"तुम कुरवक का दोहद (फूल फल लाने का उपाय) खोजते हो। अपना दोहद क्यों नहीं खोजते" यह कह कर तुम्हारी पत्नी (स्वकीया नायिका) मुखकमल को कुछ मोड़ कर हँस पड़ी"

व्यङ्ग्य यह है कि मुझसे कुरवक का आलिङ्गन करा कर उसके फूल चाहते हो। अपना आलिङ्गन और सुरत देकर पुत्ररूपी फल क्यों नहीं देना चाहते। "रवि-समय के अनुसार स्त्री के आलिङ्गन करने से कुरवक विकसित हो जाता है।

बिहारी के इस दोहे से तुलना कीजिए—

वह धनु लै अहसानु करि पारो देत सराहि।
बैद वधू हँसि भेद सौं रही नाह मुँह चाहि॥

ताविज्जन्ति असोएहिं लडहवलिआओ दइअविरहम्मि।
किं सहइ कोवि कस्स वि पाअपहारं पहुप्पन्तो॥७॥

*[ताप्यन्ते अशोकैर्विदग्धवनिता दयितविरहे ।
किं सहते कोपि कस्यापि पादप्रहारं प्रभवन् ॥]*

प्रसंग—वसन्त का समय है, नायक विदेश जाने वाला है, उसके प्रस्थान का निषेध करती हुई नायिका अथवा उसकी कोई सखी कहती है ।

"प्रिय के विरह में वियोगिनियों को अशोक खूब सताते हैं । समर्थ होता हुआ भी क्या कोई किसी के पादप्रहार को सह सकता है ?

विशेष—कवि समय के अनुसार स्त्री के पादप्रहार से अशोक विकसित होता है । वही अशोक उद्दीपन होने के कारण विरह में अत्यन्त संतप्त करता है । मानो चरणों से ताडित होने का बदला चुकाता हो । अपनी पत्नी का किसी अन्य द्वारा सताया जाना कोई चाहता है ? फिर क्यों जाते हो ?" यह व्यङ्ग्य है ।

अत्ता तह रमणिज्जं अह्म गामस्स मण्डणीहूअम् ।
लुअतिलवाडिसरिच्छं सिसिरेण कअं भिसिणिसण्डम् ॥८॥

*[श्वश्रु तथा रमणीयमस्माकं ग्रामस्य मण्डनीभूतम् ।
लूनतिलवाटीसदृशं शिशिरेण कृतं बिसिनीषण्डम् ॥]*

प्रसंग—परकीया नायिका संकेत-स्थल 'तिल वाटिका' के पक जाने और कट जाने पर अन्य सहेट के जिज्ञासु आसन्न उपपति को सुनाती हुई अपनी सास से कहती है—

"हे सासू ! वह इतना सुन्दर कमल-खण्ड, जो हमारे गाँव का अलङ्कार था, शिशिर ने कटी हुई तिलवाटिका के समान कर दिया ।

विशेष—तिल कट गये, सहेट समाप्त हुआ । इधर शिशिर ने कमलालय भी सुखा दिया । पत्ते और पुष्प समाप्त हो गए जिन्हें लाने के लिये लोग वहाँ जाते थे । अब कोई नहीं जायेगा । अतः वहीं संकेत-स्थल ठीक है ।

किं रुअसि ओणअमुही धवलाअन्तेसु सालिछित्तेसु ।
हरिआलमण्डिअमुही णडि व्व सणवाडिआ जाआ ॥६

*[किं रोदिष्यवनतमुखी धवलायमानेषु शालिक्षेत्रेषु ।
हरितालमण्डितमुखी नटीव शणवाटिका जाता ॥]*

प्रसंग—शालिक्षेत्र जो संकेत स्थल थे, पक गये, नायिका बेचैन और रुआँसी हो गयी । उसे चिन्ता थी एक नया सहेट खोज निकालने की । सखी ने यह समस्या हल कर दी ।

"शालिक्षेत्रों के पककर धवल हो जाने पर नीचा मुँह किये क्यों रो रही है ? देख तो, सन की बाड़ी हरताल (धातु विशेष) द्वारा प्रसाधिता नटी के समान हो गयी है ।

प्रेयसी के प्रति उदासीन नायक को नायिका की दयनीय दशा बताकर उसकी सुध लेने के लिए विपरीत लक्षणा द्वारा प्रोत्साहित करती हुई दूती कहती है—

शाब्दिक अर्थ—'वह इस सत्य को जानती है कि उपयुक्त व्यक्ति से ही प्रेम करना उचित है। अतः वह चाहे मर भी जाय तो भी मैं तुमसे (उसकी दशा) न कहूँगी क्योंकि उसका मरण भी (सदृश व्यक्ति के प्रेम में) श्लाघनीय ही है'।
विपरीत लक्षणा जन्य अर्थ—वह (प्रेमान्धता अथवा मूर्खता के कारण) नहीं जानती कि (तुम जैसे) असदृश व्यक्ति से प्रेम करना उचित नहीं। अतः वह अपने ही कर्म से चाहे मर भी जाये मैं कुछ न कहूँगी क्योंकि उस (बिना विचारे कार्य करने वाली) का मरना ही श्रेष्ठ है।

इससे यह ध्वनित होता है कि तुम्हारे वियोग में वह मरणासन्न है। यदि स्त्रीवध के पातक से दूर रहना चाहते हो और अपने आपको 'असदृशता' की वचनीयता से बचाना चाहते हो तो तुरन्त उसकी इच्छा पूर्ण करो।

विपरीत लक्षणा न मानकर साधारणतया अभिधेय अर्थ ही इस प्रकार किया जा सकता है—वह मेरी सखी सचमुच दूरदर्शिनी है क्योंकि वह जानती है कि सदृश जन से ही अनुराग करना ठीक है (इसीलिये वह तुम से प्रेम करती है) (तुम्हें न पाकर) वह चाहे मर भी जाय, मैं कुछ न कहूँगी। (अनुरूप प्रियतम के ध्यान में) उसका मरण भी श्लाघ्य है (क्योंकि तुम्हारे ध्यान में मरने से दूसरे जन्म में तुम्हारी प्राप्ति सम्भव है) इस प्रकार नायक की प्रशंसा कर दूती उसे नायिका के पास जाने के लिए प्रोत्साहित करती है।

घरणीएँ महाणसकम्मलग्गमसिमलिइएण हत्येण।
छित्तं मुहं हसिज्जइ चन्दावत्थं गअं पइणा ॥१३॥
[गृहिण्या महानसकर्मलग्नमषीमलिनितेन हस्तेन।
स्पृष्टं मुखमुपहसति हि चन्द्रावस्थां गतं दयितः ॥]

प्रसङ्ग—भोजन बनाने में व्यापृत सखी का उदाहरण देती हुई कोई स्त्री अपनी अन्य सखी को, जो गृह-कार्य से जी चुराती है, समझाती है कि गृह कार्य में संलग्न प्रिया का मलिन रूप प्रिय को और भी अधिक आनन्ददायक होता है:—

महानस कर्म (भोजन बनाने के काम) में संसक्त गृहिणी द्वारा काले हाथों से स्पृष्ट उसके मुख के चन्द्रसदृश हो जाने के कारण पति उसका उपहास करता है।

विशेष—नायिका स्वकीया है। वह चन्द्रमा से भी अधिक सुन्दर है। चन्द्रमा में कलङ्क है किन्तु उसका मुख निष्कङ्क। कालिमा लग जाने से वह चन्द्रमा के समान हो गया और चन्द्रमा के समान ही पति को आह्लादित करने लगा। दैनिक जीवन में दाम्पत्य प्रेम-प्रसूत चेष्टाओं का स्वाभाविक वर्णन है।

तुलना कीजिये:—

प्रिय तिय सों हँसि के कह्यौ लखौ डिठोना दीन।
चन्द्रमुखी मुखचन्द्र तें भलो चन्द्रसम कोन ॥ बिहारी ॥

रन्धणकम्मणिउणिए मा जूरसु रत्तपाडलसुअन्धं ।
मुहमारुअं पिअन्तो धूमाइ सिही ण पज्जलइ ॥१४॥

*[रन्धनकर्मनिपुणिके मा क्रुध्यस्व रक्तपाटलसुगन्धम् ।
मुखमारुतं पिबन् धूमायते शिखी न प्रज्वलति ॥]*

प्रसङ्ग—नायिका महानस कर्म में संलग्न है, बार-बार फूंक लगाती है किन्तु आग नहीं जलती । उसका मुख क्रोध से लाल हो जाता है किन्तु अग्निदेव धुआँ ही उगलते रहते हैं, जलते नहीं । यह दशा देखकर नायक कहता है अयि महानसकर्म में निपुण सुन्दरी ! क्रोध मत कर । गुलाब के पुष्प सदृश सुगन्ध वाले तेरे मुख के मारुत को पीते हुए अग्निदेव धुआँ दे रहे हैं, जलते नहीं ।

वक्तव्य—अग्नि में कामुक चेष्टाओं का आरोप कर लिया गया है । नायिका के रोष-रक्त मुख के सौन्दर्य तथा गुलाब जैसे अधरों के वायु का पान करने के लोभ से ही अग्निदेव धुआँ देते हैं, जलते नहीं क्योंकि प्रज्जलित होने पर फूंक वह न मारेगी जिससे न तो मुख ही रोष-रक्त रहेगा और न ही अधर-मारुत का पान हो सकेगा । वास्तव में अग्नि के बहाने नायक महोदय ने अपने मन की बात कही है ।

किं किं दे पडिहासइ सहीहिं इअ पुच्छिआए मुद्धाए ।
पढमुग्गअदोहणीए णवरं दइअं गआ दिट्ठी ॥ १५ ॥

*[किं किं ते प्रतिभासते सखीभिरिति पृष्टाया मुग्धाया ।
प्रथमोद्गतदोहदिन्या केवलं दयितं गता दृष्टि ॥]*

नायिका मुग्धा है, नवीन गर्भधारिणी है, प्रसवपीडा का उसे अनुभव नहीं ।

" तेरा मन किस किस वस्तु के लिये चलता है ?" सखी द्वारा इस प्रकार पूछे जाने पर प्रथम-गर्भधारिणी मुग्धा की दृष्टि केवल प्रिय की ओर गई ।

प्रिय की ओर ही दृष्टि जाने से उसी की अभिलाष ध्वनित है । अथवा 'जो कुछ मैं चाहती हूँ उसे प्रियतम जानते हैं', यह आशय व्यक्त किया ।

अमअमअ गअणसेहर रअणीमुहतिलअ चन्द दे छिवसु ।
छित्तो जेहिं पिअअमो ममं पि तेहिं विअ करेहिं ॥ १६ ॥

*[अमृतमय गगनशेखर रजनीमुखतिलक चन्द्र हे स्पृश ।
स्पृष्टो यैः प्रियतमो मामपि तैरेव करैः ।]*

हो तभी तो वे अभी तक भी नहीं आये। विरह-अग्नि की अनुभूति उन्हें नहीं हुई। मेरे ऊपर भी अपनी अमृतमय किरणें ही डालो जिससे मैं भी विरहानल को सह सकूं।

सरस्वती-कण्ठाभरण में भोज ने इस गाथा को प्रलाप के रूप में उदाहृत किया है[1]।

एहइ सो वि पउत्थो अहं अ कुप्पेज्ज सोवि अणेज्ज।
इअ कस्स वि फलइ मणोरहाणं माला विअमम्मि १७॥

[एष्यति सोऽपि प्रोषितो अहं च कुपिष्यामि सोऽप्यनुनेष्यति।
इति कस्यापि फलति मनोरथानां माला प्रियतमे ॥१७॥]

नायिका की सखी ने उससे कहा कि तुम्हारे प्रवासी प्रियतम आने वाले हैं, परन्तु आते ही उनका अभिनन्दन मत कर बैठना। मान, उपालम्भ आदि के पश्चात् फिर विदेश न जाने का वचन लेकर ही अनुकूल आचरण करना। इस पर नायिका कहती है—

"प्रवासी प्रियतम आयेंगे, मैं मान करूंगी, फिर वे मनायेंगे, इस प्रकार के मनोरथों की परम्परा किसी भाग्यशालिनी की ही पूरी होती है"। अर्थात् 'मैं तो दृष्टि पड़ते ही प्रिय की वशंवदा हो जाती हूँ फिर मान करना और मान का भी तब तक ठहरना जब तक कि वे अनुनय-विनय करें सम्भव नहीं है'।

इस भाव को अमरुक ने अपने शतक के ५९ वें श्लोक में अभिधा द्वारा प्रकट किया है जिसका अनुवाद मैंने इस प्रकार किया है—

नाम भी सुन कर जिसका आलि।
अङ्ग हो जाते पुलकित कान्त।
देख आनन-विधु को अनजान
द्रवित हो जाता वपु-शशिकान्त।
वही जब आयें इतने पास
कि सम्भव हों चुम्बन परिरम्भ।
वज्रमय मन में सम्भव कहाँ
मान के चिन्तन का आरम्भ॥

दुग्गअकुटुम्बअट्ठी कहँ णु मए धोइएण सोढव्वा।
दसिओसरन्तसलिलेण उअह रुण्णं व पडएण॥ १८॥

दुर्गतकुटुम्बाकृष्टि कथं नु मया धौतेन सोढव्या
दशापसरत्सलिलेन पश्यत रुदितमिव पटकेन॥

---

१. देखिये सरस्वती कण्ठाभरण, परिच्छेद ५

"इतने समय तक मैंने दरिद्र कुटुम्ब द्वारा की गई खींचातानी सह ली किन्तु अब धुलने के कारण धागों के अस्त-व्यस्त हो जाने से और भी जीर्ण हो गया हूँ, आगे कैसे सह सकूँगा ?" यह सोचकर मानो छोरों (किनारों) से टपकते हुए जल के बहाने धुलता हुआ वस्त्र रो रहा है ।

यह एक अन्योक्ति है । भावार्थ यह है कि जब अचेतन वस्त्र भी बलपूर्वक उमेठे जाने से टपकते हुए जल के रूप में नौ-नौ बार रो पड़ता है तो चेतन मनुष्य का तो कहना ही क्या ?

कोसंम्बकिसलअवण्णअ तण्णअ उण्णामिएहि कण्णेहि
हिअअट्ठिअं घरं वच्चमाण धवलत्तणं पाव ॥ १६ ॥

[कौशाम्रकिसलयवर्णक तर्णक उन्नामिताभ्यां कर्णाभ्याम् ।
हृदयस्थितं गृहं व्रजन् धवलत्वं प्राप्नुहि ॥]

किसी नायिका पर मुग्ध नायक अपना अनुराग एवं तज्जन्य पर-वशता प्रकट करता हुआ नायिका के घर जाते हुए बछड़े को लक्ष्यकर कह रहा है कि "अयि बीजकोश से निकले हुए आम के किसलय सदृश वर्ण वाले बछड़े ! उत्कण्ठावश कानों को उठाए हुए अपने मनभाये घर को जाता हुआ तू धवलता (श्रेष्ठता) प्राप्त कर" । अर्थात् मेरे समान पराधीन मत हो जाना, हृदय न खो बैठना ।

क्रुद्ध नायिका की नायक के प्रति भी यह उक्ति हो सकती है । इसके द्वारा वह नायक पर यह व्यक्त करती है कि जिस प्रौढ़ा नायिका के घर के तुम चक्कर लगाते हो उसके लिये तुम बछड़े के (मूर्ख अथवा पुत्र के) समान हो ।

अलिअपसुत्तअ विणिमीलिअच्छ दे सुहअ मज्झ ओआसम् ।
गण्डपरिउम्बणापुलइअङ्ग ण पुणो चिराइस्सं ॥२०॥

[अलीकप्रसुप्तक विनिमीलिताक्ष हे सुभग ममावकाशम् ।
गण्डपरिचुम्बनापुलकिताङ्ग न पुनश्चिरयिष्यामि ॥]

नायिका की प्रतीक्षा में शय्या पर लेटे-लेटे नायक को बहुत देर हो गई तो उसके मन के भाव जानने की इच्छा से वह सोने का बहाना कर शय्या के बीचों बीच आँखें मूँदकर पड़ गया, नायिका आई और उसने नायक को सोया समझ कर चूम लिया जिससे नायक पुलकित हो उठा । तब वह बोली—

विश्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीम् ।
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता ॥ अमरुक
मैं मिसहा सोयो समुझि मुँह चूम्यौ ढिग जाइ ।
हँस्यौ, खिसानी, गल गह्यौ, रही हियैं लपटाइ (बिहारी)

असमत्तमण्डणा विअ वच्च घरं से सकोउहल्लस्स ।
वोलाविअहलहलअस्स पुत्ति चित्ते ण लग्गिहिसि ॥ २१ ॥

[असमाप्तमण्डनैव व्रज गृहं तस्य सकौतूहलस्य ।
व्यतिक्रान्तौत्सुक्यस्य पुत्रि ! चित्ते न लगिष्यसि ॥]

नायक का कोई मित्र वेश्या को बुलाने के लिये आया । वह उस समय किसी अन्य व्यक्ति का मनोरञ्जन कर रही थी । उसको छिपाती हुई वेश्या की माता कहती है,

"पुत्रि ! उस कुतूहली के घर शृङ्गार-प्रसाधन किये बिना ही चली जा क्योंकि उत्कण्ठा शान्त हो जाने पर तू उसके मन को न रुच सकेगी" ।

इस प्रकार वृद्धा कुटनी यह ध्वनित करती है कि 'इसको विलम्ब शृङ्गार करने में हो रहा है किसी अन्य के साथ प्रसङ्ग से नहीं' ।

इस गाथा के उत्तरार्ध से श्री हर्ष की इस पंक्ति की तुलना कीजिए—
अपां हि तृप्ताय न वारिधारा स्वादुः सुगन्धिः स्वदते तुषारा ।

आअरपणामिओट्ठं अघडिअणासं असंहअणिडालं ।
वण्णघिअतुप्पमुहिए तीए परिउम्बणं भरिमो ॥ २२ ॥

[आदर प्रणामितोष्ठमघटितनासमसंहतललाटम् ।
वर्णघृतलिप्तमुख्यास्तस्याः परिचुम्बनं स्मरामः ॥]

कोई रसिक नायक रजस्वला नायिका के चुम्बन की स्मृति का प्रख्यापन कर अपनी अतिशय रसिकता प्रकट करता है—

"वर्णघृत से लिप्त मुख वाली उस नायिका के ललाट एवं नासिका का स्पर्श किये बिना ही आदरपूर्वक अधर को झुकाकर किये हुए चुम्बन का स्मरण करता हूँ" ।

यह भी हो सकता है कि कोई प्रवासी अपनी प्रिया के 'स्पृष्टक' नामक आलिङ्गन की याद कर रहा है । 'परिउम्बण' परिरम्भण का भी प्राकृत रूप हो सकता है ।

अण्णासआइँ देन्ती तह सुरए हरिसविअसिअकवोला ।
गोसे वि ओणअमुही अह सेत्ति पिआं ण सद्दहिमो ॥ २३ ॥

[आज्ञाशतानि ददती तथा सुरते हर्षविकसितकपोला ।
प्रातरप्यवनतमुखी इयं सेति प्रियां न श्रद्दध्मः ॥]

सुरतकाल में हर्ष से विकसित कपोल वाली और (आनन्दातिरेकवश सुरत क्रिया से सम्बन्धित) शतशः आज्ञा देने वाली परन्तु प्रातःकाल नीची दृष्टि किये रहने वाली प्रिया के विषय में यह विश्वास ही नहीं होता कि यह वही (रात वाली) है।

लज्जा स्त्री का आभूषण है किन्तु सुरतकाल में लज्जा का अभाव ही आभूषण होता है। माघकवि ने कहा है—

अन्यदा भूषणं पुंसः क्षमा लज्जेव योषितः।
पराक्रमः परिभवे वैयात्यं सुरतेष्विव ॥ माघ २।४४ ॥

पुरुष का आभूषण क्षमा और स्त्री का लज्जा है किन्तु परिभव होने पर पुरुष का आभूषण पराक्रम और उसी प्रकार सुरत काल में स्त्री का आभूषण लज्जा का अभाव (धृष्टता) है—

पिअविरहो अप्पियदंसणं अ गरुआइँ दो वि दुक्खाइं।
जीएँ तुमं कारिज्जसि तीएँ णमो आहिजाईए ॥ २४ ॥

[प्रिय विरहोऽप्रियदर्शनं च गुरुके द्वे अपि दुःखे।
यया त्वं कार्यसे नम आभिजात्यै ॥]

अन्य नायिका में अनुरक्त होने के कारण नायक स्वकीया नायिका के पास नहीं आया, उसने शिकायत की तो न आने का कारण गुरुजनों की मर्यादा का पालन बताया। इस पर नायिका उपालम्भ देती हुई कहती है—

"जो तुमसे प्रिया (अन्या नायिका) का विरह और अप्रिया का (मेरा) दर्शन सहन करा रही है उस कुलीनता को नमस्कार है।"

एक्को वि कह्लसारो ण देइ गन्तुं पआहिणवलन्तो।
किं उण वाहाउलिअं लोअणजुअलं पिअअमाए ॥ २५ ॥

[एकोऽपि कृष्णसारो न ददाति गन्तुं प्रदक्षिणं वलन्।
किं पुनर्बाष्पाकुलितं लोचनयुगलं प्रियतमायाः ॥]

नायक परदेश जाने को तैयार था किन्तु गया नहीं, उसके मित्र ने किसी ने इसका कारण पूछा तो उसने उत्तर दिया—

एक भी कृष्णसार मृग दक्षिण से वाम ओर निकल जाये तो यात्री का (अपशकुन के कारण) जाना नहीं होता फिर प्रिया के आंसू भरे दो दो कृष्णसारों (नेत्रों) का तो कहना ही क्या ?

भावतुलना कीजिए—

तन्व्या बाष्पजलौघकलिततनदीपूरेण रुद्धः प्रियः (अमरुक-६२)

अर्थात् कोमलाङ्गी नायिका के अश्रुजल से उत्पन्न नदी के प्रवाह ने प्रियतम को जाने से रोक दिया।

ण कुणन्तो च्चिअ माणं णिसासु सुहसुत्तदरविबुद्धाणं।
सुण्णइअपास परिम्मूसणवेअणं जइ सि जाणन्तो ॥२६॥

[नाकरिष्य एव मानं निशासु सुखसुप्तदरविबुद्धानाम्।
शून्यकृतपार्श्वपरिमोपणवेदनां यद्यज्ञास्य ॥]

रात्रि में नायक और नायिका एक साथ सोये हुए थे। नायक उठकर किसी अन्य नायिका के पास चला गया। नायिका की आंखें खुलीं तो पार्श्वभाग सूना पाया। वह समझ गई, अतः जब नायक आया तो नायिका ने उसकी अवहेलना की। वह अपना अपराध छिपाने के लिए उलटा मान धारण कर बैठा और बार-बार अनुनय करने पर भी नहीं माना। इस पर नायिका कहती है—

"रात्रि में अपनी प्रिया के साथ सोये हुए और बीच में कुछ जागने पर शय्या के पार्श्व-भाग को (जहां नायिका सोई हुई थी) सूना पाकर जिस प्रवञ्चनाजन्य वेदना का अनुभव होता है यदि उसका ज्ञान आपको होता तो रूठते ही नहीं।" अर्थात् आप अपने दोष को स्वीकार न कर 'उलटा चोर कोतवाल को डांटे' वाली कहावत चरितार्थ कर रहे हैं। यदि मैं भी किसी अन्य से प्रेम करने लगूं तो आपको मेरी इस वेदना का पता चले। दोष तो मेरा ही है कि मैं प्रणय का उच्छेद नहीं करती।

पणअकुविआणँ दोह्ल वि अलिअपसुत्ताणँ माणइल्लाणं।
णिच्चलणिरुद्धणीसासदिण्णकण्णाणँ को मल्लो ॥२७॥

[प्रणयकुपितयोर्द्वयोरप्यलीकप्रसुप्तयोर्मानवतोः।
निश्चलनिरुद्धनिःश्वासदत्तकर्णयोः को मल्लः ॥]

नायक और नायिका में प्रणय-कलह हो गया। सखी उनका वृत्तान्त देखने आयी और उनकी दशा देख कर बोली—

तुम दोनों ही प्रणयकुपित होने के कारण रूठे हुए हो और पड़े हुए सोने का बहाना कर रहे हो किन्तु (अपने निःश्वास की ध्वनि के कारण दूसरे की निःश्वास ध्वनि एवं चेष्टाओं का पता नहीं लगता अतः) श्वास रोकर कर निश्चल रूप से कानों को (एक दूसरे की आहट सुनने के लिए) लगाये हुए तुम दोनों में से मल्ल कौन है? अर्थात् एक दूसरे की उपेक्षा तुम लोगों के वस की बात नहीं है। व्यर्थ ही क्यों कष्ट पा रहे हो?

णवलअपहरं अङ्गे जहिँ जेहिँ महइ देवरो दाउं।
रोमञ्चदण्डराई तहिँ तहिँ दीसइ वहूए ॥२८॥

[नवलताप्रहारमङ्गे यत्र यत्रेच्छति देवरो दातुम् ।
रोमाञ्चदण्डराजिस्तत्र तत्र दृश्यते वध्वा ॥]

देवर में आसक्त नायिका का वर्णन करती हुई कोई कहती है—

"देवर जिस-जिस अङ्ग में नवीन लता का आघात करना चाहता है उसी उसी अङ्ग में वधू की रोमराजि पुलकित हो उठती है।"

आम्रलतिका नाम की इस क्रीडा का उल्लेख सरस्वती-कण्ठाभरण में भोज ने भी किया है। यह पूछे जाने पर कि 'तुम्हारा प्रिय कौन है' ?" नवीन लता से प्रिय व्यक्ति पर आहृति की जाती थी। आज-कल भी यह प्रथा मेरठ के आस आस प्रचलित है जहाँ विवाह के पश्चात् नवदम्पती को गाँव से बाहर उपवन में ले जाकर यह क्रीडा कराई जाती है और इसे संटी खेलना कहते हैं। इस गाथा में देवर के प्रति नायिका का अतिशय प्रणय व्यञ्जित होता है क्योंकि देवर की लता अङ्ग का स्पर्श कर भी नहीं पाती कि नायिका को रोमाञ्च सात्त्विक हो जाता है।

अज्ज मए तेण विणा अणुहूअसुहाइँ संभरन्तीए ।
अहिणवमेहाणँ रवो णिसामिओ वज्झपडहो व्व ॥२६॥

[अद्य मया तेन विना अनुभूतसुखानि संस्मरन्त्या ।
अभिनवमेघानां रवो निशामितो वध्यपटह इव ॥]

प्रिय के समीप जाते हुए पथिक से प्रिय को जल्दी ही लिवा लाने के उद्देश्य से कोई प्रोषितपतिका कहती है—

"आज उनके (प्रियतम के) वियोग के कारण पूर्व अनुभूत सुखों का स्मरण करते हुए मुझे नवीन मेघों का गर्जन वध्यपटह (फाँसी या शूली देने से पहले पीटे जाने वाले ढिंढोरे) के सदृश सुन पड़ा।

णिक्किव जाआभीरुअ दुद्दंसण णिम्बईडसारिच्छ ।
गामो गामणिणन्दण तुज्झ कए तह वि तणुआइ ॥३०॥

[निष्कृप जायाभीरुक दुर्दर्शन निम्बकीटसदृक्ष ।
ग्रामो ग्रामणीनन्दन तव कृते तथापि तनुकायते ॥]

भार्या में ही आसक्त रहने के कारण नीम के कीट के समान कुरुचिता आदि दुर्गुणों की अभिव्यक्ति करने के वहाने नायक की सकल-कामिनी-वर्ग द्वारा काम्य कमनीयता का गुण ही व्यञ्जित किया गया है। प्रमदाएँ उसके पूर्वानुराग में ही कृश होती जा रही हैं।

पहरवणमग्गविसमे जाआ किच्छेणलहइ से णिद्दं।
गामणिउत्तस्स उरे पल्ली उण सा सुहं सुवई ॥३१॥

प्रहारव्रणमार्गविषमे }
प्रसरवनमार्गविषमे } *जाया कृच्छ्रेण लभते तस्य निद्राम्।*

ग्रामणीपुत्रस्योरसि }
ग्रामणीपुत्रस्य पुरे } *पल्ली पुनः सा सुखं स्वपिति*

ग्रामणी-पुत्र की पत्नी में अनुरक्त होने पर भी उसके पति के शौर्य से डरने के कारण अभिसार-विमुख नायक को प्रोत्साहित करती हुई दूती कहती है—

'ग्रामणी-सुत के शस्त्र-प्रहार से संपन्न व्रणों के चिह्नों से विषम हुए वक्षःस्थल पर उसकी पत्नी कठिनाई से ही सो पाती है। हाँ, सारा गाँव सुखपूर्वक सोता है।' अर्थात् उसकी शूरता के कारण ग्रामवासी अपने आप को सुरक्षित समझते हुए चैन से सोते हैं किन्तु उसकी भयानकता के कारण अनासक्त पत्नी इच्छा न होते हुए भी उसका आलिङ्गन करके सोती है। अतः कठिनाई से ही उसे नींद आती है।

गाथा के उत्तरार्ध में आये 'उरे' का अर्थ 'पुर' और पूर्वार्ध में पहरवणमग्ग-विसमे का 'एक पहर चलकर तय हो सकने वाले बीहड़ मार्ग के कारण कठिनाई से गम्य' भी होता है। अतः उक्त गाथा का इस श्लेष पर आधारित दूसरा अर्थ यह होगा—ग्रामणी सुत के, बीहड़ जंगली मार्ग में पहरों तक चल कर पहुँचे जा सकने के कारण दुर्गम, पुर में (सुरक्षा के कारण) गाँव के सभी निवासी (पल्ली=पूरा गाँव) सुख से सोते हैं किन्तु उसकी पत्नी को (अनासक्त होने के कारण) कठिनाई से ही नींद आती है। 'अतः वह सुख-साध्या है। निःशङ्क होकर वहाँ जाओ' कामुक के प्रति यह प्रोत्साहन अभिव्यञ्जित है।

अह संभाविअमग्गो सुहअ तुए जेव्व णवरँ णिव्वूढो।
एह्लिं हिअए अण्णं अण्णं वाआइ लोअस्स ॥३२॥

अयं संभावितमार्गः सुभग त्वयैव केवलं निर्व्यूढः।
इदानीं हृदयेऽन्यदन्यद्वाचि लोकस्य॥

अन्य नायिका में आसक्ति होने के कारण नायक के मुख से नायिका को संबोधित करते समय भी मनभावती का ही नाम निकला तो धीरा खण्डिता विनय पूर्वक उपालम्भ द्वारा अपना प्रणयकोप व्यक्त करती हुई बोली—

हे सुभग ! श्रेष्ठ पुरुषों के मार्ग का निर्वाह तो केवल तुमने ही किया है। आजकल तो लोगों के हृदय में और होता है और वाणी में और।

उह्लाइँ णीससन्तो किंति मह परंमुहीएँ सअणद्धे।
हिअअं पलीविअ वि अणुसएण पुट्ठि पलीवेसि ॥३३॥

[उष्णानि निःश्वसन् किमिति मम पराङ्मुख्याः शयनार्धे।
हृदयं प्रदीप्याप्यनुशयेन पृष्ठं प्रदीपयसि ॥]

अन्य नायिका में आसक्त पति के साथ मुँह फेर कर शयन करती हुई प्रणयकुपिता नायिका पृष्ठाभिमुख लेटे हुए नायक से खीझ कर कहती है—

शयन (खाट) के आधे भाग में पश्चात्तापवश पराङ्मुख सोई हुई के (मेरे) हृदय को जलाकर अब पीठ भी जला रहे हो।

सअणद्ध (शयनार्ध) शब्द से व्यञ्जित होता है कि पहले तो हमारा और तुम्हारा शयन अविभक्त था अब आधा-आधा बँट गया है। मैं अपने हिस्से के आधे पर मुँह फेर कर शयन कर रही हूँ। सपत्नी के उत्कर्ष द्वारा तुमने मुझे मानसिक कष्ट तो पहुँचाया ही था अब मेरी पीठ के पीछे लेटे हुए निःश्वासों द्वारा पीठ को भी जला रहे हो। यदि पराङ्मुख में विपरीत लक्षणा मानी जाय तो फलितार्थ होगा कि "हाँ मैं तो तुमसे प्रेम पराङ्मुखी हूँ, अनुकूल तो वही है। उसी के पास जाओ निःश्वास आदि के अभिनय द्वारा मुझे तथा अपने आप को व्यर्थ ही क्यों खिन्न कर रहे हो।

तुह विरहे चिरआरअ तिस्सा णिवडन्तवाहमइलेण।
रइरहसिहरधएण व मुहेण छाहि व्विअ ण पत्ता ॥३४॥
[तव विरहे चिरकारक तस्या निपतद्बाष्पमलिनेन।
रविरथशिखरध्वजेनेव मुखेन च्छायैव न प्राप्ता ॥]

अवधि व्यतीत होने पर भी नायक नहीं आया तो दूती ने नायिका की दशा बतलाते हुए उससे कहा—

देवरस्याशुद्धमनसः कुलवधूर्निजककुड्यलिखितानि ।
दिवसं कथयति रामानुलग्नसौमित्रिचरितानि ॥

कुलवधू (काम विकार से) दूषित-हृदय देवर को अपनी (चित्रशाला की) भित्ति पर चित्रित राम में संलग्न लक्ष्मण के चरित दिनभर दिखाती रहती है।

कुलवधू शब्द से व्यङ्ग्य निकलता है कि नायिका देवर की करतूत को कुटुम्ब-विघटन के भय से प्रत्यक्ष रूप में अन्य लोगों के समक्ष प्रकाशित नहीं करती। राम की सेवा में रत लक्ष्मण के चरित दिखाने का तात्पर्य यह है कि लक्ष्मण विमाता के पुत्र का भी इतना सम्मान करते थे, वे राम को पिता के और सीता को माता के तुल्य समझते थे। तुम्हें भी अपने ज्येष्ठ भ्राता के साथ ऐसा ही व्यवहार करना चाहिए अन्यथा परिवार सम्मिलित नहीं चल सकता।

चत्तरघरिणी पिअदंसणा अ तरुणी पउत्थपइआ अ ।
असईसअज्जिआ दुग्गआ अ ण हु खण्डिअं सीलं ॥३६॥

चत्वरगृहिणी प्रियदर्शना च तरुणी प्रोषितपतिका च ।
असतीप्रतिवेशिनी दुर्गता च न खलु खण्डितं शीलम् ॥

किसी साध्वी के शील की प्रशंसा करती हुई कोई कहती है—

चौराहे पर उसका घर है, सुन्दरी है, नवयुवति है, पति भी परदेश में है, कुलटा की पड़ोसिन है और अत्यन्त दरिद्र भी है, फिर भी उसने अपने शील को खण्डित नहीं होने दिया।

सरस्वती-कण्ठाभरण के पञ्चम परिच्छेद में भोज ने इस गाथा को 'शीलसम्पत्' के उदाहरण में रखा है।

तालूरभमाउलखुडिअकेसरो गिरिणईएँ पूरेण ।
दरवुड्डउव्वुडुणिवुड्डुमहुअरो हीरइ कलम्बो ॥ ३७ ॥

जलावर्तभ्रमाकुलखण्डितकेसरो गिरिणद्याः पूरेण ।
दरमग्नोन्मग्ननिमग्नमधुकरो ह्रियते कदम्बः ॥

नदीतट पर स्थित कदम्बकुञ्ज में मिलने के लिए कहकर भी नायक वहाँ नहीं पहुँचा इस पर उसे अप्रत्यक्ष रूप से उलाहना देती हुई विप्रलब्धा नायिका अपनी सखी से कहती है—

पहाड़ी नदी का प्रवाह जल की भँवर से अस्त-व्यस्त तथा क्षत-विक्षत किञ्जल्क वाले कदम्बपुष्प को, जिसपर चिपटा हुआ भौंरा कभी कुछ डूब जाता है और कभी ऊपर आ जाता है, बहाये लिये जाता है।

"सतत मधुपान के लोभी भौंरे को भी भग्नकेशर और मकरन्दहीन होने पर भी पुष्प से इतनी प्रीति होती है। तुम से तो स्थायी प्रेम की आशा रखना ही व्यर्थ अभी से ही धोखा दे गए" यह उपालम्भ व्यञ्जित है।

नयन, और तुम्हारे विरह में दुबले हो गये हैं इस दृष्टि से अपने अङ्ग उसे प्रिय लगने लगे हैं। तात्पर्य यह है कि वह सर्वदा ही हृदय में तुम्हारा ध्यान करती रहती है और अपना शरीर भी तुमसे सम्बन्ध होने के कारण ही उसे प्रिय है।

सब्भावणेहभरिए रत्ते रज्जिज्जइ त्ति जुत्तमिणं।
अण्णहिअए उण हिअअं जं दिज्जइ तं जणो हसइ ॥४१॥

सद्भावस्नेहभरिते रक्ते रज्यत इति युक्तमिदम्।
अन्य-हृदये पुनर्हृदयं यद्दीयते तज्जनो हसति ॥

'देखो, इतना कोप करना प्रेमोचित बात नहीं है' इस प्रकार अनुनय करते हुए छली नायक से खण्डिता नायिका कहती है—

'सद्भाव और स्नेह से भरे हुए अनुरक्त हृदय में अनुरक्त होना तो उचित है किन्तु इससे अतिरिक्त हृदय को (जिसमें स्नेह हो ही नहीं) हृदय सौंपा जाता है तो लोग हँसते हैं। अर्थात् सद्भाव और प्रेम तुम्हें जिससे मिलता है उसी के अनुचर बने रहो; मुझ स्नेह-हीन में अपना हृदय लगाकर लोगों से अपना मज़ाक क्यों उड़वाते हो ?

शब्दशक्तिमूलक ध्वनि से स्नेह (तेल-फुलेल) आदि से प्रसाधित और अनेक प्रकार के आभूषणों की आभा तथा महावर, केसर आदि के लेप से यथास्थान रँगी हुई उस रँगीली तितली के रंग में ही तुम्हारा रँगा जाना उचित ही है; मुझ जैसी सहज-वेष सरल गृहिणी में अनुरक्त होना तो तुम्हारे लिये हास्यास्पद होगा' नायक के प्रति यह सरोष उपालम्भ व्यञ्जित है।

आरम्भन्तस्स धुअं लच्छी मरणं वि होइ पुरिसस्स।
तं मरणमणारम्भे वि होइ लच्छी उण ण होइ ॥४२॥

[आरभमाणस्य ध्रुवं लक्ष्मीर्मरणं वा भवति पुरुषस्य।
तन्मरणमनारम्भेऽपि भवति लक्ष्मीः पुनर्न भवति ॥]

(किसी कार्य को) आरम्भ करने वाले व्यक्ति को लक्ष्मी (सफलता) अथवा (विपरीत रूप में अधिक से अधिक) मृत्यु की प्राप्ति होती है। मृत्यु तो (यदि होनी ही है तो) आरम्भ न करने पर भी होती है; हाँ, लक्ष्मी नहीं मिलती।

यह गाथा 'करो या मरो' का उत्साहपूर्ण संदेश देती है।

विरहाणलो सहिज्जइ आसाबन्धेण वल्लहजणस्स।
एक्कग्गामपवासो माए मरणं विसेसेइ ॥ ४३ ॥

[विरहानलः सह्यत आशाबन्धेन वल्लभजनस्य।
एकग्रामप्रवासो मातर्मरणं विशेषयति ॥]

'प्रिय के विदेश चले जाने पर भी तो स्त्रियाँ लम्बे-लम्बे वियोग सहन करती हैं। तुम उसके यहीं रहते हुए इतनी उद्विग्न हो जाती हो' इस प्रकार समझाती हुई प्रौढ़ा को कोई विरहोत्कण्ठिता नवीना उत्तर देती है—

प्रियतम की (अवधि पर आने की) आशा का बन्धन विरह की अग्नि को सह्य बना देता है, किन्तु माँ! एक ही गाँव में रहते हुए भी (प्रेमी-युगल का परस्पर) वियोग मृत्यु से भी अधिक होता है।'

अवखलइ पिआ हिअए अण्णं महिलाअणं रमन्तस्स।
दिट्ठट्ठे सरिसम्मि गुणेऽसरिसम्मि गुणे अईसन्ते ॥ ४४ ॥

[आस्खलति प्रिया हृदये अन्य-महिलाजने रममाणस्य।
दृष्टे सदृशे गुणेऽसदृशे गुणेऽदृश्यमाने ॥]

अन्य महिलाओं के साथ रमण करते हुए (उनमें पहली प्रिया के) सदृश गुण (कामकलानैपुण्य, सीत्कार, हास, सौन्दर्य आदि) दीखने पर और असदृश गुण न दीखने पर पहली प्रिया (की स्मृति) हृदय में अखरने लगती है।

णईऊरसच्छहे जोव्वणम्मि अइपवसिएसु दिअसेसु।
अणिअत्तासु अ राईसु पुत्ति किं दड्ढमाणेण ॥ ४५ ॥

[नदीपूरसदृशे यौवनेऽतिप्रोषितेषु दिवसेषु।
अनिवृत्तासु च रात्रिषु पुत्रि किं दग्धमानेन ॥]

अतिमानिनी नायिका को मनाने के लिये कोई अनुभवी प्रौढा कहती है—

"हे पुत्रि! यौवन नदी के प्रवाह के समान है; दिन सदा के लिये चले जाते हैं और रात्रियाँ फिर लौट कर नहीं आतीं। ऐसी दशा में इस जले मान से क्या लाभ? व्यङ्ग्य यह है कि यौवन आदि के पुनः अलभ्य होने के कारण इनका पूरा-पूरा उपयोग करके आनन्द लेना ही बुद्धिमानी है और इन्हें व्यर्थ खोना नादानी।

कल्लं किल खरहिअओ पवसिइहि पिओत्ति सुण्णइ जणम्मि।
तह वड्ढ भअवइ णिसे जह से कल्लं विअ ण होइ ॥ ४६ ॥

[कल्यं किल खरहृदयः प्रवत्स्यति प्रिय इति श्रूयते जने।
तथा वर्धस्व भगवति निशे! यथा तस्य कल्यमेव न भवति ॥]

कोई प्रवत्स्यत्पतिका रात्रि की प्रार्थना के बहाने विरह सहने में अपनी असमर्थता व्यक्त करती हुई प्रियतम के गमन का निवारण करने के उद्देश्य से कहती है—

लोगों से सुना है कि तीव्रहृदय (निर्दय) प्रियतम कल प्रस्थान करेंगे। भगवति निशे! तुम ऐसी बढ़ो कि उनका कल होवे ही नहीं।

'लोगों से सुना जाता है' से व्यञ्जित है कि 'मेरे दुःख का अनुमान करके उसने मुझसे प्रत्यक्ष नहीं कहा अपितु दूसरों के द्वारा सूचित कराया है तथा 'मेरे दुःख को जानकर भी वह निर्दय विदेश जा रहा है', यह उपालम्भ 'खर हृदय' विशेषण से व्यक्त है। निशा से इतनी बड़ी होने की प्रार्थना कि दिन निकले ही नहीं नायिका की विरहावस्था में मरणसंभावना की सूचक है। सब कुछ मिलाकर प्रियतम के प्रति 'यदि मेरा जीवन अभीष्ट है तो प्रवास का इरादा छोड़ दो' यह व्यङ्ग्यार्थ स्पष्ट है।

होन्तपहिअस्स जाआ आउच्छणजीअधारणरहस्सं।
पुच्छन्ती भमइ घरं घरेण पिअविरहसहिरीओ ॥ ४७ ॥

[भविष्यत्पथिकस्य जायाऽऽपृच्छनजीवधारणरहस्यम्।
भ्रमति गृहं गृहेण प्रियविरहसहनशीलाः ॥]

नायिका की मुग्धता व्यक्त करती हुई उसकी सखी नायक के प्रस्थान का स्थगन करने के उद्देश्य से कहती है—

'विदेश जाने के लिये उद्यत पुरुष की भार्या आपृच्छन (प्रिय द्वारा गमन की अनुमति माँगने) के समय प्राणधारण करने की युक्ति प्रियतम के विरह को सहन करने वाली स्त्रियों से घर-घर पूछती फिरती है'

नायक के प्रति व्यङ्ग्य यह है कि 'तुम्हारे विरह का सहना तो दूर रहा, प्रस्थान करने के लिये पूछते ही उसकी जान के लाले पड़ जायेंगे।

अण्णमहिलापसङ्गं दे देव करेसु अह्म दइअस्स।
पुरिसा एक्कन्तरसा ण हु दोसगुणे विआणन्ति ॥ ४८ ॥

[अन्यमहिलाप्रसङ्गं हे देव कुर्वस्माकं दयितस्य
पुरुषा एकान्तरसा न खलु दोषगुणौ विजानन्ति ॥]

स्त्री समाज में बैठी हुई कोई स्वाधीनपतिका अपने सौभाग्य तथा अपने प्रिय पर अन्य कमिनियों के जादू के प्रभाव का सर्वथा अभाव स्थापित करती हुई गर्व के साथ कहती है—

'हे भगवन्! हमारे प्रियतम का संगर्ग अन्य महिलाओं से भी करा दो क्योंकि एक ही (प्रिया के) रस में आसक्त पुरुष दोष गुण का विवेक नहीं कर पाते'।

'एकान्तरस' विशेषण से मेरे प्रिय मुझ में ही अनुरक्त हैं, दूसरी की दाल वहाँ गल ही नहीं सकती' तथा दोष-गुण के विवेक के लिये अन्य महिलाओं के साथ प्रिय के समागम की इच्छा से 'मेरे समान कोई गुणवती मिलेगी ही नहीं'; नायिका का यह सौभाग्य एवं गुणगर्व अभिव्यक्त है।

थोअं पि ण णीसरई मज्झण्णे उह सरीरतललुक्का।
आअवभएण छाई वि पहिअ ता किं ण वीसमसि ॥ ४९ ॥

[स्तोकमपि न निःसरति मध्याह्ने पश्य शरीरतल्लीना ।
आतपभयेन च्छायापि पथिक ! तत्किं न विश्राम्यसि ॥]

स्वयंदूतिका कामिनी पथिक से कहती है—

"हे पथिक ! देखो, मध्याह्न में छाया भी धूप के भय से शरीर के नीचे छिप गई है और तनिक भी नहीं निकलती, फिर तुम भी विश्राम क्यों नहीं करते ?

'मध्याह्न में धूप के डर से कोई भी बाहर नहीं निकल रहा । अतः निर्द्वन्द्व होकर मुझे भी छाया के समान अपने शरीर के नीचे छिपा कर सुरतरस का आस्वादन करो' । पथिक के प्रति कामिनी का यह अभिलाष स्पष्ट व्यञ्जित है ।

सुहउच्छअं जणं दुल्लहं वि दूराहि अम्ह आणन्त ।
उअआरअ जर जीअं पि णेन्त ण कआवराहोसि ॥ ५० ॥

[सुखपृच्छकं जनं दुर्लभमपि दूरादस्मानानयन् ।
उपकारक ! ज्वर जीवितमपि नयन्न कृतापराधोऽसि ॥]

बहुत दिनों में (नायिका की) बीमारी सुनकर आये हुए नायक को उपालम्भ देती हुई नायिका ज्वर की प्रशंसा करती है:—

हे उपकारक ज्वर ! मेरे प्राण लेते हुए भी तुमने दुर्लभ व्यक्ति को कुशल पूछने के लिए दूर से मुझ तक लाने के कारण कोई अपराध नहीं किया ।

तुम्हारे दर्शन की आशा से ही अब तक मैंने दुःख सहन किया । अब ज्वर ने तुम्हारा दर्शन कराके बड़ा भारी उपकार किया है । तुम जैसे स्नेहहीन व्यक्ति के साथ स्नेह करके विरह की आग में जलने से तो मरना ही अच्छा है' । नायिका का नायक के प्रति यह उपालम्भ ध्वनित है ।

आमजरो मे मन्दो अहव ण मन्दो जणस्स का तन्ती ।
सुहउच्छअ सुहअ सुअन्धअन्ध मा अन्धिअं छिवसु ॥५१॥

[आमज्वरो मे मन्दोऽथवा न मन्दो जनस्य का चिन्ता ।
सुखपच्छक सुभग सुगन्धगन्ध माग न्धितां स्पृश ॥]

अन्य नायिका के समागम के पश्चात् कुशल पूछने के लिये आये हुए नायक से रोगिणी खण्डिता ने ईर्ष्यापूर्वक उत्तर दिया—

"मेरा आमज्वर मन्द हो या नही, लोगों को इसकी क्या चिन्ता ? कुशल पूछने के लिये आये हुए सुभग ! हे सुगन्ध से युक्त ! (ज्वर के कारण पसीने आदि की दुर्गन्ध से) दुर्गन्धिता का (मेरा) स्पर्श मत करो ।

'लोगों को क्या चिन्ता' से 'तुम तो मेरी ओर से पूर्णतया उदासीन हो, तुम्हें मेरे क्षेम सुख-दुख की क्या पड़ी ?' 'सुखपृच्छक' से 'लोकव्यवहार की दृष्टि से मेरा कुशल पूछने की खानापुरी करने वाले ! किन्तु वास्तव में तनिक भी सहानुभूति

वज्जवडणाइरिक्कं पइणो सोऊण सिञ्जिणीघोसं ।
पुसिआइं करिमरिएँ सरिसवन्दीणं पि णअणाइं ।।५४।।

*[वज्रपतनातिरिक्तं पत्युः श्रुत्वा शिञ्जिनीघोषम् ।
प्रोञ्छितानि वन्द्या सदृशवन्दीनामपि नयनानि ।।]*

पति के धनुष की वज्रपात से भी अधिक (भयङ्कर) टंकार को सुनकर (शत्रु द्वारा अपहृत) वन्दी (वीर पत्नी) ने अपने समान ही वन्दी बनाई हुई अन्य युवतियों के अश्रु भी पूंछ डाले ।

मेरे "महापराक्रमी पति सब को ही छुड़ा लेंगे । अतः रोना व्यर्थ है" वीर-पत्नी का अन्य वन्दियों के प्रति यह आश्वासन तथा अपने प्रिय के पराक्रम में चरम विश्वास व्यञ्जित है ।

सहइ सहइ त्ति तह तेण रमिआ सुरअदुव्विअड्ढेण ।
पम्माअसिरीसाइँ व जह से जाआइँ अङ्गाइं ।।५५।।

*[सहते सहत इति तथा तेन रमिता सुरतदुर्विदग्धेन ।
प्रम्लानशिरीषाणीव यथास्या जातान्यङ्गानि ।।]*

किसी कामुक को मोहित करने के लिये वृद्धा वेश्या अपनी पुत्री की रति-चातुरी, सुकुमारता आदि व्यक्त करती हुई चतुराई के साथ कहती है:—

'यह (इस प्रकार के सुरत को) सहन कर लेती है (इस आसन का प्रयोग करने पर भी) सहन कर लेती है' इस प्रकार सोचते हुए उस (सुरत-जनित आयास को न समझने के कारण) अनाड़ी कामुक ने इससे ऐसे ढँग से रमण किया कि इसके अङ्ग मुरझाये हुए सिरस-पुष्प के समान हो गये ।

'यह अनेक प्रकार के रति-आसनों में चतुर है । रतिजन्य आयास के कारण ही यह मुरझायी सी हो रही है, अस्वस्थता के कारण नहीं, यह अत्यन्त कोमल भी है । अतः इसके साथ इस प्रकार रमण करना कि अधिक आकुल न हो' इस प्रकार कामुक के प्रति कुटनी वेश्या युवति की सुकुमारता तथा सुरत के परिश्रम एवं समय की संक्षिप्तता सूचित करती है ।

अगणिअसेसजुआणा बालअ वोलीणलोअमज्जाआ ।
अह सा भमइ दिसामुहपसारिअच्छी तुह कएण ।।५६।।

*[अगणिताशेषयुवा बालक व्यतिक्रान्तलोकमर्यादा ।
अथ सा भ्रमति दिशामुखप्रसारिताक्षी तव कृतेन ।।]*

अन्यवनिता में आसक्त नायक के प्रति उसकी पूर्व प्रेमिका का अत्यधिक अनुराग व्यक्त करती हुई दूती कहती है:—

"हे बालक ! (अज्ञानवश ऐसी निर्दोष रमणी की भी उपेक्षा करने वाले !)

होकर सोते थे' इस प्रकार नायक का पराक्रम व्यञ्जित है। 'आज ही गोदावरी के तट हल्दी से पीले हो गये' से 'अब तक तो उनके यहाँ उपस्थित रहते हुए किसी का भी अभिसार करने का साहस नहीं होता था किन्तु उनके जाते ही कुलटाएँ अभिसार के लिये सुसज्जित हो गई हैं' अर्थ स्पष्ट व्यङ्ग्य है।

असरिसचित्ते दिअरे सुद्धमणा पिअअमे विसमसीले।
ण कहइ कुडुम्बविहडणभएण तणुआअए सोह्णा ॥५९॥

असदृशचित्ते देवरे शुद्धमनाः प्रियतमे विषमशीले।
न कथयति कुटुम्बविघटनभयेन तनुकायते स्नुषा ॥]

देवर के दूषितचित्त होने पर (कामान्ध होकर छेड़-छाड़ करने पर) भी शुद्ध-हृदया वधू अपने पति के विषम (उग्र) स्वभाव के कारण कुटुम्ब के बारहबाट हो जाने के भय से (देवर की हरकतों को) नहीं कहती, प्रत्युत (मानसिक व्यथा के कारण मन ही मन घुलती हुई) स्वयं सूखती जाती है।

चित्ताणीअदइअसमागमम्मि कअमण्णुआइँ भरिऊण।
सुण्णं कलहाअन्ती सहीहिँ रुण्णा ण ओहसिआ ॥६०॥

[चिन्तानीतदयितसमागमे कृतमन्युकानि स्मृत्वा।
शून्यं कलहायमाना सखीभी रुदिता नोपहसिता ॥]

कलहान्तरिता की सखी नायक के यह पूछने पर कि 'तुम्हारी सखी का अब क्या हाल है?' उससे कहती है:—

ध्यान द्वारा उपस्थापित प्रिय के (तुम्हारे) समागम में (अन्य-रमणी-गमन आदि) कोप के कारणों को स्मरण कर व्यर्थ ही कलह करती हुई (तुम्हारी प्रिया) का सखियों ने (उसकी चेष्टाओं के उपहासास्पद होते हुए भी करुणा-वश) उपहास न करके उसके ऊपर रुदन ही किया। 'कलह करने पर भी वह निरन्तर तुम्हारे ध्यान में लीन रहती है और तुम में तन्मय होने से ऐसी ऐसी चेष्टाएँ करती है कि सबको दुःख होता है और उस पर दया आती है। उसे व्यर्थ ही क्यों कष्ट दे रहे हो। उसका जीवन तुम्हारे अधीन है। इन प्रश्नों को छोड़ो और शीघ्र उसे मना लो' नायक के प्रति दूती की यह प्रेरणा ध्वनित है।

हिअअण्णएहिँ समअं असमत्ताइं पि जह सुहावन्ति।
कज्जाइँ मणे ण तहा इअरेहिँ समाविआइं पि ॥६१॥

[हृदयज्ञैः सममसमाप्तान्यपि यथा सुखयन्ति।
कार्याणि मन्ये न तथा इतरैः समापितान्यपि ॥]

अथम नायक में अनुरक्त नायिका को समझाती हुई सखी कहती है :—

दूसरों के हृदय को समझने वाले व्यक्तियों के साथ किये जाने वाले काम

सफलतापूर्वक अपना काम सिद्ध करता रहेगा।

जइ होसि ण तस्स पिआ अणुदिअहं णीसहेहिँ अङ्गेहिं।
णवसूअपीअपेऊसमत्तपाडि व्व किं सुवसि ॥६५॥
*[यदि भवसि न तस्य प्रियाऽनुदिवसं निःसहैरङ्गैः।
नवसूतपीतपीयूषमत्तमहिषीवत्सेव किं स्वपिषि ॥]*

अपने प्रति नायक के प्रेम का निराकरण करती हुई नायिका से सपत्नी ईर्ष्या के साथ बोली :—

यदि उसकी प्रिया नहीं हो तो पेवसी पीने के कारण भैंस के मत्त नवजात शिशु के समान अपने थके हुए अङ्गों से पड़ी हुई रोज़ाना दिन भर क्यों सोती रहती हो ?

अङ्गों का थका हुआ होना तथा दिन भर सोते रहना रात्रि में सुरतसंलग्नता और उसके कारण जागरण का व्यञ्जक है।

हेमन्तिआसु अइदीहरासु राईसु तं सि अविणिद्दा।
चिररअपउत्थवइए ण सुन्दरं जं दिआ सुवसि ॥६६॥
*[हैमन्तिका स्वतिदीर्घासु रात्रिषु त्वमस्यविनिद्रा।
चिरतरप्रोषितपतिके! न सुन्दरं यद्दिवा स्वपिषि ॥]*

अन्यासक्त प्रोषितपतिका की हितू सखी उससे कहती है:—

"हेमन्त की लम्बी-लम्बी रातों में भी तुम्हारी नींद पूरी नहीं होती! अयि चिरकाल से विदेश गये पति की प्रिये! यह बात अच्छी नहीं कि तुम दिन में सोती हो"।

हेमन्त की लम्बी रात में भी नींद पूरी न होना रात्रिजागरण का सूचक है किन्तु रात्रिजागरण का कोई कारण (पति के साथ संभोग आदि) तो है ही नहीं क्योंकि नायिका प्रोषितपतिका है। पति के चले जाने की चिन्ता में नींद न आयी हो, यह भी नहीं हो सकता क्योंकि उसे गये हुए काफी दिन हो गये इसलिये वियोग सहने का अभ्यास पड़ गया होगा। अतः रात्रिजागरण का कारण किसी अन्य नायक के साथ समागम ही हो सकता है। यह किसी भी कुलवधू के लिये कोई अच्छी बात नहीं। नायिका के प्रति सखी की यह शिक्षा ध्वनित है।

आशा के अनुसार पूरे न होने पर भी जैसा सुख देते हैं वैसा अन्य लोगों के द्वारा पूर्ण होकर भी नहीं, अर्थात् श्रेष्ठ नायक के प्रति प्रेम असफल होने पर भी सुखकर होता है और अधम नायक के प्रति सफल प्रेम भी सुखकर नहीं होता।

दरफुडिअसिप्पिसंपुडणिलुक्कहालाहलग्गपुच्छणिहं।
पक्कम्बट्ठिविणिग्गअकोमलमम्बङ्कुरं उअह ॥६२॥

*[दरस्फुटितशुक्तिसंपुटनिलीनहालाहलाग्रपुच्छनिभम् ।
पक्वाम्रास्थिविनिर्गतकोमलमाम्राङ्कुरं पश्यत ॥]*

कुछ खुली हुई सीपी में छिपे हुए ब्रह्म सर्प (सांप की दामनी) की पूंछ के अग्रभाग के समान पके हुए आम की गुठली में से निकले हुए कोमल आम्रांकुर को देखो।

उअह पडलन्तरोइण्णणिअअतन्तुद्धपाअपडिलग्गं ।
दुल्लक्खसुत्तगुत्थेक्कबउलकुसुमं व मक्कडअं ॥६३॥

*[पश्यत पटलान्तरावतीर्णनिजकतन्तूर्ध्वपादप्रतिलग्नम् ।
दुर्लक्ष्यसूत्रग्रथितैकबकुलकुसुममिव मर्कटकम् ॥]*

जाले के मध्य से लटकते हुए अपने तन्तु से ऊपर की ओर पैर करके चिमटी हुई इस मकड़ी को देखो जो कठिनाई से ही दीख पड़ने वाले (अत्यन्त महीन) धागे में गुंथे हुए एक वकुलपुष्प के समान लगती है।

उअरि दरदिट्ठथण्णुअणिलुक्कपारावआणं विरुएहिं ।
णित्थणइ जाअवेअणं सूलाहिण्णं व देअउलम् ॥६४॥

*[पश्यत दरदृष्टशङ्कुकनिलीनपारावतानां विरुतैः ।
निस्तनति जातवेदनं शूलाभिन्नमिव देवउलम् ॥]*

सफलतापूर्वक अपना काम सिद्ध करता रहेगा।

जइ होसि ण तस्स पिआ अणुदिअहं णीसहेहिँ अङ्गेहिं।
णवसूअपीअपेऊसमत्तपाडि व्व किं सुवसि ॥६५॥
*[यदि भवसि न तस्य प्रियाऽनुदिवसं निःसहैरङ्गैः।
नवसूतपीतपीयूषमत्तमहिषीवत्सेव किं स्वपिषि ॥]*

अपने प्रति नायक के प्रेम का निराकरण करती हुई नायिका से सपत्नी ईर्ष्या के साथ बोली :—

यदि उसकी प्रिया नहीं हो तो पेवसी पीने के कारण भैंस के मत्त नवजात शिशु के समान अपने थके हुए अङ्गों से पड़ी हुई रोजाना दिन भर क्यों सोती रहती हो ?

अङ्गों का थका हुआ होना तथा दिन भर सोते रहना रात्रि में सुरतसंलग्नता और उसके कारण जागरण का व्यञ्जक है।

हेमन्तिआसु अइदीहरासु राईसु तं सि अविणिद्दा।
चिरअपउत्थवइए ण सुन्दरं जं दिआ सुवसि ॥६६॥
*[हैमन्तिका स्वतिदीर्घासु रात्रिषु त्वमस्यविनिद्रा।
चिरतरप्रोषितपतिके ! न सुन्दरं यद्दिवा स्वपिषि ॥]*

अन्यासक्त प्रोषितपतिका की हितू सखी उससे कहती है:—

"हेमन्त की लम्बी-लम्बी रातों में भी तुम्हारी नींद पूरी नहीं होती ! अयि चिरकाल से विदेश गये पति की प्रिये ! यह बात अच्छी नहीं कि तुम दिन में सोती हो"।

हेमन्त की लम्बी रात में भी नींद पूरी न होना रात्रिजागरण का सूचक है किन्तु रात्रिजागरण का कोई कारण (पति के साथ संभोग आदि) तो है ही नहीं क्योंकि नायिका प्रोषितपतिका है। पति के चले जाने की चिन्ता में नींद न आयी हो, यह भी नहीं हो सकता क्योंकि उसे गये हुए काफी दिन हो गये इसलिये वियोग सहने का अभ्यास पड़ गया होगा। अतः रात्रिजागरण का कारण किसी अन्य नायक के साथ समागम ही हो सकता है। यह किसी भी कुलवधू के लिये कोई अच्छी बात नहीं। नायिका के प्रति सखी की यह शिक्षा ध्वनित है।

जइ चिक्खल्लभउप्पुअपअमिणमलसाइ तुह पए दिण्णम्।
ता सुहअ कण्टइज्जन्तमङ्गेहिं किणो वहसि ॥६७॥
*[यदि कर्दमभयोत्प्लुतपदमिदमलसया तव पदे दत्तम्।
तत्सुभग ! कण्टकितमङ्गमिदानीं किमिति वहसि ॥]*

इस पर उसने 'खत का मजमूं भाँप लेते है लिफ़ाफ़ा देखकर' का भाव प्रकट करते हुए कहा :—

पाणिग्रहण के समय ही, जब शिव ने अपने वासुकि रूपी वलय को (कंगन के रूप में हाथ में लपेटे हुए वासुकि नाग को) दूर हटा दिया तो पार्वती की सखियों को उसका सौभाग्य ज्ञात हो गया ।

गिह्मे दवाग्गिमसिमइलिआइँ दीसन्ति विज्झसिहराइं ।
आससु पउत्थवइए ण होन्ति णवपाउसब्भाइं ।।७०।।

[ग्रीष्मे दवाग्निमसिमलिनितानि दृश्यते विन्ध्यशिखराणि ।
आश्वसिहि प्रोपितपतिके न भवन्ति नवप्रावृडभ्राणि ॥]

ग्रीष्म के अन्त तक लौट आने का वचन देकर भी नायक के न लौटने पर नवीन मेघों की शङ्का से व्याकुल होती हुई प्रोपितपतिका को आश्वासन देने के लिये सखी ने कहा :—

'अयि वियोगिनी ! धैर्य रखो, ये वर्षा के नवीन मेघ नहीं हैं अपि तु ग्रीष्म में दावाग्नि की कालिमा से मलिन विन्ध्याचल के शिखर दिखायी दे रहे हैं' ।

जेत्तिअमेत्तं तीरइ णिव्वोढुं देसु तेत्तिअं पणंअ ।
ण अणो विणिअत्तपसाअदुक्खसहणक्खमो सव्वो ।।७१।।

[यावन्मात्रं शक्यते निर्वोढुं देहि तावन्तं प्रणयम् ।
न जनो विनिवृत्तप्रसाददुःखसहनक्षमः सर्वः ॥]

मन्दस्नेह नायक को उपालम्भ देती हुई नायिका कहती है—

'उतना ही प्रेम प्रदान करो जितना तुमसे निभाया जा सकता है । सब कोई प्रसाद (प्रेम या कृपा) के निवृत्त होने से उत्पन्न दुःख को सहने में समर्थ नहीं होते।'

'सब कोई······समर्थ नहीं होते' से 'तुमने अनेक सुन्दरियों के साथ बेवफ़ाई की है । उन्होंने तो तुम्हारे इस कार्य को सह लिया क्योंकि उन्हें भी तुमसे सच्चा प्रेम न था । परन्तु सब एक से नहीं होते । तुममें अगाध प्रेम होने के कारण मैं तुम्हारे प्रणय का विच्छेद नहीं सह सकती । अतः मुझ पर दया करके अपना वही प्रेम बनाये रखो । नायिका कि यह सोपालम्भ प्रार्थना नायक के प्रति व्यङ्ग्य है ।

बहुवल्लहस्स जा होइ वल्लहा कह वि पञ्च दिअहाइं ।
सा किं छट्ठं मग्गइ कत्तो मिट्ठं अ बहुअं अ ।।७२।।

[बहुवल्लभस्य या भवति वल्लभा कथमपि पञ्च दिवसानि ।
सा किं षष्ठं मृगयते कुतो मिष्टं च बहुकं च ॥].

प्रियतम के प्रेम की अस्थिरता से खिन्न होती हुई नायिका से सखी एक सार्वभौम और सर्वविदित तथ्य का उद्घाटन करती है—

'अनेक सुन्दरियों से प्रेम करने वाला नायक जिस सुन्दरी से प्रेम करता है वह कठिनाई से पाँच दिन उसकी प्रिया रहती है। वह छठे दिन की खोज क्यों करती है ? (इससे आगे नायक से प्रेम की आशा करना व्यर्थ है।) मीठा और बहुत (एक साथ) कहाँ ? (चुपड़ी और दो दो ?)

'पञ्च दिवसानि' यहाँ मुहावरे के रूप में प्रयुक्त हुआ है। हिन्दी में उसका समकक्ष 'चार दिन की चाँदनी' है। दूसरा मुहावरा 'मीठा और बहुत है' जिसके स्थान में हिन्दी में 'चुपड़ी और दो दो' प्रचलित है।

जं जं सो णिज्झाअइ अङ्गोआसं महं अणिमिसच्छो।
पच्छाएमि अ तं तं इच्छामि अ तेण दीसन्तं ॥७३॥

*[यद्यत्स निर्ध्यायत्यङ्गावकाशं ममानिमिषाक्षः।
प्रच्छादयामि च तं तमिच्छामि च तेन दृश्यमानम् ॥]*

स्वाधीनपतिका अपने प्रति प्रियतम के तथा उसके प्रति अपने असीम अनुराग की अभिव्यक्ति इस प्रकार करती है—

"वे मेरे जिस-जिस अङ्ग के किसी भाग को (अनुरागवश) एकटक दृष्टि से देखते हैं उस-उस अङ्ग को मैं (लज्जावश) ढक लेती हूँ किन्तु (अभिलापवश) उनके द्वारा उसका देखा जाना भी चाहती हूँ।"

दिढमण्णुदूणिआएँ वि गहिओ दइअम्मि पेच्छह इमाए।
ओसरइ वालुआमुट्ठि व्व माणो सुरसुरन्तो ॥७४॥

*[दृढमन्युदूनयापि गृहीतो दयिते पश्यतानया।
अपसरति वालुकामुष्टिरिव मानः सुरसुरायमाणः ॥]*

'देखो, दृढ कोप से खिन्न होकर भी इसने प्रिय के प्रति जो मान धारण किया था, वह वालू की मुट्ठी के समान सुरसुराता हुआ निकल रहा है।'

नायक के प्रति कलहान्तरिता के अनुरागोदय और मानशान्ति के कारण सहज अनुनेयता की अभिव्यक्ति करती हुई सखी की यह अन्य सखियों के प्रति उक्ति है।

उअ पोम्मराअमरगअसंवलिआ णहअलाओ ओअरइ।
णहसिरिकण्ठब्भट्ठ व्व कण्ठिआ कीररिञ्छोली ॥७५॥

*[पश्यपद्मरागमरकतसंवलिता नभस्तलादवतरति।
नभःश्रीकण्ठभ्रष्टेव कण्ठिका कीरपंक्तिः ॥]*

देखो, शुकों की पंक्ति नभतल से उतरती हुई ऐसी प्रतीत होती है जैसे आकाशलक्ष्मी के कण्ठ से गिरी हुई पद्मराग तथा मरकत मणियों से निर्मित कण्ठी (माला) हो।

शुकों की लाल चोंच की समता पद्मराग मणियों से और उनके अवशिष्ट

अङ्गों के हरे होने के कारण उनकी तुलना मरकत मणियों से की गई है।

ण वि तह विएसवासो दोग्गच्चं मह जणेइ संतावं।
आसंसिअत्थविमणो जह पणइजणो णिअत्तन्तो ॥७६॥
[नापि तथा विदेशवासो दौर्गत्यं मम जनयति संतापम् ।
आशंसितार्थविमना यथा प्रणयिजनो निवर्तमानः ॥]

सहायता की याचना करने पर भी अपनी निर्धनता के कारण मित्र की आर्थिक सहायता करने में असमर्थ मनस्वी अपनी मनोदशा का वर्णन करता है—

"विदेश में निवास करना तथा निर्धन हो जाना मुझे इतना कष्ट नहीं देता है जितना प्रार्थित धन प्राप्त न होने के कारण निराश (खिन्न) लौटता हुआ बंधु-वर्ग"।

शृङ्गार पक्ष में इसकी अर्थसंगति करने के लिए टीकाकारों ने इसे पर-पुरुषासक्ति की शंङ्का से पति द्वारा दुर्गम स्थान में बन्द की हुई कुलटा की जार द्वारा भेजी हुई दूती के प्रति उक्ति माना है और इसका यह अर्थ किया है—

"विरुद्ध स्थान में निवास और (बन्धनजन्य) दुर्गति से मुझे इतना कष्ट नहीं हो रहा है जितना प्रणयी द्वारा भेजे हुए जन के कहे हुए कार्य को पूरा न कर सकने के कारण उसका निराश लौट जाना।"

"मैं विवश हूँ। यह अभिसार का अवसर नहीं है। तुम्हें निराश जाते हुए देखकर 'मुझे अत्यन्त दुःख हो रहा है, किन्तु क्या करूँ ?' दूती के प्रति कुलटा का यह विवशता-निवेदन अभिव्यञ्जित है।

खन्धग्गिणा वणेसुं तणेहिँ गामम्मि रक्खिओ पहिओ।
णअरवसिओ णडिज्जइ साणुसएण व्व सीएण ॥७७॥
[स्कन्धाग्निना वनेषु तृणैर्ग्रामे रक्षितः पथिकः ।
नगरोषितः खेद्यते सानुशयेनेव शीतेन ॥]

स्वयंदूतिका नागरी कामिनी पथिक के प्रति अपनी संभोगाभिलाषा प्रकट करती हुई कहती है—

"वनों में बड़े-बड़े लक्कड़ों की अग्नि ने और गाँव में तिनकों ने (घास-फूँस बिछा कर अथवा घास जलाकर प्राप्त हुई गर्मी ने) पथिक की शीत से रक्षा की। इसलिये (असफल होने के कारण) मानो चिढ़ा हुआ शीत नगर में रुकने पर उसे (पथिक को) सता रहा है।"

"शीत से बचना चाहते हो तो आओ मेरे साथ" जाड़े से ठिठुरते हुए पथिक के प्रति कामुकी का यह संभोग-निमन्त्रण ध्वनित होता है।

भरिमो से गहिआहरधुअसीसपहोलिरालआउलिअं।
वअणं परिमलतरलिअभमरालिपइण्णकमलं व ॥७८॥

*[स्मरामस्तस्या गृहीताधरधुतशीर्षप्रघूर्णनशीलालकाकुलितम् ।
वदनं परिमलतरलितभ्रमरालिप्रकीर्णकमलमिव ॥]*

प्रियतमा के सुरत-अनुभावों की स्मृति में लीन प्रवासी अपने सहचर से कहता है—

"रसास्वादन के लिए अपने दाँतों से प्रियतमा का अधर पकड़ लेने पर अपना सिर हिलाने के कारण (मस्तक पर) लहराती हुई, सुगन्ध-लोलुप चपल भ्रमरों की पंक्ति जैसी अलकावलि से आकुल उसका मुख अब भी याद है।"

हल्लफलह्लाणपसाहिआणं छणवासरे सवत्तीणं ।
अज्जाए मज्जणाणाअरेण कहिअं व सोहग्गं ॥७६॥
*[उत्साहतारल्यस्नानप्रसाधितानां क्षणावसरे सपत्नीनाम् ।
आर्यया मज्जनानादरेण कथितमिव सौभाग्यम् ॥]*

'पिया की प्यारी यदि शृङ्गार-वनाव आदि न भी करे तो भी उसका सौभाग्य कहीं नहीं जाता। इसके विपरीत शृङ्गार करने पर भी प्रिय का प्रेम न पा सकने वाली अवश्य ही अभागी है।' यह व्यक्त करती हुई कोई सुन्दरी अपनी सखी से किसी की बात कहती है—

"उत्सव के समय उत्साह-जनित चपलता के साथ स्नान और शृङ्गार कर चुकने वाली सपत्नियों के मध्य में (नायक की प्रियतमा) अङ्गना ने स्नान के प्रति रुचि प्रकट न करते हुए अपना सौभाग्य प्रकट कर दिया।"

"रूपगुण से वशीभूत प्रियतम पहले से ही मुझ पर मुग्ध हैं। बनाव-शृङ्गार तुम्हें ही मुबारक रहे।" सपत्नियों के प्रति नायिका का यह गुण-गर्व तथा सौभाग्य-गर्व व्यञ्जित है।

ह्लाणहलिद्दाभरिअन्तराइं जालाइं जालवलअस्स ।
सोहन्ति किलिञ्चिअकण्टएण कं काहिसी कअत्थं ॥८०॥
*[स्नानहरिद्राभृतान्तराणि जालानि जालवलयस्य ।
शोधयन्ती क्षुद्रकण्टकेन कं करिष्यसि कृतार्थम् ॥]*

ऋतुकाल में रजोदर्शन के पश्चात् हल्दी का उबटन लगा कर शुद्धिस्नान करने पर कंगन की जाली में से हल्दी के कणों को निकालती हुई सुन्दरी को लक्ष्य कर कोई रसिक कहता है—

'जालीदार कंगन की, स्नान के समय उबटन के रूप में प्रयुक्त हल्दी (के कणों) से भरी हुई, जाली को छोटे से काँटे से साफ करती हुई तुम किस (सौभाग्य-शाली) को (अपना प्रणयरस पिलाकर) कृतार्थ करोगी ?'

'स्नान अलङ्कार आदि से शोभित ऋतुमती सुन्दरी ! तुम्हारे साथ जो रमण करेगा। उसका ही जीवन सफल है' नायिका के प्रति वक्ता की यह सभिलाष प्रशंसा अभिव्यञ्जित है।

अदंसणेण पेम्मं अवेइ अइदंसणेण वि अवेइ।
पिसुणजणजम्पिएण वि अवेइ एमेअ वि अवेइ ॥८१॥
अदंसणेण महिलाअणस्स अइदंसणेण णीअस्स।
मुक्खस्स पिसुणअणजम्पिएण एमेअ वि खलस्स ॥८२॥

[अदर्शनेन प्रेमापैत्यतिदर्शनेनाप्यपैति।
पिशुनजनजल्पनेनाप्यपैत्येवमेवाप्यपैति ॥
अदर्शनेन महिलाजनस्यातिदर्शनेन नीचस्य।
मूर्खस्य पिशुनजनजल्पितेनैवमेवापि खलस्य ॥]

वहुत दिनों तक दर्शन न होने से, अत्यधिक मिलने-जुलने से, पिशुनजन के कथन से (चुगलखोरों द्वारा चुगली करने पर) और यों भी (विना किसी कारण के भी) प्रेम नष्ट हो जाया करता है ॥८१॥

(प्रिय का) दर्शन न होने पर महिलाओं का, अत्यधिक मिलने-जुलने (दर्शन देने) से नीच पुरुष का, चुगलखोरों के कहने से मूर्खों का और विना किसी कारण के दुष्ट व्यक्ति का प्रेम समाप्त हो जाता है ॥ ८२ ॥

पोट्टपडिएहिँ दुःखं अच्छिज्जइ उण्णएहिँ होऊण।
इअ चिन्तआणँ मण्णे थणाणँ कसणं मुहं जाअं ॥८३॥

[उदरपतिताभ्यां दुःखं स्थीयत उन्नताभ्यां भूत्वा।
इति चिन्तयतोर्मन्ये स्तनयोः कृष्णं मुखं जातम् ॥]

'प्रसव के पश्चात् उरोजों के शिथिल हो जाने पर भी तुम्हें अपनी प्रिया के साथ पूर्ववत् प्रेम करते रहना चाहिए' प्रथमगर्भ-धारिणी नायिका की सखी नायक के प्रति यह कर्त्तव्य व्यक्त करती हुई नायिका की गर्भावस्था में कुचों के अग्रभाग की श्यामता का वर्णन चतुराई के साथ करती है—

'उन्नत होकर (ऊँचे पद पर प्रतिष्ठित रहकर) उदर-पतित (पेट भरने की ही स्थिति को प्राप्त) हो जाना दुःखदायी होता है' मानो यही चिन्ता करते-करते कुचों का मुख (लज्जा और चिन्ता के कारण) साँवला पड़ गया है।'

अभिप्राय यह है कि संसार में देखा जाता है कि ऊँचे पद पर प्रतिष्ठित रहने वाला व्यक्ति यदि दैव-योग से हीन दशा को प्राप्त होकर पेट भरने की समस्या को भी हल नहीं कर पाता तो लज्जा और चिन्ता के कारण उसका मुँह साँवला पड़ जाता है। इसी प्रकार यौवनजनित पुष्टता के कारण उन्नत कुच भी प्रसव के पश्चात् शिथिल होकर उदर पर लटक जायेंगे। उस समय उन्हें पूर्ववत नायक द्वारा सम्मान

और प्रणय प्राप्त न हो सकेगा। इसी चिन्ता और लज्जा के कारण मानो उनका मुख काला पड़ गया है। इस ध्वनित उपमा अलङ्कार से 'प्रसव के पश्चात् उरोज शिथिल होने पर भी तुम जैसे दक्षिण नायक को नायिका के प्रति अपने प्रणय और सम्मान में कमी न आने देनी चाहिए' नायक के प्रति सखी का यह संकेत प्रतिध्वनित होता है।

सो तुज्झ कए सुन्दरि तह छीणो सुमहिलो हलिअउत्तो।
जह से मच्छरिणीएँ वि दोच्चं जाआएँपडिवण्णं॥ ८४॥

[स तव कृते सुन्दरि तथा क्षीणः समुहिलो हलिकपुत्रः।
यथा तस्य मत्सरिण्यापि दौत्यं जायया प्रतिपन्नम्॥]

किसी युवक के साथ नायिका को प्रणयसूत्र में बांधने के लिये दूती उसके प्रति उस युवक के अगाध अनुराग की अभिव्यक्ति इन शब्दों में करती है—

'हे सुन्दरि! तुम्हारे कारण सुन्दर महिला (पत्नी) वाला वह हलिकपुत्र इतना दुर्बल हो गया है कि (उसकी दशा पर करुणा करके) उसकी (अन्यासक्ति से ईर्ष्या करने वाली) पत्नी ने भी दूती का कार्य करना स्वीकार कर लिया है।'

'सुमहिल' शब्द से 'तुम्हारे प्रेम के कारण उसने अपनी सुन्दरी पत्नी की भी उपेक्षा कर दी है और 'मत्सरिण्या' से 'इसी कारण वह ईर्ष्यालु भी हो गई है, अर्थ ध्वनित है। 'ईर्ष्यालु पत्नी ने भी दूती-कार्य स्वीकार कर लिया है' से उनकी अत्यन्त क्षीणता व्यञ्जित है जिसके कारण ईर्ष्यालु होते हुए भी पत्नी को दया आ गयी अतः 'सपत्नी-जन्य बाधा और कष्ट की शङ्का भी मत करो क्योंकि पति के अनिष्ट की शङ्का से उसकी पत्नी भी सब प्रकार राजी है' नायिका के प्रति दूती का यह प्रोत्साहन ध्वनिगम्य है।

दक्खिण्णेण वि एन्तो सुहअ सुहावेसि अह्य हिअआइं।
णिक्कइअवेण जाणं गओसि का णिव्वुदी ताणं॥ ८५॥

[दाक्षिण्येनाप्यागच्छन् सुभग! सुखयस्यस्माकं हृदयानि।
निष्कैतवेन यासां गतोऽसि का निर्वृतिस्तासाम्॥]

बहुत दिनों में आये हुए बहुवल्लभ प्रियतम को उपालम्भ देती हुई विदग्धा नायिका कहती है—

'हे सुभग! दाक्षिण्य (केवल शील और शिष्टाचार) के कारण ही आते हुए भी तुम हमारे हृदयों को सुख पहुँचाते हो; जिनके यहाँ निश्छल भाव से (सहज अनुराग के साथ) गये हो उनको कितना सुख मिलता होगा?'

'हमारे हृदयों को' इस बहुवचन से 'रस लेकर छोड़ी हुई हम जैसी भी, जिनको कभी-कभी शर्मा-हुजूरी दर्शन देने की कृपा करते हो, न जाने कितनी बहिनें होंगी, यह उपालम्भ और 'गतोऽसि' से 'नयी-नयी प्रेमिकाओं के पास ही सहज भाव से

जाते हो, अब भी वहीं से आये हो' यह उलाहना स्पष्ट अभिव्यञ्जित है। सब मिलाकर 'हम जैसी चिरानुरागिनियों का परित्याग कर न जाने कितनी नवीनाओं के साथ तुम हार्दिक प्रेम करते हो।' केवल दाक्षिण्यवश आकर तुमने हमें कितना सुखी किया है ? यह तुम ही सोच लो' यह चरम उपालम्भ ध्वनित है।

एक्कं पहरुव्विण्णं हत्थं मुहमारुएण वीजन्तो।
सो वि हसन्तीए मए गहिओ बीएण कण्ठम्मि ॥ ८६ ॥

[एकं प्रहारोद्विग्नं हस्तं मुखमारुतेन वीजयन्।
सोऽपि हसन्त्या मया गृहीतो द्वितीयेन कण्ठे ॥]

कोई स्वाधीनपतिका नायिका सखियों में अपने सौभाग्य का प्रख्यापन इन शब्दों के साथ करती है—

'(प्रियतम पर) प्रहार करने से दुखते हुए मेरे एक हाथ को जब वे ('तुम्हारे कोमल हाथ में चोट लग गई होगी' यह कहते हुए) अपने मुख की वायु से सहलाने लगे तो मैंने भी उन्हें दूसरे हाथ से पकड़ कर गले से लगा लिया।'

'गङ्गाधर भट्ट' मथुरानाथ शास्त्री और भोज के अनुसार ही इस नायिका को स्वाधीनपतिका कह दिया गया है। वास्तव में नायिका मानिनी प्रतीत होती है अन्यथा हाथ से प्रहार करने की संगति नहीं बैठती। नायिका के हाथ का प्रहार पाकर नायक उसकी व्यथा दूर करने के बहाने उसे चूम भी लेता है जिससे मान की शान्ति और रति का उदय हो जाता है और वह भी उसे आलिङ्गन में बाँध लेती है।

अवलम्बिअमाणपरम्मुहीएँ एन्तस्स माणिणि पिअस्स।
पुट्ठपुलउग्गमो तुह कहेइ संमुहट्ठिअं हिअं ॥ ८७ ॥

[अवलम्बितमानपराङ्मुख्या आगच्छतो मानिनि प्रियस्य।
पृष्टपुलकोद्गमस्तव कथयति संमुखस्थितं हृदयम् ॥]

प्रणयमान के कारण शयनागार से निकल कर जाती हुई और पीछे लगे हुए नायक द्वारा मनायी जाती हुई कामिनी को शयनागार में लौटाने के उद्देश्य से सखी ने कहा—

'अवलम्बित (ऊपर से आरोपित न कि हार्दिक) मान के कारण विमुख मानिनि ! तुम्हारी पीठ का रोमाञ्च ही पीछे-पीछे आते हुए प्रिय से तुम्हारे हृदय की अभिमुख-स्थिति (प्रणयप्रवृत्ति) को बता रहा है।'

'प्रिय के प्रति तुम्हारी प्रणयोत्कण्ठा तुम्हारी पीठ के रोमाञ्च से ही स्पष्ट है। अतः इस कृत्रिम रोष का अभिनय क्यों करती हो ? जाओ निर्बाध सुरत का आनन्द लो' सखी की यह उपालम्भ-भरी शिक्षा नायिका के प्रति ध्वनित है।

जाणइ जाणावेउं अणुणअविद्दविअमाणपरिसेसं।
अइरिक्कम्मि वि विणआलम्बणं सच्चिअ कुणन्ती ॥ ८८ ॥

[जानाति ज्ञापयितुमनुनयविद्रावितमानपरिशेषम् ।
विजनेऽपि विनयावलम्बनं सैव कुर्वती ॥]

प्रणयकलह में नायक का अत्यधिक तिरस्कार करती हुई नायिका को उचित शिक्षा देती हुई सखी अन्य सुन्दरी की प्रशंसा करती हुई कहती है—

एकान्त में (शयनागार में सुरत के समय) भी विनय धारण करके ही (रतिकला में प्रवीणता आदि प्रकट न करके मौन रहती हुई ही) वह सुन्दरी (प्रियतम की) मनुहारों द्वारा क्षीण हुए दृढ मान के अवशिष्ट अंश को प्रकट करना जानती है'। भाव यह है कि 'प्रिय के मनाने पर भी यदि तीव्र मान पूर्णतया शान्त नहीं होता तो वह मान के अवशिष्ट अंश को सुरत-क्रिया में मौन एवं निष्क्रिय विनय धारण करके प्रकट कर देती है, तुम्हारी तरह प्रिय का तिरस्कार नहीं करती। मान प्रकट करने का यही अनुकूल ढंग तुम्हें भी अपनाना चाहिये'।

मुहमारुएण तं कह्न गोरअं राहिआए अवणेन्तो।
एताणं वल्लवीणं अण्णाणं वि गोर हरसिअं ॥ ८९ ॥

[मुखमारुतेन त्वं कृष्ण गोरजो राधिकाया अपनयन् ।
एतासां वल्लवीनामन्यासामपि गौरवं हरसि ॥]

अनेक पत्नियों में से किसी एक में ही आसक्त नायक के प्रति कोई रसिक अन्योक्ति द्वारा कहता है—

"हे कृष्ण अपनी मुख वायु द्वारा (फूंक मारकर) राधिका (के कपोलों के) 'गोरअ' (गोधूलि) को दूर करते हुए तुम अन्य गोपियों के भी 'गोरअ' (गौरव) को हर लेते हो"

'मुख वायु द्वारा गोधूलि को उड़ाने' से प्रेयसी का कपोल-चुम्बन व्यञ्जित है, जिसके कारण अन्य गोपाङ्गनाओं के सौभाग्य का खण्डन एवं गौरवहरण स्पष्ट ही सिद्ध हो जाता है। यहाँ प्राकृत के 'गोरअं' शब्द का चमत्कार लक्ष्य करने के योग्य है जो संस्कृत रूपान्तरण अथवा हिन्दी अनुवाद में नहीं लाया जा सकता। 'गोरअं' के तीन अर्थ हैं गोरज, गौरव और गौरता। कृष्ण अपने मुखवायु से राधा के 'गोरअ' (गोरज) को हरते हैं तो स्पष्ट ही उसका चुम्बन करके अन्य गोपियों के भी 'गोरअ' (गौरव) को हर लेते हैं और चिन्ता एवं ईर्ष्या के कारण उनके मुख का रंग विवर्ण हो जाने के कारण भी उनके गोरअ (गौरता) को हर लेते हैं। शब्द-चमत्कार का यह एक सुन्दर उदाहरण है—

किं दाव कआ अहवा करेसि कारिस्सि सुहअ एत्ता हे।
अवराहाणं अलज्जिर साहसु कअए खमिज्जन्तु ॥ ९० ॥

[किं तावत्कृता अथवा करोषि करिष्यसि सुभगेदानीम् ।
अपराधानामलज्जाशील कथय कतरे क्षम्यन्ताम् ॥]

अनेक बार यह कह कर कि 'अबके क्षमा करो' क्षमा माँग लेने वाले नायक से अन्त में खीझ कर खण्डिता नायिका सरोष बोली—

हे सुभग ! (अनेक रमणियों से रमण करने के कारण अपने आपको साभाग्यशाली समझने वाले !) अरे निर्लज्ज ! कहो कौन से अपराध क्षमा किये जायँ ? जो कर चुके हो ? जो कर रहे हो ? या जो करोगे ?

'सदा से ही मैं तुम्हारे अपराध सहती आई हूँ और तुम रोकने पर भी वार-वार करते आये हो। आखिर कहाँ तक सहूँ ? नायक के प्रति यह सरोष उपालम्भ व्यङ्ग्य है।

णूमेन्ति जे पहुत्तं कुविअं दासा व्व जे पसाअन्ति।
ते च्चिअ महिलाणं पिआ सेसा सामि च्चिअ वराआ ॥ ९१ ॥

[गोपायन्ति ये प्रभुत्वं कुपितां दासा इव ये प्रसादयन्ति।
त एव महिलानां प्रियाः शेषाः स्वामिन एव वराकाः ॥]

अनुनय करके नायिका को मनाने के लिये उद्यत न होते हुए अचतुर नायक को शिक्षा देती हुई दूती कहती है—

जो अपने प्रभुत्व को छिपाकर कुपित प्रियतमा को दास के समान मनाना जानते हैं, वे ही महिलाओं के प्रिय होते हैं, शेष तो वेचारे उनके प्रभुमात्र होते हैं।'

भाव यह है कि जो महिलाओं से अपराध होने पर भी दण्ड आदि का प्रयोग नहीं करते और उनके कुपित होने पर सेवक के समान अनुनय करके उन्हें मना लेते हैं उन्हीं से वे वस्तुतः प्रेम करती हैं। दण्ड आदि का प्रयोग करने वाले अनुनय-विमुख पुरुषों को वे स्वामी तो समझ सकती है किन्तु अपना हृदय नहीं दे सकतीं।

तइआ कअग्घ' महुअर ण रमसि अण्णासु पुप्फजाईसु।
वद्धफलभारगुरुइं मालइं एह्लि परिच्चअसि ॥ ९२ ॥

[तदा कृतार्घ मधुकर न रमसेऽन्यासु पुष्पजातिषु।
वद्धफलभारगुर्वीं मालतीमिदानीं परित्यजसि ॥]

प्रार्थना करता है और वह उत्तर देती है—

'जो हृदय से क्षण भर के लिये भी वियुक्त हो उसी का स्मरण किया जाता है। वस्तुतः प्रेम को (प्रियजन को) स्मरणयोग्य किया और प्रेम निराधार हुआ' (क्योंकि प्रेम का आलम्बन तो प्रेम पात्र ही होता है) 'तुम तो क्षण भर के लिये भी मेरे हृदय से दूर नहीं होते। अतः स्मरण करने की वात ही क्या ? अनुराग की ऐसी वात ही क्या ? अनुराग की ऐसी स्थिति में तुम्हारे वियोग में मेरी क्या दशा होगी ? यह तुम ही विचार लो'। नायक के प्रति नायिका की यह विरहकातरता ध्वनित है।

णासं व सा कवोले अज्ज वि तुह दन्तमण्डलं वाला।
उब्भिण्णपुलअवइवेढपरिगअं रक्खइ वराई ॥ ९६ ॥

[न्यासमिव सा कपोलेऽद्यापि तव दन्तमण्डलं वाला।
उद्भिन्नपुलकवृतिवेष्टपरिगतं रक्षति वराकी ॥]

अनुराग प्रदर्शित करके उपभोग करने पर नायक नायिका को त्याग कर अन्यासक्त हो गया तो दूती ने उसे पहली प्रेयसी के प्रति अनुकूल करने के उद्देश्य से उसका प्रेम अभिव्यक्त करते हुए कहा—

'वह वेचारी वाला कपोल पर चिह्नित तथा पुलकित रोमराजि रूपी घेरे से घिरे हुए तुम्हारे दन्तमण्डल की आज भी धरोहर के समान (सावधानी से) रक्षा करती रहती है'।

'तुम्हारे दन्त-क्षत का जब भी उसे स्मरण आता है तभी उसका कपोल पुलकित हो उठता है' इससे नायक के प्रति नायिका का अत्यन्त अनुराग ध्वनित होता है। 'वाला' शब्द से किशोर अवस्था में ही तुमने फुसलाकर उसका शील खण्डित किया और अब उसको दीन दशा में छोड़ रहे हो, धन्य है तुम्हारा प्रेम।' यह उपालम्भ और नायिका की विवशता भी 'वराकी' विशेषण की सहायता से व्यङ्ग्य है। 'निक्षप के समान तुम्हारे दन्तक्षत की रक्षा करती है' इससे नायिका का नायक के प्रेम और पुनर्मिलन में दृढ़ विश्वास व्यञ्जित होता है। 'रक्षा करती है' से उस चुम्बनचिह्न के प्रति नायिका की गौरवभावना और उसके द्वारा नायक के प्रति प्रणयातिशय व्यङ्ग्य है। अन्त में 'वह पहले दिन से ही तुममें दृढ़ अनुरक्त है, यद्यपि तुम तभी से उसकी उपेक्षा कर रहे हो। अतः यदि तुम में सौजन्य का लेशमात्र भी है, तो शीघ्र ही उसकी सुधि लो' नायक के प्रति दूती की यह प्रेरणा अभिव्यक्त है।

दिट्ठा चूआ अग्घाइआ सुरा दक्खिणाणिलो सहिओ।
कज्जाइं व्विअ गरुआइं मामि को वल्लहो कस्स ॥९७॥

[दृष्टाश्चूता आघ्राता सुरा दक्षिणानिलः सोढः।
कार्याण्येव गुरुकाणि मातुलानि को वल्लभः कस्य ॥]

'तुम्हारे पति को किसी काम के कारण लौटने में विलम्ब हो गया है। उसे

पूरा करते ही वे तुरन्त आ जायेंगे' इस प्रकार आश्वासन देती हुई मामी से प्रोषित-पतिका खेद और प्रिय के प्रति असूया के साथ कहती है—

(विदेश में स्थित प्रिय ने) आमों को (बौराते हुए) देखा, सुरा की गन्ध का अनुभव किया और दक्षिण वायु को भी सह लिया। हे मामि! लोग कार्यों को ही महत्त्व देते हैं, संसार में कौन किसे प्यारा है' ?

'यदि वह मुझ में अनुरक्त होते तो वसन्त के उद्दीपन समय में मेरी विरह-वेदना का अनुमान करके अवश्य लौट आते। उन्हें मुझसे प्रेम है ही नहीं, केवल अपने कार्यों की ही परवाह करते हैं।' नायक के प्रति वियोगिनी की यह असूया ध्वनित है।

'कौन किसका प्यारा है?' से नायिका का अपने प्रति निर्वेद स्पष्ट है।

रमिऊण पअं पि गओ जाहे उवऊहिउं पडिणिउत्तो।
अहअं पउत्थपइआ व्व तक्खणं सो पवासि व्व ॥६८॥

*[रन्त्वा पदमपि गतो यदोपगूहितुं प्रतिनिवृत्तः।
अहं प्रोषितपतिकेव तत्क्षणं स प्रवासीव ॥]*

'प्रवास से लौटे हुए प्रिय के समागम का आनन्द कुछ और ही होता है जिससे तुम अभी तक वंचित रही हो।' अनुभवी सहेली की यह बात सुनकर स्वाधीन-पतिका नायिका ने उत्तर दिया—

'समागम के पश्चात् एक पग धरते ही (विरहोत्कण्ठावश) वह फिर मेरा आलिङ्गन करने के लिये लौटते हैं इसी स्वल्प समय में (विरह की पूर्ण अनुभूति के कारण) मानो मैं प्रोषितपतिका और वह प्रवासी हो जाते हैं।

इस प्रकार 'मैं सहज ही उस आनन्द को पा लेती हूँ जिसकी तुम इतनी प्रशंसा करती हो और जिससे मुझे वंचित समझती हो' सखी के प्रति नायिका का यह सौभाग्य गर्व व्यक्त है। क्षणभर के लिये अलग होने में ही नायक नायिका की वियोगानुभूति उनके प्रेम की दृढ़ता की व्यञ्जक है। इससे प्रिय के प्रवासी होने पर नायिका की व्यथा की चरमसीमा और विरह की अन्तिम दशा की प्राप्ति भी व्यञ्जित होती है।

अविइह्लपेच्छणिज्जं समसुहदुःखं विइण्णसब्भावं।
अण्णोण्णहिअअलग्गं पुण्णेहिं जणो जणं लहइ ॥६९॥

*[अवितृष्णप्रेक्षणीयं समसुखदुःखं वितीर्णसद्भावम्।
अन्योन्यहृदयलग्नं पुण्यैर्जनो जनं लभते ॥]*

दुःखं देन्तो वि सुहं जणेइ जो जस्स वल्लहो होइ ।
दइअणहदूणिआणं वि वड्ढइ थणाणं रोमञ्चो ॥१००॥

*[दुःखं ददद्पि सुखं जनयति यो यस्य वल्लभो भवति ।
दयितनखदूनयोरपि वर्धते स्तनयो रोमाञ्च ॥]*

जो जिसका प्रिय होता है वह उसे दुःख देता हुआ भी सुख ही देता है। प्रियतम के नखों से पीडित होने पर भी स्तनों का रोमाञ्च ही बढ़ता है।

'बढ़ता है' से ध्वनित है कि रोमाञ्च हो तो प्रिय के स्पर्श से ही जाता है किन्तु नख से पीड़ित करने पर अधिक होता है जो आनन्द का सूचक है।

रसिअजणहिअअदइए कइवच्छलपमुहसुकइणिम्मइए ।
सत्तसअम्मि समत्तं पढमं गाहासअं एअं ॥१०१॥

*[रसिकजनहृदयदयिते कविवत्सलप्रमुखसुकविनिर्मिते ।
सप्तशतके समाप्तं प्रथमं गाथाशतकमेतत् ॥]*

कविवत्सल प्रमुख कवि (हाल) द्वारा निर्मित (संगृहीत) रसिकजनों के हृदय को हरने वाली सप्तशती में गाथाओं का यह पहला शतक समाप्त हुआ।

द्वितीय शतक

* *

घरिओ घरिओ विअलइ उअएसो पिअसहीहिं दिज्जन्तो ।
मअरद्धअवाणपहारज्जरे तीए हिअअम्मि ॥ १ ॥

[धृतो धृतो विगलत्युपदेशः प्रियसखीभिर्दीयमानः ।
मकरध्वजवाणप्रहारजर्जरे तस्या हृदये ॥]

नायिका की सखी उसकी प्रियवशंवदता का वर्णन करती हुई अन्य सखी से कहती है—

'कामदेव के वाणों के प्रहार से जर्जर उसके हृदय में वार-वार रखा हुआ भी सखियों द्वारा दिया जाता हुआ (मान धारण का) उपदेश निकल ही जाता है। (जिस प्रकार जर्जर पात्र में रखा हुआ द्रव पदार्थ उसमें ठहरता ही नहीं उसी प्रकार काम के वाणों से जर्जर हृदय में उपदेश भी नहीं ठहरता। अर्थात् प्रिय के अनुराग के कारण वह मान-धारण ही नहीं कर पाती।

तडसंठिअणीडेक्कन्तपीलुआरक्खणेक्कदिण्णमणा ।
अगणिअविणिवाअभआ पूरेण समं वहइ काई ॥ २ ॥

[तटसंस्थितनीडैकान्तशावकरक्षणैकदत्तमनाः ।
अगणितविनिपातभया पूरेण समं वहति काकी ॥]

तट पर स्थित (वृक्ष के गिर जाने पर) वृक्ष पर घोंसले में विद्यमान बच्चों की रक्षा में ही एकाग्रचित्त काकी (कौवी) अपनी मृत्यु के भय की परवाह न करती हुई प्रवाह के साथ वही जाती है।

वहुपुप्फभरोणानिअभूमिगअसाह सूणसु विण्णत्तिं ।
गोलातडविअडकुडङ्गमहुअ सणिअं गलिज्जासु ॥ ३ ॥

[वहुपुष्पभरावनमितभूमिगतशाख श्रृणु विज्ञप्तिम् ।
गोदातटविकटनिकुञ्जमधूक ! शनैर्गलिष्यसि ॥]

मधूक (महुआ) के पुष्पों को चुनने के वहाने गोदावरी-तट पर निकुञ्ज-स्थित विशाल मधूकवृक्ष के नीचे विलम्ब तक सुरत-सुख की कामिनी कोई कुलटा मधूक वृक्ष को आमन्त्रित करने के वहाने अपने प्रच्छन्न प्रणयी को इस प्रकार निमन्त्रण देती है—

"वहुत से पुष्पों के भार से झुके होने के कारण पृथ्वी का स्पर्श करती हुई

शाखों वाले ! गोदावरी के तट पर वर्तमान विशाल कुञ्ज में स्थित मधूक वृक्ष ! मेरी विज्ञप्ति सुनो । देखो, शनैः शनैः विगलित होना । (धीरे-धीरे अपने पुष्पों को टपकाना जिससे उनके धूलि में सने बिना ही मैं उन्हें लपक सकूं)

उपपति के प्रति व्यङ्ग्य यह है कि "बहुत दिनों से समागम न होने के कारण अत्यन्त उत्कण्ठित और प्रवृद्धवीर्य होने पर भी गोदावरी के किनारे के विकट और निर्जन कुञ्ज में सघन मधूक-वृक्ष के नीचे पुष्पावचय के वहाने आने पर मेरे साथ चिरकाल तक रमण करते हुए धीरे-धीरे स्खलित होना ।"

णिप्पच्छिमाइँ असई दुःखालोआइँ महुअपुप्फाइं ।
चीए बन्धुस्स व अट्ठिआइं रुअई समुच्चिणइ ॥ ४ ॥

[निःपश्चिमान्यसती दुःखालोकानि मधूकपुष्पाणि ।
चितायां बन्धोरिवास्थीनि रुदती समुच्चिनोति ॥]

मधूकपुष्प चुनने के वहाने घर से जाकर गुप्त प्रणय का आस्वादन करने वाली असती को रोते-रोते अन्तिम वार विरल पुष्पों को चुनते हुए देखकर कोई सहृदय अपने साथी से कहता है—

असती महुए के अन्तिम फूलों को, जो कठिनाई से ही (कहीं कहीं) दीख पड़ते हैं, रोती हुई इस प्रकार चुन रही है मानो अपने किसी प्रिय की अस्थियाँ ही चिता से चुन रही हो ।

बन्धु की अस्थियाँ चुनने की उत्प्रेक्षा से जहाँ नायिका की मार्मिक मनोव्यथा की अभिव्यञ्जना होती है वहाँ अमङ्गलरूप अश्लीलत्व दोष भी स्पष्ट ही है ।

ओ हिअअ ! मडहसरिआजलरअहीरन्त दीहदारु व्व ।
ठाणे ठाणे व्विअ लग्गमाण केणावि डज्झिहसि ॥ ५ ॥

[हे हृदय ! स्वल्पसरिज्जलरयह्रियमाणदीर्घदारुवत् ।
स्थाने स्थाने एव लगत्केनापि धक्ष्यसे ॥]

अन्य सुन्दरियों में आसक्त होने के कारण नायक की वातों का विश्वास न करती हुई नायिका को अनुकूल करने के लिये नायक विदग्धता के साथ अपने हृदय को संवोधित करके कहता है—

'हे हृदय ! यदि तू नदी के अत्यन्त क्षीण जलप्रवाह द्वारा वहाकर लिये जाते हुए दीर्घ काष्ठ के समान स्थान-स्थान पर लगता रहा तो किसी के द्वारा जला दिया जायगा' ।

अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार नदी की क्षीण सी जलधारा में लकड़ी का कोई लट्ठा गिर कर वहने लगे तो स्थान-स्थान पर रुक जाता है और कोई आदमी उसे निकाल कर ईंधन वनाकर जला डालता है, उसी प्रकार यदि तनि

बहुत प्रणय प्रदर्शित करने वाली सुन्दरियों से ही जहाँ-तहाँ हृदय लगाता रहा तो उनमें से कोई उसे विरह, तिरस्कार आदि की ज्वाला में जला ही डालेगी। इस प्रकार स्वल्पस्नेहवती सुन्दरियों में मेरा उदार हृदय कहीं विश्रान्ति न पा सका, न कि रूप के लोभ के कारण वह एक के बाद दूसरी के पीछे भटकता रहा। उपर्युक्त प्रकार की कामिनियों के फँदे में पड़कर मुझे अपना हृदय जलाना थोड़े ही है। अब तुम मेरे उदार हृदय के ही सदृश उदार-प्रणया मिल गई हो। अतः वह एकान्त भाव में तुम में ही रम जायगा।' नायिका के प्रति नायक का यह आश्वासन ध्वनित है।

जो तीएँ अहरराओ रत्ति उव्वासिओ पिअअमेण।
सो व्विअ दीसइ गोसे सवत्तिणअणेसु संकन्तो ॥ ६ ॥

*[यतस्या अधररागो रात्रावुद्वासितः प्रियतमेन।
स एव दृश्यते प्रातः सपत्नीनयनेषु संक्रान्तः ॥]*

नायिका की सखी अपनी सखी-गोष्ठी में उसके सौभाग्य की प्रशंसा करती हुई कहती है—

'रात्रि में प्रियतम ने उसके अधर की जो लालिमा (अपने चुम्बनों से) हटा दी थी वह प्रातः काल ही (रात्रि में नायिका की सुरत क्रीडाओं के कारण ईर्ष्यावश) सपत्नियों के नेत्रों में संक्रान्त देखी जाती है।'

राग पहले नायिका के अधर में था, अब सपत्नियों के नयनों में पहुँच गया। इस पर्याय अलङ्कार के द्वारा 'अन्य सपत्नियों की अपेक्षा नायिका की सौभाग्यशालिता ध्वनित है।

गोलाअडट्ठिअं पेच्छिऊण गहवइसुअं हलिअसोण्हा।
आढत्ता उत्तरिउं दुःखुत्ताराएँ पअवीए ॥ ७ ॥

*[गोदावरीतटस्थितं प्रेक्ष्य गृहपतिसुतं हलिकस्नुषा।
आरब्धा उत्तरीतुं दुःखोत्तारया पदव्या ॥]*

अपने पति को गोदावरी के तट पर स्थित देखकर हलिकवधू (उसके प्रेम की परीक्षा लेने के लिये) कठिनता से पार किये जा सकने वाले मार्ग से पार जाने लगी। 'नदी की धारा में पैर लड़खड़ाने पर यह मुझे अपने हाथ का अवलम्ब देगा और वह निकलने पर तो मेरे शरीर को अपने हाथों पर ही सँभाल कर लायेगा' इस प्रकार स्पर्शजन्य-सुख की प्राप्ति से लिए नायिका अपने आपको इतनी जोखिम में डालती है जिससे प्रिय के प्रति उसके अनुराग का अतिशय व्यञ्जित है।

चलणो असनिसण्णस्स तस्स भरिमो अणालवन्तस्स।
पाअङ्गुट्ठावेट्ठिअकेसदिढाअड्ढणसुहेल्लिं ॥ ८ ॥

*[चरणावकाशनिषण्णस्य तस्य स्मरामोऽनलपतः।
पादाङ्गुष्ठावेष्टितकेशदृढाकर्षणसुखम् ॥]*

प्रियतम के गुणों का स्मरण करके कोई स्वाधीनपतिका विरहिणी अपनी सखी से कहती है—

(अत्यधिक मानवश प्रिय की मनुहारों को मैंने ठुकरा दिया। इसके पश्चात् मुझे मनाने के लिये मेरे) चरणों में विना कुछ बोलते हुए चुपचाप पड़े प्रिय के केशों को पैर के अँगूठे से लपेट कर जोर से खींचने पर जो सुखदायक क्रीडा हुई, उसे अबभी याद किया करती हूँ।

फालेइ अच्छभल्लं व उवह कुग्गामदेउलद्दारे ।
हेमन्तआलपहिओ विज्झाअन्तं पलालग्गि ॥ ९ ॥

[पाटयत्यच्छभल्लमिव पश्यत कुग्रामदेवकुलद्वारे ।
हेमन्तकालपथिको विध्मायमानं पलालाग्निम् ॥]

'देखो, हेमन्तकाल में पथिक कुत्सित गाँव में देवमन्दिर के द्वार पर पुआल की अग्नि में फूंक लगाता हुआ ऐसा प्रतीत होता है जैसे किसी भालू को फाड़ रहा हो।

गाँव में किसी ने भी उसे ठहरने के लिए स्थान और शीतनिवारण के लिये वस्त्र आदि नहीं दिये; इसीलिये गाँव को कुग्राम कहा गया है। पुआल की अग्नि शीघ्र ही बुझ जाती है जिसके ऊपर काले रंग की छाई (भस्म) छा जाती है और फूंक मारने पर अन्दर लालवर्ण की अग्नि दिखाई देती है। इस प्रकार ऊपर से काले और फूंक मारने पर अन्दर से लाल दिखाई देने वाले ढेर की समता (संभावना) फाड़े जाते हुए भालू से की गई है।

कमलाअरा ण मलिआ हंसा उड्डाविआ ण अ पिउच्छा ।
केणावि गामतडाए अब्भं उत्ताणअं व्वूढं ॥ १० ॥

[कमलाकरा न मृदिता हंसा उड्डायिता न च पितृष्वसः ।
केनापि ग्रामतडागे अभ्रमुत्तानितं क्षिप्तम् ॥]

गाँव के तड़ाग के समीप किसी प्रेमी-युगल का संकेत-स्थान था। नायिका कुछ रात रहे ही अपने वायदे के अनुसार घर यह बात बनाकर कि "दिन निकलने पर लोगों के स्नान आदि से जल गँदला हो जायगा, मैं साफ जल अभी भर लाती हूँ,' संकेतस्थल पर पहुँची किन्तु जार नहीं पहुँच सका। इसके पश्चात् दिन में जब वह दीख पड़ा तो नायिका विदग्धतापूर्वक अपनी बुआ से सरोवर की कथा कहने के बहाने अपने प्रिय को यह सूचित करती है कि 'मैं तो वहाँ गई थी किन्तु तुम नहीं पहुँचे'

'हे बुआ! किसी ने गाँव के तड़ाग में आकाश को उलटा करके डाल दिया है फिर भी न तो कमलों का ही मर्दन हुआ और न ही हँस उड़े हैं। यह कैसी अचरज भरी बात है!'

निर्मल जल में प्रतिबिम्बित आकाश की परछाई में तारे देखकर उसे उल

कर डाला हुआ कहा गया है जिससे 'मैं बहुत सवेरे वहाँ गई थी' नायक के प्रति नायिका का यह अभिप्राय ध्वनित है। 'कमलों का मर्दन नहीं हुआ और हंस नहीं उड़े' से यह व्यञ्जित है कि तुम वहाँ पहुँचे ही नहीं। यदि पहुँचे होते तो हंस चुपचाप न बैठे रहते, घबराहट में उड़ते और कमलों का परिमर्दन भी होता।

केण मणे भग्गमणोरहेण संलाविअं पवासो त्ति।
सविसाइँ व अलसाअन्ति जेण वहुआएँ अङ्गाइं ॥११॥

*[केन मन्ये भग्नमनोरथेन संलपितं प्रवास इति।
सविषाणीवालसायन्ते येन वध्वा अङ्गानि ॥]*

नायक के प्रवास की बात सुनकर खेदवश गृहकार्य से पराङ्मुख वधू को सुनाती हुई सास उपालम्भ के साथ कहती है—

'जान पड़ता है किसी कम्बख्त ने विदेश जाने की बात कह दी है जिससे वधू के अङ्ग इस प्रकार अलसा रहे हैं जैसे उनमें विष का संचार हो रहा हो।'

अज्जवि वालो दामोअरो त्ति इअ जम्पिए जसोआए।
कह्णमुहपेसिअच्छं णिहुअं हसिअं वअवहूहि ॥१२॥

*[अद्यापि बालो दामोदर इति जल्पिते यशोदया।
कृष्णमुखप्रेषिताक्षं निभृतं हसितं व्रजवधूभिः ॥]*

कृष्ण की शिकायत होने पर बालक कह कर उसका पक्ष लेती हुई यशोदा का वात्सल्य और गोपियों द्वारा कृष्ण के साथ अनुभूत प्रणयरस की अभिव्यक्ति करता हुआ कवि कहता है—

'दामोदर तो अभी बालक ही है' यशोदा के यह कहने पर व्रजवधुएँ कृष्ण के मुख पर दृष्टि डाल कर चुपचाप हँस पड़ीं।

'दामोदर' शब्द से मक्खन आदि चुराने पर जिस प्रकार पहले दाम (रस्सी) से बाँध दिया जाता था उसी प्रकार अब भी बाँधा जा सकता है' यह पूर्व कथा और उससे पुष्ट बालकत्व की प्रतीति यशोदा के वात्सल्य को ध्वनित करती है। कृष्ण के मुख पर दृष्टि डाल कर व्रजवधुओं का हँसना कृष्ण के साथ उनके अनेक प्रकार की सुरतक्रीडाओं के अनुभव और कृष्ण की कामकलाकुशलता का व्यञ्जक है। चुपचाप हँसने से व्रजाङ्गनाओं की विदग्धता और रहस्यगोपन स्पष्ट ध्वनित हैं।

ते विरला सप्पुरिसा जाणं सिणेहो अहिण्णमुहराओ।
अणुदिअहवड्ढमाणो रिणं व पुत्तेसु संकमइ ॥१३॥

*[ते विरलाःसत्पुरुषा येषां स्नेहोऽभिन्नमुखरागः।
अनुदिवसवर्धमान ऋणमिव पुत्रेषु संक्रान्तः ॥]*

वे सत्पुरुष विरल ही होते हैं जिनका स्नेह मुख के (स्नेह-जनित) राग

(प्रसन्नता) को परिवर्तित न करता हुआ तथा प्रतिदिन वृद्धि को प्राप्त होता हुआ ऋण के समान पुत्रों में संक्रान्त हो जाता है। अभिप्राय यह है कि सज्जन पुरुषों का प्रेम पीढी दर पीढी चलता रहता है। उसमें कभी कमी नहीं आती प्रत्युत बढोतरी होती रहती है।

णच्चणसलाहणणिहेण पासपरिसंठिआ णिउणगोवी।
सरिसगोविआणँ चुम्बइ कवोलपडिमागअं कह्णम्॥ १४॥

[नर्तनश्लाघननिभेन पार्श्वपरिसंस्थिता निपुणगोपी।
सदृशगोपीनां चुम्बति कपोलप्रतिमागतं कृष्णम्॥]

'विदग्धा कामिनी अपने प्रेमभाव की अभिव्यक्ति और गोपन चतुराई के साथ करती हैं' यह सीख देती हुई कोई अनुभवी सुन्दरी अपनी सखी से कहती है—

'(कृष्ण पर अनुरक्त अन्य गोपियों के) पास में स्थित निपुण गोपी अपने ही समान (कृष्ण पर आसक्त तथा पास में स्थित) गोपियों के नृत्य की प्रशंसा करने के बहाने उनके कपोलों पर प्रतिबिम्बित कृष्ण को चूम लेती है।' (और इस प्रकार अन्य गोपियों से कृष्ण के प्रति अपने प्रणयभाव को छिपा लेती है तथा कृष्ण के प्रति व्यक्त कर देती है)

किसी की कलाचातुरी की प्रशंसा के रूप में समवयस्काओं का उसे चूम लेना लोक में देखा जाता है। यह भी हो सकता है कि गोपियों के नृत्य की एक दूसरी के कान में प्रशंसा करने के बहाने वह उनके कपोलगत कृष्ण के प्रतिबिम्ब को चूम लेती है। कपोलों पर कृष्ण के प्रतिबिम्बित होने से गोपियों के लावण्य, चिक्कणता आदि सौन्दर्य-प्रतिपादक गुणों की प्रतीति स्पष्ट है'

सव्वत्थ दिसामुहपसारिएहिँ अण्णोण्णकडअलग्गेहिं।
छल्लिं व्व मुअइ विञ्झो मेहेहिँ विसंघडन्तेहिं॥ १५॥

[सर्वत्रदिशामुखप्रसृतैरन्योन्यकटकलग्नैः।
छल्लीमिव मुञ्चति विन्ध्यो मेघैर्विसंघटमानैः॥]

चारों ओर फैले हुए तथा कटक (पर्वत के पार्श्वदेश) में एक दूसरे से सटकर मिले हुए बादलों के छितराने के समय विन्ध्याचल ऐसा प्रतीत होता है जैसे अपने ऊपर की छाल (त्वचा) को छोड़ रहा हो।

आलोअन्ति पुलिन्दा पव्वअसिहरट्ठिआ धणुणिसण्णा।
हत्थिउलेहिँ व विञ्झं पूरिज्जन्तं णवब्भेहिं॥ १६

[आलोकयन्ति पुलिन्दाः पर्वतशिखरस्थिता धनुर्निषण्णाः।
हस्तिकुलैरिव विन्ध्यं पूर्यमाणं नवाभ्रैः॥]

धनुष का सहारा लेकर पर्वत के शिखर पर स्थित पुलिन्द (भील) नवीन

मेघों द्वारा घिरते हुए विन्ध्य को हाथियों के समूहों से भरता हुआ सा देखते हैं।

वणदवमसिमइलङ्गो रेहइ विञ्झो गणेहिं धवलेहिं।
खीरोअमन्थणुच्छलिअदुद्धसित्तो व्व महुमहणो ॥ १७ ॥

[वनदवमषीमलिनाङ्गो राजते विन्ध्यो घनैर्धवलैः।
क्षीरोदमथनोच्छलितदुग्धसिक्त इव मधुमथनः ॥]

दावानल की स्याही (धुएँ) से मलिन अङ्गों वाला विन्ध्य श्वेत बादलों से इस प्रकार शोभित होता है जैसे क्षीरसागर को मथने से उछले हुए दूध से सने हुए विष्णु।

वन्दीअ णिहअबन्धवविमणाइ पि पवलो त्ति चोरजुआ।
अणुराएण पलोइओ गुणेसु को मच्छरं वहइ ॥ १८ ॥

[वन्द्या निहतबान्धवविमनस्कयापि प्रवीर इति चोरयुवा।
अनुरागेण प्रलोकितो गुणेषु को मत्सरं वहति ॥]

बान्धवों के मारे जाने से खिन्न बन्दी बनाई हुई सुन्दरी ने चोर युवा (बल-पूर्वक अपहरण करने वाले युवक) को वीर होने के कारण अनुराग से देखा। (सच है) गुणों से कौन ईर्ष्या करता है ?

अज्ज कइमो वि दिअहो वाहवहू रूवजोव्वणुम्मत्ता।
सोहग्गं धणुरुम्पच्छलेण रच्छासु विक्किरइ ॥ १९ ॥

[अद्य कतमोऽपि दिवसो व्याधवधू रूपयौवनोन्मत्ता।
सौभाग्यं धनुस्तष्टत्वक्छलेन रथ्यासु विकिरति ॥]

आज कितने ही दिन बीते कि रूप और यौवन से उन्मत्त व्याध-वधू धनुष की त्वचा (छीलन, बुरादा) के छल से अपने सौभाग्य को गलियों में फेंक रही है।

व्यञ्जना यह है कि पत्नी के रूप और यौवन के सम्मोहन में फँसा हुआ व्याधयुवक सदैव विलासरत रहता हुआ प्रतिदिन क्षीण और दुर्बल होता जा रहा है जिसके कारण उसे आये दिन अपने भारी धनुष को छील कर हलका कराना पड़ता है जिसकी छीलन को व्याधपत्नी गली में फेंक देती है। इस प्रकार मानो वह अपने सौभाग्य को ही गली में बिखेरती है। स्वाधीनपतिका होने के कारण उसका सौभाग्य इतना अधिक है कि वह उसे सँभाल ही नहीं पाती। इस प्रकार उसके सौभाग्य का अत्यन्त आधिक्य व्यञ्जित है अथवा पति के प्रतिदिन क्षीण होते जाने के कारण वह अपने सौभाग्य को गलियों में फेंक रही है (कम कर रही है) और धीरे-धीरे वीर-वधू होने का जो सौभाग्य उसे प्राप्त है उसे समाप्त कर रही है।

उवसिप्पइ मण्डलिमारुएण गेहङ्गणाहि वाहीए।
सोहग्गधअवडाअ व्व उअह धणुरुम्परिञ्छोली ॥ २० ॥

[उत्क्षिप्यते मण्डलीमारुतेन गेहाङ्गणाद्व्याधस्त्रियाः ।
सौभाग्यध्वजपताकेव पश्यत धनुःसूक्ष्मत्वक्पंक्तिः ॥]

देखो, मण्डलाकार वायु (वातचक्र) व्याध के घर के आँगन से धनुष की हलकी हलकी छीलन की पंक्ति को मानो व्याधपत्नी की सौभाग्यपताका के रूप में उठा रहा है।

गअगण्डत्थलणिहसणमअमइलीकअकरञ्जसाहाहिं ।
एत्तीअ कुलहराओ णाणं वाहीअ पइमरणं ॥ २१ ॥

[गजगण्डस्थलनिघर्षणमलिनीकृतकरञ्जशाखाभिः ।
आगच्छन्त्या कुलगृहाज्ज्ञातं व्याधस्त्रिया पतिमरणम् ॥]

पिता के घर से आती हुई व्याधपत्नी को हाथियों द्वारा गण्डस्थल रगड़ने के कारण मद से मलिन हुई करञ्ज की शाखाओं से ही पति का मरण ज्ञात हो गया। अर्थात् उसके जीते जी हाथी कभी इतनी स्वच्छन्दता के साथ विचरण और क्रीड़ा नहीं कर सकते थे। इस प्रकार व्याध का शौर्य व्यञ्जित है।

'पति घर से आती हुई' शब्दों से प्रतीत है कि पत्नी से वियोग होने के कारण ही उसकी मृत्यु हुई। अतः पत्नी के प्रति उसके अनुराग की पराकाष्ठा ध्वनित है।

णववहुपेम्मतणुइओ पणअं पढमघरणीअ रक्खन्तो ।
आलिहिअदुप्परिल्लं पि णेइ रण्णं धणुं वाहो ॥ २२ ॥

[नववधूप्रेमतनूकृतः प्रणयं प्रथमगृहिण्या रक्षन् ।
तनूकृतदुराकर्षमपि नयत्यरण्यं धनुर्व्याधः ॥]

'जंगली आदमी भी किसी से कभी किये हुए प्रेम की लाज रखते हैं, सहृदयों का तो कहना ही क्या'? उदाहरणपूर्वक यह समझाती हुई दूती प्रथम पत्नी से विमुख नायक से कहती है—

'नववधू के प्रेम के कारण (उसकी रति एवं पितृगृह चले जाने के कारण) दुर्बल व्याध पहली पत्नी के प्रणय की रक्षा करता हुआ हलका करने पर भी (व्याध की निजी दुर्बलता के कारण) कठिनाई से ही खींचे जाने योग्य धनुष को (शिकार करने के लिये) वन ले जाता है'।

व्यञ्जना यह है कि दीर्घ विरह के पश्चात् नवयौवना वधू को प्राप्त करके भी वनवासी व्याध तक अपनी पहली पत्नी के प्रणय की रक्षाहित, दुराकर्ष धनुष को लेकर गहन वन में प्रवेश करता है, और एक तुम हो कि शिक्षित होते हुए भी अपनी सहज अनुरक्त प्रथम प्रेयसी को एकदम भूल गये।

[हासितो जनः श्यामया प्रथमं प्रसूयमानया ।
वल्लभवादेनालं ममेति बहुशो भणन्त्या ॥]

प्रथम प्रसव के समय सुन्दरी वाला ने अनेक प्रकार से यह कहते हुए कि 'अब मैं प्रिय की बात भी न करूँगी,' लोगों को हँसा दिया ।

कइअवरहिअं पेम्मं णत्थि व्विअ मामि माणुसे लोए ।
अह होइ कस्स विरहो विरहे होतम्मि को जिअइ ॥ २४ ॥

[कैतवरहितं प्रेम नास्त्येव मातुलानि मानुषे लोके ।
अथ भवति कस्य विरहो विरहे भवति को जीवति ॥]

प्रवासी प्रियतम के आने में विलम्ब होने पर दुःखी होती हुई प्रोषित-पतिका धीरज बँधाने वाली मामी से कहती है—

'हे मामी ! मनुष्य लोक में निश्छल प्रेम तो कहीं है ही नहीं, अगर (निश्छल प्रेम) होता तो फिर किसका विरह होता और विरह होने पर कौन जीवित रहता ?

'वह मेरे वियोग में और मैं उसके विरह में जीवित हूँ । अतः निश्छल प्रेम है ही नहीं । 'मनुष्य लोक' शब्दों से कैतव-रहित प्रेम की लोकोत्तरता व्यञ्जित है ।

अच्छेरं व णिहिं विअ सग्गे रज्जं अमअपाणं व ।
आसी म्ह तं मुहुत्तं विणिअंसणदंसणं तीए ॥ २५ ॥

[आश्चर्यमिव निधिमिव स्वर्गे राज्यमिवामृतपानमिव ।
आसीदस्माकं तन्मुहूर्तं विनिवसनदर्शनं तस्याः ॥]

किसी सुन्दरी के स्नान काल में वस्त्र के हटने से अनावृत अङ्गों के सौन्दर्य का पान कर कोई विलासी अपनी अनुभूति को इन शब्दों में प्रकट करता है—

'क्षण भर के लिए उसका अनावृत्त अङ्गदर्शन हमारे लिए अद्‌भुत जैसा, निधि जैसा, स्वर्ग के राज्य जैसा और अमृत पान जैसा था ।'

सा तुज्झ वल्लहा तं सि मज्झ वेसो सि तीअ तुज्झ अहं ।
बालअ फुडं भणामो पेम्मं किल बहुविआरं त्ति ॥ २६ ॥

[सा तव वल्लभा त्वमसि मम द्वेष्योऽसि तस्यास्तवाहम् ।
बालक ! स्फुटं भणामः प्रेम किल बहुविकारमिति ॥]

अन्यासक्त नायक को अनुकूल करने के लिए नायिका कहती है—

'वह तुम्हारी प्रिया है और तुम मेरे प्रिय हो । (स्वयं अन्य पुरुष में आसक्त होने के कारण) वह तुमसे (प्रेम नहीं) द्वेष करती है और तुम (उसमें आसक्त होने के कारण) मुझ से द्वेष करते हो । हे बालक के समान उचित-अनुचित को न समझने वाले ! हम साफ कहते हैं कि प्रेम (स्वभाव के भेद से) बहुत विकार उत्पन्न करता है ।

'मुझ अनुरागिनी का त्याग करके उस अन्य-पुरुषासक्त कुलटा के प्रति तुम्हारी आसक्ति कहाँ तक उचित है ? यह तुम ही ठण्डे दिल से सोच लो' नायक के प्रति नायिका का यह उपालम्भ स्पष्ट ध्वनित है।

अहअं लज्जालुइणी तस्स अ उम्मच्छराइँ पेम्माइं।
सहिआअणो वि णिउणो अलाहि किं पाअराएण ॥२७॥

[अहं लज्जालुस्तस्य चोन्मत्सराणि प्रेमाणि।
सखीजनोऽपि निपुणोऽपगच्छ किं पादरागेण ॥]

कोई स्वाधीनपतिका प्रिय की अपने प्रति नितान्त आसक्ति, अपनी लज्जा और सौभाग्य को प्रकट करती हुई महावर लगाने के लिये आयी हुई नाइन से कहती है—

'मैं लज्जालु हूँ और प्रियतम का प्रणय तनिक से भी विलम्ब को सहन करने में असमर्थ है। सखीजन भी निपुण हैं। दूर हट, पैरों में महावर लगाने की आवश्यकता ही क्या है ?'

'प्रिय प्रणयकेलि में विलम्ब न सह सकने के कारण महावर लगे चरणों से ही मुझे सुरत क्रिया में लगा लेंगे, जिससे प्रिय के उदर आदि पर निशान लग जाने से निपुण सखियाँ सब कुछ ताड़ जायेंगी और मुझे लज्जित करेंगी। मैं तो स्वभाव से ही लजीली हूँ। चरणों में स्वाभाविक लालिमा की भी तो कमी नहीं है। इसलिए महावर लगाना बेकार है।' इस प्रकार नायिका का सौभाग्यगर्व एवं रूपगर्व व्यञ्जित है।

महुमासमारुआहअमहुअरझंकारणिब्भरे रण्णे ॥
गाअइ विरहक्खराबद्धपहिअमणमोहणं गोवी ॥ २८ ॥

[मधुमासमारुताहतमधुकरझङ्कारनिर्भरेऽरण्ये ।
गायति विरहाक्षराबद्ध-पथिकमनोमोहनं गोपी ॥]

'तुम्हारी प्रतीक्षा में वह संकेत-स्थल पर अपने उत्कण्ठित मन को गीत गाकर कथंचित् बहला रही है'। नायक को यह सूचित करती हुई दूती कहती है—

'मधुमास के वायु से छेड़े हुए भ्रमरों की झंकार से मुखरित वन में गोपी विरहसूचक अक्षरों से आकृष्ट पथिकों के मन को अचेत करती हुई गाती है'। मधुमास की वायु और मधुकरों की झंकार विरह को अत्यधिक उद्दीप्त करती है जिसकी असह्य व्यथा को सह्य बनाने के लिए उहेट पर स्थित कामिनी विरह के गीत गा उठती है। उद्दीपक वासन्ती वातावरण में विरह के करुण संगीत की धारा में प्रवासी पथिकों का मन डूब कर अचेत हो जाता है और वे अपनी प्रेयसी की वियोगव्यथा का अनुमान करके और दुःखित होते हैं। इस प्रकार 'स्वतः दुःख में डूबी हुई तथा अन्य पथिकों की विरहव्यथा को ताजा करती हुई कामिनी को जाकर सुरतक्रीड़ाओं से

प्रसन्न करो।' नायक के प्रति यह प्रोत्साहन ध्वनित है।

तह माणो माणवणाएँ तीअ एमेअ दूरमणुवद्धो।
जह से अणुणीअ पिओ एक्कग्गाम व्विअ पउत्थो ॥ २९ ॥

[तथा मानो मानधनया तयैवमेव दूरमनुबद्धः।
यथा तस्या अनुनीय प्रिय एकग्राम एव प्रोषितः ॥]

नायिका को अधिक मान न करने की शिक्षा देती हुई सखी किसी अन्य कलहान्तरिता का उदाहरण देकर अत्यधिक मान की हानि बतलाती है—

उस मानिनी ने यों ही (व्यर्थ ही, अकारण ही) मान का बँधान इतनी दूर तक बाँधा कि उसका प्रिय अनुनय-विनय करके एक गांव में (उसी गांव में) रहता हुआ भी प्रवासी हो गया। अर्थात् अननुनय-विनय करने पर भी नायिका ने मान न छोड़ा तो वह उसकी ओर से उदासीन होकर अलग रहने लगा।

सालोए व्विअ सूरे घरिणी घरसामिअस्स घेत्तूण।
णेच्छन्तस्स वि पाए धुअइ हसन्ती हसन्तस्स ॥ ३० ॥

[सालोक एव सूर्ये गृहिणी गृहस्वामिनो गृहीत्वा।
अनिच्छतोऽपि पादौ धावति हसन्ती हसतः ॥]

'चतुर प्रेयसियाँ प्रियतम की अन्यासक्ति को चतुर चेष्टाओं द्वारा ही दूर करती हैं, कलह करके नहीं' यह उपदेश देती हुई सखी नायिका के सामने किसी महिला का उदाहरण प्रस्तुत करती है—

'सूर्य के प्रकाश के शेष रहते रहते ही (सूरज छिपता भी नहीं कि) हँसती हुई गृहिणी हँसते हुए अनिच्छुक गृहस्वामी के पैरों को पकड़कर धो देती है।'

सोने से पहले पैर धो लेना स्मृतिविहित आचार है। नायिका सूर्य के छिपने से पहले ही पति के चरणों को धो देती है और इस प्रकार उसे बाहर न जाने देकर सोने के लिए विवश करती है। पति उसके मनोभाव को जानकर हँस पड़ता है। घर पर ही बिस्तर पर जाने की उसकी इच्छा नहीं होती क्योंकि वह अन्य प्रेमिका के पास जाना चाहता है किन्तु नायिका की चतुराई के सामने उसकी एक नहीं चलती। चतुर गृहिणी के तात्पर्य और अपनी दाक्षिण्य-जनित विवशता को देखकर वह हँस पड़ता है और पत्नी भी उसके मनोभाव को समझकर हँसी का उत्तर हँसी से ही देती है, कलह से नहीं।

वाहरउ मं सहीओ तिस्सा गोत्तेण किं त्थ भणिएण।
थिरपेम्मा होउ जहिं तहिं पि मा किं पि णं भणह ॥ ३१ ॥

[व्याहरतु मां सख्यस्तस्या गोत्रेण किमत्र भणितेन।
स्थिरप्रेमा भवतु यत्र तत्रापि मा किमप्येनं भणत ॥]

नायक ने नायिका को भ्रान्तिवश अपनी अन्य प्रेमिका के नाम से पुकारा तो नायिका की सखियों ने उसे सीवे उलाहने देने आरम्भ किये। इस प्रकार नायिका बोली—

सखियो ! यह मुझे उसी (अन्य प्रेयसी) के नाम से पुकारे। नाम लेने की इस छोटी सी बात के विषय में कुछ कहने से क्या ? (वह व्यर्थ है) अतः इससे कुछ न कहो। यह (कम से कम) किसी एक में तो स्थिर-प्रेम रहे। अभिप्राय यह है कि 'पहले यह मुझ से अत्यन्त प्रेम करता था किन्तु अब विमुख होकर अन्य नायिका में आसक्त है। इतना आसक्त कि सर्वत्र वही दिखाई देती है और मुझे भी उसी के नाम से पुकारता है'। चलो, इसे उसी में दृढ प्रम रखने दो। किन्तु इसका प्रेम स्थिर नहीं है। जेसे मुझे उपेक्षित कर दिया ऐसे ही उसकी उपेक्षा भी कर देगा। ऐसे अस्थिर प्रणय के प्रति उपालम्भ ही क्या देना ?

रूअं अच्छीसु ठिअं फरिसो अङ्गेसु जम्पिअं कण्णे।
हिअअं हिअए णिहिअं विओइअं किं त्थ देवेण ॥ ३२ ॥

[रूपमक्ष्णोः स्थितं स्पर्शोऽङ्गेषु जल्पितं कर्णे।
हृदयं हृदये निहितं वियोजितं किमत्र दैवेन ॥]

अन्य नायक की ओर आकृष्ट करने के लिए प्रयत्नशील कुटनी से साध्वी प्रोषितपतिका कहती है—

'प्रियतम का रूप नयनों में स्थित है तथा स्पर्श अङ्गों में, वचन कानों में और हृदय हृदय में निहित है। दैव ने वियुक्त कर क्या दिया' ? व्यञ्जना यह है कि प्रियतम के रूप, स्पर्श, वचन और प्रेम का मुझे निरन्तर ध्यान बना रहता है जिससे मुझे विरह की वेदना अधिक नहीं सताती। दैव भी हमारा वियोग न करा सका, तू बेचारी तो किस खेत की मूली है ? चल अपना रास्ता नाप।

सअणे चिन्तामइअं काऊण पिअं णिमीलिअच्छीए।
अप्पाणो उवऊढो पसिठिलवलआहिँ वाहाहिँ ॥ ३३ ॥

[शयने चिन्तामयं कृत्वा प्रियं निमीलिताक्ष्या।
आत्मा उपगूढः प्रशिथिलवलयाभ्यां बाहुभ्याम् ॥]

प्रोषितपतिका की सखी उसके पति के पास जाते हुए पथिक के हाथों संदेश भेजती है—

"शयन (पर्यङ्क, पलंग) पर आँखें मूंदकर भावना द्वारा प्रियतम की कल्पना करके उसने (विरह-जनित दुर्बलता के कारण) वलय निकली हुई भुजाओं से अपना ही आलिङ्गन कर लिया। अर्थात् भावना द्वारा कल्पित प्रिय के आलिङ्गन के लिये बढाई हुई भुजाएँ स्वयं उसके वक्ष के आलिङ्गन में जकड़ गई।

[भवन्त्यपि निष्फलैव धनर्द्धिर्भवति कृपणपुरुषस्य ।
ग्रीष्मातपसंतप्तस्य निजकच्छायेव पथिकस्य ॥]

कृपण पुरुष की धन-समृद्धि होती हुई भी नहीं के बराबर (निष्फल) ही होती है जिस प्रकार ग्रीष्म की धूप से संतप्त पथिक के लिये अपनी छाया ।

फुरिए वामच्छि तुए जइ एहिइ सो पिश्रोज्ज ता सुइरं ।
संमीलिश्र दाहिणश्रं तुइ श्रवि एहं पलोइस्सं ॥ ३७ ॥

[स्फुरिते वामाक्षि त्वयि यद्येष्यति स प्रियोऽद्य तत्सुचिरम् ।
संमील्य दक्षिणं त्वयैवैतं प्रेक्षिष्ये ॥]

बाँये नेत्र के फड़कने पर प्रोषितपतिका कहती है—

"अयि वामनेत्र ! तुम्हारा स्पन्दन होने पर यदि प्रियतम आज ही आजायेंगे (अर्थात् यदि तुम्हारा स्पन्दन आज प्रियतम के शुभ आगमन का सूचक सिद्ध हुआ) तो दक्षिण नयन को मूँद कर देर तक तुझ से ही उनका दर्शन करूंगी ।"

स्त्रियों के वामनेत्र का स्पन्दन शुभसूचक शकुन माना जाता है । शुभशकुन की सूचना देने के कारण पुरस्कार स्वरूप नायिका वामनेत्र को ही प्रिय के सुचिर-दर्शन का अवसर पहले देना चाहती है । प्रियतम के दर्शन के प्रति उसकी अतिशय उत्कण्ठा व्यञ्जित है ।

सुणश्रपउरम्मि गामे हिण्डन्ती तुह कएण सा बाला ।
पासश्रसारिव्व घरं घरेण कइश्रा वि खज्जिहिइ ॥ ३८ ॥

[शुनकप्रचुरे ग्रामे हिण्डमाना तव कृतेन सा बाला ।
पाशकशारीव गृहं गृहेण कदापि खादिष्यते ॥]

अन्य कामुक से नायिका के संपर्क का भय दिखाकर तथा नायक के प्रति उसका अतिशय अनुराग प्रदर्शित कर उसकी ओर आकृष्ट करती हुई दूती कहती है,

"तुम्हारे कारण बहुत से कुत्तों वाले गाँव में चौपड़ की सार की भाँति एक घर से दूसरे घर घूमती हुई वह कभी (किसी कुत्ते के द्वारा) खा ली जायेगी ।

'कुत्तों के समान फिरते हुए बहुत से कामुकों में से कोई अवसर पाकर किसी न किसी दिन तुम्हारे प्रेम के लिये उत्कण्ठित फिरती हुई इस नवयौवना को अपने चंगुल में फँसा लेगा । अतः ऐसा अनिष्ट होने के पूर्व ही तुम उसे अपना लो' । नायक के प्रति यह चेतावनी तथा 'उसे तुम्हारे सामने अन्य कामुक कुत्ते जैसे दिखाई पड़ते हैं' नायिका का यह अतिशय प्रणय एवं मान भी ध्वनित है ।

श्रण्णण्णं कुसुमरसं जं किर सो महइ महुश्ररो पाउं ।
तं णीरसाणं दोसो कुसुमाणं णेश्र भमरस्स ॥ ३९ ॥

[अन्यमन्यं कुसुमरसं यत्किल स इच्छति मधुकरः पातुम् ।
तन्नीरसानां दोषः कुसुमानां नैव भ्रमरस्स ॥]

कलहान्तरिता की दशा सूचित करती हुई दूती नायक से कहती है—

"वह बेचारी जब तक रोया जा सकता था तब तक रोयी, उसके अङ्ग, जितने हो सकते थे, क्षीण हुए और जब तक उसके श्वासों में शक्ति रही तब तक निःश्वास भी चलते रहे—

व्यङ्ग्य यह है कि तुमसे उपेक्षित होकर रोते रोते उसके अङ्ग इतने क्षीण हो गये हैं कि साँस लेना भी दूभर हो गया है। अतः शीघ्र ही दया करके उसके प्राणों की रक्षा करो।

समसोक्खदुक्खपरिवड्ढिआणं कालेण रूढपेम्माणं।
मिहुणाणं मरइ जं तं खु जिअइ इअरं मुअं होइ ॥ ४२ ॥

*[समसौख्यदुःखपरिवर्धितयोः कालेन रूढप्रेम्णोः।
मिथुनयोर्म्रियते यत्तत्खलु जीवतीतरन्मृतं भवति ॥]*

समान-सुख-दुःख तथा बढे हुए (एक दूसरे के सुख दुःख को अपना समझने वाले) निश्चलप्रेम-युक्त प्रेमीयुगल में से जो मर जाता है वह जीवित रहता है और जो जीवित रहता है वह मर जाता है। अर्थात् मृत्युदुःख की अपेक्षा विरहदुःख अत्यन्त असह्य होता है।

हरिहिइ पिअस्स णवचूअपल्लवो पढममञ्जरिसणाहो।
मा रुवसु पुत्ति पत्थाणकलसमुहसंठिओ गमणं ॥ ४३ ॥

*[हरिष्यति प्रियस्य नवचूतपल्लवः प्रथममञ्जरीसनाथः।
मा रोदीः पुत्रि ! प्रस्थानकलशमुखसंस्थितो गमनम् ॥]*

"वसन्त ऋतु में प्रिय के प्रवासार्थ उद्यत होने के कारण संतप्त प्रवत्स्यत्पतिका बाला को आश्वासन देती हुई कोई प्रौढा कहती है—

'हे पुत्रि ! मत रो, प्रस्थानकालीन मङ्गलघट के मुख पर स्थित प्रथम मञ्जरी से युक्त आम की नवीन कोंपल प्रिय के प्रस्थान का निवारण कर देगी। अर्थात् शकुन के बहाने मेरे द्वारा मङ्गलघट पर स्थापित बौरयुक्त आम की कोंपल को देखने से वसन्त ऋतु के आगमन को जानकर तुम्हारा रसिक प्रियतम प्रस्थान करेगा ही नहीं।'

जो कहँ वि मह सहीहिँ छिद्दं लहिऊण पेसिओ हिअए।
सो माणो चोरिअकामुअ व्व दिट्ठे पिए णट्ठो ॥ ४४ ॥

*[यः कथमपि मम सखीभिश्छिद्रं लब्ध्वा प्रवेशितो हृदये।
स मानश्चोरकामुक इव दृष्टे प्रिये नष्टः ॥]*

सखियों ने नायिका को मान की शिक्षा दी किन्तु वह प्रयत्न करने पर

अनेक कामनियों के प्रिय होने के कारण यदा-कदा ही दर्शन देने वाले नायक के प्रति अपनी विरहवेदना व्यक्त करती हुई विदग्धा नायिका कहती है :—

'हे बहुवल्लभ ! वे स्त्रियाँ धन्य हैं जो तुम से प्रेम नहीं करतीं (क्योंकि तुम्हारे बहुत सी सुन्दरियों में आसक्त होने का उन पर कोई असर नहीं पड़ता और तुम्हारे वियोग में) वे न तो देर तक (जब तक कि तुम्हारा फिर दर्शन होता है) आह ही भरती हैं और न क्षीण ही होती हैं'। तुम्हारे वियोग में मैं रो रो कर सूख गई हूँ। तुम्हें अनेक सुन्दरियों का प्रेम प्राप्त है। पर क्या वह सच्चा प्रेम है ? क्या उनमें से कोई भी मेरे समान तुम्हारे वियोग की व्याधि से पीड़ित रहती है ? उनका प्रेम कृत्रिम है। अतः उन्हें वियोग का दुःख ही नहीं होता। अथवा—तुम उन्हीं के पास रहते हो अतः वे वियोग व्यथा की शिकार नहीं बनतीं। अतः धन्य हैं। मैं तो तुम से सच्चा प्रेम करती हुई भी दुःख ही पा रही हूँ' आदि शिकवा-शिकायत नायक के प्रति व्यङ्ग्य है।

णिद्दालसपरिघुम्मिरतंसवलन्तद्धतारआलोआ ।
कामस्स वि दुव्विसहा दिट्ठिणिवाआ ससिमुहीए ॥ ४८ ॥

[निद्रालसपरिघूर्णत्तिर्यग्वलदर्द्धतारकालोकाः ।
कामस्यापि दुर्विषहा दृष्टिनिपाताः शशिमुख्याः ॥]

चन्द्रमुखी के (सुरत में संलग्न रहने के कारण रात भर जागते रहने से) निद्रावश अलसाये मादक तथा तिरछी चलती हुई पुतलियों (कटाक्ष) से देखने वाले दृष्टि-निपात काम के लिये भी असह्य हैं। अभिप्राय यह है कि कामदेव सब को वश में कर लेता है किन्तु रात्रि भर रमण करने के पश्चात् प्रातःकाल प्रियतमा की प्रेम भरी अलसाई दृष्टि के कटाक्ष उसको भी वश में कर सकते हैं।

जीविअसेसाइ मए गमिआ कहँ कहँ वि पेम्मदुद्दोली ।
एह्लि विरमसु रे डड्ढहिअअ मा रज्जसु कहिँ पि ॥ ४९ ॥

[जीवितशेषया मया गमिता कथं कथमपि प्रेमदुर्दोली ।
इदानीं विरम रे दग्धहृदय ! मा रज्यस्व कुत्रापि ॥]

पूर्व नायक द्वारा वञ्चित नायिका किसी अन्य प्रणयोत्सुक युवक से प्रणय जोड़ने की कामना व्यक्त करने के साथ उस युवक को भी स्थिर प्रेम करने के लिये प्रोत्साहित करती हुई हृदय को संबोधित करने के बहाने कहती है :—

'हे दग्ध (जल गये) हृदय ! अब बाज आ। कहीं भी अनुरक्त न हो। अब प्राणमात्र शेष रहने पर मैंने जैसे-तैसे प्रेम के दुर्मोच्य फंदे से (अब तक निबाहते निबाहते) छुटकारा पाया है'।

'प्रेम के लिये मैंने अनेक बलिदान किये हैं। मेरा प्रेम स्थिर है और ऐसा

ही प्रेम मैं चाहती हूँ'। नायिका के अनासक्त होते हुए भी अपने हृदय को अनुराग करने से निवारण करना आसन्न प्रच्छन्न प्रेमी के प्रति उक्त अभिलाषा और प्रोत्साहन ध्वनित करता है।

अज्जाएँ णवणहक्खअणिरोक्खणे गरुअजोव्वणुत्तुङ्गं ।
पडिमागअणिअणअणुप्पलच्चिअं होइ थणवट्टं ॥ ५० ॥

*[आर्याया नवनखक्षतनिरीक्षणे गुरुकयौवनोत्तुङ्गम् ।
प्रतिमागतनिजनयनोत्पलार्चितं भवति स्तनपृष्ठम् ॥]*

(सुरत क्रिया में प्रियतम द्वारा किये हुए) नवीन नखचिह्न को देखते समय वरवर्णिनी का पूर्ण यौवन के कारण पुष्ट और उत्तुंग कुचमण्डल उसी के प्रतिविम्बित नयन-रूपी नीलकमलों से अर्चित हो जाता है।

कुचमण्डल पर नखचिह्न को देखते समय नयनों का प्रतिविम्बित होना नायिका के सहज मसृण लावण्य और अनुपम आभा की व्यञ्जना करता है।

तं णमह जस्स वच्छे लच्छिमुहं कोत्थहम्मि संकन्तं ।
दीसइ मअपरिहीणं ससिविम्बं सूरबिम्ब व्व ॥ ५१ ॥

*[तं नमत यस्य वक्षसि लक्ष्मीमुखं कौस्तुभे संक्रान्तम् ।
दृश्यते मृगहीनं शशिबिम्बं सूर्यबिम्ब इव ॥]*

काम-कला में अचतुर नव दम्पती को विपरीत रति की शिक्षा देती हुई कोई सखी विदग्धता के साथ कहती है :—

'जिसके वक्षस्थल पर कौस्तुभ मणि में प्रतिविम्बित लक्ष्मी का मुख सूर्य के मण्डल में प्रतिविम्बित मृगचिह्न से रहित चन्द्र-मण्डल के सदृश प्रतीत होता है उस (विष्णु भगवान्) को प्रणाम करो'।

लक्ष्मी के मुख का विष्णु के वक्षस्थल पर शोभित कौस्तुभ में प्रतिविम्बित होना उनके विपरीतरतिसंलग्न होने का व्यञ्जक है। 'देवता लोग भी विपरीतरति के आस्वादन में सब कुछ भूल जाते हैं। वह रस ही अद्भुत है। अतः तुम लोग उससे वञ्चित क्यों रहते हो?' प्रेमी युगल के प्रति सखी की यह प्रेरणा ध्वनित है।

मा कुण पडिवक्खसुहं अणुणेहि पिअं पसाअलोहिल्लं ।
अइगहिअगरुअमाणेण पुत्ति रासि व्व छिज्जिहिसि ॥ ५२ ॥

*[मा कुरु प्रतिपक्षसुखमनुनय प्रियं प्रसादलोभयुतम् ।
अतिगृहीतगुरुकमानेन पुत्रि राशिरिव क्षीणा भविष्यसि ॥]*

लो। हे पुत्रि ! अधिक भारी मान धारण करने से तुम अधिक भारी परिमाण वाले बाट से (तोली जाती हुई) अन्न की राशि (खड़ी बोली 'रास') के समान क्षीण होती चली जाओगी'।

भाव यह है कि तुम्हारे पारस्परिक कलह से तुम्हारी सपत्नियाँ तमाशा देख कर प्रसन्न होती हैं। अपने आप को दुःखी करके उन्हें प्रसन्न होने का अवसर मत दो। तुम्हारे प्रियतम तुम्हारी प्रसन्नता और पक्षपात के इच्छुक हैं। तुम्हारे तनिक मनाते ही प्रसन्न हो जायेंगे। यदि तुम मान धारण ही किये रहीं तो अन्त में अपनी गलती पर पछताओगी और कुढ़-कुढ़ कर दुर्बल हो जाओगी क्योंकि तुम्हारे प्रिय भी तुम से विमुख होकर सपत्नियों में आसक्त हो जायेंगे। नायिका के प्रति 'पुत्रि' संबोधन से अपना स्नेह विश्वसनीयता और सहानुभूति प्रकट करती हुई दूती का उसके प्रति उक्त संबोध अभिव्यञ्जित है।

विरहकरवत्तदूसहफालिज्जन्तम्मि तीअ हिअअम्मि।
अंसू कज्जलमइलं पमाणसुत्तं व्व पडिहाइ ॥ ५३ ॥

*[विरहकरपत्रदुःसहपाट्यमाने तस्या हृदये।
अश्रुकज्जलमलिनं प्रमाणसूत्रमिव प्रतिभाति ॥]*

नायिका की विरहवेदना का निवेदन कर नायक को उससे मिलने के लिये उत्कण्ठित करती हुई दूती कहती है :—

'विरहरूपी आरे के द्वारा बड़ी असह्यता (निर्दयता) के साथ चीरे जाते हुए उसके हृदय पर काजल से मलिन अश्रु (का प्रवाह) प्रमाण-सूत्र के चिह्न (नाप के अनुसार काटने के लिये सूत को रँग कर लगाया हुआ चिह्न) जैसा प्रतीत होता है।'

दुण्णिक्खेवअमेअं पुत्तअ ! मा साहसं करिज्जासु।
एत्य णिहिताइँ मण्णे हिअआइँ पुणो ण लब्भन्ति ॥ ५४ ॥

*[दुर्निक्षेपकमेतत्पुत्रक मा साहसं कार्षीः।
अत्र निहितानि मन्ये हृदयानि पुनर्न लभ्यन्ते ॥]*

किसी अत्यन्त गुणवती विदग्धा नायिका में नायक को अधिकाधिक आसक्त करने के लिये प्रौढ़ा दूती चतुराई के साथ कहती है :—

हे पुत्र ! बुरे स्थान में (जिसके पास रखी हुई वस्तु फिर लौट ही न सके उस व्यक्ति के पास) धरोहर रखने का यह साहस मत करना। यहाँ रखे हुए हृदय फिर वापिस नहीं मिलते। अर्थात् यह नायिका इतनी सुन्दर एवं गुणवती है कि इसके प्रणय का आस्वादन करने वाला अन्य की बात सोच ही नहीं सकता। यदि अनेक विदग्ध हृदय भी एक साथ इसके गुणों को देखें तो सभी इसके चेरे हो जायें।

इस प्रकार नायिका के गुणोत्कर्ष की सूचना निषेध-रूप-वाच्यार्थ की व्यञ्जना

द्वारा विधि-परक बना देती है और नायक के प्रति 'ऐसी दुर्लभ नायिका से तुम्हें अवश्य ही निश्चल प्रेम करना चाहिये' व्यङ्‌ग्यार्थ भासित होता है।

णिव्वुत्तरआ वि वहू सुरअविरामट्ठिइं अणाणन्ती ।
अविरअहिअअ अण्णं पि किं पि अत्थि त्ति चिन्तेइ ॥ ५५ ॥

[निर्वृत्तरतापि वधूः सुरतविरामस्थितिमजानती ।
अविरतहृदयान्यदपि किमप्यस्तीति चिन्तयति ॥]

सुरत-क्रिया के समाप्त होने पर भी (मुग्धा) वधू सुरत-समाप्ति की स्थिति से अपरिचित होने के कारण अविश्रान्त हृदय से (सुरतसंलग्न एक तान मन से) सोचती है कि अभी कुछ और भी अवशिष्ट है।

णन्दन्तु सुरअसुहरसतह्लावहराइँ सअललोअस्स ।
बहुकंअवमग्गविणिम्मिआइँ वेसाणं पेम्माइं ॥ ५६ ॥

[नन्दन्तु सुरतसुखरसतृष्णापहराणि सकललोकस्य ।
बहुकैतवमार्गविनिर्मितानि वेश्यानां प्रेमाणि ॥]

समस्त लोगों की सुरत-सुख के रस की प्यास को बुझाने वाले तथा (कृत्रिम हास, रोदन, चाटकारी आदि) छलपूर्ण पद्धतियों से सम्पन्न वाराङ्गना-प्रेम का अभिनन्दन है।

वेश्या-प्रेम की प्रशंसा के साथ साथ वक्तृबोद्धव्य के वैशिष्ट्य से निन्दात्मक अर्थ भी सूचित करती हुई यह गाथा सुन्दर सूक्ति का उदाहरण प्रस्तुत करती है। वेश्यारत का निन्दापरक अर्थ यह है :—

(अस्वाभाविक मार्गों के कारण बल और धन का क्षय करने से) सुरतसुख की इच्छा के नाशक तथा अनेक कृत्रिम उपायों पर आधारित वेश्यासुरत को (विपरीत लक्षणा द्वारा अभिनन्दन से अभिप्रेत) धिक्कार है।

अप्पत्तमण्णुदुक्खो किं मं किसिअत्ति पुच्छसि हसन्तो ।
पावसि जइ चलचित्तं पिअं जणं ता तुह कहिस्सं ॥ ५७ ॥

[अप्राप्तमन्युदुःखः किं मां कृशेति पृच्छसि हसन् ।
प्राप्स्यसि यदि चलचित्तं प्रियं जनं तदा तव कथयिष्यामि ॥]

अन्यासक्त नायक के हँसते हुए यह पूछने पर कि 'दुबली क्यों हो रही हो?' विरहोत्कण्ठिता नायिका ने उत्तर दिया :—

'प्रेम-पात्र की अन्यासक्ति से जनित मनोविकार के दुःख का अनुभव न होने के कारण ही (अभी तक प्रेम-पात्र की बेवफ़ाई के शिकार नहीं हुए हो, इसीलिये) मुझ से हँसते हुए पूछते हो कि दुर्बल क्यों हो रही हो'? यदि तुम्हें (तुम जैसी ही)

चपलहृदया प्रेयसी मिली तब वताऊँगी।

'हँसते हुए' विशेषण से 'तुम्हारा प्रेम कृत्रिम है' तभी तो मेरी वेदना को न समझ कर हँस रहे हो। 'चपलहृदय प्रेयसी मिलने पर वताऊँगी' से तुम्हारा प्रेम अस्थिर है और मेरा स्थिर। यदि अस्थिर प्रणय वाली कोई प्रेमिका तुम्हें मिली, तो वतलाऊँगी। इस समय तो तुम्हें यक़ीन भी न आयेगा क्योंकि 'जिसके पैर न फटी विवाई, वह क्या जाने पीर पराई'। 'मैं भी तुम्हारी ही तरह अस्थिर-प्रेम होती तो मेरी यह दशा न होती' आदि उपालम्भ नायक के प्रति अभिव्यञ्जित हैं।

अवहत्थिऊण सहिजम्पिआइँ जाणं कएण रमिओऽसि।
एआइँ ताइँ सोक्खाइँ संसओ जेहिँ जीअस्स ॥ ५८ ॥

[अपहस्त्य सखीजल्पितानि येषां कृतेन रमितोऽसि।
एतानि तानि सौख्यानि संशयो यैर्जीवितस्य ॥]

बहुत दिनों में आये हुए प्रच्छन्न प्रेमी को उपालम्भ देती हुई नायिका कहती है :—

सखियों के वचनों को धक्का देकर (सखियों की सीख का अनादर करके) जिन सुरतसुखों के लिये तुम्हारे साथ रमण किया है वे ये हैं जिन से जीवन भी संशय में पड़ गया है। अर्थात् तुम्हारे विरह में मर्मान्तिक पीड़ा का अनुभव कर रही हूँ।

ईसालुओ पई से रत्तिं महुअं ण देइ उच्चेउं।
उच्चेइ अप्पण च्चिअ माए अइउज्जुअसुहावो ॥ ५९ ॥

[ईर्ष्यालुकः पतिरस्या दत्ते निशि नो मधूकमुच्चेतुम्।
उच्चिनोति स्वयमेव मातः अतिऋजुकस्वभावोऽयम् ॥]

नायिका के प्रच्छन्न प्रेमी को संकेत-स्थल के परिवर्तन की सूचना देती हुई दूती पड़ोसिन के साथ वात करती हुई उस जार को सुनाकर कहती है :—

"ओह मैया ! उसका ईर्ष्यालु पति रात में उसे महुआ (के फूल) चुनने के लिये नहीं जाने देता। वह इतना सरल प्रकृति का है कि स्वयं ही चुन लेता है।"

"जार-समागम के संदेह के कारण रात में महुआ के फूल चुनने के लिये नहीं जाने देता। यह काम वह स्वयं कर लेता है, किन्तु इसी वीच में उसकी पत्नी घर पर ही आये हुए जार के साथ समागम करती है और उसे पता भी नहीं चलता। सचमुच यह वड़ा ही सीधा—मिट्टी का माधो—है" यह पड़ोसिन के प्रति और अव मधूककुञ्जों में न जाकर उसके घर ही, जवकि उसका पति स्वयं महुआ चुनने के लिये चला जाय, रमण करना चाहिए। यह जार के प्रति ध्वनित है।

अच्छोडिअवत्थद्धन्तपत्थिए मन्थरं तुमं वच्च।
चिन्तेसि थणहराआसिअस्स मज्झस्स वि ण भङ्गं ॥ ६० ॥

*[बलादाकृष्टवस्त्राञ्चलान्तप्रस्थिते मन्थरं त्वं व्रज ।
चिन्तयसि स्तनभरायासितस्य मध्यस्यापि न भङ्गम् ॥]*

मनुहारों को ठुकरा कर तथा नायक द्वारा हाथ में पकड़े हुए अपने आँचल को झटक कर तुनक कर जाती हुई नायिका से नायक चाटुकारी करता हुआ कहता है।

अयि बलपूर्वक आँचल के छोर को खींचकर जाने वाली ! तनिक धीरे-धीरे चलो। तुम्हें कुचों के भार से दबे हुए अपने मध्यभाग के टूटने की चिन्ता नहीं है।'

उद्धच्छो पिअइ जलं जह जह विरलङ्गुली चिरं पहिओ ।
पावालिआ वि तह तह धारं तणुइं पि तणुएइ ॥ ६१ ॥

*[उर्ध्वाक्षः पिबति जलं यथा यथा विरलाङ्गुलिश्चिरं पथिकः ।
प्रपापालिकापि तथा तथा धारां तनुकामपि तनूकरोति ॥]*

पथिक और प्याऊ वाली के परस्पर अनुरागाङ्कुर को लक्षित कर कोई सहृदय अपने मित्र से कहता है—

"जैसे-जैसे पथिक (प्याऊ वाली के सौन्दर्य का पान करता हुआ) आँखें ऊपर उठाकर अपनी अञ्जलि की अङ्गुलियों के बीच में छिद्र करके देर तक जल पीता है वैसे-वैसे प्याऊ वाली भी पतली धारा को और भी अधिक पतली करती चली जाती है।

जिस प्रकार पथिक वास्तव मे जल न पीकर जल पीने का अभिनय करता है, उसी प्रकार वह भी वस्तुतः जल न पिला कर अपने रूप को पिलाती हुई और जलधारा को पतली करके देर लगाती हुई स्वयं भी पथिक के रूप का पान करती है।

भिच्छाअरो पेच्छइ णाहिमण्डलं सावि तस्स मुहअन्दं ।
तं चट्टुअं अ करङ्कं दोह्ण वि काआ विलुम्पन्ति ॥ ६२ ॥

*[भिक्षाचरः प्रेक्षते नाभिमण्डलं सापि तस्य मुखचन्द्रम् ।
तच्चटुकं च करङ्कं द्वयोरपि काका विलुम्पन्ति ॥]*

भिक्षाटन के बहाने अपनी प्रेयसी के घर आया हुआ जार तथा भिक्षा डालने के बहाने उसके समीप आई हुई प्रेयसी एक दूसरे को देखते रह जाते हैं। सास पूछती है कि बहू भिक्षा देने गई थी, कहाँ रह गई ? इस पर बहू की सपत्नी सास को उत्तर देती है—

"भिक्षा माँगने वाला बहू के नाभिमण्डल को और वह उसके मुखचन्द्र को देख रही है तथा उसके (भिक्षुक के) तुम्बे को और उसकी (बहू की) चुकटी को कौए खाली कर रहे हैं।"

नायक का नायिका के नाभिमण्डल को देखते रह जाना भाववश नायिका के

अधो-वस्त्र का खिसकना तथा नायक का अन्यजन द्वारा देखे जाने की शंका से अधोदृष्टि होना व्यक्त करता है। नायक के तुम्वे और नायिका की चुकटी को कौओं का खाली करना उन दोनों के परस्परदर्शन से आविर्भूत स्तम्भ सात्त्विक का द्योतक है तभी तो कौए निर्भय अपना काम करते हैं। सपत्नियों का 'देखा अपनी प्यारी बहू को' ? सास के प्रति यह साभिप्राय उपालम्भ तथा नायिका के प्रति ईर्ष्याभाव एवं असूया व्यक्त है।

जेण विणा ण जिविज्जइ अणुणिज्जइ सो कआवराहो वि।
पत्ते वि णअरदाहे भण कस्स ण वल्लहो अग्गी॥ ६३॥

[येन विना न जीव्यतेऽनुनीयते स कृतापराधोऽपि।
प्राप्तेऽपि नगरदाहे भण कस्य न वल्लभोऽग्निः॥]

कलहान्तरिता को समझाती हुई दूती कहती है—

"जिसके विना जीवित ही न रहा जा सके उसे अपराधी होते हुए भी मनाना पड़ता है। कहो, नगर को जला देने पर भी आग किसे प्रिय नहीं है ? अर्थात् अग्नि यदि संपत्ति को भस्मसात् भी कर दे तो भी खाना वनाने आदि के कार्य के लिये उसे संभाल कर रखा ही जाता है। इसी प्रकार अपराध करने पर भी प्रिय को तुम मना ही लो तो उचित है क्योंकि उसके विना तुम्हारा जीवन भी संशय में है। दूती का नायिका के प्रति यह संवोध और उसका नायक के प्रति अत्यधिक अनुराग व्यञ्जित है।

वक्कं को पुलइज्जउ कस्स कहिज्जउ सुहं व दुक्खं वा।
केण समं व हसिज्जउ पामरपउरे हअग्गामे॥ ६४॥

[वक्रं कः प्रलोक्यतां कस्य कथ्यतां सुखं वा दुःखं वा।
केन समं वा हस्यतां पामरप्रचुरे हतग्रामे॥]

किसी रसिक नागरिक पर रीझी हुई विदग्धा नायिका ग्रामनिन्दा के वहाने अपनी विदग्धता का परिचय देती हुई उसे सुना कर कहती है—

इस दुष्ट गाँव में, जहाँ कि अधिकतर किसान (गँवार) लोग ही हैं, तिरछी दृष्टि से किसे देखा जाय ? सुख-दुःख की वात किससे कही जाय ? और किसके साथ हँसा वोला जाय ? अर्थात् गँवारू गांव में सारी विदग्धता व्यर्थ है। इस प्रकार यदि तुम वस्तुतः विदग्ध हो और नागरी कामिनी में रुचि रखते हो तो इधर देखो' नायक के प्रति यह प्रणय-निवेदन व्यङ्ग्य है।

फलहीवाहणपुण्णाहमङ्गलं लङ्गले कुणन्तीए।
असईअ मणोरहगब्भिणीअ हत्था थरहरन्ति॥ ६५॥

[कार्पासीक्षेत्रकर्षणपुण्याहमङ्गलं लाङ्गले कुर्वत्याः।
असत्या मनोरथगर्भिण्या हस्तौ थरथरायेते॥]

'प्रिय के भावी समागम के विचार-मात्र से ही भावुक कामिनियों के सात्त्विक भाव व्यक्त हो जाते हैं' यह प्रकट करता हुआ कोई रसिक अपने साथी से कहता है—

"कपास के खेत में बुवाई करने के अवसर पर हल पर स्वस्तिकचिह्न बनाती हुई मनोरथ-गर्भिणी (पौधों के बड़े होजाने पर उस खेत में ही अपने प्रच्छन्न प्रेमी के साथ अभिसार की कामना मन ही मन करने वाली) कुलटा के हाथ (कम्प सात्त्विक के कारण) थरथराते हैं।

पहिउल्लूरणसङ्काउलाहिँ असईहिँ बहलतिमिरस्स।
आइप्पणेण णिहुअं वडस्स सित्ताइँ पत्ताइं ॥ ६६ ॥

[पथिकच्छेदनशङ्काकुलाभिरसतीभिर्बहलतिमिरस्य।
आलेपनेन निभृतं वटस्य सिक्तानि पत्राणि ॥]

'कपटी लोग बड़ी-युक्तियों से अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं'। यह समझाती हुई सखी नायिका के समक्ष धूर्तों की करतूत का उदाहरण प्रस्तुत करती है—

"पथिकों द्वारा तोड़ने की आशङ्का से व्याकुल कुलटाएं अत्यन्त सघन वटवृक्ष के पत्तों को चुपचाप ऐंपन से सान देती हैं (जिससे पथिक काकविष्टा से सने हुए होने के भ्रम से पत्ते तोड़ कर उनके संकेत-स्थल को नष्ट न करें)

भञ्जन्तस्स वि तुह सग्गगामिणो णइकरञ्जसाहाओ।
पाआ अज्ज वि धम्मिअ तुह कहँ धरणिं विह छिवन्ति ॥ ६७ ॥

[भञ्जतोऽपि तव स्वर्गगामिनो नदीकरञ्जशाखाः।
पादावद्यापि धार्मिक तव कथं धरणीमेव स्पृशतः ॥]

दाँतुअन बनाने के लिये संकेत-भूत करञ्ज की शाखा तोड़ने वाले धार्मिक पर कुपित होती हुई कोई असती कहती है—

'हे धार्मिक ! नदीतट पर स्थित करञ्ज की शाखाएँ तोड़ते हुए तुझ स्वर्गगामी के चरण अब भी धरती पर कैसे पड़ रहे हैं' ?

अर्थात् चरणों के अग्रभाग पर शरीर को साधकर उचकते हुए शाखा तोड़ने में मानो तुम उड़कर स्वर्ग को जाना चाहते हो। वक्तृबोद्धव्य के वैशिष्ट्य से शब्द-शक्तिमूलक यह ध्वनि भी कि 'इस प्रकार दूसरों के कार्य को नष्ट करने के कारण तुम्हारा स्वर्ग जाना ही श्रेयस्कर है' नायिका के आक्रोश को अभिव्यक्त करती हुई सहृदयों के चमत्कार का हेतु बन जाती है।

अच्छइउ दाव मणहरं पिआइ मुहदंसणं अइमहग्घं।
तग्गामछेत्तसीमा वि झत्ति दिट्ठा सुहावेइ ॥ ६८ ॥

[अस्तु तावन्मनोहरं प्रियाया मुखदर्शनमतिमहार्घम् ।
तदग्रामक्षेत्रसीमापि झटिति दृष्टा सुखयति ॥]

प्रिय से दूर का सम्बन्ध रखने वाली वस्तुएँ भी प्रेमी को प्रिय हुआ करती हैं । इस तथ्य को व्यक्त करता हुआ कवि कहता है—

प्रियतमा के अत्यधिक मूल्यवान् (जो कम से कम हृदय रूपी मूल्य देने पर ही खरीदा जा सकता है) मुख-दर्शन की तो वात ही क्या ? उसके गाँव के क्षेत्र की सीमा का दर्शन भी तत्काल सुख प्रदान करता है ।

णिक्कम्माहिँ वि छेत्ताहिँ पामरो णेअ वच्चए वसइं ।
मुअपिअजाआसुण्णइअगेहदुःक्खं परिहरन्तो ॥ ६९ ॥

[निष्कर्मणोऽपि क्षेत्रात् पामरो नैव व्रजति वसतिम् ।
मृतप्रियाजायाशून्यीकृतगेहदुःखं परिहरन् ॥]

प्रिय पत्नी के निधन के कारण सूने घर को देखकर होने वाली व्यथा से बचता हुआ कृषक (खेत में) कोई काम न होने पर भी खेत से बस्ती को नहीं जाता ।

झञ्झावाउत्तिण्णिअघरविवरपलोट्टसलिलधाराहिं ।
कुड्डलिहिओहिदिअहं रक्खइ अज्जा करअलेहिं ॥ ७० ॥

[झञ्झावातोत्तृणीकृतगृहविवरप्रपतत्सलिलधाराभिः ।
कुड्यलिखितावधिदिवसं रक्षत्यार्या करतलैः ॥]

प्रोषितपतिका की सखी उसके प्रिय के पास संदेश भेजती है—

"साध्वी सुन्दरी झञ्झा वायु द्वारा फूंस के उड़ जाने से संपन्न विवरों में से गिरती हुई जलधाराओं से भींत पर लिखे हुए अवधिदिवस की अपने करतल द्वारा (हाथ से आच्छादित करके) रक्षा करती है ।

अपनी अपेक्षा भींत पर लिखे हुए अवधि दिवस के रक्षण की अधिक चिन्ता प्रिय के प्रति नायिका के अत्यधिक अनुराग की व्यञ्जिका है तथा 'आपके द्वारा दीवार पर लिखे हुए अवधि दिवस की प्रतीक्षा करती हुई यह बेचारी जैसे-तैसे दिन काट रही है; वर्षा के कारण घर भी जर्जर हो गया है; अवधि दिवस के व्यतीत होने पर भी यदि तुम न आये तो उसका जीना कठिन है।' प्रवासी नायक के प्रति नायिका की यह दशा व्यञ्जित है ।

गोलाणइए कच्छे चक्खन्तो राइआइ पत्ताइं ।
उप्पडइ मक्कडो खोक्खएइ पोट्टं अ पिट्टेइ ॥ ७१ ॥

[गोदावरीनद्याः कच्छे चर्वयन् राजिकायाः पत्राणि ।
उत्पतति मर्कटः खोक्खशब्दं करोत्युदरं च ताडयति ॥]

'संकेत-स्थल पर तुम्हारी प्रतीक्षा करता हुआ नायक अत्यन्त दुःखी हो रहा है' नायिका के प्रति यह व्यञ्जित करती हुई तथा सुनने वाले अन्य व्यक्तियों के प्रति वहाँ जाने में भय व्यक्त करती हुई कोई दूती कहती है—

'गोदावरी नदी के कछार में राई के पत्ते चबाता हुआ बन्दर (उनकी तीव्रता के कारण मुख जलने से) उछलता है, (प्रतिकार करने की इच्छा से) खों खों शब्द करता है और (कुछ न कर सकने पर विवश होकर) अपना पेट पीटता है।'

इससे तुम्हारी प्रतीक्षा में उद्विग्न होकर इधर-उधर घूमता हुआ और बार-बार गर्दन उठाकर देखता हुआ चपल नायक तुम्हारे विलम्ब करने से अत्यन्त व्यथित हो रहा है। अतः शीघ्र ही जाकर उसकी व्यग्रता दूर करो।' यह नायिका के प्रति और 'गोदावरी के किनारे पर विकट क्रोधान्ध बन्दर उत्पात मचा रहा है, अतः वहाँ नहीं जाना चाहिये' यह अन्य श्रोताओं के प्रति व्यङ्ग्यार्थ है।

गहवइणा मुअसैरिहडुण्डुअदामं चिरं वहेऊण।
वग्गसआइं णेऊण णवरिअ अज्जाघरे बद्धम्॥ ७२॥

*[गृहपतिना मृतसैरिभवृहद्घण्टादाम चिरमूढ्वा।
वर्गशतानि नीत्वाऽनन्तरमार्यागृहे बद्धम्॥]*

पहली पत्नी के अलङ्कारों से उसकी अपेक्षा गुणहीन दूसरी पत्नी को अलंकृत करने के इच्छुक नायक को पहली पत्नी की सहेली अपने पति के औचित्यपूर्ण कार्य का उदाहरण देकर निरुत्साहित करती है—

'गृहपति ने मृत्यु को प्राप्त भैंसे के बड़े घंटे को (उसी के समान भैंसे की प्राप्ति की आशा में) बहुत दिनों तक रख कर और (भैंसों के) सैंकड़ों वर्ग क्रय करके भी (उसके सदृश भैंसा न पाकर) देवी के मन्दिर में लटका दिया (किन्तु अयोग्य और अनधिकारी भैंसे के गले में नहीं बांधा)

'मेरे स्वामी ने तो मृत पशु के स्नेह को न भूलते हुए ऐसा किया और तुम अपनी जीवित पत्नी के भी प्रेम की रक्षा नहीं कर रहे हो। धन्य है तुम्हारी सहृदयता !' यह उपालम्भ नायक के प्रति व्यञ्जित है। 'गृहपति' शब्द से 'घर के एकच्छत्र स्वामी होते हुए भी उसने न्याय-विरुद्ध कार्य न किया तथा 'सुचिरमूढ्वा' से योग्य भैंसे की प्राप्ति के लिये उसने बहुत प्रतीक्षा की किन्तु तुम तो अपनी पत्नी का जीते जी तिरस्कार कर रहे हो'। आदि उपालम्भ भी ध्वनित हैं।

सिहिपेहुणावअंसा वहुआ वाहस्स गव्विरी भमइ।
गअमोत्तिअरइअपसाहणाणं मज्झे सवत्तीणं॥ ७३॥

*[शिखिपिच्छावतंसा वधूर्व्याधस्य गर्विता भ्रमति।
गजमौक्तिकरचितप्रसाधनानां मध्ये सपत्नीनाम्॥]*

सपत्नियों के वैभवपूर्ण प्रसाधनों को देखकर अपने अलङ्कार-दारिद्र्य के कारण खिन्न होती हुई सहज सुन्दरी स्वाधीनपतिका को आश्वासन देती हुई उसकी सखी कहती है—

"व्याध की वधू मयूर-पंखों से ही अपना प्रसाधन कर गजमुक्ताओं से अलंकृत सपत्नियों के मध्य में भी गर्व के साथ घूमती है"। 'स्त्री का आभूषण तो उसका प्रियतम है और वह पूर्णतया मेरे वश में है। आप लोगों का सौभाग्य मूल्यवान अलङ्कारों तक ही सीमित है और मेरा सौभाग्य प्रियतम के अमूल्य प्रेम पर निर्भर है" सपत्नियों के प्रति व्याध-वधू का यह सौभाग्यगर्व ध्वनित है। तथा 'वनवासिनी स्त्रियाँ भी संपत्ति की अपेक्षा प्रिय के प्रेम को ही अधिक महत्त्व देती हैं। तुम तो नागरी होकर भी इस मर्म को नहीं समझतीं' नायिका के प्रति सखी की यह सान्त्वना ध्वनित है।

वंकच्छिपेच्छरीणं वङ्कुल्लविरीणं वङ्कभमिरीणं।
वंकहसिरीणं पुत्तअ पुण्णेहिँ जणो पिओ होइ ॥ ७४ ॥

[वक्राक्षिप्रेक्षणशीलानां वक्रोल्लपनशीलानां वक्रभ्रमणशीलानाम्।
वक्रहासशीलानां पुत्रक पुण्यैर्जनः प्रियो भवति ॥]

तुम इतने अधिक डरते थे कि गाँव में घूमना भी तुमने छोड़ दिया' था। अर्थ अभिव्यक्त है। 'आज' शब्द से 'क्योंकि आज ही मारा है अतः संभवतः तुमने सुना भी न हो' तथा दृप्त शब्द से 'भोजन की इच्छा से नहीं अपितु बल के दर्प से वह जन्तुओं पर आक्रमण करता है। अतः पेट भरने पर भी वह किसी पर भी पुनः झपट सकता है' अर्थो की प्रतीति होती है। अन्ततोगत्वा कुत्ते के मारे जाने से गाँव की गलियों में भ्रमण करना तथा गोदावरी के किनारे कुञ्ज में मत्त सिंह के होने के कारण वहाँ गमन का निषेध ध्वनित होता है।

वाएरिएण भरिअं अच्छिं कणऊरउप्पलरएण।
फुक्कन्तो अविइह्लं चुम्बन्तो को सि देवाणं ॥ ७६ ॥

[वातेरितेन भृतमक्षि कर्णपूरोत्पलरजसा।
फूत्कुर्वन्नवितृष्णां चुम्बन् कोऽसि देवानाम् ॥]

चतुराई से किसी नायिका का चुम्बन ले लेने वाले नायक के प्रति कोई रसिक विनोद के साथ कहता है—

कान में पहने हुए नीलकमल के वायु द्वारा उड़ाये हुए पराग से पूर्ण (नायिका के) नयन को फूंक मार-मार कर चूमकर तृप्त न होते हुए तुम देवताओं में से कौन हो ? (कौन से देवता हो)

'कौन से देवता हो' से 'देवताओं के समान तुम नायिका को अनिमेष नयनों से निहारते हो' इस व्यङ्ग्यार्थ द्वारा नायिका के प्रति नायक की अत्यन्त अभिलाषा तथा नायिका का सौन्दर्यातिशय प्रतीत होता है। प्रसिद्ध देवता ही इतने सौभाग्यशाली हो सकते हैं। इस अर्थ के साथ नायक का सौभाग्य और नायिका का दुर्लभत्व भी इससे सूचित होता है।

सहि दुम्मेन्ति कलम्बाइं जह मं तह ण सेसकुसुमाइं।
णूणं इमेसु दिअहेसु वहइ गुडिआधणुं कामो ॥ ७७ ॥

[सखि व्यथयन्ति कदम्बानि यथा मां तथा न शेषकुसुमानि।
नूनमेषु दिवसेषु वहति गुटिकाधनुः कामः ॥]

विरहवेदना से अत्यन्त पीडित प्रोषितपतिका अपनी सखी से कहती है—

"सखि ! कदम्ब के पुष्प मुझे जितनी व्यथा पहुँचाते हैं उतनी अन्य पुष्प नहीं। अवश्य ही इन दिनों कामदेव (अपने अस्त्र के रूप में) गुटिका धनुष (गुलेल) धारण करने लगा है कदम्ब से पुष्पों को ही वह अपनी गुलेल की गोलियों के रूप में काम में लाता है।

व्यञ्जना यह है कि 'वसन्त और ग्रीष्म की ऋतुओं को तो जैसे तैसे मैंने बिता लिया किन्तु अब वर्षा का आगमन मेरे लिये असह्य हो उठा है। अतः शीघ्र ही किसी न किसी युक्ति से मेरे प्रियतम को बुला दो।'

णाहं दूई ण तुमं पिश्रो त्ति को श्रह्म एत्थ वावारो ।
सा मरइ तुज्झ श्रग्रसो तेण श्र धम्मक्खरं भणिमो ॥ ७८ ॥

[नाहं दूती न त्वं प्रिय इति कोऽस्माकमत्र व्यापारः ।
सा म्रियते तवायशस्तेन च धर्माक्षरं भणामः ॥]

विरहिणी की शोचनीय स्थिति का चित्रण करती हुई दूती नायक से कहती है—

'न तो मैं उसकी दुती हूँ और न ही तुम प्रिय। हमारा (एक दूसरे से) काम ही क्या है ? वह मर रही है, मैं तो इसी लिये धर्मसम्मत बात कह रही हूँ ।'

'मैं दूती नहीं हूँ' से 'मेरा काम झूठी बातों से किसी को बहकाना नही है । न मैं तुम्हें बुलाने के लिये ही आई हूँ । केवल वास्तविक स्थिति से तुम्हें सूचित कर रही हूँ । दूती की यह तटस्थता और विश्वसनीयता व्यञ्जित है । 'तुम प्रिय नहीं हो' से नायक की नायिका के प्रति निर्दयता अभिव्यक्त है। दूती द्वारा अपने दूतीत्व और प्रिय के प्रियत्व का निषेध विशेष-कथन की इच्छा से (अधिकाधिक प्रभाव डालने की इच्छा से) है। अतः यहाँ आक्षेप अलङ्कार है। 'तुम्हारे वियोग में वह मर रही है । इस स्त्रीवध का पाप तुम्हें लगेगा' इस प्रकार नायिका की मृत्यु का भय दिखाकर नायिका के पास शीघ्र ही जाने के लिये दूती का नायक को प्रोत्साहित करना अभीष्ट व्यङ्ग्य है ।

तीश्र मुहाहि तुह मुहं तुज्झ मुहाश्रो श्र मज्झ चलणम्मि ।
हत्थाहत्थीश्र गश्रो श्रइदुक्करश्रारश्रो तिलश्रो ॥ ७९ ॥

[तस्या मुखात्तव मुखं तव मुखाच्च मम चरणे ।
हस्ताहस्तिकया गतोऽतिदुष्करकारकस्तिलकः ॥]

चरणों में झुकते हुए प्रिय को अन्य नायिका के साथ समागम करने के चिह्न को दिखाती हुई खण्डिता उससे कहती है—

अहो ! कठोर कार्य करने वाला (मुसीबत का मारा) तिलक उसके मुख से तुम्हारे मुख पर और तुम्हारे मुख से मेरे चरणों पर हाथों हाथ पहुँच गया' ।

'अन्य रमणी के साथ रमण के चिह्न प्रत्यक्ष धारण करके भी मेरे प्रति कृत्रिम अनुनय का नाटक क्यों रच रहे हो' नायक का नायिका के प्रति यह उपालम्भ व्यञ्जित है ।

'जामुन के किसलय को कान में आभूषण के रूप में धारण करके घूमते हुए हलिकपुत्र को देखकर कटाक्ष से देखने वाली (उस) पोडशी सुन्दरी के मुख का वर्ण श्यामल (विवर्ण) हो गया।' भाव यह है कि 'संकेतस्थल पर पहुँच कर मैं निराश ही लौटा', यह सूचित करने के लिये संकेतस्थल पर स्थित जामुन के किसलय को कान में लगाये हुए घूमते हुए प्रच्छन्न प्रेमी को देख कर नायिका का मुँह अपने वायदे के अनुसार सकेतस्थल पर न पहुँचने के कारण शर्म एवं विरहजन्य खेद के कारण फीका पड़ गया।

दूइ तुमं विअ कुसला कक्खडमउआइं जाणसे वोल्लुं।
कण्डूइअपण्डुरं जह ण होइ तह तं करेज्जासु ॥ ८१ ॥

*[दूति ! त्वमेव कुशला कर्कशमृदुकानि जानासि वक्तुम्।
कण्डूयितपाण्डुरं यथा न भवति तथा तं करिष्यसि ॥]*

नायक को मनाने के लिये दूती को भेजती हुई नायिका उससे कहती है—

'हे दूती ! तुम कुशल हो। (समय के अनुसार) कर्कश और मृदु वचन कहना जानती हो। अतः उसको (नायक को) ऐसा करना (उससे इस प्रकार बातें करना) कि साँप भी मर जाय और लाठी भी न टूटे। (शाब्दिक—खुजलाया हुआ स्थान सफेद न पड़ जाय)

महिलासहस्सभरिए तुह हिअए सुहअ सा अमान्ती।
दिअअं अणण्णकम्मा अङ्गं तणुअं पि तणुएइ ॥ ८२ ॥

*[महिलासहस्रभृते तव हृदये सुभग सा अमान्ती।
दिवसमनन्यकर्मा अङ्गं तनुकमपि तनूकरोति ॥]*

अनेक सुन्दरियों से प्रेम करने वाले नायक के प्रति किसी के अनुराग का वर्णन करती हुई दूती कहती है—

'हे सुभग ! सहस्रों महिलाओं से भरे हुए तुम्हारे हृदय में न आ पाती हुई वह दिन भर अन्य कोई काम न करके अपने (पहले से ही) क्षीण शरीर को और भी क्षीण करती रहती है'।

'नायक के हृदय को सहस्रों नायिकाओं से भरा हुआ' कहना व्यञ्जित करता है कि वही उनमें अनुरक्त है वे सुन्दरियाँ उसमें नहीं। 'अनन्यकर्मा' विशेषण नायिका द्वारा नायक के एकाग्र चिन्तन का व्यञ्जक है जिससे अन्य सभी वस्तुओं के प्रति विराग ध्वनित होता है।

खणमेत्तं पि ण फिट्टइ अणुदिअहविइण्णगरुअसंतावा।
पच्छण्णपावसङ्क व्व सामली मज्झ हिअआओ ॥ ८३ ॥

*[क्षणमात्रमपि नापयात्यनुदिवसवितीर्णगुरुकसंतापा।
प्रच्छन्नपापशङ्केव श्यामला मम हृदयात् ॥]*

किसी सुन्दरी में आसक्त नायक अपने सहचर से अपने मन की दशा इस प्रकार कहता है—

प्रतिदिन (रहस्य खुल जाने के डर से) अत्यन्त संताप उत्पन्न करने वाली (गुप्तरूप से किये गये पाप का डर जिस प्रकार हृदय से क्षण भर के लिये भी दूर नहीं होता उसी प्रकार प्रतिदिन वियोग के कारण अत्यधिक संताप देने वाली) वह षोडशी सुन्दरी मेरे हृदय से क्षण भर के लिये भी दूर नहीं होती।

'प्रच्छन्नपापशङ्का' की उपमा से 'जैसे अपने द्वारा गुप्तरूप से किया हुआ पाप किसी को भी नहीं बताया जाता उसी प्रकार उस कुलरमणी को भी नहीं बताना चाहिये था फिर भी मैंने तुम्हें यह भेद बता दिया है' मित्र के प्रति नायक का यह अत्यन्त विश्वास ध्वनित है।

अज्जअ णाहं कुविआ अवऊहसु किं मुहा पसाएसि।
तुह मण्णुसमुप्पाअएण मज्झ माणेण वि ण कज्जम्॥ ८४॥

[अज्ञ नाहं कुपिताऽवगूहस्व किं मुधा प्रसादयसि।
तव मन्युसमुत्पादकेन मम मानेनापि न कार्यम्॥]

अपराध (अन्यासक्ति) प्रकट हो जाने पर परिरम्भण आदि द्वारा मनाने का प्रयत्न करते हुए नायक से रुष्ट मानिनी आक्षेपसहित बोली—

'अज्ञ! मैं कुपित नहीं हूँ' आलिङ्गन करो। व्यर्थ मनुहारें क्यों कर रहे हो? तुम्हें खेद उत्पन्न करने वाले मान से भी मेरा कोई प्रयोजन नहीं। कुपित होते हुए भी अपने आप को कुपित न कहना और अपराधी होते हुए भी नायक को निरपराध कहना वक्तृबोद्धव्य-वैशिष्ट्य से विपरीत लक्षणा द्वारा प्रतिकूल अर्थ की अभिव्यक्ति करता है। अतः 'मैं कुपित नहीं हूँ' से 'तुम्हारी करतूत ही ऐसी है कि क्रोध आता ही है। 'आलिङ्गन करो' से 'आलिङ्गन क्यों करते हो, बेकार है' 'व्यर्थ क्यों मनाते हो' से 'जब तक अपने व्यवहार को नहीं सुधारते मेरा मनाना व्यर्थ है। अन्य महिलाओं से प्रेम की लत छोड़ दो, मैं स्वयं प्रसन्न हो जाऊँगी' और 'तुम्हें दुःखी करने वाले मान से मुझे क्या प्रयोजन' से 'मैं तुम्हें दुःखी करना नहीं चाहती किन्तु तुम्हारी बेवफ़ाई पर विवशतावश क्रोध आ ही जाता है।' आदि अर्थ ध्वनित है!'

दीहुण्हपउरणीसासपआविओ बाहसलिलपरिसित्तो।
साहेइ सामसवलं व तीएँ अहरो तुह विओए॥ ८५॥

[दीर्घोष्णप्रचुरनिःश्वासप्रतप्तो बाष्पसलिलपरिषिक्तः।
साधयति श्यामशबलमिव तस्या अधरस्तव वियोगे॥]

विरहिणी नायिका की सखी नायक से कहती है—

'दीर्घ और उष्ण निःश्वासों से संतप्त तथा अश्रुजल से सिक्त उसका अधर मानो तुम्हारे वियोग में श्यामशबल (व्रतविशेष) की साधना किया करता है।'

'श्यामशबल—एक व्रतविशेष जिसमें पहले अग्नि में तपना और बाद में जल में प्रविष्ट होना पड़ता था।

'उसके अधर का पारायण-पेम तुम्हारा अधर-रस ही है। अतः शीघ्र ही उसका व्रत पूरा करो' नायक के प्रति यह प्रेरणा व्यञ्जित है।

सरए महद्धदाणं अन्ते सिसिराइँ बाहिरुह्लाइं।
जाआइँ कुविअसज्जणहिअअसरिच्छाइँ सलिलाइं ॥ ८६ ॥

[शरदि महाह्रदानामन्तः शिशिराणि बहिरुष्णानि।
जातानि कुपितसज्जनहृदयसदृक्षाणि सलिलानि ॥]

शरद् ऋतु में महान् सरोवरों के जल कुपित सज्जनों के हृदयों के समान अन्दर शीतल और बाहर से उष्ण हो गये हैं।

आअस्स किं णु करिहिम्मि किं वोलिस्सं कहं णु होइहि (इमि) त्ति।
पढमुग्गअसाहसआरिआइ हिअअं थरहरेइ ॥ ८७ ॥

[आगतस्य किं नु करिष्यामि किं वक्ष्यामि कथं नु भविष्यति (इदम्) इति।
प्रथमोद्गतसाहसकारिकाया हृदयं थरथरायते ॥]

'प्रिय के आने पर क्या करूँगी? क्या कहूँगी? यह (अभिसार का साहस) कैसे होगा? (इस का क्या परिणाम होगा?') इस प्रकार सोचते हुए प्रथम अभिसार का साहस करने वाली (मुग्धा) का हृदय थरथराने लगता है।

णेउरकोडिविलग्गं चिउरं दइअस्स पाअपडिअस्स।
हिअअं पउत्थमाणं उम्मोअन्ती व्विअ कहेइ ॥ ८८ ॥

[नूपुर कोटिविलग्नं चिकुरं दयितस्य पादपतितस्य।
हृदयं प्रोषितमानमुन्मोचयन्त्येव कथयति ॥]

मानिनी पर अत्यन्त हठ का दोष लगाते हुए नायक से कलहान्तरिता की सखी नायिका का पक्ष लेती हुई कहती है—

पैरों में पड़े हुए प्रियतम के अपने नूपुरों में उलझे हुए केशों को छुड़ाते हुए ही वह हृदय से मान के चले जाने की बात प्रकट कर देती है।

अभिप्राय यह है कि चतुर मानिनी मुंह से प्रसन्न होने की बात नहीं कहती अपितु मनस्विनी होने के कारण सूक्ष्म चेष्टाओं द्वारा ही मान की शान्ति को व्यक्त करती है। तुम्हारी पीडा का अनुमान करके उसने अपने नूपुरों में उलझे हुए तुम्हारे केशों को छुड़ाते हुए अपने मानापगम की अभिव्यक्ति कर दी थी जिसे तुम समझ ही न सके और स्वयं नाराज होकर चले आये। अतः अपनी अकुशलता के कारण ही तुम्हें उसमें हठ का दोष दिखाई देता है। नायक के प्रति दूती का यह निपुण तर्क व्यञ्जित है।

तुज्झङ्गराअसेसेण सामली तह खरेण सोमारा ।
सा किर गोलाऊले ह्लाआ जम्बूकसाएण ॥ ८९ ॥

[तवाङ्गरागशेषेण श्यामला तथा खरेण सुकुमारा ।
सा किल गोदाकूले स्नाता जम्बूकषायेण ॥]

'उस सुकुमार श्याम अङ्गना ने तुम्हारे इतने तीखे और जामुन (के पत्तों) के मिश्रण के कारण कसैले उच्छिष्ट उबटन से गोदावरी के किनारे पर स्नान किया' अर्थात् तुम्हारे उच्छिष्ट अङ्गराग को ग्रहण करने के बहाने उसने तुम्हारे अङ्गों के स्पर्श की लालसा को व्यक्त करते हुए अपना अनुराग प्रकाशित किया ।

अज्ज व्वेअ पउत्थो अज्ज व्विअ सुण्णआइँ जाआइं ।
रत्थामुहदेउलचत्तराइँ अह्मं च हिअआइं ॥ ९० ॥

[अद्यैव प्रोषितोऽद्यैऽव शून्यकानि जातानि ।
रथ्यामुखदेवकुलचत्वराण्यस्माकं च हृदयानि ॥]

अपने प्रियतम के सर्वमान्य गुणों की व्यञ्जना करती हुई सद्यःप्रोषितपतिका गौरव और गर्व के साथ अपनी सखियों में कहती है—

"आज ही वह विदेश गये हैं और आज ही (गाँव की) गलियाँ, देवमन्दिर चौराहे और हमारे हृदय सूने-सूने हो गये ।"

चिरडिं पि अआणन्तो लोआ लोएहिँ गोरवब्भहिआ ।
सोणारतुले व्व णिरक्खरा वि खन्धेहिँ उब्भन्ति ॥ ९१ ॥

[वर्णावलीमप्यजानन्तो लोका लोकैर्गौरवाभ्यधिकाः ।
सुवर्णकारतुलेव निरक्षराः अपि स्कन्धैरुह्यन्ते ॥]

जिस प्रकार सुनार की निरक्षर (अक्ष=दो तोला, उससे अधिक न लेने वाली— निरक्षं रान्ति इति निरक्षराः) तुलाएँ भी अधिक महत्त्व प्रदान करके लोगों द्वारा सावधानी के साथ ले जाई जाती हैं, उसी प्रकार वर्णमाला को भी न जानने वाले निरक्षर लोगों को भी लोग अधिक गौरवशाली समझकर कन्धों पर उठा उठा लेते हैं ।

कहता है—

(कोपवश) अरुण कपोलों वाली, स्खलित अक्षर बोलने वाली, फड़कते हुए ओठों से 'मुझे मत छुओ', कह कर कोप के साथ दूर हटती हुई प्रिया की याद आती है।

गोलाविसमोआरच्छलेण अप्पा उरम्मि से मुक्को।
अणुअम्पाणिद्दोसं तेण वि सा आढमुवऊढा ॥ ९३ ॥

[गोदावरीविषमावतारच्छलेनात्मा उरसि तस्य मुक्तः।
अनुकम्पानिर्दोषं तेनापि सा गाढमुपगूढा ॥]

गोदावरी के घाट (अवतार उतरने के स्थल) की विषमता (ऊँचा-नीचा होनेके कारण पैर फिसल जाने के वहाने नायिका ने अपने आप को उसके (नायक के) वक्ष पर गिरा दिया और उसने भी मानो अनुकम्पा-प्रेरित होने के कारण विना किसी दूषित भावना के उसको कसकर हृदय से लगा लिया।

सा तुइ सहत्थदिण्णं अज्ज वि रे सुहअ गन्धरहिअं पि।
उव्वसिअणअरघरदेवदे व्व ओमालिअं वहइ ॥ ९४ ॥

[सा त्वया स्वहस्तदत्तामद्यापि रे सुभग गन्धरहितामपि।
उद्वसितगृहनगरदेवतेवावमालिकां वहति ॥]

प्रणय-विमुख नायक को पुनः अनुकूल करने की इच्छा से दूती नायक से कहती है—

'हे सुभग! तुमने उसे अपने हाथ से (प्रेम और मान के साथ) जो माला दी थी वह यद्यपि अव गन्धहीन हो गई है तो भी वह उसे उद्वसित (विसर्जित) नगरदेवता के समान धारण करती है। अर्थात् जिस प्रकार विसर्जित नगरदेवी पूजा के समय डाली हुई किन्तु कालान्तर में सूख जाने पर निर्गन्ध हुई पुष्पमाला को ही धारण किये रहती है उसी प्रकार वह भी अन्य अलङ्कारों को त्याग कर केवल तुम्हारे द्वारा दी गई माला को, उसके सूखकर गन्धरहित हो जाने पर भी, (तुम्हारे प्रेम के कारण) धारण किये रहती है।

इस प्रकार निश्छल प्रेम करने वाली सुन्दरी पर भी कृपा नहीं करते ? इस संबोध के साथ 'सुभग' शब्द की सहायता से 'यह तुम्हारे लिये सौभाग्य की ही वात है'। नायक के प्रति यह प्रोत्साहन ध्वनित होता है। नगरदेवता की उपमा से नायिका का देवाङ्गनासदृश सौन्दर्य तथा नागरिकों का रूप एवं गुणों के कारण उसके प्रति वहुमान व्यञ्जित है।

केलीअ वि रूसेउं ण तीरए तम्मि चुक्कविणअम्मि।
जाइअएहिँ व माए इमेहिँ अवसेहिँ अङ्गेहिँ ॥ ९५ ॥

[केल्यापि रुषतु न शक्यते तास्मश्च्युतविनये ।
याचितकैरिव मातरेभिरवशैरङ्गैः ॥]

मान की सीख देती हुई सखी को प्रेमपराधीन नायिका उत्तर देती है—

"ओह मैया ! (रतिक्रीडा के आस्वादन की लोलुपता में लज्जा के विगलित हो जाने से) प्रियतम के विनय (शील या लज्जा) से च्युत हो जाने पर भी इन माँगे हुए से परवश अङ्गों से परिहास के रूप में भी रोष नहीं किया जा सकता। अर्थात् जिस प्रकार माँगी हुई वस्तु पर अपना अधिकार नहीं होता और न ही वह मनमाने तौर पर प्रयोग में लाई जा सकती है उसी प्रकार प्रिय के रति-याचना के अवसर पर उनकी लज्जादायिनी चेष्टाओं से भी मुझे रोष नहीं होता। मेरे अङ्ग मेरे अधिकार में ही नहीं रहते।

उप्फुल्लिआइ खेल्लउ मा णं वारेहि होउ परिऊढा ।
मा जहणभारगरुई पुरिसाअन्ती किलिम्मिहिइ ॥ ९६ ॥

[उत्फुल्लिकया खेलतु मेनां वारय भवतु परिक्षामा ।
मा जघनभारगुर्वी पुरुषायितं कुर्वती क्लमिष्यति ॥]

उत्फुल्लिका क्रीडा से खेलती हुई वेश्याबालिका को रोकती हुई सखी से दूसरी सखी मज़ाक में कहती है—

'इसे उत्फुल्लिका' से खेलने दो, मत रोको और (इस प्रकार खेलकर) तन्वङ्गी होने दो क्योंकि ऐसा न होने पर जघनभाग के भारी हो जाने से (यौवन में) विपरीत रति करने में थक जाया करेगी।

बालिका के विषय में विपरीत रति की यह कल्पना रसगत अनौचित्य का उदाहरण है। इसे रसाभास तो क्या उससे भी कुछ नीचे ही कह सकते हैं।

पउरजुवाणो गामो महुमासो जोव्वणं पई ठेरो ।
जुण्णसुरा साहीणा असई मा होउ किं मरउ ॥ ९७ ॥

[प्रचुरयुवा ग्रामो मधुमासो यौवनं पतिः स्थविरः ।
जीर्णसुरा स्वाधीना असती मा भवतु किं म्रियताम् ॥]

सतीत्व से च्युत होकर लज्जित होती हुई किसी कुलवधू को आश्वासन देती हुई कोई दूती कहती है—

हाँ, पुरानी शराब अपने पास हो, फिर (कोई) असती न हो तो क्या मर जाय ?

वहुसो वि कहिज्जन्तं तुहवअणं मज्झ हत्यसंदिट्ठं।
ण सुअं त्ति जम्पमाणा पुणरुत्तसअं कुणइ अज्जा ॥ ९८ ॥

*[बहुशोऽपि कथ्यमानं तव वचनं मम हस्तसंदिष्टम्।
न श्रुतमिति जल्पन्ती पुनरुक्तशतं करोत्यार्या ॥]*

नायिका को अधिक उत्कण्ठित करने के लिये नायिका का अतिशय अनुराग व्यक्त करती हुई दूती उससे (नायक से) कहती है—

'मेरे हाथ भेजे हुए तुम्हारे संदेश को बार बार कहने पर भी 'सुना नहीं' यह कहती हुई वह अङ्गना सैकड़ों बार पुनरावृत्ति करती है।

नायक के संदेश को दूती के मुख से बार बार सुन कर भी नायिका तृप्त नहीं होती। अतः वह उससे बार बार कहती है कि 'नहीं सुना'। दूती यह समझकर कि शायद बात इसकी समझ में आई ही नहीं है, अपनी भाषा को सीधी और सरल बना कर फिर कहती है किन्तु नायिका फिर वही 'नहीं सुना' कह देती है। दूती फिर अन्य शैली का आश्रय लेती है। इस प्रकार दूती पुनरुक्ति नहीं करती अपितु नायिका ही पुनरुक्ति करती है क्योंकि वह हर बार 'नहीं सुना' ही कहती है। 'बहुशः' में शस् प्रत्यय 'बारबार, 'अनेक प्रकार' दोनों ही अर्थों में है। इस प्रकार नायक के संदेश को बार बार सुनने से नायिका का उसके प्रति अतिशय अनुराग व्यक्त है।

पाअडिअणेहसब्भावणिब्भरं तीअ जह तुमं दिट्ठो।
संवरणवावडाए अण्णो वि जणो तह ब्वेअ ॥ ९९ ॥

*[प्रकटितस्नेहसद्भावनिर्भरं तया यथा त्वं दृष्टः।
संवरणव्यापृतयाऽन्योऽपि जनस्तथैव ॥]*

किसी कुलवधू में अनुरक्त नायक के प्रति उसके अनुराग प्रदर्शन तथा अन्य व्यक्तियों की दृष्टि से अपने भाव को छिपाने की चतुराई को व्यक्त करती हुई दूती नायक से कहती है—

"उसने जिस प्रकार तुम्हें पूर्ण स्नेह और सद्भाव के साथ देखा था, (तुम्हारे और अपने पारस्परिक प्रणय-सम्बन्ध को) छिपाने में संलग्न रहते हुए उसी प्रकार अन्य व्यक्तियों को भी देखा ? अर्थात् कोई यह सन्देह न करे कि यह इस में अनुरक्त है, इसलिए उसने सभी को समान दृष्टि से देखा।

सब को प्रेम-दृष्टि से देखने के कारण अन्य व्यक्तियों के प्रति भी उसके अनुराग की भ्रान्ति मत कर लेना। 'वह केवल तुम से ही प्रेम करती है' सं. व्यावडा विशेषण से नायक के प्रति यह आश्वासन ध्वनित है जिससे प्रेम सम्बन्ध छिपाने में भी वह कितनी चतुर है, रहस्य खुलने नहीं देगी, अतः निर्द्वन्द्व उसके साथ विहार करो यह प्रोत्साहन भी व्यञ्जित है।

गेण्हह पलोग्रह इमं पहसिग्रवग्रणा पइस्स ग्रप्पेइ ।
जाग्रा सुग्रपढमुब्भिण्णदन्तजुग्रलङ्किग्रं वोरं ॥ १०० ॥

[गृह्णीत प्रलोकयतेदं प्रहसितवदना पत्युरर्पयति ।
जाया सुतप्रथमोद्भिन्नदन्तयुगलाङ्कितं बदरम् ॥]

'यह लो, देखो,' यह कह कर मुस्काते हुए मुख से पत्नी पुत्र के पहले-पहल निकले हुए दो दाँतों के चिह्न से अंकित बेर को पति को दे रही है। बच्चे के दाँत निकल ग्राने के बाद संभोग ग्रनुमत होने के कारण नायिका ग्रपनी प्रसवोत्तर कालीन ग्रानन्ददायक सुरत की योग्यता ग्रौर ग्रवसर की सूचना देती है। यह प्रहसित-वदना विशेषण से ग्रभिव्यक्त है।

रसिग्रजणहिग्रग्रदइए कइवच्छलपमुहसुकइणिम्मइए ।
सत्तसग्रम्मि समत्तं बीग्रं गाहासग्रं एग्रं ॥ १०१ ॥

[रसिकजनहृदयदयिते कविवत्सलप्रमुख सुकविनिर्मिते ।
सप्तशतके समाप्तं द्वितीयं गाथाशतमेतत् ॥]

कवि-वत्सल प्रमुख सुकवि (हाल) द्वारा निर्मित (संगृहीत) रसिकजनों की हार्दिक प्रिय गाथासप्तशती में गाथाग्रों का यह दूसरा शतक समाप्त हुग्रा।

तृतीय शतक

* *

अच्छउ ता जणवाओ हिअअं विअ अत्तणो तुह पमाणं ।
तह तं सि मन्दणेहो जह ण उवालम्भजोग्गो सि ॥ १ ॥

[अस्तु तावज्जनवादो हृदयमेवात्मनस्तव प्रमाणम् ।
तथा त्वमसि मन्दस्नेहो यथा नोपालम्भयोग्योऽसि ॥]

"मेरा अन्य किसी से स्नेह नहीं है । लोग झूठा आरोप लगाते हैं" इस प्रकार की मनुहारें करते हुए नायक से मानिनी रोप के साथ कहती है—

"लोकचर्चा की वात जाने दो, तुम्हारा हृदय स्वयं प्रमाण है (उसी से पूछ लो) मेरे प्रति तुम्हारा स्नेह इतना शिथिल हो गया है कि तुम उलाहने के योग्य भी नहीं रहे ।" (उलाहना प्रेम करने वाले को ही दिया जाता है । तटस्थ आदमी से शिकवा ही क्या ? तुम तो विल्कुल उदासीन हो गये हो)

उपालम्भ देती हुई भी नायिका विशेप आक्षेप के उद्देश्य से उलाहना न देने योग्य कहती है अतः 'आक्षेप' अलङ्कार है ।

अप्पच्छन्दपहाविर दुल्लहलम्भं जणं वि मग्गन्त ।
आआसपहेहिँ भमन्त हिअअ कइआवि भज्जिहिसि ॥ २ ॥

[आत्मच्छन्दप्रधावनशील दुर्लभलम्भं जनमपि मृगयमाण ।
आकाशपथैर्भ्रमद्हृदय कदापि भङ्क्ष्यसे ॥]

किसी सुनते हुए युवक को प्रणयनिमन्त्रण देती हुई कोई कामिनी हृदय को संवोधित करती हुई कहती है—

"अपने मन की मौज में दौड़ लगाने के व्यसनी ! दुर्लभ जन की खोज में व्यस्त ! हृदय ! आकाश मार्ग से भ्रमण करता हुआ तू कभी न कभी टूट जायेगा"।

"हृदय की स्वेच्छाचारिता पर कुढने से गुरुजन का अङ्कुश व्यञ्जित है । 'दुर्लभ जन' से नायिका की उच्चाकाङ्क्षा के कारण रसिकशिरोमणि की खोज ध्वनित है । 'आकाशमार्ग से भ्रमण करना' आधार की उपेक्षा का सूचक है जिससे दूती आदि में नायिका की अनास्था प्रकट होती है । अपने प्रेम व्यापार में वह किसी को सहायक नहीं वनाना चाहती क्योंकि ऐसा करने से रहस्य का उद्घाटन होने का भय है । अतः नायिका स्वयंदूतिका है । प्रयत्न करने पर भी उच्च-कोटि के रसिक

की प्राप्ति न होने पर हृदय के टूटने की संभावना तो है ही। इस प्रकार 'मुझ जैसी उच्चविचार, परिष्कृतरुचि और विश्वासयोग्य प्रेमिका नहीं मिलेगी। अतः यदि मेरा निमन्त्रण स्वीकार करोगे तो तुम्हारा ही सौभाग्योदय होगा" यह नायक के प्रति व्यङ्ग्य है।

अहव गुणव्विअ लहुआ अहवा गुणअणुओ ण सो लोओ।
अहव म्हि णिग्गुणा वा बहुगुणवन्तो जणो तस्स ॥ ३ ॥

[अथवा गुणा एव लघवोऽथवा गुणज्ञो न स लोकः।
अथवास्मि निर्गुणा वा बहुगुणवान् जनस्तस्य ॥]

गुणगर्विता गणिका शीघ्र ही प्रणय-विमुख हुए रसिक की निन्दा करती हुई अपनी दूती से कहती है—

"क्या गुण ही लघु (आदर के अयोग्य) हैं अथवा उसे ही गुणों की परख नहीं है ? या मुझ में गुण हैं ही नहीं ? या उसकी अन्य प्रेयसियाँ (मुझ से) अधिक गुणशालिनी हैं ? भाव यह है कि मुझ जैसी गुणशालिनी को आदर न देकर उसने ही अपनी ग्राम्यता का परिचय दिया है"

फुट्टन्तेण वि हिअएण मामि कह णिव्वरिज्जए तम्मि।
आदंसे पडिबिम्बं व्व ज्जम्मि दुःखं ण संकमइ ॥ ४ ॥

[स्फुटतापि हृदयेन मातुलानि कथं निवेद्यते तस्मिन्।
आदर्शे प्रतिबिम्बमिव यस्मिन् दुःखं न संक्रामति ॥]

"अन्यासक्त प्रिय को अपनी हृदयव्यथा सुनाकर ही अनुकूल कर लो" यह समझाती हुई मामी से नायिका ने कहा—

दर्पण में प्रतिबिम्ब के समान जिसमें (मेरे) दुःख का संक्रमण ही नहीं होता, (जो मेरे दुःख से दुःखी नहीं होता) दिल टूट जाने पर भी उस व्यक्ति के प्रति निवेदन कैसे किया जाय ?

"दिल टूट जाने' से बहुत दिन से ही दुःख सहते हुए हृदय की शोचनीय दशा व्यञ्जित है। जिस प्रकार दर्पण में प्रतिबिम्ब ऊपर ही ऊपर रहता है। उसमें धँस नहीं सकता इसी प्रकार मेरे दुःख उसके हृदय में कोई स्थान नहीं पाते। जिस प्रकार दर्पण बाहर से चमकदार किन्तु वस्तुतः अत्यन्त कठोर होता है (या[1] ?) उसी प्रकार प्रिय का हृदय भी ऊपर से ही चाकचक्य उत्पन्न करने वाला है, वास्तव में वह अति कठोर है। किसी के हृदय में संक्रान्त होकर ही दुःख सहानुभूति और करुणा को जगा सकता है। उनके हृदय में मेरे कष्ट प्रविष्ट ही नहीं हो पाते।

---

१. आजकल दर्पण शीशे का बनाया जाता है, जो नाजुक होता है, उर्दू कविता में आशिक के नाजुक दिल की उपमा शीशे से प्रायः दी जाती है, किन्तु प्राचीन काल में जब शीशा बनाने का ज्ञान ही लोगों को न था उस वक्त धातु के चिकने टुकड़े पर पालिश करके दर्पण बनाया जाता

पासासङ्की काओ णेच्छदि दिण्णं पि पहिअघरणीए ।
ओअन्तकरअलोगलिअवलअमज्झट्ठिअं पिण्डं ॥ ५ ॥

*[पाशाशङ्की काको नेच्छति दत्तमपि पथिक-गृहिण्या ।
अवनतकरतलावगलितवलयमध्यस्थितं पिण्डम् ॥]*

प्रवास के लिये प्रस्तुत नायक को नायिका की भावी वेदना से सूचित करती हुई सखी किसी अन्य प्रोषितपतिका का वृत्तान्त सुनाती है—

"प्रवासी की गृहिणी (प्रोषितपतिका) द्वारा दिये हुए (किन्तु देते समय) हाथों को नीचे झुकाने पर (कृशता के कारण) कलाई से निकले हुए कंगन के बीच में स्थित वलिपिण्ड को कौवा पाश की आशङ्का से ग्रहण ही नहीं करता।

प्रिय के विरह में प्रोषितपतिका अत्यन्त क्षीण हो गई है। इतनी क्षीण कि उसकी चूड़ियाँ भी खिसक कर हाथ से निकल जाया करती हैं। वह शकुन के लिये कौवे को प्रतिदिन भात के लड्डू की वलि देती है। किन्तु वलि को झुककर पृथ्वी पर रखने में चूड़ी कलाई से निकल जाती है जिससे वलिपिण्ड पृथ्वी पर चूड़ी के बीच में स्थित हो जाता है। अब कौवा चूड़ी को फंदा समझ कर पकड़े जाने के भय से वलि के पास ही नहीं आता। 'गृहिणी' शब्द से स्पष्ट है कि प्रिय की याद के साथ साथ उसे घर का प्रबन्ध भी करना पड़ता है जिससे विरह अत्यन्त असह्य हो उठता है।

"प्रवासी की प्रिया की ऐसी दशा हुआ करती है इसलिये प्रवास का विचार भी मत करो" यह नायक के प्रति व्यङ्ग्य है।

ओहिदिअहागमासंकिरीहिँ सहिआहिँ कुड्डलिहिआओ ।
दोतिण्णि तहिं विअ चोरिआएँ रेहा पुसिज्जन्ति ॥ ६ ॥

*[अवधिदिवसागमापशंकिनीभिः सखीभिः कुड्यलिखिताः ।
द्वित्रास्तत्रैव चोरिकया रेखाः प्रोञ्छ्यन्ते ॥]*

प्रोषितपतिका की सखी उसके प्रियतम को जल्दी आने का सन्देश किसी पथिक के हाथों इस प्रकार भेजती है—

अवधि दिवस के आगमन (की शङ्का) से शङ्कित सखियाँ दीवार पर (दिन गिनने के लिये नायिका द्वारा प्रतिदिन एक एक करके) खींची हुई रेखाओं में से दो-तीन रेखाएँ चोरी से पोंछ डालती हैं।

अवधि-दिन का हिसाब लगाने के उद्देश्य से नायिका प्रतिदिन एक रेखा दीवार पर बना देती है और इस प्रकार गुजरे हुए दिनों का हिसाब रखती है जिससे यह पता चलता रहे कि प्रिय को परदेश गये कितने दिन हो गये और लौट आने के कितने दिन रह गये। सखियों को उसकी शोचनीय दशा देखकर यह आशंका हो

जाती है कि यदि अवधि दिवस पर भी नायक नहीं आया तो नायिका के प्राणों का अनिष्ट हो सकता है। अतः वे चुपके से उन रेखाओं में से दो-तीन मिटा डालती हैं, यह सोचकर कि अगर नायक नियत दिन ही आ गया तो इसको अवधि से पहले ही आ जाने का अपार हर्ष होगा और यदि नहीं आया तो यह अपनी खींची हुई रेखाओं को गिनकर समझेगी कि अभी तो इतने ही दिन उन्हें गये गुजरे हैं। अभी अवधि पूरी नहीं हुई। "कुड्यलिखित' से सूचित होता है कि अवधि-दिवस का हिसाब सदा सामने रहे। इससे नायिका की अत्यधिक उत्कण्ठा व्यञ्जित होती है।

तुह मुहसारिच्छं ण लहइ त्ति संपुण्णमण्डलो विहिणा।
अण्णमअं व्व घडइउं पुणो वि खण्डिज्जइ मिअङ्को ॥ ७ ॥

[तव मुखसादृश्यं न लभत इति सम्पूर्णमण्डलो विधिना।
अन्यमयमिव घटयितुं पुनरपि खण्डयते मृगाङ्कः ॥]

नायिका की चाटुकारी करता हुआ नायक कहता है—

"तुम्हारे मुख की समता नहीं पा सका" यह सोच कर विधि अन्य (प्रकार का) बनाने के लिये बार बार संपूर्णमंडल चन्द्रमा को तोड़ डालता है।

अज्जं गओत्ति अज्जं गओत्ति अज्जं गओत्ति गणरीए।
पढम व्विअ दिअहद्धे कुड्डो रेहाहिँ चित्तलिओ ॥ ८ ॥

[अद्य गत इत्यद्य गत इत्यद्य इति गणनाशीलया।
प्रथम एव दिवसार्धे कुड्यं रेखाभिश्चित्रितम् ॥]

किसी विरहिणी की दशा का वर्णन करने के बहाने नायिका की सखी परदेश जाने के लिये उद्यत नायक का उत्साहभङ्ग करती है—

'आज गये हैं', 'आज गये हैं' 'आज गये हैं' (बार बार) यह गिनते गिनते (नायिका ने) (पहले) आधे दिन में दीवार को रेखाओं से चित्रित कर डाला।

एक ही दिन में 'आज गये' आज गये सोचकर बार बार अनेक दिन का ज्ञान होने से विरहिणी के प्रिय की स्मृति से जनित अतिशय मोह व्यङ्ग्य है। प्रथम दिनार्ध में ही अनेक रेखाएँ खींचने से स्वल्पकाल में ही दीर्घ विरह की मर्मान्तक व्यथा की अनुभूति व्यञ्जित है जिससे नायक के प्रति "अभी से इसका यह हाल है, आगे क्या दशा होगी ? अतः आप इस बेचारी को इस कष्ट में न डालें" आदि व्यङ्ग्य स्पष्ट है।

कोई रसिक युवा अपना अनुभव मित्र को सुना रहा है—

"प्रथम समागम की सुरतक्रीडा प्राप्त होने पर भी उतना आनन्द नहीं होता जितना अगले दिन (दिन में रात की घटनाओं की स्मृति के कारण प्रियतमा के) सलज्ज वदन कमल को देखकर।"

'सुरतक्रीड़ा प्राप्त होने पर भी' में 'भी' शब्द से स्पष्ट व्यङ्ग्य है कि प्रथम समागम में (लज्जा, भय, सुकुमारता आदि के कारण) सुरत की प्राप्ति ही कठिन है और यदि वह प्राप्त हो भी गया तो 'छीन-झपट, बचाव आदि के संघर्ष में पूर्ण आनन्द का तो प्रश्न ही नहीं उठता थोड़ा-बहुत आनन्द प्राप्त भी हुआ तो वह अगले दिन प्रिया का सलज्ज मुख देखने से उत्पन्न आनन्द से निम्न कोटि का होता है ?

जे सँमुहागअवोलन्तवलिअपिअपेसिअच्छिविच्छोहा।
अम्हं ते मअणसरा जणस्स जे होन्ति ते होन्तु ॥ १० ॥

[ये संमुखागतविचलद्वलितप्रियप्रेषिताक्षिविक्षोभाः।
अस्माकं ते मदनशरा जनस्य ये भवन्ति ते भवन्तु ॥]

नायक के प्रति औत्सुक्य प्रकट करती हुई विदग्धा कलहान्तरिता अपनी सखी से कहती है—

"हमारे लिये तो (मुझे मनाने के लिये) सम्मुख आये हुए (किन्तु मुझ से उपेक्षित होकर) लौट चलते हुए प्रिय द्वारा (इस आशा से कि शायद अब मान त्याग दिया हो) मुड़कर डाली हुई दृष्टि की भङ्गिमाएँ ही काम के बाण हैं। लोगों के लिये चाहे जो होते हों।"

इअरो जणो ण पावइ तुह जहणारुहणसंगमसुहेल्लिं।
अणुहवइ कणअडोरो हुअवहवरुणाणं माहप्पं ॥ ११ ॥

[इतरो जनो न प्राप्नोति तव जघनारोहणसंगमसुखकेलिम्।
अनुभवति कनकदोरो हुतवहवरुणयोर्माहात्म्यम् ॥]

स्वर्ण की मेखला से विभूषित किसी नितम्बिनी को देखकर कोई रसिक व्यक्ति कहता है—

"अन्य कोई (व्यक्ति) तुम्हारे जघन-स्थल (कटिप्रदेश) पर आरोहण करके सङ्गम की सुखमय क्रीडा प्राप्त नहीं कर सकता। केवल सोने का डोरा ही (स्वर्ण निर्मित मेखला-कलाप) अग्नि और वरुण (श्यामशवल व्रत) के माहात्म्य का (फल) अनुभव करता है।"

'श्यामशवल' नामक व्रत में कठोर अग्नितप के पश्चात् जल में प्रवेश करने का विधान है। मेखला-कलाप बनाने के लिये सोने को अग्नि में तपाने और फिर पानी में बुझाने की अनेक क्रियाएं करनी पड़ती हैं। इस प्रकार वह अग्नि एवं वरुण (जल

के देवता) की उपासना (श्यामशबल व्रत) पूरी करता है और उसी के फलस्वरूप तुम्हारे जघनस्थल पर चढ़कर सङ्गम (संपर्क) जनित सुख का आस्वादन करता है। कोई अन्य व्यक्ति (जिसने इस प्रकार का कठोर व्रत न किया हो) तुम्हारे सङ्गम (सुरत) का आनन्द नहीं पा सकता। अर्थात् तुम्हारे समागम का आनन्द कठोर पुण्य से ही प्राप्त हो सकता है। वह रसिक निश्चय ही बड़ा पुण्यशाली होगा जिसे यह सुख प्राप्त है।

जो जस्स विहवसारो तं सो देइ त्ति किं त्थ अच्छेरं।
अणहोन्तं पि खु दिण्णं दोहग्गं तइ सवत्तीणं ॥ १२ ॥

*[यो यस्य विभवसारो तं सो ददातीति किमत्राश्चर्यम्।
अभवदपि खलु दत्तं दौर्भाग्यं तया सपत्नीनाम् ॥]*

नायिका के सौभाग्य का वर्णन करती हुई सखी उससे कहती है—

जो धन जिसके पास होता है उसी को वह दे तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। तुमने तो (अपने पास) न होते हुए भी दौर्भाग्य अपनी सपत्नियों को दिया। (आश्चर्य की बात तो यह है)

व्यङ्ग्य यह है कि तुम अपने प्रिय की प्राणप्रिया हो, दौर्भाग्य (प्रिय द्वारा प्रणय का भङ्ग) तुम्हारे पास भी नहीं फटकता।

प्रिय को पूर्णतया अपने वश में करके तुमने अपनी सपत्नियों को प्राप्त प्रिय का प्रणय भी उनसे छीन लिया और इस प्रकार उन्हें दौर्भाग्य प्रदान कर दिया।

चन्दसरिसं मुंह से सरिसो अमअस्स मुहरसो तिस्सा।
सकअग्गहरहसुज्जलचुम्बणअं कस्स सरिसं से ॥ १३ ॥

*[चन्द्रसदृशं मुखं तस्याः सदृशोऽमृतस्य मुखरसस्तस्याः।
सकचग्रहरभसोज्ज्वलचुम्बनकं कस्य सदृशं तत् ॥]*

उप्पण्णत्थे कज्जे अइचिन्तन्तो गुणागुणे तम्मि ।
चिरआलमन्दपेच्छित्तणेण पुरिसो हणइ कज्जं ॥ १४ ॥

*[उत्पन्नार्थे कार्येऽतिचिन्तयन्गुणागुणौ तस्मिन् ।
चिरकालमन्दप्रेक्षित्वेन पुरुषो हन्ति कार्यम् ॥]*

अनेक प्रयत्नों से प्राप्त युवति के प्रेम का अभिनन्दन करने में ऊहापोह करने वाले नायक से दूती कहती है—

कार्य के फलोन्मुख होते हुए भी उसके गुण दोषों पर आवश्यकता से अधिक विचार करने वाला व्यक्ति वहुत समय तक नीतिमार्ग के अनुसार अपने अनिष्ट के भय से कार्य को विगाड़ लेता है ।

"तुम्हारी इच्छा के अनुसार मैंने उसे तुम्हारे प्रति आकृष्ट किया किन्तु अब तुम स्वयं विचार में पड़कर वना वनाया काम विगाड़ रहे हो" नायक के प्रति यह अर्थ व्यङ्ग्य है ।

वालअ तुमाहि अहिअं णिअअं विअ वल्लहं महं जीअं ।
तं तइ विणा ण होइ त्ति तेण कुविअं पसाएमि ॥ १५ ॥

*[वालक त्वत्तोऽधिकं निजकमेव वल्लभं मम जीवितम् ।
तत्त्वया विना न भवतीति तेन कुपितं प्रसादयामि ॥]*

प्रणयकुपित प्रियतम को अपने अतिशय अनुराग का प्रदर्शन कर के मनाती हुई नायिका कहती है—

'वालक ! (वास्तविकता से अनभिज्ञ !) मुझे तुमसे भी अधिक प्रिय अपना जीवन है, वह तुम्हारे विना नहीं रह सकता, इसलिए तुमको मना रही हूँ । व्यङ्ग्यार्थ यह है कि "तुम्हारे विना मेरा जीते रहना असंभव है और तुम मेरे प्रगाढ प्रेम को समझते भी नहीं। निरे वालक वने हुए हो ।

पत्तिअ ण पत्तिअन्ती जइ तुज्झ इमे ण मज्झ रुअईए ।
पुट्ठीअ वाहविन्दू पुलउब्भेएण भिज्जन्ता ॥ १६ ॥

*[प्रतीहि न प्रतीयन्ती यदि तवेमे न मम रोदनशीलायाः ।
पृष्ठस्य वाष्पविन्दवः पुलकोद्भेदेन भिद्यमानाः ॥]*

चुग़लख़ोरों ने नायिका के कान भर दिये तो वह मान धारण कर वैठी । नायक ने अनुनय-विनय करके और पैरों में पड़कर उसको मना लिया । इसके पश्चात् नायिका को अपनी ग़लती जान पड़ी । उसने नायक से कहा कि 'पिशुन जन के सिखाने में आकर मैंने तुम्हें व्यर्थ ही कष्ट दिया" इस पर नायक ने काकु (एक ख़ास लहजे) के साथ उत्तर दिया—

"(दुष्ट जनों की वातों पर ही विश्वास करके) रो पड़ने वाली, तुम्हारे

आँसुओं की ये बूंदें यदि मेरी पीठ के रोमाञ्च से चूर-चूर न हो रही हों तो मेरी बात का विश्वास न कर के पिशुनों के वचनों का विश्वास करो।

भाव यह है 'तुम्हारे आँसू मेरी पीठ पर गिरे। तुममें अत्यासक्त होने के कारण उनके स्पर्श से मेरा रोमाञ्च हो उठा जिससे वे चूर-चूर हो गये तुम्हारे प्रति मेरे प्रगाढ प्रणय का यह प्रत्यक्ष प्रमाण है कि आसुओं के स्पर्श मात्र से ही मैं रोमाञ्चित हो गया। प्रणय का यह प्रत्यक्ष प्रमाण पाकर भी तुम मेरा विश्वास न करके पिशुनों का विश्वास करती हो तो करो। अर्थात् मुझ जैसे प्रिय पर अविश्वास करके खलवचन में फिर कभी विश्वास न करना।'

तं मित्तं काअव्वं जं किर वसणम्मि देसआलम्मि।
आलिहिअभित्तिवाउल्लअं व ण परम्मुहं ठाइ ॥ १७ ॥

*[तन्मित्रं कर्तव्यं यत्किल व्यसने देशकालेषु।
आलिखितभित्तपुत्तलकमिव न पराङ्मुखं तिष्ठति ॥]*

उस व्यक्ति को मित्र बनाना चाहिए जो देश (सुदूर स्थानों में) काल (सभी समयों में) तथा आपत्ति में कभी भी दीवार पर चित्रित पुतली के समान पराङ्मुख न हो।

वहुआइ णइणिउञ्जे पढमुग्गअसीलखण्डणविलक्खं।
उड्डेइ विहंगउलं हा हा पक्खेहिँ व भणन्तं ॥ १८ ॥

*[वध्वा नदीनिकुञ्जे प्रथमोद्गतशीलखण्डनविलक्षम्।
उड्डीयते विहङ्गकुलं हा हा पक्षैरिव भणत् ॥]*

नदी किनारे स्थित कुञ्ज में वधू के प्रथम शीलखण्डन (पर पुरुष के साथ अभिसार) से लज्जित पक्षिगण मानो अपने पङ्खों से 'हाय-हाय' करता हुआ उड़ गया। पक्षियों के उड़ते समय पंखों के संचालन से जो शब्द होता है उसी के आधार पर कवि ने यह उत्प्रेक्षा की है। वधू शब्द घर में सास ससुर आदि गुरुजनों के होते हुए भी नदी के कछार में जाकर परपुरुष से अभिसार करने के कारण नायिका के दुःसाहस का द्योतक है।

सच्चं भणामि वालअ णत्थि असक्कं वसन्तमासस्स।
गन्धेण कुरवआणं मणं पि असइत्तणं ण गआ ॥ १९ ॥

*[सत्यं भणामि बालक! नास्त्यशक्यं वसन्तमासस्य।
गन्धेन कुरवकाणां मनागप्यसतीत्वं न गता ॥]*

प्रोषितपतिका की सखी उसके पति के पास जाते हुए पथिक द्वारा संदेश भेजती है—

हे बालक! (विरह-वेदना और स्त्री-चरित्र को न समझने वाले!)

सच कहती हूँ वसन्त ऋतु के लिए कुछ भी दुष्कर नहीं है किन्तु फिर भी वह कुरवक पुष्पों के परिमल से भी लेशमात्र असतीत्व को प्राप्त नहीं हुई।' ववतृवोघव्य से ही कथिक वस्तु की सत्यता सिद्ध होने पर भी 'सच कहती हूँ' से 'मैं तुम्हारी हितचिन्तक हूँ अतः मेरा विश्वास करो' अर्थ की प्रतीति होती है। 'वसन्त मास के लिये कुछ भी दुष्कर नहीं' से 'अच्छी-अच्छी पतिव्रताओं का चरित्र भी वसन्तजनित कामोन्माद के कारण नष्ट हो जाता है' व्यङ्ग्य है जिससे नायक के हृदय में अधीरता की उत्पत्ति अभिप्रेत है। 'असतीत्व को प्राप्त न हुई' से अभी तक तो वह अपने चरित्र की रक्षा पूर्णतया कर सकी है' अर्थ ध्वनित है जिससे नायक को आश्वासन एवं नायिका के प्रति सन्देह की गुन्जाइश का सर्वथा अभाव प्रतीत होता है। कुल मिलाकर 'तुम निरे भोले हो, स्त्रियों की विरह-वेदना और वसन्त ऋतु के कामोद्दीपनत्व को भी नहीं समझते। अभी तक तो कुछ नहीं विगड़ा है। अगर चाहते हो कि तुम्हारी गृहिणी अखण्डित-चरित्रा रहे तो फौरन घर की राह पकड़ो' अर्थ नायक के प्रति व्यञ्जित है।

एक्केक्कमवइवेढणविवरन्तरदिण्णतरलणअणाए।
तइ वोलन्ते वालअ पञ्जरसउणाइअं तीए॥ २०॥

[एकैकवृतिवेष्टनविवरान्तरदत्ततरलनयनया।
त्वयि व्यतिक्रान्ते वालक! पञ्जरशकुनायितं तया॥]

नायक के प्रति नायिका के अनुराग का वर्णन करती हुई दूती कहती है—

हे वालक! (वास्तविकता से अनभिज्ञ!) उसके घर के पास से तुम्हारे निकलने पर वह चहार दीवारी के प्रत्येक झरोखे में अपने चपल नेत्रों को डाल कर पिंजरे में वन्द पक्षी के समान आचरण करती रही' (जिस प्रकार पिंजरे में वन्द पक्षी प्रत्येक छिद्र के वीच में चोंच या दृष्टि डालकर वेचैन घूमता रहता है उसी प्रकार वह भी प्रत्येक झरोखे में, इस आशा से कि संभव है यहीं से दर्शन हो जाये, दृष्टि डालती हुई फिरती रही। इससे नायिका की अतिशय उत्कण्ठा व्यञ्जित है। वह पक्षी के समान उड़कर तुम्हारे पास आने को प्रस्तुत है किन्तु घर वालों के वन्धन के कारण लाचार है, यह भी स्पष्ट ध्वनित है। इतनी अनुरक्त कामिनी को तुमने वहाँ से निकलते समय देखा तक नहीं अतः तुम सचमुच निरे वालक: (अज्ञ) ही हो।

ता किं करेउ जइ तं सि तीअ वइवेढपेल्लिअथणीए।
पाअङ्गुट्ठद्धक्खित्तणीसहङ्गीअ वि ण दिट्ठो॥ २१॥

[तत्किं करोतु यदि त्वमसि तया वृतिवेष्टनप्रेरितस्तनया।
पादाङ्गुष्ठार्धक्षिप्तनिःसहाङ्ग्यापि न दृष्टः॥]

'मैं उसके घर से निकला किन्तु उसने मुझे देखा तक नहीं' यह उलाहना

देते हुए नायक को नायिका की ओर से सफ़ाई देती हुई दूती कहती है—

'चहार दीवारी से अपने वक्षस्थल को सटाकर और पैर के अंगूठों के अग्रभाग पर बेबस अङ्गों (के भार) को डाल कर देखने पर भी वह तुम्हें न देख सकी तो क्या करे ?

'तुम्हें देखने के प्रयास में उसे अपने शरीर का भी ध्यान न रहा। अँगूठों के अग्रभाग पर शरीर को डालकर वह जितनी ऊँची हो सकती थी हुई। शरीर केवल अँगूठों पर नहीं खड़ा रह सकता था अतः उसने अपने वक्ष को चहारदीवारी से सटा लिया था इससे नायक के प्रति नायिका का औत्सुक्य व्यञ्जित है और अङ्गों के लिए 'विखत्त=क्षिप्त=फेंका हुआ' शब्द का प्रयोग नायकदर्शन की लालसा में नायिका की स्वशरीरविषयक अवहेलना का परिचायक है।

पिअसंभरणपलोट्टन्तवाहधाराणिवाअभीआए।
दिज्जइ वङ्कग्गीवाएँ दीवओ पहिअजाआए॥ २२॥

[प्रियस्मरणप्रलुठद्बाष्पधारानिपातभीतया।
दीयते वक्रग्रीवया दीपकः पथिकजायया॥]

प्रोषितपतिका वियोगिनी अपते प्रियतम की स्मृति में नेत्रों में फिरती हुई अश्रु-धारा के गिरने के भय से ग्रीवा को टेढ़ी करके दीपक जलाती है।

'दीपक जलाने के पश्चात् पति के सामीप्य का जो अनुभव वह संयोगावस्था में किया करती थी उसकी स्मृति से आँखों में आँसू आ जाते हैं। दीपक जलाते समय आँसू गिरना अमङ्गल का सूचक होता है अतः वह ग्रीवा टेढ़ी करके दीपक जलाती है।

तइ वोलन्ते वालअ तिस्सा अङ्गाइँ तह णु वलिआइं।
जह पुट्ठिमज्झणिवतन्तवाहधाराओ दीसन्ति॥ २३॥

[त्वयि व्यतिक्रामति वालक! तस्या अङ्गानि तथा नु वलितानि।
यथा पृष्ठमध्यनिपतद्बाष्पधारा दृश्यन्ते॥]

नायिका की दशा से नायक को सूचित करती हुई दूती कहती है—

दुर्बल हो गई कि उसकी आँखों से गिरती हुई अश्रुधारा पीठ में से दिखाई देती है। यह अर्थ अत्यन्त ऊहात्मक होने के कारण समीचीन प्रतीत नहीं होता।

नायक के प्रति चरम व्यङ्ग्य यह है कि 'तुम्हारे प्रति वह बेचारी इतनी उत्कण्ठित है किन्तु तुम उसकी ओर से उदासीन होकर उसे और भी अधिक कष्ट पहुंचा रहे हो। हो निरे वुद्धू।'

ता मज्झिमो व्विअ वरं दुज्जणसुअणेहिँ दोहिँ वि ण कज्जम्।
जह दिट्ठो तवइ खलो तहेअ सुअणो अईसन्तो ॥ २४ ॥

[तन्मध्यम एव वरं दुर्जनसुजनाभ्यां द्वाभ्यामपि न कार्यम्।
यथा दृष्टस्तापयति खलस्तथैव सुजनोऽदृश्यमानः ॥]

कोई विरहिणी प्रियतम के विरह की असह्यता अन्योक्ति के माध्यम से कहती है—

'उदासीन व्यक्ति ही अच्छा। दुर्जन और सुजन दोनों से ही हमें कोई सरोकार नहीं क्योंकि दुर्जन दृष्टिपथ में आकर (दर्शन देकर) जितना कष्ट पहुँचाता है उतना ही सज्जन अपने वियोग से।

अद्धच्छिपेच्छिअं मा करेहि साहाविअं पलोएहि।
सो वि सुदिट्ठो होइहि तुमं पि मुद्धा कलिज्जिहिसि ॥ २५ ॥

[अर्धाक्षिप्रेक्षितं मा कुरु स्वाभाविकं प्रलोकय।
सोऽपि सुदृष्टो भविष्यति त्वमपि मुग्धा कलिष्यसे ॥]

अपने प्रियतम को किसी कामिनी द्वारा छुपे-छुपे कनखियों से देखने पर नायिका व्यङ्ग्य करती हुई उस से कहती है—

'आधी दृष्टि डाल कर (कटाक्ष द्वारा) मत देखो स्वाभाविक रूप से (सामने पड़कर) अच्छी प्रकार देखो। (ऐसा करने पर) उसके दर्शन भी भली प्रकार हो जायेंगे और तुम मुग्धा (भोली-भाली) भी बनी रहोगी।'

दिअहं खुडक्किआए तीए काऊण गेहवावारं।
गरुए वि मण्णुदुःखे भरिमो पाअन्तसुत्तस्स ॥ २६ ॥

[दिवसं रोषमूकायास्तस्याः कृत्वा गेहव्यापारम्।
गुरुकेऽपि मन्युदुःखे स्मरामः पादान्तसुप्तस्य ॥]

कोई प्रवासी अपनी प्रियतमा का स्मरण करता हुआ अपने मित्र से कह रहा है—

'दिन भर रोष के कारण चुपचाप घर का काम-काज करके अत्यन्त रोष एवं संताप होने पर भी (रात्रि में) उसका मेरे चरणों में (पैताने) आकर सो जाना याद आता है।

'कार्यव्यस्तता के बहाने पूरा दिन बिना बोले-चाले बिता देना कोप के आधिक्य का सूचक है। रोष एवं तज्जन्य संताप होते हुए भी प्रिय के चरणों में जाकर सो जाना प्रिय के प्रति उत्कण्ठा के अतिरिक्त कुलीनता का भी व्यञ्जक है। चरणों में सोने का उद्देश्य यह भी हो सकता है कि चरण-स्पर्श से उत्कण्ठा तथा सहानुभूति होने से प्रियतम संभवतः मनाने का प्रयत्न करेंगे।'

पाणउडीअ वि जलिऊण हुअवहो जलइ जण्णवाडम्मि।
ण हु ते परिहरिअव्वा विसमदसासंठिआ पुरिसा ॥ २७ ॥

*[पानकुट्यामपि ज्वलित्वा हुतवहो ज्वलति यज्ञवाटेऽपि।
न खलु ते परिहर्तव्या विषमदशासंस्थिताः पुरुषाः ॥]*

किसी वेश्या की माता अधम वनिता में आसक्त धनी के प्रेम को अस्वीकार करने पर तुली हुई अपनी पुत्री से कहती है—

'अग्नि शराब की दुकान में भी जलती है और यज्ञभूमि में भी। विषम दशा में स्थित (जिस स्थिति को तुम पसन्द नहीं करतीं उस स्थिति में वर्तमान) पुरुषों को भी तुम्हें त्यागना नहीं चाहिये। अर्थात् जिस प्रकार अग्नि मेध्य अमेध्य सभी स्थानों और वस्तुओं को स्वीकार कर लेता है उसी प्रकार तुम्हें भी अपना कार्य करना चाहिये। चाहे जैसा कामुक आवे उससे धन हरण करना ही हमारा लक्ष्य है।

जं तुज्झ सई जाआ असईओ जं च सुहअ अह्मे वि।
ता किं फुट्टउ बीअं तुज्झ समाणो जुआ णत्थि ॥ २८ ॥

*[यत्तव सती जाया असत्यो यच्च सुभग वयमपि।
तत्किं स्फुटतु बीजं तव समानो युवा नास्ति ॥]*

अपनी भार्या के सतीत्व का बखान करने वाले उपपति से परकीया नायिका ईर्ष्यापूर्वक कहती है—

'हे सुभग! तुम्हारी पत्नी सती है और हम कुलटा हैं। इसका कारण स्पष्ट कर दूं? तुम्हारे समान कोई युवक नहीं है।'

अपने सतीत्व जैसी अमूल्य वस्तु को भी त्याग कर तुम्हें चाहती हैं' आदि व्यङ्ग्य 'सुभग' शब्द से निकलता है।

सव्वस्सम्मि विदड्ढे तहवि हु हिअअस्स णिव्वुदि च्चेअ।
जं तेण गामडाहे हत्थाहत्थिं कुडो गहिओ ॥ २९ ॥

[सर्वस्वेऽपि दग्धे तथापि खलु हृदयस्य निर्वृतिरेव।
यत्तेन ग्रामदाहे हस्ताहस्तिकया कुटो गृहीतः ॥]

नायक की साहचर्य-प्राप्ति से हर्षिता नायिका अपनी सखी से कहती है—

'सब कुछ स्वाहा हो जाने पर भी मेरे हृदय को शान्ति ही मिली क्योंकि गाँव के जलते समय (आग बुझाने के प्रयास में) उसने मेरे हाथ से घड़ा ग्रहण किया।'

नायक का स्पर्श-सुख पाकर नायिका सर्वस्व-नाश को भी कुछ नहीं गिनती इससे नायक के प्रति उसका अनुरागातिशय व्यञ्जित है 'हृदय की शान्ति' से हर्ष सञ्चारी की प्रतीति तो स्पष्ट ही है।

जाएज्ज वणुद्देसे कुज्जो वि हु णीसाहो झडिअपत्तो।
मा माणुसम्मि लोए ताई रसिओ दरिद्दो अ ॥ ३० ॥

[जायतां वनोद्देशे कुब्जोऽपि खलु निःशाखः शिथिलपत्रः।
मा मानुषे लोके त्यागी रसिको दरिद्रश्च ॥]

किसी वन में शाखा और पत्तों से हीन टेढ़ा-मेढ़ा वृक्ष हो जाय किन्तु संसार में त्यागी एवं रसिक होते हुए दरिद्र न हो। अर्थात् त्यागी और रसिक होने के साथ-साथ दरिद्र होने से तो वन में ठूंठ हो जाना भी अच्छा है।

तस्स अ सोहग्गगुणं अमहिलसरिसं च साहसं मज्झ।
जाणइ गोलाऊरो वासारत्तोद्धरत्तो अ ॥ ३१ ॥

[तस्य च सौभाग्यगुणममहिलासदृशं च साहसं मम।
जानाति गोदापूरो वर्षासमयोऽर्द्धरात्रश्च ॥]

उपपति के प्रति अपना अतिशय अनुराग प्रकट करती हुई नायिका किसी से कहती है :—

"उसके सौभाग्य गुण को तथा मेरे अमहिलासदृश (महिलाओं से अप्रत्याशित) साहस को गोदावरी का प्रवाह तथा वर्षा की रात्रि और अर्धरात्रि वेला (अच्छी प्रकार) जानती हैं। अर्थात् वर्षा की रात्रियों तथा अर्धरात्रि के समय भी मैं गोदावरी को पार करके उसके पास अभिसार के लिये पहुँची हूँ। कोई अन्य

महिला इस प्रकार का साहस नहीं कर सकती थी। यह उसका सौभाग्य है कि उसे मुझ जैसी दृढ़-प्रणया प्रेमिका प्राप्त है।

ते वोलिआ वअस्सा ताणं कुडङ्गाणं थाणुआ सेसा।
अह्मे वि गअवआओ मूलुच्छेअं गअं पेम्मं ॥ ३२ ॥

[ते व्यतिक्रान्ता वयस्यास्तेषां कुञ्जानां स्थाणवः शेषाः।
वयमपि गतवयस्का मूलोच्छेदं गतं प्रेम ॥]

किसी प्रौढा कुलटा से कामुक ने पूछा कि—आजकल प्रेमचर्चा क्यों छोड़ दी है? इस पर उसने खिन्न होकर उत्तर दिया:—

"वे वयस्य (मित्र) किनारा कर गए। उन कुञ्जों के ठूँठमात्र शेष रह गये। हमारी भी आयु (उद्दाम यौवनावस्था) जाती रही। प्रेम का जड़ से ही विनाश हो गया।"

'वे मित्र' तथा 'वे कुञ्ज' शब्दों से अभिसारकर्त्ता युवकों और संकेतस्थलों की स्मृति स्पष्ट व्यञ्जित है। इनके बहुवचन से अनेकानेक अभिसारों के रस की प्राप्ति व्यङ्ग्य है। 'वयस्य' शब्द से यह भी व्यञ्जित है कि अपने समवयस्कों के साथ हमने भी यौवन के आनन्द लूटे थे अब नवयौवन से गर्वित तुम हमारी प्रौढता को क्या समझ सकोगे?

थणजहणणिअम्बोवरि णहरङ्का गअवआणं वणिआणं।
उव्वसिआणङ्गणिवासमूलबन्ध व्व दीसन्ति ॥ ३३ ॥

[स्तनजघननितम्बोपरि नखराङ्का गतवयसां वनितानाम्।
उद्वसितानङ्गनिवासमूलबन्धा इव दृश्यन्ते ॥]

किसी गत-यौवना असती के सुरत-चिह्नों को देखकर कोई हँसोड़ कामुक कहता है—

"ढली हुई अवस्था वाली सुन्दरियों के स्तन, जघन और नितम्बों के ऊपर नखों के चिह्न ऐसे दिखाई देते हैं मानो कामदेव के उजड़े हुए निवासस्थान के मूल-बन्ध (नींव) हों।

"पुराने मकान का ऊपर का सुन्दर ढांचा गिर जाता है तो नीचे की नींवमात्र रह जाती है इसी प्रकार स्तन नितम्ब आदि की कामक्रीड़ा के योग्य शोभा तो गयी केवल उसके स्मृतिचिह्न शेष रह गये हैं।"

जस्स जहं विअ पढमं तिस्सा अङ्गम्मि णिवडिआ दिट्ठी।
तस्स तहिं चेअ ठिआ सव्वङ्गं केण वि ण दिट्ठं ॥ ३४ ॥

[यस्य यत्रैव प्रथमं तस्या अङ्गे निपतिता दृष्टिः।
तस्य तत्रैव स्थिता सर्वाङ्गं केनापि न दृष्टम् ॥]

नायक को लुभाने के लिये नायिका का सौन्दर्य वर्णन करती हुई दूती कहती है अथवा नायक द्वारा नियुक्त मित्र नायिका को देखकर आये और नायक के यह पूछने पर कि 'तुम उसे देख आये। बताओ कैसी है?' उसके सहचर बोले:—

उसके जिस किसी भी अङ्ग पर जिसकी भी दृष्टि पड़ी उसी की दृष्टि वहीं रह गयी पूरा शरीर कोई न देख पाया।

'दृष्टि के पड़ने से अनायास दिखाई दे जाने पर भी उसमें इतना सम्मोहन है। सावधानी से उसका सौन्दर्य पान करने से तो पता नहीं क्या हो" अर्थ स्पष्ट व्यङ्ग्य है। 'स्थित' से एकटक दृष्टि से देखना और उससे नायिका के अङ्ग-प्रत्यङ्गों की अतिशय रमणीयता ध्वनित है।

विरहे विसं व विसमा अमअमआ होइ संगमे अहिअं।
किं विहिणा समअं विअ दोहिँ वि पिआ विणिम्मिअआ ॥ ३५ ॥

[विरहे विषमिव विषमामृतमया भवति संगमेऽधिकम्।
किं विधिना सममेव द्वाभ्यामपि प्रिया विनिर्मिता ॥]

प्रवास में विरह वेदना का अनुभव करके घर आने पर प्रियतमा के समागम से संतुष्ट नायक कहता है:—

"प्रियतमा विरह में तो विष के समान विषम और संयोग में अत्यन्त अमृत-मय सी हो जाती है। क्या विधि ने (विष और अमृत) दोनों से एक साथ ही उसका निर्माण किया है?

अदंसणेण पुत्तअ सुट्ठुवि णेहाणुबन्धघडिआइं।
हत्थउडपाणिआइँ व कालेण गलन्ति पेम्माइं ॥ ३६ ॥

[अदर्शनेन पुत्रक! सुष्ठ्वपि स्नेहानुबन्धघटितानि।
हस्तपुटपानीयानीव कालेन गलन्ति प्रेमाणि ॥]

नायक के मन में प्रवास के प्रति विरक्ति उत्पन्न करने के लिए वृद्धा दूती कहती है:—

"हे पुत्र! स्नेह के अनुबन्ध से भली प्रकार जोड़ा हुआ भी प्रेम अदर्शन से कुछ समय में अञ्जलि में भरे हुए पानी के समान कम होता चला जाता है।

जिस प्रकार धीरे-धीरे टपकते हुए अञ्जलि में स्थित जल का टपक-टपक कर कम होना एकदम लक्षित नहीं होता उसी प्रकार परस्पर दर्शन के अभाव में प्रेम के उत्तरोत्तर न्यून होते जाने का भी पता नहीं चलता। 'पुत्र' संबोधन से नायक के प्रति दूती की हितवादिता व्यञ्जित है।

पइपुरओ व्विअ णिज्जइ विच्छुअदट्ठ त्ति जारवेज्जघरं।
णिउणसहीकरधारिअ भुअजुअलन्दोलिणी बाला ॥ ३७ ॥

*[पतिपुरत एव नीयते वृश्चिकदष्टेति जारवैद्यगृहम् ।
निपुणसखीकरधृता भुजयुगलान्दोलनशीला वाला ॥]*

दोनों भुजाओं को चलाती हुई वाला को चतुर सखियाँ अपने हाथों पकड़कर विच्छू की काटी हुई वताकर उसके जार (प्रच्छन्न प्रेमी) वैद्य के घर पति के सामने ही ले जाती हैं ।

'वाला' शव्द से वाला होते हुए भी इतनी चतुराई है प्रौढ़ा का तो कहना ही क्या ? तथा 'पति के आगे ही' से पति के सामने भी इस प्रकार का आचरण कर उसे वनाया जा सकता है अन्य सम्वन्धियों की तो वात ही क्या ? व्यङ्ग्य स्पष्ट है ।

विक्किणइ माहमासम्मि पामरो पाइडि वइल्लेण ।
णिद्धूममुम्मुर व्विअ सामलीअ थणो पडिच्छन्तो ॥ ३८ ॥

*[विक्रीणीते माघमासे पामरः प्रावरणं वलीवर्देन ।
निधू ममुर्मुरनिभौ नूनं श्यामायाःस्तनौ पश्यन् ॥]*

नव वधू में अत्यन्त आसक्त पति को उलाहना देती हुई कोई अन्योक्ति द्वारा कहती है:—"किसान ने षोडशी नववधू के पुआल की धूम-हीन अग्नि के समान (उष्णता-दायक) स्तनों को देखते हुए माघ के महीने में अपने ओढने का कपड़ा (प्रावरण) देकर वदले में वैल ले लिया ।"

पुआल की धूमहीन अग्नि से कुचों की उपमा में ग्राम्यत्व दोष ग्रामीण वर्ण्य-पात्र (पामर-किसान) के कारण गुण ही माना जायेगा दोष नहीं । 'माघ' मास से शीत का आधिक्य द्योतित है । "जिस प्रकार शीत वाधा आदि को दूर करने वाले निज उपकारी वस्त्र को भी देकर किसान ने वैल लेकर अपना उल्लू सीधा किया उसी प्रकार तुम भी मेरे प्रदत्त प्रेम-सर्वस्व की परवाह न कर नयी नवेली के प्रेम में मस्त हो । धन्य है तुम्हारा ओछापन ।" यह नायक के प्रति पहली पत्नी का उपालम्भ व्यङ्ग्य है ।

भोज ने इस गाथा में हीनपात्रनिष्ठ रति के कारण रसाभास माना है किन्तु यह परम्परा-पालन का आग्रह मात्र है । उच्च वर्ग ने ही शृङ्गारिक चेष्टाओं का ईश्वर से ठेका नहीं पा लिया है । रसाभास तो अनौचित्य के कारण हुआ करता है, जो रसानुभूति में वाधक तत्त्व के अतिरिक्त कुछ नहीं है ।

सच्चं भणामि मरणे ट्ठिअह्मि पुण्णे तडम्मि तावीए ।
अज्ज वि तत्थ कुडङ्गे णिवडइ दिट्ठी तह च्चेअ ॥ ३९ ॥

*[सत्यं भणामि मरणे स्थितास्मि पुण्ये तटे ताप्याः ।
अद्यापि तत्र निकुञ्जे पतति दृष्टिस्तथैव ॥]*

ताप्ती नदी के किनारे निकुञ्जों में अपने पूर्व विलासों का स्मरण करती

हुई वृद्धा इस तथ्य को सिद्ध कर रही है कि स्वभाव से ही रसिक व्यक्तियों के मन पर देश, काल, आयु आदि के चले जाने का कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

'सच कहती हूँ। मरने के लिये बैठी हूँ। ताप्ती नदी के पुण्य (पवित्र) तट पर उस निकुञ्ज पर अब भी उसी प्रकार दृष्टि पड़ती है।'

'पुण्य' शब्द से 'इस प्रकार के मनोरम स्थान में प्रच्छन्न सुरत का आनन्द बड़े भारी पुण्यों का ही फल होता है' व्यङ्ग्यार्थ स्पष्ट है।

अन्धअरबोरपत्तं व माउआ मह पइं विलुम्पन्ति।
ईसाअन्ति महं विअ छेप्पाहिन्तो फणो जाओ॥ ४०॥

[अन्धकरबदरपात्रमिव मातरो मम पतिं विलुम्पन्ति।
ईर्ष्यन्ति मह्यमेव लाङ्गूलेभ्यः फणो जातः॥]

कोई कुलवधू कुलटाओं के प्रेमपाश में फँसे हुए अपने पति को लक्ष्य कर अपनी सखियों से कहती है–'अन्धे के हाथ में स्थित बेरों के पात्र के समान महतारी मेरे पति को मुझ से छीने ले रही हैं और मुझ से ही ईर्ष्या करती हैं। (यह अच्छा) पूँछ का फन बन गया (पूँछ पीछे की ओर होती है और फन आगे की ओर अतः तात्पर्य होगा कि उन्हें चुपचाप पड़े रहकर अपना काम चलाना चाहिये था किन्तु वे खुलकर सामने आ गयी हैं और ऊपर से डंक भी मारती हैं। यह हुई चोरी और सीनाज़ोरी, उलटा चोर कोतवाल को डाँटे) 'इनसे मेरे पति को छुड़ाकर मेरी रक्षा करो' यह सखियों के प्रति व्यङ्ग्य है।

'महतारी' (मूल ग्रन्थ में मातरो) शब्द आज भी अपशब्द अथवा गाली के रूप में ग्राम्य स्त्रियों द्वारा प्रयुक्त होता है। 'इस शब्द से' पति को रिझा लेने वाली कामिनियों के प्रति नायिका की ईर्ष्या व्यञ्जित है।' विलुम्पन्ति (लोप कर रही हैं) से 'सर्वथा वशीकरण' और 'अन्धे के हाथ में स्थित बेरों के पात्र' उपमान से इस प्रकार की प्रवञ्चन-रत कुलटाओं को नायक की सुलभता ध्वनित है।

अप्पत्तपत्तअं पाविऊण णवरङ्गअं हलिअसोण्हा।
उअह तणुई ण माअइ रुन्दासु वि गामरच्छासु॥ ४१॥

[अप्राप्तप्राप्तं प्राप्य नवरङ्गकं हलिकस्नुषा।
पश्यत तन्वी न माति विस्तीर्णास्वपि ग्रामरथ्यासु॥]

किसी नायिका की अल्पमूल्य उपहारों द्वारा ही साध्यता सूचित करती हुई दूती नायक से क्षुद्र व्यक्ति का तुच्छ सी वस्तु पाकर ही अत्यन्त गर्वित होने का तथ्य प्रकट करती हुई कोई अपनी सखी से कहती है :—

देखो यह पतली सी हलिक (हाली=हल चलाने वाला, किसान का नौकर) की बहू पहले कभी प्राप्त न हुए नवीन कुसुम्भी वस्त्र को पाकर गाँव की विस्तीर्ण गलियों में भी नहीं समा रही है"।

गलियों के बहुवचन से हर्ष के कारण लोगों के सामने बहुत सी गलियों में फिरने से अतिशय उत्साह की व्यंजना होती है। "स्नुषा=बहू" शब्द नवयौवन-जन्य चपलता तथा 'चौड़ी गलियों में भी नहीं समाती', यह अतिशयोक्ति असाधारण हर्ष के साथ गर्व की अभिव्यक्ति करती है।

आक्खेवआइँ पिअजंपिआइँ परहिअअणिव्वुदिअराइं।
विरलो खु जाणइ जणो उप्पण्णे जम्पिअव्वाइं ॥ ४२ ॥

[वाक्क्षेपकारीणि प्रियजल्पितानि परहृदयनिर्वृतिकराणि।
विरलः खलु जानाति जन उत्पन्ने जल्पितव्यानि ॥]

नायिका को प्रत्यक्ष अपराधिनी पाकर संदेह-दृष्टि नायक को अपने वाक्चातुर्य से नायिका के सामने से हटा देने वाली सखी के प्रति नायिका कहती है।

(अपराध आदि) हो जाने पर (प्रतिवादी के) वचनों को पराभूत करने वाली और (विश्वास उत्पन्न कर) दूसरे के हृदय को शान्त करने वाली मधुर-मधुर बातें कहना विरले ही व्यक्ति जानते हैं। 'मेरे प्रत्यक्ष अपराध को देखकर संदेहशील प्रिय के तर्कों को काटकर उसके हृदय में विश्वास उत्पन्न कर दिया, जिससे मेरे हृदय को शान्ति मिली। इस प्रकार अपनी मधुरभाषिता के कौशल से तुमने घोर गृह-कलह होने से बचा लिया। यह कोई साधारण बात नहीं" नायिका का यह कृतज्ञता का भाव सखी के प्रति व्यङ्ग्य है।

छज्जइ पहुस्स ललिअं पिआइ माणो खमा समत्थस्स।
जाणन्तस्स अ भणिअं मोणं च अआणमाणस्स ॥ ४३ ॥

[शोभते प्रभोर्ललितं प्रियाया मानः क्षमा समर्थस्य।
जानतश्च भणितं मौनं चाजानतः ॥]

नायक की मनभावती न होने पर भी मान कर बैठने वाली नायिका के प्रति सखी की उक्ति है :—"सर्वसमर्थ की स्वेच्छानुसार केलि, प्रेयसी का मान, शक्तिसंपन्न की क्षमा (सहनशीलता) ज्ञानी का बोलना और अज्ञानी का न बोलना ही शोभा देता है।"

"तुझ अप्रिया का मान प्रिय के कोप को ही उद्दीप्त करेगा। अतः मेरी मान कर मान न कर" यह नायिका के प्रति ध्वनित है।

वेविरसिण्णकरङ्गुलिपरिग्गहक्खलिअलेहणीमग्गे।
सोत्थि व्वि ण समप्पइ पिअसहि लेहम्मि किं लिहिमो ॥ ४४ ॥

[वेपनशीलस्विन्नकराङ्गुलिपरिग्रहस्खलितलेखनीमार्गे।
स्वस्त्येव न समाप्यते प्रियसखि! लेखे किं लिखामः ॥]

"प्रेमपत्र लिखकर अपनी दशा का निवेदन प्रिय से कर दो" सखी के परामर्श का उत्तर देती हुई कोई नवानुरागिणी कहती है :—

"प्रियसखि ! स्वेद से आर्द्र तथा काँपती हुई अँगुलियों से पकड़ने के कारण गिर-गिर जाने वाली लेखनी के मार्ग (चलने) में 'स्वस्ति' (प्रारम्भ का आचार सूचक शब्द) ही समाप्त नहीं हो पाता। लेख में क्या लिखें ?

स्मरणमात्र से स्वेद एवं कम्प सात्त्विक भावों के उद्गम से नायक के प्रति प्रेम का अतिशय व्यङ्ग्य है।

देवम्मि पराहुत्ते पत्तिअ घडिअं पि विहडइ णराणं।
कज्जं वालुअवरणं व्व कहं वि वन्धं विअ ण एइ ॥ ४५ ॥

[दैवे पराङ्मुखे प्रतीहि घटितमपि विघटते नराणाम्।
कार्यं वालुकावरण इव कथमपि बन्धमेव नैति ॥]

दैव के विमुख हो जाने पर (भाग्य के साथ न देने पर) लोगों का बना बनाया काम भी बिगड़ जाता है और वालू के प्राकार (चहारदीवारी) के समान बाँधने (संभालने) में नहीं आता। टीकाकारों के मत में यह उक्ति किसी नायिका को सधाने के लिये (वशवर्तिनी बनाने के लिये) नायक द्वारा प्रयुक्त दूती की अपने कार्य में असफल होने पर भाग्य पर दोषारोपण पूर्वक सूचना है। उस स्थिति में व्यङ्ग्यार्थ होगा कि "भाग्य के प्रतिकूल होने से ही सफलता नहीं मिली, अन्यथा मेरे करने में तो कोई कसर रही नहीं।" बाँधने में नहीं आता' से उसे वश में किया नहीं जा सकता अर्थ ध्वनित है।

मामि हिअअं व पीअं तेण जुआणेण मज्जमाणाए।
ण्हाणहलिद्दाकडुअं अणुसोत्तजलं पिअन्तेण ॥ ४६ ॥

[मातुलानि ! हृदयमिव पीतं तेन यूना मज्जन्त्याः।
स्नानहरिद्राकटुकमनुस्रोतो जलं पिवता ॥]

रहस्य से परिचित मामी के साथ नदी स्नान करके लौटती हुई नायिका नदी पर देखे हुए युवक के प्रति अपने अनुराग का विक्र करती हुई कहती है :—

'हे मामी ! उस युवक ने जलधारा के साथ वहते हुए मेरे स्नानकालीन हल्दी के उबटन (के संमिश्रण) से कटुक जल को पीते हुए मानो स्नान करती हुई का (मेरा) हृदय ही पी लिया।'

नायिका के स्नानकटुक जल का पान उसके प्रति नायक के प्रगाढ़ अनुराग का सूचक है। उसके सौन्दर्यदर्शन से ही नायिका का हृदय उसकी ओर वढ़ गया था और प्रणय-प्रदर्शन करके तो वह उसने पूर्णतया अपने वश में कर लिया। इस प्रकार "मेरा हृदय उसी के अधीन है, उसके विना मैं जी नहीं सकती, अतः मिलाने का कोई उपाय करो" यह मामी के प्रति व्यङ्ग्य है।

जिविअं असासअं विअ ण णिवत्तइ जोव्वणं अतिक्कन्तं।
दिअहा विअहेहिं समा ण होन्ति किं णिट्ठुरो लोओ ॥ ४७ ॥

*[जीवितमशाश्वतमेव न निवर्तते यौवनमतिक्रान्तम् ।
दिवसा दिवसैः समा न भवन्ति किं निष्ठुरो लोकः ॥]*

मानिनी नायिका को मनाता हुआ नायक कहता है :—

"जीवन तो नश्वर ही है, गया हुआ यौवन भी लौटकर नहीं आता। (यौवन में भी उत्तरोत्तर) दिवस (उपभुक्त) दिनों के समान नहीं होते। (ऐसी स्थिति में भी) लोग (सुखों का उपभोग करने में) निष्ठुर क्यों हैं ?"

यौवन के न लौटने और युवावस्था के दिनों के भी उत्तरोत्तर परस्पर समान न होने से 'यौवन के आनन्द मिल सकेंगे तथा यौवन में भी जो दिन व्यतीत हो गया उसमें जो आनन्द ले लिया अथवा लिया जा सकता था उस कोटि का उससे अगले दिन सम्भव नहीं' व्यङ्ग्य स्पष्ट है। 'उत्तरोत्तर उत्तरदायित्व बढ़ने से स्वच्छन्द भोग आगे असंभव हो जायगा अतः मान करके इस भोगयोग्य समय की निर्मम हत्या न करो" नायिका के प्रति नायक की यह याचना ध्वनित है।

उप्पपाइअदव्वाणँ वि खलाणँ को भाअणं खलो च्चेअ ।
पक्वाइँ वि णिम्बफलाइँ णवरँ काएहिँ खज्जन्ति ॥ ४८ ॥

*[उत्पादितद्रव्याणामपि खलानां को भाजनं खल एव ।
पक्वान्यपि निम्बफलानि केवलं काकैः खाद्यन्ते ॥]*

धन उत्पन्न करने वाले दुष्टों के दानपात्र कौन होते हैं ? दुर्जन ही। नीम के पके हुए भी फल केवल कौओं द्वारा खाये जाते हैं।

परकीया पर द्रव्य का अपव्यय करने वाले नायक के प्रति ईर्ष्यालु स्वकीया की आक्षेप-उक्ति भी यह हो सकती है। उस स्थिति में व्यङ्ग्य होगा 'परकीया का संगम दुष्टता ही है। अपना धन मुझ स्वकीया पर ही व्यय करो तभी तुम सुजन कहे जा सकोगे। तुम्हारे धनी हो जाने पर भी हमें उसका कोई सुख नहीं। गुलछर्रे तो दूसरी ही उड़ा रही हैं।'

अज्ज मए गन्तव्वं घणन्धआरे वि तस्स सुहअस्स ।
अज्जा णिमीलिअच्छी पअपरिवाडिं घरे कुणइ ॥ ४९ ॥

*[अद्य मया गन्तव्यं घनान्धकारेऽपि तस्य सुभगस्य ।
आर्या निमीलिताक्षी पदपरिपाटीं गृहे कुरुते ॥]*

किसी भावी कृष्णाभिसारिका की चेष्टाओं का वर्णन कोई रसिक अपने मित्र से कर रहा है :—

'आज मुझे घने अंधेरे में उस सुभग (सुन्दर, सौभाग्यशाली) के पास जाना है' यह सोचकर वह उत्तम ललना (संभलकर) पग रखने का अभ्यास घर में कर रही है।'

आज ही रात को प्रिय के पास जाना है। इसलिये थोड़े ही समय में (ऊँचे-नीचे स्थान में पैर पड़ने से भूषणों की ध्वनि आदि न हो अतः) संभलकर चलने का अभ्यास करना है। इसीलिये घर में अभ्यास कर रही है। इससे नायिका की मुग्धता प्रतीत होती है। 'आर्या' (उत्तम महिला) शब्द से निन्दा के भय से अभिसार के गोपनार्थ अति सतर्कता ध्वनित है। भावी अभिसार का स्मरण, उसके लिये उत्साह तथा प्रिय के प्रति अत्यन्त अनुराग के कारण औत्सुक्य की व्यञ्जना भी इस अभ्यास से होती है।

सुअणो ण कुप्पइ च्चिअ अह कुप्पइ विप्पिअं ण चिन्तेइ।
अह चिन्तेइ ण जम्पइ अह जम्पइ लज्जिओ होइ ॥ ५० ॥

[सुजनो न कुप्यत्येव अथ कुप्यति विप्रियं न चिन्तयति।
अथ चिन्तयति न जल्पति यदि जल्पति लज्जितो भवति ॥]

सत्पुरुष (प्रथम तो) कुपित ही नहीं होता, कुपित होता भी है तो बुरा नहीं सोचता; बुरा सोचता भी है तो कहता नहीं और यदि कहता है तो लज्जित होता है।

सो अत्थो जो हत्थे तं मित्तं जं णिरन्तरं वसणे।
तं रूअं जत्थ गुणा तं विण्णाणं जहिं धम्मो ॥ ५१ ॥

[सोऽर्थो यो हस्ते तन्मित्रं यन्निरन्तरं व्यसने।
तद्रूपं यत्र गुणास्तद्विज्ञानं यत्र धर्मः ॥]

धन वह है जो हाथ में हो। मित्र वह है जो आपत्तिकाल में भी साथ दे (अथवा जिसमें आपत्तिकाल में भी अन्तर न आये) रूप वह है जिसमें गुण हों। विज्ञान (बहुज्ञता) वह है जिसमें धर्म हो। (लक्षणा) द्वारा सर्वत्र प्रशस्त की प्रतीति होती है अर्थात् धन वही प्रशस्त है जो हाथ में हो। 'पैसा गाँठ का' लोकोक्ति आज भी प्रसिद्ध है)।

चन्दमुहि चन्दधवला दीहा दीहच्छि तुह विओअम्मि।
चउजामा सअजाम व्व जामिणी कहँ वि वोलीणा ॥ ५२ ॥

[चन्द्रमुखि ! चन्द्रधवला दीर्घा दीर्घाक्षि तव वियोगे।
चतुर्यामा शतयामेव यामिनी कथमप्यतिक्रान्ता ॥]

आवास से लौटे हुए प्रियतम से प्रेयसी ने पूछा कि "वहाँ आपकी रात कैसे गुजरती थी ?" और प्रियतम ने उत्तर दिया—

"हे चन्द्रमुखि ! हे दीर्घाक्षि ! चन्द्रमा की चाँदनी से श्वेत-वर्ण, चार पहर की दीर्घ रात तुम्हारे वियोग में बड़ी कठिनता से कटती थी जैसे वह सौ पहर की हो गयी हो। 'चन्द्रमुखि' सम्बोधन से रात्रि में चन्द्रमा को देख कर तुम्हारे मुख की

स्मृति आ जाती थी और रात शतगुनी वेदना से हृदय को भर देती थी" व्यङ्ग्य स्पष्ट है, चार पहर वाली रजनी के सौ पहर की हो जाने से उत्कण्ठा का आधिक्य एवं निद्रा का अभाव सूचित होता है और कथमपि' (जैसे-तैसे) बीतने से वेदना की पराकाष्ठा ध्वनित है।

अउलीणो दोमुहओ ता महुरो भोअणं मुहे जाव।
मुरओ व्व खलो जिण्णम्मि भोअणे विरसमारसई ॥ ५३ ॥

[अकुलीनो द्विमुखस्तावन्मधुरो भोजनं मुखे यावत्।
मुरज इव खलो जीर्णे भोजने विरसमारसति ॥]

जिस प्रकार अकुलीन (अ+कु=पृथ्वी+लीन, पृथ्वी पर न रखा जाकर कपड़े की इंढी पर रखा हुआ) द्विमुख (तबले के दो हिस्सों के दो मुँह वाला) तबला तभी तक मधुर ध्वनि करता है जब तक उसके मुख पर लेप विद्यमान रहता है, लेकिन भोजन (लेप) के जीर्ण होते ही बेसुरा हो जाता है उसी प्रकार अकुलीन (नीच कुल में उत्पन्न) द्विमुख (आगे कुछ और पीछे कुछ कहने वाला) दुर्जन मनुष्य तभी तक मधुर वचन (चाटुकारी, प्रशंसा) कहता है जब तक उसके मुख में भोजन रहता है (उसका स्वार्थ पूरा होता रहता है) भोजन के जीर्ण हो जाने पर कार्य निकल जाने पर) रसहीन (कटुभाषी निन्दक) हो उठता है। अर्थात् नीच कुल के व्यक्ति स्वार्थपूर्ण मैत्री करते हैं किन्तु कुलीन व्यक्ति स्वार्थी नहीं होते।

तह सोण्हाइ पुलइओ दरवलिअन्तद्धतारअं पहिओ।
जह वारिओ वि घरसामिएण ओलिन्दए वसिओ ॥ ५४ ॥

[तथा स्नुषया प्रलोकितो दरवलितार्धतारकं पथिकः।
सुप्तो निभृतमलिन्दे गृहपतिना वारितोऽपि यथा ॥]

किसी नायिका के कटाक्षों का वर्णन कर नायक को आकृष्ट करती हुई दूती कहती है :—

"वहू ने आँख की आधी पुतली को तनिक चलाकर पथिक को इस प्रकार देखा कि वह गृहपति के मना करने पर भी चुपचाप बाहर के दरवाजे के पास सो रहा।"

कटाक्ष पूर्वक देखने से नायिका की अभिलाषा व्यञ्जित है। 'गृहपति के मना करने पर भी सो रहा' अर्थात् नायिका के श्वशुर के होते हुए भी कटाक्ष-आहत पथिक रात्रि के निवास का लोभ संवरण न कर सका। इससे कटाक्ष का अत्यन्त आकर्षण व्यङ्ग्य है। 'चुपचाप सो गया' से व्यक्त है कि गृहपति के मना करने पर निकल कर भी वहू की चितवन से अनुमित अभिलाषा से प्रोत्साहित होकर उसके समागम की आशा में चुपचाप आकर सो गया। उपर्युक्त मनःस्थिति में शयन हो ही नहीं सकता अतः 'सुप्त' शब्द से लेट रहना ही लक्षित होता है। 'रोकने पर : बाहर के अलिन्द में सो गया।' अतः जान पड़ता है कि बाहर का अलिन्द मना

अलिन्द के सूने होने तथा पथिक के थके हुए होने पर भी गृहपति ने अतिथि-पूजा के दैनिक कर्त्तव्य से विमुख होकर पथिक को ठहरने से मना किया। इससे ज्ञात होता है वधू को उसने कटाक्ष करते हुए देखकर ही ऐसा किया। इससे वधू का पहले भी किसी के साथ सङ्गम प्रतीत होता है। अतः नायिका सुखसाध्या है। इस प्रकार अनेकानेक व्यङ्ग्य इस सीधी-साधी अनलङ्कृत उक्ति से निकलते हैं।

लहुअन्ति लहुं पुरिसं पव्वअमेत्तं पि दो वि कज्जाइं।
णिव्वरणमणिव्वूढे णिव्वूढे जं अ णिव्वरणं ॥ ५५ ॥

[लघयतो लघु पुरुषं पर्वतमात्रमपि द्वे अपि कार्ये।
निर्वरणमनिर्व्यूढे निर्व्यूढे यच्च निर्वरणम् ॥]

पर्वत सदृश (महान्) व्यक्ति को भी दो कार्य शीघ्र ही लघु बना देते हैं— बिना किये हुए ही अथवा करने के बाद भी कार्य का बखान करना। अर्थात् काम करने से पहले ही अपने गुणों का प्रकाशन अथवा काम पूरा होने पर अपनी प्रशंसा करना ये दोनों कार्य मनुष्य को क्षुद्र साबित करते हैं।

कं तुङ्गथणुक्खित्तेण पुत्ति दारट्ठिआ पलोएसि।
उण्णामिअकलसणिवेसिअग्घकमलेण व मुहेण ॥ ५६ ॥

[कं तुङ्गस्तनोत्क्षिप्तेन पुत्रि द्वारस्थिता प्रलोकयसि।
उन्नामितकलशनिवेशितार्घकमलेनेव मुखेन ॥]

"किसी युवक में अनुरक्त होने पर भी तुमने मुझ से इधर-उधर की बातें बना दीं किन्तु आज मैंने तुम्हें देख लिया है" यह सूचित करती हुई कोई भुक्तभोगा वयस्का किसी नवयौवना से कह रही है:—

हे पुत्री! दूर तक देखने के लिये शरीर के ऊपर के भाग को उचका कर उठाये हुए, किन्तु लोगों से दर्शन की व्यग्रता को छिपाने के उद्देश्य से क्षण भर में ही नीचा करके) उत्तुङ्ग कुचों पर डाले हुए, (और इस स्थिति में) उठाये हुए मङ्गलकलशों में अर्घ्य के लिये रखे हुए कमल सदृश प्रतीत होते हुए मुख से दरवाजे पर खड़ी हुई किस को देख रही हो?

'पुत्री!' संबोधन से 'तुम अभी निरी बच्ची हो मुझ जैसी भुक्तोज्झितविषया अनुभवी प्रौढा से छिपाने चली थीं किन्तु मैं सब जानती थी और आज तुम्हें रंगे हाथों पकड़ भी लिया, किन्तु घबराने की आवश्यकता नहीं। तुम तो मेरी सहानुभूति और वात्सल्य की पात्र हो, अतः तुम्हें मुझ से कुछ सहायता ही मिलेगी' आदि आदि भाव व्यञ्जित हैं।

वइविवरणिग्गअदलो एरण्डो साहइ व्व तरुणाणम्।
एत्थ घरे हलिअवहू एद्दहमेत्तत्थणी वसइ ॥ ५७ ॥

हुई वृद्धा वेश्या कामशास्त्र का रहस्य बतलाती हुई उससे कहती है।

"हे पुत्रक ! एक मास की प्रसूता, छै महीने की गर्भिणी, एक दिन की ज्वर-ग्रस्त तथा (नृत्य या अभिनय करके) रङ्गशाला से आयी हुई प्रिया की कामना किया करो।" (क्योंकि ये सुखसाध्य और अत्यधिक आनन्ददायिनी होती हैं)।

'पुत्रक !' सम्बोधन से 'तुम नववयस्क हो, इस दिशा में तुम्हें बहुत कुछ उपदेश की आवश्यकता है। अतः मैं तुमसे रहस्य की बात कहती हूँ" अर्थ व्यङ्ग्य है। "इसे नृत्य आदि में व्यापृत देखकर उतावले न बनो, कुछ प्रतीक्षा करो। यह सब कुछ तुम्हें अधिकाधिक सुरतानन्द प्रदान करने के लिये ही है" यह व्यञ्जित करती हुई बुढ़िया अपने स्वार्थ के लक्ष्य से भी भ्रष्ट नहीं है।

पडिवक्खमण्णुपुञ्जे लावण्णउडे अणङ्गगअकुम्भे।
पुरिससअहिअअधरिए कीस थणन्ती थणे वहसि ॥ ६० ॥

[प्रतिपक्षमन्युपुञ्जौ लावण्यकुटावनङ्गगजकुम्भौ।
पुरुषशतहृदयधृतौ किमिति स्तनन्ती स्तनौ वहसि ॥]

किसी उत्तुङ्गपुष्टपयोधरा नायिका के प्रति अपना अनुराग व्यक्त करता हुआ कोई रसिक युवक कहता है।

"सपत्नीजन के लिये शोक के पुंज, लावण्य के कलश, अनङ्गरूपी हाथी के कुम्भ-स्थल एवं सैकड़ों पुरुषों द्वारा अपने हृदय में आसीन किये हुए स्तनों को गर्व के साथ कैसे धारण किये हुए हो ?

'बहुत सी सपत्नियाँ होते हुए भी तुम अपने पुष्ट उरोजों के कारण सब में श्रेष्ठ हो अतः प्रिय को आकृष्ट किये रखकर उनको संताप में डाले रहती हो। जिस प्रकार गजका कुम्भस्थल, सुगठित, कठोर, सघन और पुष्ट होता है उसी प्रकार तुम्हारा कुच-मण्डल भी है, काम भी इन कूचों के सौन्दर्य को शिरोधार्य करता है अन्य का तो कहना ही क्या, यह 'अनङ्गगजकुम्भ' विशेषण से व्यंजित है। पुरुषशत द्वारा हृदय में धारण करने से 'अनेकानेक कामुकों को तुम्हारे कुच आकृष्ट कर लेते हैं फिर यदि मैं भी आकृष्ट हो जाऊँ तो मेरा क्या दोष ? अथवा सैंकड़ों पुरुषों ने तुम्हारे कुचों को (आलिङ्गन करते हुए) अपने वक्षस्थल पर रखा है फिर मुझ पर कृपा क्यों नहीं होती ? नायिका के प्रति कामुक की यह अभिलाषा ध्वनित है। ऐसे कुचों को गर्व के साथ क्यों धारण किये हुए हो' इससे स्पष्ट व्यङ्ग्य है कि सैंकड़ों युवकों में भी तुम्हें एक भी ऐसा गुणशाली न मिला होगा जो वस्तुतः तुम्हारे सौन्दर्य के अनुरूप हो। जब तक ऐसा प्रणयी नहीं मिलता है तब तक तुम्हारा यौवन एवं सौन्दर्य का गर्व व्यर्थ है किन्तु इसे सार्थक करने के लिये मैं प्रस्तुत हूँ।

घरिणिघणत्थणपेल्लणसुहेल्लिपडिअस्स होन्तपहिअस्स।
अवसउणङ्गारअवारविट्ठिदिअहा सुहावेन्ति ॥ ६१ ॥

*[गृहिणीघनस्तनप्रेरणसुखकेलिपतितस्य भविष्यत्पथिकस्य ।
अपशकुनाङ्गारकवारविष्टिदिवसाः सुखयन्ति ॥]*

गृहिणी के कठोर कुचों की सुखमयी मर्दनक्रीड़ा में पड़े हुए भावी पथिक को अपशकुन, अङ्गारकवार, भद्रा आदि (यात्रा का निषेध करके प्रणयकेलि का अधिक अवसर देने के कारण) सुख प्रदान करते हैं।

नायक का प्रवासगमन-क्रिया के प्रति विद्वेष 'आलस्य' सञ्चारी का व्यञ्जक है जिससे उसका गृहिणीविषयक रतिभाव पुष्ट होता है।

**सा तुह कएण वालअ अणिसं घरदारतोरणणिसण्णा ।
ओससई वन्दणमालिअ व्व दिअहं विअ वराई ॥ ६२ ॥**

*[सा तव कृतेन बालक ! अनिशं गृहद्वारतोरणनिषण्णा ।
अवशुष्यति वन्दनमालिकेव दिवसमेव वराकी ॥]*

नायिका की दशा से नायक को सूचित कर उत्कण्ठित करती हुई दूती कहती है:—

'हे बालक ! (परपीडाऽनभिज्ञ !) वह बेचारी वन्दनवार के समान निरन्तर घर के दरवाजे के ऊपर बैठी हुई तुम्हारे लिये दिनभर सूखती रहती है'।

'निरन्तर' शब्द से व्यञ्जित है कि 'न जाने वे कब आजायें' यह सोचकर नायिका सारे दिन प्रतिक्षण नायक की प्रतीक्षा में रहती है जिससे नायक के प्रति उसकी अतिशय उत्कण्ठा व्यक्त होती है। वन्दनवार की उपमा से द्वार पर जिस प्रकार वन्दनवार परवश अविचल भाव से आगन्तुक अतिथि की प्रतीक्षा करती रहती है और उसके न आने पर व्यर्थ ही सूख जाती है उसी प्रकार वह भी निश्चेष्ट भाव से तुम्हारी प्रतीक्षा करती रहती है और तुम्हारे न पहुँचने के कारण सूखती जा रही है। नायिका के इस अनुरागातिशय द्वारा नायक के प्रति "तुम इतनी आसक्त सुन्दरी के प्रणय के मूल्य को नहीं समझते" इस उपालम्भ के साथ नायिका के पास शीघ्र गमन करने के लिये उत्तेजना व्यञ्जित है।

**हसिअं सहत्थतालं सुक्खवडं उवगएहिँ पहिएहिँ ।
पत्तअफलाणँ सरिसे उड्डीणे सूअविन्दम्मि ॥ ६३ ॥**

*[हसितं सहस्ततालं शुष्कवटमुपगतैः पथिकैः ।
पत्रफलानां सदृशे उड्डीने शुकवृन्दे ॥]*

स्वभाव से ही गुणहीन व्यक्ति यदि ऊपर से आडम्बर रच भी ले तो एक न एक दिन उसकी पोल खुल अवश्य जाती है। इस भाव को कवि अन्योक्ति द्वारा प्रकट करता है—

"शुष्क वट वृक्ष के नीचे गये हुए पथिक फल और पत्तों जैसे शुकवृन्द के

उड़ जाने पर (वृक्ष को ठूँठमात्र पाकर) ताली बजाकर हँस पड़े"। अभिप्राय: यह है कि विश्राम करने के इच्छुक पथिक फलों और पत्तों से लदा हुआ समझकर एक वट वृक्ष के नीचे पहुँचे, किन्तु उनके वहाँ पहुँचने पर उस वृक्ष पर बैठे हुए तोते आहट पाकर उड़ गये और वृक्ष, पत्तों और फलों से सर्वथा रहित दिखाई दिया। अब यात्रियों को भी अपनी ग़लती का अनुभव हुआ और उन्हें पता चला कि जिन्हें वे पत्ते समझ रहे थे वे तोतों के हरे-हरे पंख थे और जिन्हें फल समझे थे वे उनकी लाल-लाल चोंचें। फलतः वे अपनी इस भ्रान्ति पर स्वयं ताली बजाकर हँस पड़े।

अज्ज म्मि हासिआ मामि तेण पाएसु तह पडन्तेण।
तीए म्हि जलन्ति दीववत्तिमब्भुण्णअन्तीए॥ ६४॥

[अद्यास्मि हासिता मातुलानि! तेन पादयोस्तथा पतता।
तयापि ज्वलन्तीं दीपवर्तिमभ्युत्तेजयन्त्या॥]

नायिका दृढ़ मान किये बैठी थी। नायक ने अनुनय-विनय की, नहीं मानी। सखियों ने समझाया, उसने कोई ध्यान नहीं दिया। अन्त में सखियों ने प्रियतम के उदासीन हो जाने की शंका व्यक्त की। वह फिर भी अपनी टेक पर अटल रही। रात में एक सखी चुपचाप यह जानने के लिये उनके शयनागार के समीप गयी कि कैसी गुज़र रही है, और उसने जो कुछ देखा उसका वर्णन अपनी समवयस्का मामी से इस प्रकार किया:—

हे मामी! आज उसने (नायक ने) उस प्रकार से (नायिका के) चरणों में गिरते हुए और उसने (नायिका) भी दीपक की जलती हुई बत्ती को तेज करते हुए मुझे हँसा दिया।

अभिप्राय यह है कि नायक ने सब प्रकार असफल होने पर मान-मोचन के अन्तिम अस्त्र चरण-निपात का आश्रय लिया और नायिका के चरणों में गिर पड़ा। बुद्धिमती नायिका ने उसी समय दीपक की जलती हुई बत्ती को और भी तेज कर दिया क्योंकि वह जानती थी कि कोई न कोई सखी चुपचाप यहाँ के हाल-चाल देखने अवश्य आयेगी। इस प्रकार उसने गर्व के साथ प्रकट किया कि "मेरे सौभाग्य को भली प्रकार उजाले में देख लो"। 'उस प्रकार चरणों में गिरते हुए' में उस प्रकार क्रियाविशेषण से नायक की अपराध-स्वीकृति-सूचक मुद्रा की प्रतीति एवं उसके द्वारा दैन्य की चरम सीमा अभिव्यक्त होती है। दिन में अकड़ कर चलने वाला पुरुष रात में एक अबला के चरणों में इतना दीन-हीन होकर पड़ा था, यह देखकर मुझे हँसी आ ही गई और उसने भी दिये की बत्ती को उकसा कर प्रकाश और भी तेज कर दिया जिससे मैं पूरे दृश्य को साफ़-साफ़ देख लूँ।

अणुवत्तणं कुणन्तो वेसे वि जणे अहिण्णमुहराहो।
अप्पवसो वि हु सुअणो परव्वसो आहिजाईए॥ ६५॥

[अनुवर्तनं कुर्वन् द्वेष्येऽपि जनेऽभिन्नमुखरागः ।
आत्मवशोऽपि खलु सुजनः परवशः कुलीनताया ॥]

द्वेष्य व्यक्ति के प्रति भी अपने मुख का वर्ण परिवर्तित न कर (शत्रुता होने पर भी स्नेहपूर्ण मुद्रा से ही) उसकी इच्छानुसार कार्य करता हुआ सज्जन स्वतन्त्र होता हुआ भी कुलीनता का वशवर्ती होता है ।

अणुदिअहवड्ढिआअरविण्णाणगुणेहिँ जणिअमाहप्पो ।
पुत्तअ अहिआअजणो विरज्जमाणो वि दुल्लक्खो ॥ ६६ ॥

[अनुदिवसवर्धितादरविज्ञानगुणैर्जनितमाहात्म्यः ।
पुत्रकाभिजातजनो विरज्यमानोऽपि दुर्लक्ष्यः ॥]

रुष्ट होते हुए भी कुलीनतावश प्रिय के प्रति आदर प्रदर्शित करती हुई नायिका के कोप को न जान कर और यह समझ कर कि 'इसको कुछ पता ही नहीं, भ्रान्तिवश अन्य कामिनियों के प्रति उन्मुख नायक को समझाती हुई प्रौढा दूती कहती है :—

हे पुत्रक ! अपने सुमति आदि प्रमुख गुणों के कारण (द्वेष्य व्यक्ति के प्रति भी) सत्कार क्रिया की वृद्धि कर अपनी महत्ता सम्पन्न करने वाला कुलीन व्यक्ति विरक्त (उदासीन) होता हुआ भी कठिनाई से ही लक्षित किया जा सकता है। अर्थात् कुलीन व्यक्ति अपने गुणों, के कारण किसी से एक दम ही सम्बन्ध नहीं तोड़ देता । अपने आकार से वह विराग या घृणा प्रकट नहीं होने देता ।

नायक के प्रति व्यङ्ग्य यह है कि विदग्ध नायिका अन्य रमणियों में तुम्हारी आसक्ति को जानकर भी कुलीनतावश प्रतिदिन अधिकाधिक आदर प्रदर्शित करती है और तुम समझते हो कि वह कुछ जानती ही नहीं । धन्य है तुम्हारा बुद्धूपन ! 'पुत्रक' शब्द से अभी तुम्हें कुछ अनुभव नहीं है । मेरी हितकर सीख मानो । मैं तुम्हारा कल्याण ही चाहूँगी । विदग्ध वनिताओं के आचार को मुझ जैसी अनुभवी महिला से समझो" आदि व्यङ्ग्यार्थ वक्ता और बोद्धव्य के वैशिष्ट्य वश प्रतिभासित होते हैं ।

विण्णाणगुणमहग्घे पुरिसे वेसत्तणं पि रमणिज्जं ।
जणणिन्दिए उण जणे पिअत्तणेणावि लज्जामो ॥ ६७ ॥

[विज्ञानगुणमहर्घे पुरुषे द्वेष्यत्वमपि रमणीयम् ।
जननिन्दिते पुनर्जने प्रियत्वेनापि लज्जामहे ॥]

बदनाम युवक की ओर प्रवृत्त होने का आग्रह करती हुई दूती को गुणों की पक्षपातिनी नायिका ने उत्तर दिया :—

"विज्ञता आदि गुणों के कारण परम आदरणीय व्यक्ति का मेरे प्रति द्वेष भी अच्छा है किन्तु लोकनिन्दित व्यक्ति द्वारा प्रति अनुकूलता-प्रदर्शन से भी मुझे लज्जा आती है ।"

कहँ णाम तीअ तह सो सहावगुरुओ वि थणहरो पडिओ ।
अहवा महिलाणँ चिरँ को वि ण हिअअम्मि संठाइ ।।

*[कथं नाम तस्याः स स्वभावगुरुकोऽपि स्तनभरः पतितः ।
अथवा महिलानां चिरं कोऽपि न हृदये संतिष्टते ।।]*

किसी पुष्ट एवं उत्तुङ्ग कुचों वाली कामिनी को शीघ्र ही शिथिलकुचा देख कर कोई रसिक अपने मित्र से कहता है :—

"इस युवती का स्वभाव से ही गुरु (पुष्ट एवं उत्तुङ्ग) कुचभार शिथिल कैसे हो गया ? अथवा महिलाओं के हृदय में चिरकाल तक कोई भी नहीं ठहर पाता।"

(स्वभाव से ही गुरु) विशेषण से किसी नैसर्गिक गौरवशाली पुरुष की भी प्रतीति होती है और उत्तरार्ध में आये अर्थान्तरन्यास की सहायता से स्पष्ट होता है कि स्वभाव से ही गौरवशाली व्यक्ति भी महिलाओं के हृदय में स्थायी वास नहीं पा सकता । इससे स्त्रियों के प्रेम की अस्थिरता ध्वनित होती है ।

सुअणु वअणं छिवन्तं सूरं मा साउलीअ[1] वारेहि ।
एअस्स पङ्कअस्स अ जाणउ कअरं सुहप्फंसं ।। ६९ ।।

*[सुतनु वदनं स्पृशन्तं सूर्यं मा वस्त्राञ्चलेन वारय ।
एतस्य पङ्कजस्य च जानातु कतरत् सुखस्पर्शम् ।।]*

अपने आँचल से सूर्य की प्रातःकालीन किरणों को रोकती हुई प्रेयसी से नायक ने कहा :—

"हे सुतनु ! मुख का स्पर्श करते हुए सूर्य को मत रोको । यह भी तो जान ले कि इस (तुम्हारे मुख) में तथा पङ्कज में किसका स्पर्श सुखदायक है ।

भाव यह है कि मैं तो प्रतिदिन तुम्हारे मुख का स्पर्श करता हूँ और कभी कभी कमल का भी । मैं दोनों के स्पर्श का अन्तर जानता हूँ किन्तु मेरी प्रिया होने से कहीं पक्षपात के कारण ही तुम्हारे मुख का स्पर्श मुझे अधिक सुखकर न रहा हो अतः मैं यह निर्णय सूर्य के ऊपर छोड़ना चाहता हूँ क्योंकि कमलिनी सूर्य की प्रिया है और वह उसके कमल रूप मुख का प्रतिदिन स्पर्श करता है तथा तुम्हारे मुख का कभी-कभी । अर्थात् उसकी स्थिति मुझ से बिलकुल प्रतिकूल है फिर भी मुझे विश्वास है कि तुम्हारे मुख का स्पर्श ही उसे भी अधिक सुखकर प्रतीत होगा । कमल उपमान से मुख की कमल सदृश गन्ध और नायिका का पद्मिनीत्व भी व्यङ्ग्य है । 'पङ्कज' शब्द का प्रयोग भी साभिप्राय है जिससे "कीचड़ से उत्पन्न होने वाला भला अमृतमय मुख की क्या बराबरी करेगा"[1] अर्थगाम्भीर्य स्पष्ट होता है ।

---

१. साउली शब्द वस्त्र का वाचक देशी शब्द है । पंजाबी और हिन्दी का स्यालू शब्द इसी से निकला है । कुलबाल देव ने 'साउली' की संस्कृतच्छाया 'साकुली' की है जिसका अर्थ होता है पत्तों की छत्री । इसलिये कुलबालदेव ने 'पल्लवच्छत्रिकया वदनं मा वारय' (पल्लवों का "को मत ढको" अर्थ किया है ।

माणोसहं व पिज्जइ पिआइ माणंसिणोअ दइअस्स ।
करसंपुडवलिउद्धाणणाइ मइराइ गण्डूसो ॥ ७० ॥

*[मानौषधमिव पीयते प्रियया मनस्विन्या दयितस्य ।
करसंपुटवलितोर्ध्वाननया मदिराया गण्डूषः ॥]*

'मदिरा के मद से मत्त प्रमदा का मान शिथिल हो जाता है इसलिये विदग्ध रसिक मानापनयन की यह औषधि काम में लाते हैं' यह सीख देता हुआ कोई अनुभवी नायक अपने साथी से कहता है—

"प्रिय द्वारा दोनों हाथों में पकड़कर उठाये हुए मुख से मानिनी द्वारा प्रियतम के मुख में स्थित मदिरा की घूंट मानो मान की औषधि के रूप में पी जाती है।" भावार्थ यह है कि मृदु प्रकृति वाले व्यक्ति को औषधि बड़ी कठिनाई से बलपूर्वक पिलायी जाती है। इसी प्रकार मान के कारण विमुख नायिका को भी बड़ी कठिनाई से बलपूर्वक मुख को पकड़कर और उठाकर मदिरा पिलायी जाती है।

कहँ सा णिव्वण्णिज्जइ जीअ जहा लोइअम्मि अङ्गम्मि ।
दिट्ठी दुव्वलगाई व्व पङ्कपडिआ व्व ण उत्तरइ ॥ ७१ ॥

*[कथं सा निर्वर्ण्यतां यस्या यथालोकितेऽङ्गे ।
दृष्टिदुर्बला गौरिव पङ्कनिपतिता नोत्तरति ॥]*

नायक की उत्कण्ठा बढ़ाने के उद्देश्य से दूती नायिका के सौन्दर्य का प्रभाव बतलाती है—

"जिसके अङ्ग पर चाहे जैसे भी पड़ी दृष्टि (वहाँ से) दलदल में फँसी हुई दुर्बल गौ के समान उठती ही नहीं, उसका पूर्णतया दर्शन कैसे किया जाय" ?

व्यङ्ग्य यह है कि नायिका का अङ्ग-अङ्ग इतना सलोना है कि दृष्टि जिस अङ्ग पर भी पड़ जाती है उसी के सौन्दर्य-पान में खोयी सी रह जाती है, दूसरे अङ्गों तक जाती ही नहीं। अतः उसका समग्र सौन्दर्य दो आँखों के बस की बात नहीं फिर अकेली जिह्वा पूरी तरह न देखी हुई वस्तु का सौन्दर्य-बखान कैसे कर सकती है ? नायक के प्रति चरम व्यङ्ग्य यह है कि "इस असाधारण सुन्दरी को जितना शीघ्र हो सके अपनी अङ्कशायिनी बनाने का प्रयत्न करो"।

कीरन्ति व्विअ णासइ उअए रेहव्व खलअणे मेत्ती ।
सा उण सुअणम्मि कआ अणहा पाहाणरेह व्व ॥ ७२ ॥

*[क्रियमाणैव नश्यत्युदके रेखेव खलजने मैत्री ।
सा पुनः सुजने कृता अनघा पाषाण रेखेव ॥]*

दुर्जन की मैत्री जल में खींची जाती हुई रेखा के समान करते-करते ही नष्ट हो जाती है और सज्जन की मैत्री पत्थर की लकीर के समान निरपाय (विक्षेपरहित) होती है।

की रति का भी अनुभव प्राप्त है, मेरे संग से तुम्हें भी वह कुशलता प्राप्त हो जायगी" तथा 'अपनी अनभिज्ञता के कारण संकोच मत करो। मैं तुम्हारे सहज सुरत से अत्यधिक प्रसन्न होऊँगी' यह प्रोत्साहन नायक के प्रति ध्वनित होता है। 'पुनरुक्त' शब्द से 'कामशास्त्रीय विधि से संपन्न रति-व्यापार तो पिटे-पिटाये और बासी होते हैं' अर्थ व्यङ्ग्य है जो नव कामुक के रतिकला-अनभिज्ञता-जनित संकोच के अपनयन का प्रयत्न है।

उज्झसि पिआइ समअं तह वि हु रे भणसि कीस किसिअं त्ति ।
उवरिभरेण अ अण्णुअ मुअइ वइल्लो वि अङ्गाइं ॥ ७५ ॥

[उह्यसे प्रियया समं तथापि खलु रे भणसि कस्मात्कृशितेति ।
उपरिभरेण च अज्ञ ! मुञ्चति बलीवर्दोऽप्यङ्गानि ॥]

अन्यासक्त नायक के यह पूछने पर कि 'दुबली क्यों हो रही हो' ? प्रणय-वंचिता नायिका ने खीझकर उत्तर दिया—

मैं तुम्हें (तुम्हारी) प्रिया के सहित अपने (हृदय में) धारण करती हूँ और तुम पूछते हो 'किस कारण से दुबली हो' ? हे अनभिज्ञ ! अधिक भार (लादने) से तो बैल भी अङ्ग छोड़ देता है (कृशाङ्ग हो जाता है, मुझ अबला का तो कहना ही क्या) ?

व्यङ्ग्यार्थ यह है कि तुम अपनी अन्य प्रियतमा को अपने हृदय में रखते हो किन्तु मैं फिर भी तुम्हें हृदय में रखती हूँ। तुम्हारे प्रति मेरा प्रेम पहले जैसा ही है। मेरे हृदय से तुम नहीं निकलते किन्तु इन दिनों अपनी चहेती को भी तुम क्षणमात्र के लिये नहीं छोड़ते, इसलिये तुम्हारी मूर्ति के साथ वह भी सौत के रूप में मेरे हृदय में सदैव रहती है। तुम सब कुछ जानते हो और फिर भी भोले बनकर दुर्बलता का कारण पूछते हो।

दिढमूलबन्धगण्ठि व्व मोइआ कहँ वि तेण मे बाहू ।
अम्हेहिँ वि तस्स उरे खुत्त व्व समुक्खआ थणआ ॥ ७६ ॥

[दृढमूलबन्धग्रन्थी इव मोचितौ कथमपि तेन मे बाहू ।
अस्माभिरपितस्योरसि निखाताविव समुत्खातौ स्तनौ ॥]

चिरकाल में प्रवास से लौटे हुए प्रियतम का स्वागत कैसे किया ? सखी के इस प्रश्न का उत्तर नायिका ने इन शब्दों में दिया—

"उन्होंने मेरी भुजाओं को दृढ़ बन्ध लगी हुई गाँठ के समान बड़ी कठिनता से छुड़ाया और हमने भी उनके वक्ष पर गड़ से गये कुचों को मानों उखाड़ा।" अर्थात् मैंने दृढ़ आलिङ्गन करके उनका स्वागत किया और उन्होंने भी उसी प्रकार उसका उत्तर दिया।

गाढ आलिङ्गन के कारण नायिका की भुजाओं को नायक ने ही कठिनता से

छुड़ाया। इससे प्रतीत होता है कि नायिका को आलिङ्गन के बाद हटने का ज्ञान ही न रहा 'यह उसके आनन्दातिरेक का सूचक है। प्रिय ने ही उसकी बाहुओं को जैसे-तैसे हटाया' इससे उसकी आनन्दातिशय-जनित जड़ता की प्रीतीति होती है। "उनके वक्ष में गड़े हुए से स्तनों को उखाड़ा" इससे नायक द्वारा भी नायिका का गाढ़ आलिङ्गन प्रकट है, "गड़े हुए से" विशेषण कुचों की कठोरता और उत्तुङ्गता व्यंजित है। 'ग्रन्थि' शब्द से व्यङ्ग्य है कि नायिका के लिये नायक उतना ही प्रिय है जितना निर्धन के लिये कोई अमूल्य वस्तु जिसे वह दृढ़ता के साथ गाँठ में बाँधकर रखता है। इसी प्रकार 'गड़े हुए से' विशेषण से नायिका के कुचों का नायक के लिये निधि कलश सदृश प्रिय होना व्यङ्ग्य है। अर्थात् दोनों एक दूसरे के सर्वस्व हैं। दोनों में अतिशय अनुराग है।

अगुणअपसाइआए तुज्झ वराहे चिरं गणन्तीए।
अपहुत्तोहअहत्थङ्गुरीअ तीए चिरं रुण्णं॥ ७७॥

[अनुनयप्रसादितया तवापराधांश्चिरं गणयन्त्या।
अप्रभूतोभयहस्ताङ्गुल्या तया चिरं रुदितम्॥]

कलहान्तरिता को मना लेने के बाद उसकी सखी नायक के पास जाकर कहती है—

(हमारे) अनुनय द्वारा उसे मना लेने पर वह देर तक तुम्हारे अपराधों को गिनती हुई अपने दोनों हाथों की उँगलियों को (अपराधों की गिनती के लिये) अपर्याप्त पाकर बहुत देर तक रोती रही।

'देर तक गिनने' और दोनों हाथो की अंगुलियों के भी कम पड़ने से नायक के अपराधों की अत्यन्त अधिकता व्यंजित है। 'देर तक रोती रही' से नायक के अपराधों के कारण उसकी (नायिका की) अतिशय आकुलता ध्वनित है। सखी के मनाने से ही मान जाना और 'अपराधों की गिनती भी न कर पाना' नायिका की मुग्धता के व्यञ्जक हैं। अन्त में वक्त्री (सखी) और बोद्धव्य (अपराधी नायक) के वैशिष्ट्य से 'उस मुग्धा ने इस समय हमारे अनुनय-विनय से तुम्हारे बहुत से अपराध क्षमा कर दिये हैं, आगे फिर कभी ऐसा न करना' चेतावनी भी नायक के प्रति व्यङ्ग्य है।

सेअच्छलेण पेच्छह तणुए अङ्गम्मि से अमाअन्तं।
लावण्णं ओसरइ व्व तिवलिसोवाणवत्तीए॥ ७८॥

[स्वेदच्छलेन पश्यत तनुकेऽङ्गे तस्या अमात्।
लावण्यमपसरतीव त्रिवलीसोपानपंक्तिभिः॥]

प्रियतम के पास से आयी हुई नायिका को स्वेद से भीगी देखकर कोई सखी अन्य सखियों से हँसती हुई कहती है—

'देखो तो, इसके पतले से शरीर में न समाता हुआ लावण्य स्वेद के बहाने त्रिवली रूपी सीढ़ियों की पंक्ति से उत्तर रहा है'।

देश, काल, और वक्त्री के वैशिष्ट्य से सखियों के प्रति व्यङ्ग्य है कि यह प्रिय के साथ यौवन का रस लेकर आयी है।

देव्वाअत्तम्मि फले किं कीरइ एत्तिअं पुणो भणिमो।
कङ्केल्लिपल्लवाणं ण पल्लवा होन्ति सारिच्छा॥ ७९॥

[दैवायत्ते फले किं क्रियतामियत्पुनर्भणामः।
कङ्केल्लिपल्लवानां न पल्लवा भवन्ति सदृशाः॥]

किसी निर्धन युवति के दारिद्रय दोष की नगण्यता एवं सौन्दर्यातिशय की स्थापना अन्योक्ति द्वारा करती हुई दूती नायक से कहती है—

'फल तो दैवाधीन है, उसके विषय में क्या किया जाय? हाँ, इतना फिर भी कहते कि अशोक के पल्लवों के समान अन्य पल्लव नहीं होते'। अर्थात् आम आदि के समान अशोक के वृक्ष पर फल नहीं होता तो न सही, किन्तु उसके पल्लव तो सबसे अधिक सुन्दर होते हैं। इसी प्रकार सम्पत्ति रूप फल उस सुन्दरी के पास नहीं हैं, तो न सही वह तो दैवाधीन है[1] किन्तु उसका जैसा लावण्य अन्यत्र नहीं मिलेगा। के प्रति इसलिये 'तर्क-वितर्क छोड़कर उसका अनुराग स्वीकार कर धन्य हो जाओ, यह नायक ध्वनित है?

धुअइ व्व मअकलङ्कं कवोलपडिअस्स माणिणी उअह।
अणवरअवाहजलभरिअणअणकलसेहिं चन्दस्स॥ ८०॥

[धावतीव मृगकलङ्कं कपोलपतितस्य मानिनी पश्यत।
अनवरतबाष्पजलभृतनयनकलशाभ्यां चन्द्रस्य॥]

कलहान्तरिता नायिका को मनाने के लिये नायक पहुँचा। उस समय वह खुले आँगन में चाँदनी में बैठी हुई थी। नायक के साथ उसका मित्र भी था जिसे संबोधित करते हुए उसने कहा:—

"देखो, मानिनी निरन्तर अश्रुजल से भरे हुए नयनरूपी घड़ों से मानो अपने कपोल पर पड़े हुए चन्द्रमा के कलङ्क को धो रही है।"

कपोल पर चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब पड़ने से उसकी मसृणता (चिकनाहट) और स्वच्छता प्रकट है जिससे नायिका का सौन्दार्यातिशय ध्वनित है। 'मानो चन्द्रमा का कलङ्क धो रही है' इस उत्पेक्षा से अभिव्यक्त होता है कि 'नायिका के मुख से ही—

---

१. कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। (गीता)
अर्थात् मनुष्य का अधिकार कार्य करना है। फल में उसका अधिकार नहीं है।
दैवायत्तं फलं पुंसाम् (महाभारत)।

होने के कारण चन्द्रमा को अपमान का कलङ्क लग गया। अब मान के कारण मुख के मलिन हो जाने से वह चन्द्रमा के समान ही हो गया अतः नायिका चन्द्रमा का अपमान-कलङ्क धो रही है। अथवा—नायिका की आँखों का काजल आँसुओं के साथ बह कर मुख पर आ गया और मुख चन्द्रमा के समान ही कालिमा से भी युक्त हो गया, अतः चन्द्रमा का मुख से हीन होने का कलङ्क धुल गया। अथवा—कपोल पर पड़े हुए चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब में जो श्यामता है उसे आँखों से बहते हुए जल से वह धो रही है। काजल से कपोल पर कलङ्क को उत्पन्न करती हुई भी कलङ्क धो रही है। यह विरोध-ध्वनि भी द्रष्टव्य है। 'ऐसी असाधारण सुन्दरी भी मेरे वियोग में कितनी दुःखी है' अपने मित्र के प्रति नायक का यह सौभाग्य-गर्व व्यञ्जित होता है।

गन्धेण अप्पणो मालिआणँ णोमालिआ ण फुट्टिहइ।
अण्णो को वि हआसइ मंसलो परिमलुग्गारो॥ ८१॥

[गन्धेनात्मनो मालिकानां नवमालिका न च्युता भविष्यति।
अन्यः कोऽपि हताशाया मांसलः परिमलोद्गारः॥]

नायिका अपने पिता के घर से पति के घर जा रही है। उसका गुप्त प्रेमी चिन्तित है और उसका मित्र उसे समझाता है कि "इसके पति की अनेक पत्नियाँ हैं, यह उसकी अत्यधिक प्रिया न रहेगी, तुम में आसक्त है, अतः कुछ दिनों में फिर आयेगी ही।" इस पर वह अन्योक्ति के माध्यम से उत्तर देता है :—

'माला में गुँथे हुए फूलों में नवमालिका अपने सौरभ के कारण किसी से कम न रहेगी। इस कम्बख्त की परिपुष्ट सौरभ सम्पत्ति कुछ और ही है। अर्थात् अपने अलौकिक लावण्य के कारण वह अपनी सपत्नियों से अधिक ही अपने पति को आसक्त करेगी। 'कुछ और ही है' से परिमल (सौन्दर्य) की अनिर्वचनीयता व्यक्त होती है। 'इस के सौन्दर्य सौकुमार्य आदि गुणों का महत्त्व मैं ही जानता हूँ, शब्दों में वह प्रकट नहीं किया जा सकता, अतः यह अपनी सपत्नियों की मूर्धन्य ही होकर रहेगी। आगे इसके समागम की आशा नहीं है' यह नायक के मित्र के प्रति व्यङ्ग्य है।

फलसंपत्तीअ समोणआइं तुङ्गाइँ फलविपत्तीए।
हिअआइ सुपुरिसाणं महातरूणं व सिहराइं॥ ८२॥

[फलसंपत्त्या समवनतानि तुङ्गानि फलविपत्त्या।
हृदयानि सुपुरुषाणां महातरूणामिव शिखराणि॥]

सज्जनों के हृदय विशाल वृक्षों के शिखरों के समान फल-सम्पत्ति से नम्र हो जाते हैं और फल-विपत्ति में ऊँचे रहते हैं। अर्थात् जिस प्रकार फलों के आने से वृक्षों के शिखर झुक जाते हैं उसी प्रकार सज्जनों के हृदय भी गर्वरहित होने के कारण वैभव पाकर नम्र हो जाते हैं और जिस प्रकार फल गिर जाने पर वृक्षों के

'शिखर ऊँचे हो जाते हैं उसी प्रकार वैभव का नाश हो जाने पर सत्पुरुष के हृदय दैन्य आदि के अभाव और आत्माभिमान के भाव से ऊँचे ही रहते हैं।

आसासेइ परिअणं परिवत्तन्तीअ पहिअजाआए।
णित्थाणुवत्तणे वलिअहत्थमुहलो वलअसद्दो॥ ८३॥

[आश्वासयति परिजनं परिवर्तमानायाः पथिकजायायाः।
निःस्थामवर्तने वलितहस्तमुखरो वलयशब्दः॥]

प्रोषितपतिका की सखी उसके पति के पास जाने वाले पथिक के हाथ सन्देश भेजती है :—

वियोग में (मृतवत्) जड़ पड़ी हुई विरहिणी के असह्य पार्श्वपरिवर्तन (करवट बदलने) में हिले हुए हाथ से उठने वाला कङ्कन का शब्द परिजन को धीरज देता रहता है। अर्थात् कङ्कन के शब्द को सुनकर उन्हें सन्तोष हो जाता है कि अभी जीवित है। इससे नायिका की अत्यन्त कृशता व्यञ्जित है जिससे 'उसका अनिष्ट होने से पहले ही शीघ्र घर का रास्ता पकड़ो'। यह नायक के प्रति व्यङ्ग्य है।

तुङ्गो च्चिअ होइ मणो मणंसिणो अन्तिमासु वि दसासु।
अत्यमणम्मि वि रइणो किरणा उद्धं चिअ फुरन्ति॥ ८४॥

[तुङ्गमेव भवति मनो मनस्विनोऽन्तिमास्वपि दशासु।
अस्तमनेऽपि रवेः किरणा ऊर्ध्वमेव स्फुरन्ति॥]

अन्तिम अवस्थाओं (मरणासन्न दशाओं) में भी मनस्वी का हृदय उत्तुङ्ग ही रहता है। अस्त होते हुए भी सूर्य की किरणें सदा ऊपर स्फुरित होती हैं।

पोट्टं भरन्ति सउणा वि माउआ अप्पणो अणुव्विग्गा।
विहलुद्धरणसहावा हुवन्ति जइ के वि सप्पुरिसा॥ ८५॥

[उदरं भरन्ति शकुना अपि हे मातरात्मनोऽनुद्विग्नाः।
विह्वलोद्धरणस्वभावा भवन्ति यदि केऽपि सत्पुरुषाः॥]

किसी उदाराशय कामिनी को नायक के उदारता परोपकार आदि गुणों से सूचित कर उसके मन को उसकी ओर उन्मुख करने के लिये दूती कहती है:—

ण विणा सब्भावेण घेप्पइ परमत्थजाणुग्रो लोग्रो ।
को जुण्णमज्जरं कञ्जिएणा वेग्रारिउं तरइ ॥ ८६ ॥

[न विना सद्भावेन गृह्यते परमार्थज्ञो लोकः ।
को जीर्णमार्जारं कांञ्जिकया प्रतारयितुं शक्नोति ॥]

"ऊपरी प्रेम से ही उसे प्रसन्न कर लो" यह कहकर बार-बार ग्रनभिप्रेत पुरुष के प्रति ग्रनुराग का ग्राग्रह करने वाली दूती से विदग्ध नायिका ने कहा:—

"वास्तविकता को समझने वाले व्यक्ति को विना सद्भाव के वशवर्ती नहीं किया जा सकता। बूढ़े बिलाव को (दूध के स्थान में) काँजी देकर कौन धोखा दे सकता है ? व्यङ्ग्य यह है कि कृत्रिम भाव सच्चे प्रेम के ग्रागे नगण्य है और ग्रासानी से पहिचाना जा सकता है।

रण्णाउ तणं रण्णाउ पाणिग्रं सव्वग्रं सग्रंगाहं ।
तह वि मग्राणं मईणं ग्र ग्रामरणन्ताइं पेम्माइं ॥ ८७ ॥

[अरण्यात्तृणमरण्यात्पानीयं सर्वतः स्वयंग्राहम् ।
तथापि मृगाणां मृगीणां चामरणान्तानि प्रेमाणि ॥]

ग्रलङ्कार ग्रादि न मिलने से ग्रसन्तुष्ट नायिका को सच्चे प्रेम की निरुपाधिता समझाती हुई सखी कहती है:—

(मृगों को) वन से ही घास और वन से ही जल, सब तरह से स्वयं ही ग्रहण करना पड़ता है फिर भी मृगों और मृगियों का प्रेम मरने तक (बराबर) बना रहता है।

'मृगी तो पशु होती है। भोजन का भार भी वह प्रिय पर नहीं डालती। उसका प्रेम ग्रहेतुक है। तुम ग्रपने ग्रापको पशु से भी नीचे क्यों गिरा रही हो ?' यह नायिका के प्रति व्यङ्ग्य है।

तावमवणेइ ण तहा चन्दणपङ्को वि कामिमिहुणाणं ।
जह दूसहे वि गिम्हे ग्रण्णोण्णालिङ्गणसुहेल्ली ॥ ८८ ॥

[तापमपनयति न तथा चन्दनपङ्कोऽपि कामिमिथुनानाम् ।
यथा दुःसहेऽपि ग्रीष्मेऽन्योन्यालिङ्गनसुखकेलिः ॥]

है। इस विरोध से यह व्यङ्ग्य निकलता है कि ग्रीष्म ऋतु में भी अन्यान्य भोग्य पदार्थों की अपेक्षा प्रियतमा की सुरतकेलियाँ ही अधिक रमणीय होती हैं।

तुप्पाणणा किणो चिट्ठसि त्ति पडिपुच्छिआएँ वहुआए।
विउणावेढ्ढिअजहणत्थलाइ लज्जोणअं हसिअं ॥ ८९ ॥

[घृतलिप्तानना किमिति तिष्ठसीति परिपृष्टया वध्वा।
द्विगुणावेष्टितजघनस्थलया लज्जावनतं हसितम् ॥]

'लज्जाशील होते हुए भी कुल-वधुओं की भावाभिव्यक्ति की विदग्धता प्रिय के लिये कितनी सुखकर होती है' यह बतलाता हुआ कोई रसिक अपने मित्र से किसी कुलवधू का वर्णन करता है—

(स्त्रियों के आचारों से अपरिचित प्रियतम द्वारा) यह पूछने पर कि मुख पर वर्ण घृत क्यों लगाये हुए हो ? वधू अपने जघनस्थल को दुगुना ढक कर लज्जा से दृष्टि नीची करके हँस दी और इस प्रकार बिना एक भी शब्द कहे (जघन को ढकते हुए लज्जा सहित हँसने से अपने रजोदर्शन की बात प्रकट कर दी)

रजोदर्शन के समय मुख पर घृत का लेप करने का आचार गाथासप्तशती के रचना-काल में प्रचलित रहा होगा।

हिअअ च्चेअ विलीणो ण साहिओ जाणिऊण घरसारं।
बान्धवदुव्वअणं विअ दोहलओ दुग्गअवहूए ॥ ९० ॥

[हृदय एव विलीनो न कथितो ज्ञात्वा गृहसारम्।
बान्धवदुर्वचनमिव दोहदको दुर्गतवध्वा ॥]

'कुलवधुओं का चरित बड़ा कठिन होता है।' यह शिक्षा देती हुई प्रौढ़ा किसी वधू से कहती है—

"दरिद्र की पत्नी ने अपने घर के सार (सामर्थ्य अथवा धन) को समझकर अपना दोहद (गर्भावस्था में किसी वस्तु विशेष के लिये होने वाला अभिलाष) बन्धुजनों के संतापजनक वचन के समान अपने हृदय में ही छिपा लिया (पति सास आदि के समक्ष) प्रकट न किया। भावार्थ यह है कि कुलवधू ने, जिस प्रकार बन्धु-वर्ग के कटुवचन यदि घर वालों के सामने कहे जायेंगे तो क्लेश ही बढ़ेगा' यह सोचकर हृदय में ही रख लिये, किसी से कहे नहीं, उसी प्रकार अपनी अभिलाषा भी। कुल-वधुएँ बन्धु-वर्ग के कटु वचन भी सह लेती हैं किन्तु ऐसा कोई कार्य नहीं करतीं जिससे घर में क्लेश या चिन्ता उत्पन्न हो जाय। समीपस्थ नववधू के प्रति यह व्यङ्ग्य है।

धावइ विअलिअधम्मिल्लसिचअसंजमणवावडकरग्गा।
चन्दिलभअविवलाअन्तडिम्भपरिमग्गिणी घरिणी ॥ ९१ ॥

हे मामी ! यह है वह युवक जिसे गाँव की कुलटाएँ ग्रीष्म में वटवृक्ष के समीप स्थित गाँव के एकमात्र कुए के जल के समान वारी-वारी से मुश्किल से ही पाती हैं। 'एकमात्र उदक' की उपमा द्वारा व्यक्त है कि यह युवक गाँव की सभी कामिनियों का प्रेमपात्र तथा असाधारण सौन्दर्यवान् है। घोर ग्रीष्म में शीतल जल जैसे जीवन का आलम्बन होता है उसी प्रकार यह गाँव की अभिसारिकाओं का। इससे 'एक अनार और सौ बीमार' के अनुसार उसकी दुर्लभता व्यञ्जित होती है। 'वारी-वारी' से प्राप्त होने से उसका प्रत्येक के लिये अल्पकाल के लिये ही प्राप्त होना ध्वनित है और अन्त में नायिका का "जिसे अन्य रमणियाँ इतनी प्रतीक्षा और कष्टों के पश्चात् पाती हैं वह मैंने अनायास ही अपने वश में कर लिया" सौभाग्य-गर्व व्यञ्जित होता है।

गामवडस्स पिउच्छा आवण्डुमुहीणं पण्डुरच्छाअं।
हिअएण समं असईणं पडइ वाआहअं पत्तं ॥ ६५ ॥

*[ग्रामवटस्य पितृष्वस आपाण्डुमुखीनां पाण्डुरच्छायम्।
हृदयेन सममसतीनां पतति वाताहतं पत्रम् ॥]*

परकीया-समागम के व्यसनी प्रिय के संकेत-स्थान के विघटन से संतुष्ट कुल-वधू अपनी बुआ से कहती है :—

"हे बुआ ! गाँव के बरगद का हवा से टूटा हुआ पीले रंग का पत्ता विवर्ण मुख वाली (मलिनमुखी) कुलटाओं के हृदय के साथ गिर रहा है"।

संकेत-स्थान के भङ्ग से अभिसारिकाओं के मुख की कान्ति विवर्ण हो गयी है। "पत्ता गिरता है" इस एक वचन से एक-एक पत्ते के गिरने के साथ हृदय फटने जैसी वेदना व्यञ्जित है। केवल असतियों की प्रतिक्रिया के वर्णन से पति के अपवाद का परिहार अभिप्रेत है जिससे नायिका की पतिपरायणता ध्वनित होती है।

पेच्छइ अलद्धलक्खं दीहं णीससइ सुण्णअं हसइ।
जह जम्पइ अफुडत्थं तह से हिअअट्ठिअं किंपि ॥ ६६ ॥

*[पश्यत्यलब्धलक्ष्यं दीर्घं श्वसिति शून्यं हसति।
यथा जल्पत्यस्फुटार्थं तथा तु हृदयस्थितं किमप्यस्याः ॥]*

पूर्वानुरागिणी युवति को देखकर कोई भुक्तभोगी रसिक अपने मित्र से कहता है :—

क्योंकि यह लक्ष्य के विना ही देखती है, आह भरती है, अकारण हँसती है और अस्पष्ट भाषण करती है, इससे स्पष्ट है कि इसके हृदय में 'कुछ' है। 'आह भरने' से चिन्ता, लक्ष्य के विना हँसने और देखने से मोह, तथा अस्पष्ट भाषण से हृदय में स्थापित प्रियतम से संलाप द्वारा स्मृति सञ्चारी व्यंजित है।

गहवइ गओम्ह सरणं रक्खसु एअं त्ति अडअणा भणिरी ।
सहसागअस्य तुरिअं पइणो व्विअ जारमप्पेइ ॥ ६७ ॥

*[गृहपते ! गतोऽस्माकं शरणं रक्षैनमित्यसती भणित्वा ।
सहसागतस्य त्वरितं पत्युरेव जारमर्पयति ॥]*

गुप्त प्रेम करने के लिए भी अक्ल चाहिये यह कहता हुआ कोई रसिक अपने मित्र को एक चतुर कुलटा से संबद्ध घटना सुनाता है :—

"हे गृहपते ! यह हमारी शरण आया है, इसकी रक्षा करो" यह कहकर कुलटा ने अपने जार (गुप्त प्रेमी) को अचानक आये हुए पति को ही झटपट सौंप दिया ।

हिअअट्ठिअस्स दिज्जउ तणुआअन्ति ण पेच्छह पिउच्छा ।
हिअअट्ठिओम्ह कंतो भणित्वा मोहं गआ कुमरी ॥ ६८ ॥

*[हृदयस्थितस्य दीयतां तनूभवन्तीं न पश्यथ पितृष्वसः ।
हृदयस्थितोऽस्माकं कुतो भणित्वा मोहं गता कुमारी ॥]*

"प्रेम छिपाने पर भी नहीं छिपता" यह सिद्ध करती हुई कोई कामिनी अपनी सखी से कहती है :—

(कुमारावस्था में ही किसी युवक के साथ ननद के प्रेम को लक्षित कर के कुलवधू ने अपने पति की बुआ से कहा) हे बुआ ! क्या आप लोग इसको कृश होते हुए नहीं देखते ? इसे इसके हृदय में स्थित (प्रियतम) युवक को दे दो (उसके साथ विवाह कर दो) (इस पर अपनी पोल खुल जाने से लज्जित ननद ने कहा) हमारा (कुमारियों का) हृदय-स्थित कहाँ ? (अर्थात् मैंने किसी से प्रेम नहीं किया) और यह कहकर वह मूर्छित हो गई ।

नायिका की मूर्च्छा का कारण प्रिय के स्मरण का आवेग ही है । अथवा 'मुझ निर्दोष पर यह असह्य दोषारोपण किया जा रहा है" यह सूचित करके अपने उमड़ते प्रणय को छिपाने के लिये उसने मूर्छित होने का बहाना किया ।

खिण्णस्स उरे पइणो ठवेइ गिम्हावरण्हरमिअस्स ।
ओल्लं गलन्तकुसुमं ण्हाणसुअन्धं चिउरभारं ॥ ६९ ॥

*[खिन्नस्योरसि पत्युः स्थापयति ग्रीष्मापराह्णरमितस्य ।
आर्द्रं गलत्कुसुमं स्नानसुगन्धं चिकुरभारम् ॥]*

सुरत-काल के पश्चात् का उपचार सिखाती हुई सखी नायिका से किसी का उदाहरण रूप में, वर्णन कर रही है :—

ग्रीष्म के तीसरे पहर सुरत करने से श्रान्त पति के उर पर (नायिका ने)

गिरते हुए पुष्पों वाला, स्नान के पश्चात् लगाई सुगन्ध से युक्त तथा (सुरतकालीन) श्रमजल से) आर्द्र केश-कलाप रख दिया।

अह सरसवन्त-मण्डल-कवोल-पडिमागओ मअच्छीए।
अन्तो सिन्दूरिअसंखवत्तकर्णि वहइ चन्दो ॥ १०० ॥

[असौ सरसदन्त-मण्डल-कपोल-प्रतिमागतो मृगाक्ष्याः।
अन्तः सिन्दूरित-शङ्ख-पात्र-सादृश्यं वहति चन्द्रः ॥]

चाँदनी में रमण करता हुआ नायक प्रियतमा के कपोल का वर्णन करता हुआ कहता है :—

"मृगाक्षी के सरस मण्डलाकार दन्तचिन्हों से युक्त कपोल पर प्रतिविम्बित चन्द्रमा मध्य में सिन्दूर से युक्त सुन्दर शङ्खनिर्मित पात्र की समता धारण करता है।

रसिक प्रियतम ने नायिका के कपोल पर मणिमाला नामक चुम्बन जड़ दिया जिससे दाँतों का मण्डलाकार लाल-लाल चिन्ह उसके कपोल पर अङ्कित हो गया। अब कपोल के स्वच्छ एवं मसृण होने के कारण चन्द्रमा का प्रतिविम्ब उस पर उतर आया जिससे वह चिह्न चन्द्रमा के प्रतिविम्ब के बीच में दिखाई देने लगा। चन्द्रमा का यह श्वेत प्रतिविम्ब शङ्खनिर्मित पात्र जैसा और दाँतों का चिह्न सिन्दूर जैसा प्रतीत हुआ।

रसिअजणहिअअदइए कइवच्छलपमुहसुकइणिम्मअए।
सत्तसअम्मि समत्तं तीअं गाहासअं एअं ॥ १०१ ॥

[रसिकजनहृदयदयिते कवित्वसलप्रमुखसुकविनिर्मिते।
सप्तशतके समाप्तं तृतीयं गाथाशतकमेतत् ॥]

रसिक जनों की मनोवल्लभ, कविवत्सल प्रमुख सुकवि (हाल) द्वारा निर्मित सप्तशती में गाथाओं का यह तीसरा शतक समाप्त हुआ।

चतुर्थ शतक

* *

अह अम्ह आअदो अज्ज कुलहराओ त्ति छेञ्छई जारं ।
सहसागअस्स तुरिअं पइणो कण्ठं मिलावेइ ॥ १ ॥

*[असावस्माकमागतोऽद्य कुलगृहादित्यसती जारम् ।
सहसागतस्य त्वरितं पत्युः कण्ठे मेलयति ॥]*

'कुलटा पत्नी अचतुर पति को विभिन्न प्रकार के छल करके अपना गुप्त प्रेम जारी रखती है यह शिक्षा देता हुआ कोई सहृदय अपने मित्र से कहता है :—

"यह आज ही हमारे पितृगृह से आया है" । यह कहते हुए कुलटा ने अपने गुप्त प्रेमी को सहसा आये हुए पति से शीघ्र ही गले मिला दिया ।"

'पति' शब्द से 'पालनकर्त्तामात्र' की प्रतीति होती है, वह नायिका का रक्षक ही है प्रियतम नहीं । 'हमारे पितृगृह' से सूचित किया है कि हमारे घर के सभी लोगों से यह परिचित ही नहीं अपितु कुटुम्ब के सदस्य-सदृश है । इससे शङ्का के अनवसर की व्यञ्जना होती है । इसी को पुष्ट करने के लिये 'पति के गले मिलाती है ।' इससे उसके निकट सम्बन्ध की पुष्टि होती है । 'शीघ्र' शब्द से व्यञ्जित है कि विचार करने का कोई अवसर उसने पति को प्रदान नहीं किया ।

पुसिआ अण्णाहरणेन्दणीलक्किरणाहआ ससिमऊहा ।
माणिणिवअणम्मि सकज्जलंसुसङ्काइ दइएण ॥ २ ॥

*[प्रोञ्छिताः कर्णाभरणेन्द्रनीलकिरणाहताः शशिमयूखाः ।
मानिनीवदने सकज्जलाश्रुशङ्कया दयितेन ॥]*

किसी स्वाधीनपतिका का वर्णन करती हुई सखी अन्य सखी से कहती है:—

"मानिनी के मुख पर पड़ी हुई कान के आभूषण में जटित नीलमणि की कान्ति से संयुक्त चन्द्रमा की किरणों को प्रियतम काजल मिले हुए आँसुओं की भ्रान्ति से पोंछने लगा ।"

एद्दहमेतम्मि जए सुन्दरमहिलासहस्सभरिए वि ।
अणुहरइ णवर तिस्सा वामद्धं दाहिणद्धस्स ॥ ३ ॥

*[एतावन्मात्रे जगति सुन्दरमहिलासहस्रभरितेऽपि ।
अनुहरति केवलं तस्य वामार्धं दक्षिणार्धस्य ॥]*

नायक को प्रोत्साहित करने के लिये दूती नायिका के सौन्दर्य का वर्णन करती हुई कहती है :—

"सहस्रों सुन्दरियों से भरे हुए इतने विशाल जगत् में भी उसके शरीर का बाँया आधा भाग दाहिने आधे भाग के समान है।" अर्थात् उसका शरीर उसका जैसा ही है। अन्य कोई महिला सौन्दर्य में उसकी समता नहीं कर सकती।

जह जह वाएइ पिओ तह तह णच्चामि चञ्चले पेम्मे।
वल्ली वलेइ अङ्गं सहावथद्धे वि रुक्खम्मि ॥ ४ ॥

[यथा यथा वादयति प्रियस्तथा तथा नृत्यामि चञ्चले प्रेम्णि।
वल्ली वलयत्यङ्गं स्वभावस्तब्धेऽपि वृक्षे ॥]

मानधारण करने की शिक्षा देने वाली सखी से नायिका कहती है :—

"प्रिय जैसे-जैसे बजाते हैं वैसे-वैसे ही मैं चञ्चल प्रेम में नाचती जाती हूँ। लता स्वभाव से ही स्तब्ध वृक्ष से अपने अङ्ग लपेट लेती है।" अर्थात् जिस प्रकार नर्तक वाद्य-वादक के लय-ताल के अनुसार पद-संचालन करता है उसी प्रकार मैं भी प्रिय के अनुकूल ही आचरण करने के लिये (प्रेम के कारण) विवश हूँ।

'प्रेम का चञ्चल विशेषण उसके अस्थायित्व का नहीं अपितु नायिका की प्रेम-जन्य चपल मानसिक स्थिति का सूचक है। लता द्वारा वृक्षवेष्टन के दृष्टान्त से 'प्रिय चाहे कितने ही स्वेच्छाचारी हों हमने तो उन्हें आत्मसमर्पण कर ही दिया' यह अनुरागातिशय व्यक्त किया गया है तथा 'स्त्री का पति के अनुकूल आचरण स्वाभाविक ही है' यह तथ्य भी द्योतित होता है अथवा जैसे लता वृक्ष के सहारे के बिना चढ़ नहीं सकती उसी प्रकार स्त्री भी पुरुष के बिना उन्नत नहीं हो सकती। मान करने में सर्वथा असमर्थ हूँ' नायिका का यह वक्तव्य सखियों के प्रति ध्वनित है।

दुक्खेहिँ लब्भइ पिओ लद्धो दुक्खेहिँ होइ साहीणो।
लद्धो वि अलद्धो व्विअ जइ जह हिअअं तह ण होइ ॥ ५ ॥

[दुःखैर्लभ्यते प्रियो लब्धो दुःखैर्भवति स्वाधीनः।
लब्धोऽप्यलब्ध एव यदि यथा हृदयं तथा न भवति ॥]

बड़े प्रयत्नों से खोजे हुए प्रिय को भी अपने अनुकूल न पाकर नायिका अपनी सखी से कहती है :—

"प्रिय व्यक्ति बड़ी कठिनाई से मिलता है और मिल जाता है तो कठिनता से ही स्वाधीन (प्रेमी के अधीन) रहता है, यदि वह हृदय के अनुसार (प्रेम के अनुकूल आचरण करने वाला) नहीं होता तो मिला हुआ भी न मिले के ही बराबर है।"

प्रिय शब्द साभिप्राय है। 'स्वामी' भर्त्ता या पति तो आसानी से प्राप्त हो सकता है किन्तु मन का ईप्सित व्यक्ति कठिनाई से ही मिल सकता है। यदि वह

प्रेमी के हृदय को अपने सौन्दर्यादि गुणों के कारण आकृष्ट करने वाला होता भी है तो अपने गुणों के गर्व के कारण स्वयं प्रेमी के वश में नहीं रहता अपितु उसे ही अपने वश में रखना चाहता है और स्वयं स्वच्छन्द हो जाता है। अत: कठिनाई से वह प्रिया के अधीन होता है। अधीन होने पर भी यदि हृदय के अनुरूप (मनचाहा) हुआ तब भी उससे क्या लाभ ?

"बड़ी कठिनाई, प्रयत्न और परख के बाद खोजा हुआ भी प्रिय मेरे अनुकूल नहीं है। नायिका का यह निर्वेद सखियों के प्रति व्यङ्ग्य है।"

अव्वो अणुणअसुहकङ्खिरीअ अकअं कअं कुणन्तीए।
सरलसहावो वि पिओ अविणअमग्गं वलग्गीओ ॥ ६ ॥

*[कष्टमनुनयसुखकाङ्क्षणशीलयाऽकृतं कृतं कुर्वत्या।
सरलस्वभावोऽपि प्रियोऽविनयमार्गं बलान्नीतः ॥]*

प्रिय के प्रति उत्कण्ठित कलहान्तरिता पश्चात्ताप करती हुई अपनी सखी से कहती है—

"दुःख की बात है कि मनुहारों का सुख प्राप्त करने की लालसा से न करने योग्य कार्य (व्यर्थ कलह) करके मैंने सरल-स्वभाव प्रिय को भी हठात् कुपित कर दिया। अभिप्राय यह है कि परकीया-गमन का अपराध लगाकर प्रिय से रुष्ट होकर खुशामद कराने की इच्छा से मैंने झूठा ही परकीया-प्रेम का आरोप लगाया और उस पर हठ करती ही चली गयी जिससे प्रिय अत्यन्त कुपित हो गये और मैंने अपने पैरों आप कुल्हाड़ी मार ली। यहाँ कोप की शान्ति और मतिभाव का उदय है।

हत्थेसु अ पाएसु अ अङ्गुलिगणणाइ अइगआ दिअहा।
एण्हिं उण केण गणिज्जउ त्ति भणिऊ रुअइ मुद्धा ॥ ७ ॥

*[हस्तयोश्च पादयोश्चाङ्गुलिगणनयातिगता दिवसाः।
इदानीं पुनः केन गण्यतामिति भणित्वा रोदिति मुग्धा ॥]*

प्रोषितपतिका मुग्धा की सखी उसके प्रिय के पास संदेश भेजती हुई कहती है—

"हाथ और पैरों की उँगलियों पर गणना से (गिनने योग्य) दिन बीत गये। 'अब (उँगलियों की संख्या से अधिक दिनों की) गिनती कैसे की जाय ? यह कह कर भोली-भाली नायिका रो पड़ती है।

'अब तक तो अंगुलियों पर आज-कल करते करते दिन गिन-गिन कर विरह सह लिया किन्तु अब गणना का साधन न रहने से और भी दुःसह हो गया। इससे नायिका की उत्कण्ठा का आधिक्य व्यञ्जित है। "अंगुलियों के अतिरिक्त भी गणना करने का

कोई साधन हो सकता है इतना तक भी न जानने वाली मुग्धा के प्रति तुम्हारा क्रूर प्रवास आश्चर्य की बात है' यह उपालम्भ प्रवासी नायक के प्रति व्यङ्ग्य है।

कीरमुहसच्छहेहिं रेहइ वसुहा पलासकुसुमेहिं।
वुद्धस्स चलणवन्दणपडिएहिं व भिक्खुसंघेहिं ॥ ८ ॥

[कीरमुखसदृक्षैः राजते वसुधा पलाशकुसुमैः।
बुद्धस्य चरणवन्दनपतितैरिव भिक्षुसंघैः ॥]

तोते की चोंच सदृश पलाश-पुष्पों (टेसुओं) से पृथ्वी इस प्रकार शोभायमान होती है जैसे बुद्ध की चरण-वन्दना के लिये गिरे हुए (साष्टाङ्ग दण्डवत् करते हुए) भिक्षुओं के समुदाय से। (पलाशपुष्प के अरुण भाग की समता बौद्ध भिक्षुओं के काषाया चीवर से और काले रङ्ग के वृन्त की समता उसके सिर से बतायी गयी है।

जं जं पिहुलं अङ्गं तं तं जाअं किसोअरि किसं ते।
जं जं तणुअं तं तं पि णिट्ठिअं किंत्थ माणेण ॥ ९ ॥

[यद्यत्पृथुलमङ्गं तत्तज्जातं कृशोदरि कृशं ते।
यद्यत्तनुकं तत्तदपि निष्ठितं किमत्र मानेन ॥]

मानिनी प्रियतमा को मनाता हुआ नायक कहता है—

"हे कृशोदरि! तुम्हारा जो-जो अङ्ग पीन था वह वह (मानकालीन वियोग के कारण) कृश हो गया है और जो जो क्षीण था वह और अधिक क्षीण (निष्ठित= निष्ठा, =प्रकर्ष को प्राप्त) हो गया है। भला मान में क्या रखा है?

ण गुणेण हीरइ जणो हीरइ जो जेण भाविओ तेण।
मोत्तूण पुलिन्दा मोत्तिआइँ गुञ्जाओ गेह्लन्ति ॥१०॥

[न गुणेन ह्रियते जनो ह्रियते यो येन भावितस्तेन।
मुक्त्वा पुलिन्दा मौक्तिकानि गुञ्जा गृह्णन्ति ॥]

'गुणवती प्रिया को भी त्याग कर यह अन्य गुणहीन कामिनी में आसक्त कैसे हुआ'? यह जिज्ञासा व्यक्त करने वाली सखी से नायिका की सखी कहती है—

"मनुष्य को गुण द्वारा वश में नहीं किया जा सकता अपितु जिसे वह प्रेमपात्र बनाता है उसके द्वारा वश में किया जाता है। (तभी तो) भील लोग मोतियों को छोड़कर गुञ्जाओं को ग्रहण करते हैं। 'मोती के सदृश मेरी सखी को त्याग कर उस गुञ्जा सदृश कामिनी के वश में पड़े हुए तुम भील जैसे गँवार और गुणग्राहिता से हीन हो," यह उपालम्भ नायक के प्रति व्यङ्ग्य है।

लङ्गूलआणं पुत्तअ वसन्तमासेक्कलद्धपसराणं।
आपीअलोहिआणं बीहेइ जणो पलासाणं ॥ ११ ॥

*[लङ्कालयानां पुत्रक वसन्तमासैकलब्धप्रसराणाम् ।
आपीतलोहितानां बिभेति जनः पलाशानाम् ॥]*

नायिका वसन्त ऋतु में विदेश जाते हुए नायक की याचना पर भी जाने की अनुमति न देकर मौन रह गयी। तब उसकी शुभचिन्तक वृद्धा बोली।

"बेटा! जिनका आलय (स्थान) लङ्का (वृक्ष की शाखा) है, जो वसन्त काल में ही विकास को प्राप्त करते हैं, कुछ पीलापन लिये हुए लाल रंग के ऐसे पलाशपुष्पों से लोग (प्रिय से वियुक्त वधूजन) डरते हैं।" अर्थात् पलाशपुष्पों को देख कर वसन्त में वियोगियों को प्राप्त कष्टों के स्मरण से भयभीत होकर यह जाने की अनुमति नहीं दे रही है।

यात्रा के लिये अनुमति के प्रसङ्ग में पलाश आदि शब्दों के टेसू आदि अर्थ में विश्रान्त हो जाने से कथयित्री का तात्पर्य जान लेने पर भी सहृदयों को अपने बुद्धिवैभव के कारण इन शब्दों की ध्वनि से अन्य अर्थ की भी प्रतीति होती है जो इस प्रकार है—

"जिनका निवास-स्थान लङ्का है, जो वसा (चर्बी) अन्त्र (आँतों) और मांस के लिये प्रयत्नशील रहते हैं, जिन्होंने रुधिर का पान पेट भर कर किया है उन (मांस खाने वाले) राक्षसों से लोग डरते हैं। अतः पलाश शब्द द्वारा उपस्थापित टेसू और राक्षस रूप अर्थों का परस्पर उपमेयोपमान भाव व्यञ्जित होता है। अर्थात् विरही लोग पलाशपुष्पों से राक्षसों की भाँति भयभीत रहते हैं। इससे वसन्त का अतिशय उद्दीपनत्व व्यक्त है। 'जन' शब्द से 'मनुष्य के हृदय की दशा तो वसन्त में पलाश-पुष्पों को देखकर ऐसी हो जाती है कि वह प्रियतमा से विमुक्त होने का नाम ही नहीं लेता पर तुम ऐसे में भी जा रहे हो। तुम क्या हो? तुम्हारा हृदय कितना कठोर है!' आदि उपालम्भ नायक के प्रति व्यङ्ग्य हैं।

**घेत्तूण चुण्णमुट्ठिं हरिसूससिआए वेपमाणाए।
भिसिणेमि त्ति पिअअमं हत्थे गन्धोदअं जाअं ॥ १२ ॥**

*[गृहीत्वा चूर्णमुष्टिं हर्षोत्सुकिताया वेपमानायाः।
अवकिरामीति प्रियतमं हस्ते गन्धोदकं जातम् ॥]*

नायक से होली खेलने में नायिका की दशा का वर्णन करती हुई उसकी सखी अन्य सखी से कहती है—

(कपूर आदि सुगन्धित पदार्थों के) चूर्ण की मुट्ठी भरकर हर्षजनित उत्कण्ठा के कारण वेपथुयुक्त नायिका के उसे प्रियतम के ऊपर बिखेरने का विचार करते-करते ही वह हाथ में (सात्त्विक स्वेद के आधिक्य के कारण) सुगन्धित जल बन गया।

प्रिय के दर्शन मात्र से ही कम्प और स्वेद सात्त्विक के आधिक्य से नायिका के अनुराग का अतिशय व्यञ्जित है।

**पुट्ठिं पुससु किसोअरि! पडोहरङ्कोल्लपत्तचित्तलिअं।
छेआहिं दिअरजाआहिं उज्जुए मा कलिज्जिहिसि ॥ १३ ॥**

[पृष्ठं प्रोञ्छ कृशोदरि ! पश्चाद्गृहाङ्कोटपत्रचित्रितम् ।
विदग्धाभिर्देवरजायाभि ऋजुके मा कलिष्यसे ॥]

देवर के साथ अभिसार करके लौटी हुई किसी नायिका को लज्जित करती हुई कोई अन्य कामिनी कहती है—

"हे सुन्दरि ! घर के पिछवाड़े लगे हुए अङ्कोट वृक्ष की (सूखी) पत्तियों से चिन्हित अपनी पीठ को पोंछ लो । हे ऋजुके ! अन्यथा तुम्हारी चतुर देवरानियाँ तुम्हारे रहस्य को ताड़ लेंगी ।"

"अङ्कोट वृक्ष के नीचे तुम देवर के साथ सुरत करके लौटी हो ।' यह मैं जान गयी । तुम्हारी पीठ पर पत्तियों के चिह्न हैं । अब तुम कोई बहाना नहीं बना सकतीं" यह नायिका के प्रति ध्वनित है । 'अतिचतुर देवरानियों के भी पति को अपने वश में करके भी तुम भोली बनी हुई हो' नायिका के प्रति यह व्यङ्ग्य 'ऋजुके' संबोधन से ध्वनित है ।

अच्छीइँ ता थइस्सं दोहिँ वि हत्थेहिँ वि तस्सि दिट्ठे ।
अङ्गं कलम्बकुसुमं व पुलइअं कहँ णु ढक्किस्सं ॥ १४ ॥

[अक्षिणी तावत्स्थगयिष्यामि द्वाभ्यामपि हस्ताभ्यां तस्मिन् दृष्टे ।
अङ्गं कदम्बकुसुममिव पुलकितं कथं नु छादयिष्यामि ॥]

मान की शिक्षा देने वाली सखी से अपनी असमर्थता प्रकट करती हुई प्रियप्राणा कामिनी कहती है—

उनको देखने पर आँखों को तो मैं हाथों से ढक लूंगी किन्तु कदम्ब के पुष्प के समान पुलकित शरीर को कैसे छिपाऊँगी (क्योंकि रोमाञ्च तो सर्वाङ्गव्यापी हो जाता है) 'आँखों को ढकने' में 'जो कुछ मेरे वश की बात है वह कर लूंगी किन्तु हृदय को क्या करूँगी जो मेरे वश में न होकर प्रिय के ही वश में है और जिसकी प्रतिक्रिया एकदम समूचे शरीर के रोमाञ्च से होती है", यह सखी के प्रति व्यक्त हे जिससे नायिका के प्रणय का उत्कर्ष द्योतित है । कदम्ब-पुष्प की उपमा से 'कदम्ब के पुष्प में जैसे स्वभाव से ही रोंगटे होते हैं उसी प्रकार प्रिय को देखते ही स्वतः ही मुझे रोमाञ्च हो जाता है । प्रिय में ऐसा अनुराग है कि सात्त्विक भाव भी नहीं छिपाये जा सकते, मान करने की तो बात ही क्या' ? यह अर्थ स्पष्ट ध्वनित है ।

झञ्झावाउत्तणिए घरम्मि रोऊण णीसहणिसण्णं ।
दावइ व गअवइअं विज्जुज्जोओ जलहराणं ॥ १५ ॥

[झञ्झावातोत्तृणिते गृहे रुदित्वा निःसहनिषण्णाम् ।
दर्शयतीव गतपतिकां विद्युद्द्योतो जलधराणाम् ॥]

प्रोषितपतिका की सखी नायक को संदेश भेजती है—

झञ्झा वायु द्वारा घर के (छप्पर के) फूँस को उड़ा देने पर (प्रियतम की स्मृति से उत्कण्ठित होने के कारण) रोते-रोते थककर बैठी हुई प्रोषितपतिका को विद्युत् का प्रकाश मानो मेघों को दिखा रहा है। अर्थात् 'आपके कारण वह इस दीन-दशा को प्राप्त हो गयी है, अब अधिक क्यों सताते हो ?' इसके पति को उत्कण्ठित कर शीघ्र यहाँ आने के लिये प्रेरित करो जिससे यह प्राण धारण कर सके। इस प्रकार दयापात्र के रूप में विद्युत् वियोगिनी अबला को मेघों को दिखाती है।

अथवा

मेघों के दर्शन से संतप्त होकर वियोगिनी घर में विलीन हो गयी तो स्त्री-रहस्य को जानकार विद्युत् उसे और अधिक खिन्न कराने के लिये अपने प्रिय मेघों को दिखाती है।

अथवा

विरहोद्दीपक बादलों को देखने की अनिच्छुक विरहिणी को फूँस उड़ जाने के कारण विवर से आया हुआ विद्युत्प्रकाश (बलात्) उन्हें देखने के लिये बाध्य करता है। अर्थात् वह बादलों को भय के कारण देखना नहीं चाहती किन्तु बिजली चमकने पर उसकी दृष्टि बादलों पर पड़ ही जाती है।

वायु से फूँस का उड़ जाना बहुत काल से नायक के विदेशस्थित होने के कारण देखभाल न होने से छप्पर की अत्यन्त जीर्ण-शीर्ण दशा का सूचक है और नायक के प्रति 'दीर्घ समय से तुम्हारे विरह में घुलती हुई तुम्हारी प्रियतमा पर वर्षाकालीन मेघ अत्याचार कर रहे हैं।' अत्यन्त निरीह अवस्था में वह केवल तुम्हारे ध्यान के ही सहारे जीवित है। शीघ्र ही उसकी सुधि लो अन्यथा अत्याचारी मेघों ने उसे देख ही लिया है। उनके हाथों उसकी न जाने क्या गति हो ? आदि अर्थ व्यङ्ग्य है।

भुञ्जसु जं साहीणं कत्तो लोणं कुगामरिद्धम्मि।
सुहअ सलोणेण वि किं तेण सिणेहो जहिं णत्थि ॥ १९ ॥

[भुङ्क्ष्व यत्स्वाधीनं कुतो लवणं कुग्रामरन्धने।
सुभग सलवणेनापि किं तेन स्नेहो यत्र नास्ति ॥]

अनुरक्त नायिका की ग्राम्य वेष-भूषा आदि से अरुचिग्रस्त, नागरता के पक्षपाती और परिस्थिति-वश नगर से आकर गाँव में रहते हुए भी नागरी कामिनी की खोज में संलग्न नायक से दूती विदग्धतापूर्वक कहती है :—

"जो कुछ अपने अधीन है उसी का उपभोग करो। इस गँवई (छोटे से गाँव) के रँधीन (द्रवपदार्थ के साथ पकायी हुई खाद्य वस्तु, खिचड़ी, दलिया आदि) में नमक कहाँ ? और हे सुन्दर ! उस सलवण (नमकीन) से भी क्या जिसमें स्नेह (घृत) न हो"।

प्रसङ्ग एवं वक्तृबोद्धव्य की विशेषता के कारण 'लवण', 'स्नेह' आदि शब्दों

की (शब्दमूलक) ध्वनि से निम्नलिखित अर्थ की, जो वस्तुतः दूती का अभिप्रेत है, प्रतीति होती है:—

"जैसा भी रूप यहाँ मिल सका है (जैसी भी कामिनी प्राप्त है) उसी का उपभोग करो। इस गँवार गाँव में (नागर) लावण्य कहाँ? और हे सौभाग्यशालिन्! उस सौन्दर्य से भी क्या लेना जिसमें प्रेम न हो। (जो कोरी लावण्यवती ही हो, सच्चा प्रेम न करे, वह प्रेयसी भी भला प्यार करने की वस्तु है?)

चरम व्यङ्ग्य यह है कि किसी कारण-वश गाँव में आये हुए नागरिक की उचित परिचर्या न हो सके तो भले नागरिक आगन्तुक को भी ग्रामीणों के पास जो कुछ भी है और जिसे वे सच्चे प्रेम के साथ अर्पित करते हैं, उससे ही संतोष कर लेना चाहिये।

नमकीन (चाट, समोसे आदि) तो नगर में मिल ही जाते हैं परन्तु शुद्ध स्नेह (घी, तेल) वहाँ मिलना असम्भव है। अतः गाँव वाले जब नागरिक का आतिथ्य शुद्ध घी से संपन्न वस्तु से करे तो, चाहे उसमें नमक न भी हो, उसे अपना अहोभाग्य समझना चाहिये क्योंकि उसे दुर्लभ वस्तु समर्पित की गयी। अर्थात् तुम नागरिकों को जिस प्रकार चटपटी मसालेदार नमकीन वस्तुओं के खाने की आदत है, चाहे उनमें घी कैसा ही लगा हो, (वस्तु तथ्य तो यह है कि शुद्ध घी तो तुम्हें नसीब ही नहीं होता) उसी प्रकार ऊपरी वेश-भूषा, सौन्दर्य आदि से सम्पन्न चटपटी कामिनी को ही तुम पसन्द करते हो, चाहे उसमें स्नेह का नाम भी न हो या वह बिलकुल बनावटी हो। सौन्दर्य मनुष्य के स्वाधीन नहीं होता, वह तो दैवाधीन है। मनुष्य के अधीन तो सच्चा प्रेम हो सकता है। इस बेचारी को विधि ने सौन्दर्य नहीं दिया तो क्या हुआ? इसमें इसका कोई दोष नहीं। इसके वश की बात तो प्रेम है और वह शुद्ध तथा प्रभूत मात्रा में मौजूद है जो किसी सौभाग्यशाली के ही उपभोग-योग्य है। अतः सौन्दर्य के मद एवं पक्षपात के कारण अपने आपको वञ्चित न होने दो। इस प्रेमिका को अपनाओ।

सुहपुच्छिआइ हलिओ मुहपङ्कअसुरहिवणणिव्वविअं।
तइ पिअइ पअइकडुअं पि ओसहं जह ण णिट्ठाइ॥ १७॥

[सुखपृच्छिकाया हलिको मुखपङ्कजसुरभिपवननिर्वापितम्।
तथा पिबति प्रकृतिकटुकमप्यौषधं यथा न तिष्ठति॥]

प्रेम का पुट पाकर कटु पदार्थ भी सुस्वादु हो जाते हैं। यह सीख देती हुई सखी नायिका से कहती है:—

"कुशल समाचार पूछने के लिये आयी हुई प्रेयसी के मुख कमल की सुगन्धित वायु से (फूंक मारकर) शीतल की हुई, प्रकृति से ही कड़वी औषधि को भी हलिक ऐसे पी जाता है कि तनिक भी शेष नहीं रहती"।

'हलिक' शब्द से 'गँवार हाली पर भी प्रेम का इतना असर होता है

नागर सहृदय का तो कहना ही क्या ? वस्तु व्यङ्ग्य है जिससे नायिका के प्रति ध्वनित है कि "इसलिये प्रियतम की रुचि के प्रतिकूल भी यदि कुछ हितकर बात कहो तो पूर्णतया प्रेम के साथ ही, तभी वह उसे ग्राह्य हो सकती है:—

अह सा तहिं तहिं व्विअ वाणीरवणम्मि चुक्कसंकेआ ।
तुह दंसणं विमग्गइ पब्भट्ठणिहाणठाणं व ॥ १८ ॥

[अथ सा तत्र तत्रैव वाणीरवने विस्मृतसंकेता ।
तव दर्शनं विमार्गति प्रभ्रष्टनिधानस्थानमिव ॥]

नायिका के ऊपर संकेतस्थल पर न पहुँचने का आरोप लगाते हुए नायक को दूती समझाकर कहती है:—

संकेत-स्थल को भूल जाने से वह वेतसवन में वहीं वहीं (बार-बार) तुम्हारा दर्शन इस प्रकार खोजती है जैसे धन गाड़ कर उसका स्थान याद न रहा हो ।

एक ही स्थान में बार-बार खोजने से उत्कण्ठा का आधिक्य व्यञ्जित है । 'खोजती है' से अभी वह वहीं वर्तमान है, तुम्हारे दर्शन के बिना वहाँ से लौटना ही नहीं चाहती । अतः तुम शीघ्र ही जाकर उसे धैर्य प्रदान करो ।" नायक के प्रति यह प्रेरणा व्यञ्जित है ।

दृढरोसकलुसिअस्स वि सुअणस्स मुहाहिँ विप्पिअं कत्तो ।
राहुमुहम्मि वि ससिणो किरणा अमअं विअ मुअन्ति ॥ १९ ॥

[दृढरोषकलुषितस्यापि सुजनस्य मुखादप्रियं कुतः ।
राहुमुखेऽपि शशिनः किरणा अमृतमेव मुञ्चन्ति ॥]

अत्यन्त क्रोध से कलुषित होते हुए भी सज्जन के मुख से अप्रिय (वचन) कहाँ ? चन्द्रमा की किरणें राहु के मुख में भी अमृत ही बरसाती हैं ।

अवमाणिओ वि ण तहा दुम्मिज्जइ सज्जणो विहवहीणो ।
पडिकाउं असमत्थो माणिज्जन्तो जह परेण ॥ २० ॥

[अवमानितोऽपि न तथा दूयते सज्जनो विभवहीनः ।
प्रतिकर्तुमसमर्थो मान्यमानो यथा परेण ॥]

धनहीन सत्पुरुष अन्य से अपमानित होकर भी इतना खिन्न नहीं होता जितना सम्मानित होकर उसका बदला चुकाने में असमर्थ होने के कारण ।

शृङ्गारपक्ष में इसके प्रसङ्ग की कल्पना करते हुए श्री मथुरानाथ भट्ट ने इसे नायिका द्वारा उपहार लौटा देने के कारण दुःखित होते हुए नायक के प्रति दूती का कथन माना है । अतः उक्त प्रसङ्ग में इसका व्यङ्ग्यार्थ होगा कि उसने तुमसे विरक्त होने के कारण तुम्हारा उपहार नहीं लौटाया अपितु आपकी इच्छापूर्ति तथा प्रत्युपहार भेजने में असमर्थ होने के कारण उसे यह ग्रहण करने में संकोच हुआ ।

"यदि उसके नयन प्रियतम-दर्शन के आनन्द से मुकुलित न हो जाते तो कानों में धारण किये हुए कुवलय किसे दिखाई देते ?

पूर्वार्ध में प्रियदर्शन के कारण नयनों के मुकुलित होने का उल्लेख अनुराग की अधिकता का द्योतक है और उत्तरार्ध से नयनों की कुवलयसदृश विशालता तथा सुन्दरता ध्वनित है। नयनों के मुकुलित होने पर ही कानों में पहने हुए कुवलयों की प्रतीति हुई, अन्यथा उनमें कोई भेद न होने के कारण पृथक् प्रतीति हो ही नहीं रही थी।

चिक्खिल्लखुत्तहलमुहकड्ढणसिढिले पइम्मि पासुत्ते।
अप्पत्तमोहणसुहा घणसमअं पामरी सवइ ॥ २४ ॥

*[कर्दमनिमग्नहलमुखकर्षणशिथिले पत्यौ प्रसुप्ते।
अप्राप्तमोहनसुखा घनसमयं पामरी शपति ॥]*

कीचड़ में फँसे हुए हल के अग्रभाग (फाली) को (बार-बार) खींचने के कारण थके हुए पति के सो जाने पर सुरत सुख से वञ्चित किसान के कृषक-कर्मकार की वधू वर्षा ऋतु को कोसा करती है। 'घनसमय' शब्द से वर्षा में बादलों के घिर आने से उद्दीपकता और उन्हें कोसने से उनके प्रति असूया के कारण उत्कण्ठा का चरम उत्कर्ष ध्वनित है।

दुम्मेन्ति देन्ति सोक्खं कुणन्ति अणुराअं रमावेन्ति।
अरइरइबन्धवाणं णमो णमो मअणवाणाणं ॥ २५ ॥

*[दुन्वन्ति ददति सौख्यं कुर्वन्त्यनुरागं रमयन्ति।
अरतिरतिबान्धवेभ्यो नमो नमो मदनबाणेभ्यः ॥]*

काम के बाण (वियोग में) संतप्त करते हैं (तथा संयोग में) सुख देते हैं, अनुराग (की वृद्धि) करते हैं और मन को रमाते हैं। इस प्रकार (वियोग में) अरति (पीड़ा) और संयोग में रति (आनन्द) उत्पन्न करने वाले कामबाणों को नमस्कार है।

कुसुममआ वि अइखरा अलद्धफंसा वि दूसहपआवा।
भिन्दन्ता वि रइअरा कामस्स सरा बहुविअप्पा ॥ २५ ॥

*[कुसुममया अप्यतिखरा अलब्धस्पर्शा अपि दुःसहप्रतापाः।
भिन्दन्तोऽपि रतिकराः कामस्य शरा बहुविकल्पाः ॥]*

काम के बाण बहुत ढंग के होते हैं। वे कुसुममय होते हुए भी अत्यन्त तीक्ष्ण, स्पर्श न करके भी दुःसह संताप उत्पन्न करने वाले तथा (हृदय को) विद्ध करते हुए भी (प्रियतम के प्रति अनुराग बढ़ाने के कारण) रति उत्पन्न करने वाले होते हैं।

ईसं जणेन्ति दावेन्ति मम्महं विप्पिग्रं सहावेन्ति ।
विरहे ण देन्ति मरिउं ग्रहो गुणा तस्स वहुमग्गा ॥ २७ ॥

[ईर्ष्यां जनयन्ति दीपयन्ति मन्मथं विप्रियं साहयन्ति ।
विरहे न ददति मर्त्तुमहो गुणास्तस्य वहुमार्गाः ॥]

प्रिय के गुणों का स्मरण करती हुई प्रोषितपतिका सखी से कहती है :—

"उसके (प्रियतम के) गुणों के वहुत से मार्ग हैं। वे ईर्ष्या करते हैं, काम को उत्तेजित करते हैं, ग्रप्रिय वात भी सहन कराते हैं ग्रौर ग्राश्चर्य है कि विरह में मरने भी नहीं देते हैं।"

"ईर्ष्या उत्पन्न करते हैं।" से ग्रन्य कामिनियों का भी नायक के प्रति रुझान ग्रौर उससे उसके सौन्दर्य की मोहकता ध्वनित होती है। "काम को प्रदीप्त करते हैं" से सुरत-कला में कौशल, "ग्रप्रिय सहन कराते हैं" से ग्रनुनय में प्रवीणता ग्रौर "विरह में मरने भी नहीं देते" से ग्रनुरागजनित ग्राशा की प्रतीति स्पष्ट है।

णीग्राइँ ग्रज्ज णिक्किव पिणद्धणवरङ्गग्राँइ वराईए ।
घरपरिवाडीग्र पहेणग्राइँ तुह दंसणासाए ॥ २८ ॥

[नीतान्यद्य निष्कृप पिनद्धनवरङ्गकया वराक्या ।
गृहपरिपाट्या प्रहेणकानि तव दर्शनाशया ॥]

नायिका का प्रणय सूचित करती हुई दूती नायक से कहती है:—

"हे निर्दय ! वह वेचारी तुम्हारे दर्शन की ग्राशा से नौरङ्गी (ग्रथवा नया रंगा हुग्रा) वस्त्र पहने हुए घर-घर वायने वाँटती फिरी।"

"घर-घर वायने वाँटती फिरी" से वक्तृवोद्धव्य की विशेषता के कारण नायिका का नायक के घर जाना भी व्यङ्ग्य है। 'निष्कृप' शब्द से नायक की नायिका के प्रति उपेक्षा ग्रौर दर्शन तक न देना ध्वनित है। 'पिनद्धनवरङ्गका' विशेषण नायक के समक्ष नायिका की प्रसाधित ग्रवस्था में ही ग्राने की प्रवृत्ति का सूचक है जिससे कि प्रिय के दर्शन के प्रति उसका उत्साह ग्रौर प्रिय के प्रति ग्रनुराग व्यङ्ग्य है। कामशास्त्र में किसी नायक के प्रति कामोन्मुख नायिका के विषय में कहा गया है कि वह ग्रनलङ्कृत दशा में उसके समक्ष ग्राना नहीं चाहती (ग्रनलङ्कृता परिहरति दर्शनम्)।

सूइज्जइ हेमन्तम्मि दुग्गग्रो पुप्फुग्रासुग्रन्धेण ।
धूमकविलेण परिविरलतन्तुणा जुण्णवडएण ॥ २९ ॥

[सूच्यते हेमन्ते दुर्गतः करीषाग्निसुगन्धेन ।
धूमकपिलेन परिविरलतन्तुना जीर्णपटकेन ॥]

हेमन्त ऋतु में निर्धन पुरुष जंगली उपलों (गोसों, ग्रान्नों) की सुगन्ध से

[सूर्यच्छलेन पुत्रक कस्मै त्वमञ्जलिं प्रणामयसि ।
हास्यकटाक्षोन्मिश्रा न भवन्ति देवानां जयकाराः ॥]

किसी सुन्दरी को नमस्कार झुकाते हुए युवक को ऐन मौके पर लक्षित कर कोई प्रौढा दूती कहती है :—

बेटा ! सूर्य के बहाने किसे अञ्जलि (हाथ जोड़कर प्रणाम) झुका रहे हो ? देवताओं के प्रति जयकार (प्रणाम), मुस्कान और कटाक्षों के साथ नहीं होते। 'पुत्रक' संबोधन से 'तुम मेरी सहानुभूति और वात्सल्य के पात्र हो। अतः सूर्यप्रणाम आदि के बहाने को छोड़कर सच्ची बात कहो; किस में अनुरक्त हो ? मैं तुम्हारी सहायता करूँगी। नायक के प्रति यह ध्वनित है।

मुहविज्झविअपईवं णिरुद्धसासं ससङ्किओल्लावं ।
सवहसअरक्खिओट्ठं चोरिअरमिअं सुहावेइ ॥ ३३ ॥

[मुखविध्मापितप्रदीपं निरुद्धश्वासं सशंकितोल्लापम् ।
शपथशतरक्षितौष्ठं चोरिकारमितं सुखयति ॥]

'चोरी का गुड़ मीठा' के अनुसार गुप्त प्रेमी के साथ चोरी-छुपे सुरत केलि के आनन्द की प्रशंसा करके किसी कुलवधू को प्रेरणा देती हुई दूती कहती है :—

"जिस में दीपक को मुखवायु से (फूंक मारकर) बढ़ा दिया जाता है, श्वास को रोक लिया जाता है, बातें अत्यन्त शङ्का के साथ की जाती हैं (कि कहीं कोई सुन न ले) और सैंकड़ों शपथों द्वारा अधर की (दन्तचिह्नों से) रक्षा की जाती है, ऐसा चोरी के साथ किया सुरत सुख देता है।" सुख तो विश्रब्ध सुरत भी देता है अतः इस कथन से कि 'चोरी-छुपे सुरत सुख देता है' चौर्यरत की अनिर्वचनीय आनन्दमयता ध्वनित है। "उसका आनन्द तुम अनुभव करने पर ही जान सकोगी" यह नायिका के प्रति व्यङ्ग्य है।

गेअच्छलेण भरिउं कस्स तुमं रुअसि णिब्भरुक्कण्ठं ।
मण्णुपडिरुद्धकण्ठद्धणिन्तखलिअक्खरुल्लावं ॥ ३४ ॥

[गेयच्छलेन स्मृत्वा कस्य त्वं रोदिषि निर्भरोत्कण्ठम् ।
मन्युप्रतिरुद्धकण्ठार्धनिर्यत्स्खलिताक्षरोल्लापम् ॥]

करुण गीत, गाने के बहाने अपने प्रणयी को याद करके रोती हुई नायिका से सखी कहती है :—

"गाने के बहाने तुम आवेग के कारण रुँधे हुए गले से टूटे-फूटे शब्दों में अत्यन्त उत्कण्ठा के साथ किसे याद करके रो रही हो" ?

बहलतमा हअराई अज्ज पउत्थो पई घरं सुण्णं ।
तह जग्गेसु सअज्जिअ ण जहा अम्हे मुसिज्जामो ॥ ३५ ॥

[बहलतमा हतरात्रिरद्य प्रोषितः पतिर्गृहं शून्यम् ।
तथा जागृहि प्रतिवेशिन् यथा वयं मुष्यामहे ॥]

अपने पड़ोसी प्रणयी को आमन्त्रित करती हुई स्वयंदूतिका कामिनी कहती है :—

"रात सघन अँधेरी है; पति आज ही परदेश चले गये हैं, घर सूना है। हे पड़ोसी ! इस प्रकार जागते रहना कि हम वञ्चित न हो जायें (लूट न लिये जायें)

'अँधेरी रात में तुम्हें कोई आते-जाते न देखेगा, पति आज ही गये हैं अतः उनके लौटने की शङ्का नहीं है। घर सूना है, अतः स्वच्छन्दतापूर्वक रमण हो सकेगा। जागते रहना, कहीं ऐसा न हो कि सोकर अवसर ही निकाल दो। यदि इस रात अवसर चूक गये तो समझ लो कि हम लोग भाग्य द्वारा वञ्चित ही रह गये।' यह सुरत-निमन्त्रण पड़ोसी उपपति के प्रति व्यङ्ग्य है।

संजीवणोसहिम्मिव सुअस्स रक्खइ अणण्णवावारा ।
सासू णवब्भदंसणकण्ठागअजीविअं सोह्णं ॥ ३६ ॥

[संजीवनौषधमिव सुतस्य रक्षति अनन्यव्यापारा ।
श्वश्रूर्नवाभ्रदर्शनकण्ठागतजीवितां स्नुषाम् ॥]

'अच्छे स्वभाव वाली सास प्रवासी पुत्र की वधू के साथ सहानुभूति पूर्ण व्यवहार ही किया करती है' यह समझाती हुई कोई किसी से कह रही है :—

"नवीन मेघों के दर्शन से (उत्कण्ठावश) कण्ठगतप्राण वधू को सास अन्य सभी कार्यों को त्याग कर पुत्र की संजीवनी औषधि के समान (संभाल कर) रखती है।" भाव यह है कि यदि यह समाप्त हो गयी तो मेरा पुत्र भी न रहेगा। इस आशंका से वह उसकी सावधानी से परिचर्या करती है। 'संजीवन औषधि' की उपमा से पुत्र की वधू में अत्यन्त आसक्ति ध्वनित है। सास का 'अनन्यव्यापारा' विशेषण वधू की विरह-व्याधि के विषय में उसकी सावधानी और चिन्ता का पोषक है। 'नवीन मेघ' शब्द से अब तक तो विरह सह लिया गया किन्तु वर्षाकालीन वातावरण में उसकी असह्यता व्यञ्जित है। सब कुछ मिलाकर पुत्र-प्रेम के कारण सास द्वारा वधू की सावधान परिचर्या उसकी (वधू की) विरह-व्याधि की सूचक है जिससे नायिकानिष्ठ नायक-विषयक रति की ध्वनि निकलती है।

"हे सुभग ! आप अवश्य ही मेरे हृदय में अपनी पत्नी के साथ रहते हैं। अन्यथा मेरे मनोरथों का पता उसे कैसे चल गया" ?

यहाँ सपत्नी को नायिका के मनोरथ की जानकारी का हेतु वतलाया गया है उसका प्रियतम के साथ ही नायिका के हृदय में रहना। यह काव्यलिङ्ग अलङ्कार हुआ इससे ध्वनि यह निकलती है कि "मैं दिनरात आप का ही ध्यान करती हूँ किन्तु आपको मेरा नहीं, उसका ही प्रेम है। तभी तो आप मेरे भी रहस्यों को, जिन्हें मैं प्रेमवश ही आपको वताती हूँ, अपनी उस प्रियतमा से अविचल प्रीति होने के कारण कह देते हैं।" स्वयं भी नायक की पत्नी होते हुए सौत को लक्ष्य करके यह कहना कि तुम अपनी पत्नी के साथ मेरे मन में रहते हो नायिका के 'मैं तुम्हारी क्या होती हूँ ? तुम्हारी पत्नी तो वही है" तथा 'सुभग' सम्बोधन से "मैं फिर भी तुम से प्रेम करती हूँ। यह तुम्हारा सौभाग्य है" आदि उपालम्भ व्यञ्जित हैं।

तइ सुहअ अईसन्ते तिस्सा अच्छीहिँ कण्णलग्गेहिं।
दिण्णं घोलिरवाहेहिँ पाणिअं दंसणसुहाणं ॥ ३८ ॥

[त्वयि सुभग अदृश्यमाने तस्या अक्षिभ्यां कर्णलग्नाभ्याम्।
दत्तं घूर्णनशीलबाष्पाभ्यां पानीयं दर्शनसुखेभ्यः ॥]

नायिका के अत्यन्त अनुराग को प्रकट करती हुई दूती नायक से कहती है :—

"हे सुभग ! तुम्हारे न दीखने पर, उसकी (तुम्हें देखने की उत्कण्ठा से विस्फारित होने के कारण) कानों से लगी हुई तथा वहते हुए अश्रुजल से युक्त आँखों ने (सब प्रकार के) दर्शन-सुखों को पानी दे दिया"।

'पानी देना' मुहावरा है जो मृत व्यक्ति का तर्पण करने के अर्थ में प्रयुक्त होता है। अतः दर्शन सुखों को पानी देने से ध्वनित होता है कि 'उसके लिये संसार की सभी वस्तुएँ, चाहे वे कितनी ही दर्शनीय क्यों न हों, समाप्त हो गईं। तुम्हारे सिवा कोई भी वस्तु उसकी आँखों को शीतल नहीं कर सकती। 'सुभग' सम्बोधन से नायिका के इतने प्रगाढ अनुराग का पात्र होने के कारण नायक का सौभाग्य प्रतीत होता है, आँखों के कानों से लगने से व्यञ्जित है कि "कानों ने तुम्हारे गुणों को सुन कर आँखों के दर्शन के लिये उत्सुक किया किन्तु जब वे दर्शन न पा सकीं तो कानों को उपालम्भ देने के अतिरिक्त कर ही क्या सकती थीं"। अन्ततो गत्वा गुण-श्रवण-जनित पूर्वानुराग की पराकाष्ठा और दर्शन की अत्यन्त उत्कण्ठा ध्वनित होती है।

उप्पेक्खागअतुअमुहदंसणपडिरुद्धजीविआसाइ।
दुहिआइ मए कालो कित्तिअमेत्तो व्व णेअव्वो ॥ ३९ ॥

[उत्प्रेक्षागतत्वन्मुख-दर्शन-प्रतिरुद्धजीविताशया।
दुःखितया मया कालः कियन्मात्रो वा नेतव्यः ॥]

कोई प्रोषितपतिका प्रिय को संदेश भेजती हुई कहती है :—

"तुम्हारे भावना द्वारा उद्भावित मुख के दर्शन से प्राणों को रोक रखने वाली जीवन-आशा में मुझ दुखिया को कितना समय और बिताना है" ? भाव यह है कि तुम्हारे वियोग में मुझे जीने की कोई कामना ही शेष नहीं रह जाती किन्तु स्मरण द्वारा तुम्हारी आकृति को देखकर जो सुख होता है उसे पाकर सोचती हूँ कि भावना मात्र से उत्प्रेक्षित दर्शन में ही इतना सुख है तो प्रत्यक्ष दर्शन में तो न जाने कितना मिलेगा ? उसी की आशा फिर जीवन का मोह उत्पन्न कर देती है किन्तु इस मृगतृष्णा से दर्शन-पिपासा कब तक शान्त रहेगी ? ऐसे कितना और जी लूंगी ? 'जीवन-आशा को रोकने' से ध्वनित है कि 'जीवन की आशा तो बिलकुल जा ही रही थी, तुम्हारे मुख का ध्यान करके ही उसे रोका है।' जिससे नायिका के विरह-दुःख का चरम उत्कर्ष द्योतित होता है"।

वोलीणालक्खिअरूअजोव्वणा पुत्ति कं ण दुम्मेसि ।
दिट्ठा पणट्ठपोराणजणवआ जम्मभूमि व्व ॥४०॥

*[व्यतिक्रान्तालक्षितरूपयौवना पुत्रि कं न दुनोषि ।
दृष्टा प्रणष्टपौराणजनपदा जन्मभूमिरिव ॥]*

भोग-लोलुपता के कारण रूप और यौवन को खो चुकने वाली कुलटा से कोई वृद्धा कुटनी कहती है—

"हे पुत्रि ! जिस प्रकार (बहुत समय के बाद देखी हुई) जन्मभूमि को देखकर जिसके पुराने जनपद अथवा लोग नष्ट हो गये होते हैं, दुःख होता है उसी प्रकार (तुम्हारे) रूप यौवन के नष्ट हो जाने पर तुम्हें देखकर किसको दुःख नहीं होता ?"

परिओसविअसिएहिँ भणिअं अच्छीहिँ तेण जणमज्झे ।
पडिवण्णं तीअ वि उव्वमन्तसेएहिँ अङ्गेहिं ॥४१॥

*[परितोषविकसिताभ्यां भणितमक्षिभ्यां तेन जनमध्ये ।
प्रतिपन्नं तयाप्युद्वमत्स्वेदैरङ्गैः ॥]*

नायक और नायिका की चेष्टाओं से उनके पारस्परिक प्रणय का अनुमान कर कोई सहृदय अपने सहचर से कहता है:—

उसने (नायक ने) अनुराग-जनित हर्ष से विकसित आँखों से ही लोगों के बीच में अपनी बात (नायिका से) कही और उसने (नायिका ने) भी स्वेद प्रकट करते हुए अङ्गों से स्वीकार कर ली। अभिप्राय यह है कि नायिका के सौन्दर्य को देखकर नायक ने स्नेह-भरी दृष्टि से उसे देखा और इस प्रकार बिना कुछ कहे ही अपना प्रेम उस पर प्रकट कर दिया और नायिका ने भी इसी प्रकार बिना एक भी शब्द कहे अपनी प्रतिक्रिया स्वेद सात्त्विक भाव द्वारा कर दी। नायक की स्नेह

*[निजकानुमाननिःशङ्क ! हृदय रे विरमेदानीम् ।
अज्ञातपरमार्थजनानुलग्न ! किमित्यस्मान् लघयसि ॥]*

किसी युवक पर आसक्त कोई युवति हृदय को सम्बोधित करने के बहाने उस युवक को सुनाकर अपनी रति-उत्कण्ठा प्रकट करती हुई कहती है:—

अपने अनुमान से ही निश्चिन्त ('जिस प्रकार मैं इसमें आसक्त हूं उसी प्रकार यह भी मुझ में' यह अनुमान करने वाले) हृदय ! कृपा कर, अब बाज आ। वस्तुतथ्य को जाने बिना ही अन्यत्र आसक्त ! तू हमें गौरवहीन क्यों कर रहा है ?

'अपने अनुमान' आदि से ध्वनित है कि 'मैं तुम में अत्यन्त अनुरक्त हूँ और मेरा अनुमान है कि तुम भी मेरे प्रति अत्यधिक उत्कण्ठित होगे।' 'हमें गौरवहीन क्यों कर रहा है' से व्यञ्जित है कि 'मैं इतनी सुलभ नहीं हूँ कि कोई मेरी अवहेलना कर सके। मैं समझती हूँ कि तुम मेरे गौरव को समझते हुए उसकी रक्षा करोगे।"

**ओसहिअजणो पइणा सलाहमाणेण अइचिरं हसिओ ।
चन्दो त्ति तुज्झ वअणे विइण्णकुसुमञ्जलिविलक्खो ॥ ४६ ॥**

*[आवसथिकजनः पत्या श्लाघमानेनातिचिरं हसितः ।
चन्द्र इति तव वदने वितीर्णकुसुमाञ्जलिविलक्षः ॥]*

समीपस्थ उपनायक को नायिका के सौन्दर्य की सूचना देती हुई सखी नायिका से ही कहती है :—

"तुम्हारे सौन्दर्य की प्रशंसा करते हुए पति तुम्हारे मुख को चन्द्र समझने के कारण कुसुमाञ्जलि देकर (तत्पश्चात् अपनी भ्रान्ति और नायिका की अपेक्षा सौन्दर्यहीनता से) लज्जित व्रतधारिणियों का बहुत देर तक उपहास करते रहे।"

प्रिय आदि शब्द न देकर पति शब्द का प्रयोग ध्वनित करता है, कि 'इसका पति, स्वामी या रक्षकमात्र है। इसका प्रेम नहीं पा सका है। अतः यह सुसाध्या है। इस प्रकार की अनिन्द्य सुन्दरी तुम्हें सहज ही प्राप्त हो रही है" उपनायक के प्रति यह प्रोत्साहन भी ध्वनित है।

**छिज्जन्तेहिँ अणुदिणं पच्चक्खम्मि वि तुमम्मि अङ्गेहिं ।
वालअ पुच्छिज्जन्ती ण आणिमो कस्स किं भणिमो ॥ ४७ ॥**

*[क्षीयमाणैरनुदिनं प्रत्यक्षेऽपि त्वय्यङ्गैः ।
बालक ! पृच्छ्यमाना न जानीमः कस्य किं भणामः ॥]*

अन्यासक्त प्रियतम के प्रति नायिका की खीझभरी उक्ति है कि :—

"तुम्हारे प्रत्यक्ष (समीप) रहते हुए भी प्रतिदिन क्षीण होते हुए अङ्गों वाली मैं (अपनी कृशता का कारण) पूछे जाने पर 'किस से क्या कहूँ' ? यह नहीं जानती।"

अभिप्राय यह है कि तुम्हारे प्रवास-काल में तो मेरी दुर्बलता का कारण (विरह) लोगों की समझ में आ जाता था, किन्तु अब तो तुम यहीं रहते हो फिर भी मैं (तुम्हारे अन्यासक्त होने के कारण) दुर्बल ही होती जा रही हूँ। सखियाँ इस का कारण मुझसे पूछती हैं। क्या कहूँ उनसे ? 'बालक', संबोधन से 'तुम तो भोले बने हुए हो कि प्रत्यक्ष धोखा देते हुए भी समझ नहीं रहे हो। इतना ही नहीं, प्रत्युत स्वयं मुझसे ही मेरी कृशता का कारण पूछते हो। धन्य है तुम्हारी शठता।'' यह उपालम्भ नायक के प्रति व्यङ्ग्य है।

'उचित-अनुचित को समझते ही नहीं। तुम पर कोप न करें तो किस पर करें', आदि उपालम्भ नायक के प्रति ध्वनित हैं। कोप करते हुए भी यह कहना कि किस पर कोप करें ? निषेधपरक होने के कारण आक्षेप अलङ्कार का स्रष्टा है। आक्षेप अलङ्कार वहाँ होता है जहाँ विशेष कहने की इच्छा से वक्तव्य का निषेध ही कर दिया जाय।

अङ्गाणं तणुआरअ सिक्खावअ दीहरोइअव्वाणं।
विणआइक्कमआरअ मा मा णं पम्हसिज्जासु ॥ ४८ ॥

[अङ्गानां तनुकारक ! शिक्षक दीर्घरोदितव्यानाम् ।
विनयातिक्रमकारक ! मा मा एनां प्रस्मरिष्यसि ॥]

पहले नायिका को अपने प्रेमजाल में फँसाकर पुनः उसकी उपेक्षा करने वाले नायक के प्रति नायिका की दूती का कथन है :—

'अङ्गों को (विरह के कारण) क्षीण बना देने वाले ! देर तक रोना सिखा देने वाले ! और (गुरुजनों के प्रति) विनय का अतिक्रमण करा देने वाले ! उसे याद मत करना, मत करना।'

अभिप्राय यह है कि 'वह तुम्हारे वियोग में घुलती जा रही है। सदा रोती रहती है। गुरुजनों की मर्यादा का भी ध्यान उसे नहीं रह गया है। उसका जीवन तुम्हारे अधीन है और तुम उसे भूल ही गये हो।' 'उसे याद मत करना, मत करना' से विपरीत लक्षणा द्वारा सोपालम्भ व्यञ्जित है कि 'यदि तुम्हें अपने प्रेम की कुछ भी लाज रखनी है तो शीघ्र ही उसकी सुधि लो'।

अण्णह न तीरइ च्चिअ परिवड्ढन्तगरुअं पिअअमस्स।
मरणविणोएण विणा विरमावेउं विरहदुक्खं ॥ ४९ ॥

[अन्यथा न शक्यत एव परिवर्धमानगुरुकं प्रियतमस्य।
मरणविनोदेन विना विरमयितुं विरहदुःखम् ॥]

प्रवास के लिये तत्पर नायक के उत्साह को भङ्ग करती हुई नायिका कहती है :—

"प्रियतम के विरह का बढ़ता हुआ भारी दुःख मृत्यु रूपी विनोद के अतिरिक्त (किसी भी उपाय से) दूर नहीं किया जा सकता।" भाव यह है कि विरह दुःख की तुलना में तो मरना भी विनोद (सुख) की ही बात है।

'आपका प्रवास मेरे लिये मृत्यु का संदेश है। अतः यदि मेरा जीवन प्रिय है तो मत जाओ' यह नायक के प्रति व्यङ्ग्यार्थ है।

वण्णन्तीहिँ तुह गुणे बहुसो अम्हेहिँ छिञ्छईपुरओ।
बालअ सअमेअ कओसि दुल्लहो कस्स कुप्पामो ॥ ५० ॥

[वर्णयन्तीभिस्तव गुणान् बहुशोऽस्माभिरसतीपुरतः।
बालक! स्वयमेव कृतोऽसि दुर्लभः कस्मै कुप्यामः ॥]

अन्यासक्त नायक को विदग्धता के साथ उपालम्भ देती हुई नायिका कहती है :—

"हे बालक! तुम्हारे गुणों की चर्चा अनेक बार कुलटाओं के समक्ष करके स्वयं ही तुम्हें (हमने अपने लिये) दुर्लभ कर लिया। क्रोध किस पर करें ?

"अनुरागातिशयवश अपना हानि-लाभ न विचारकर कुलटाओं के सामने भी तुम्हारे गुणगान में मुखर (मुग्ध) प्रेमिका की अवहेलना करके तुमने भ्रष्ट-चरित्राओं को अपनी प्रेयसी बनाया है। धन्य है तुम्हारा विवेक जो बच्चों के समान उचित-अनुचित को समझता ही नहीं।

जाओ सो वि विलक्खो मए वि हसिऊण गाढमुवगूढो।
पढमोसरिअस्स णिअंसणस्स गण्ठिं विमग्गन्तो ॥ ५१ ॥

[जातः सोऽपि विलक्षो मयापि हसित्वा गाढमुपगूढः।
प्रथमापसृतस्य निवसनस्य ग्रन्थिं विमार्गयमाणः ॥]

अपना एवं प्रियतम का पारस्परिक अनुराग बताती हुई नायिका सखियों के प्रति अपने सौभाग्य को प्रकट करती है:—

(प्रियतम के कर-स्पर्श से पहले ही रतिभाव के अतिशयवश) खिसके हुए (मेरे) अधोवस्त्र की ग्रन्थि को टटोलते हुए वे भी कुछ लज्जित हो गये और मैंने भी (उत्कण्ठा तथा लज्जा के कारण) मुसका कर उन्हें गाढ़ आलिङ्गन में जकड़ लिया।

फन्दुज्जुआ' वराई अज्ज तए सा कआवराहेण।
अलसाइअरुण्णविअम्भिआइँ दिअहेण सिक्खविआ ॥५२॥

*[काण्डर्जुका वराकी अद्य त्वया सा कृतापराधेन ।
अलसायितरुदितविजृम्भितानि दिवसेन शिक्षिता ॥]*

अन्यासक्त नायक को कलहान्तरिता नायिका के प्रति अनुकूल करने के प्रयास में नायिका की दूती कहती है:—

आज तुमने अपराध (अन्य सुन्दरी से प्रणय) करके सरकंडे के समान (स्वभाव से ही) सरल उस बेचारी को एक दिन में ही आलस्य, रुदन और जृम्भा आदि (विरह के अनुभाव) सिखा दिये ।

'काण्डर्जुका' से 'जिस प्रकार सरकण्डा स्वभाव से ही सरल होता है, उसे टेढ़ा नहीं किया जा सकता उसी प्रकार नायिका भी स्वभाव से ही सरल है इसलिये वह कृत्रिम व्यवहार करना नहीं जानती । अतः उसे अत्यन्त दुःख एवं रोष हुआ है' यह नायक के प्रति व्यङ्ग्यार्थ है जिससे नायिका के विशुद्ध प्रेम की प्रतीति होती है । 'एक दिन' से ध्वनित है कि एक दिन के विरह में ही उसने विरह की आलस्य, रोदन आदि दशाओं का फल पा लिया है । इस प्रकार नायिका की ग्लानि और विषाद व्यञ्जित हैं । 'तुमने सिखा दिये' से 'उसकी इस दुर्दशा का पूर्ण उत्तरदायित्व तुम पर है, तुम्हीं इसके कारण हो' यह उपलम्भ नायक के प्रति व्यङ्ग्य है । 'उस समय कोपवश उसने तुम्हारा अनुनय स्वीकार नहीं किया था किन्तु अब दिनभर रो कर और विरह दुःख सह कर उसमें सहने की शक्ति अवशिष्ट न रह गयी है । अतः मनुहारों के लिये यह उचित अवसर है । नायक के प्रति यह चरम व्यङ्ग्य है ।

**अवराहेहिँ वि ण तहा पत्तिअ जह मं इमेहिँ दुम्मेसि ।
अवहत्थिअसब्भावेहिँ सुहअ दक्खिण्णभणिएहिँ ॥ ५३ ॥**

*[अपराधैरपि न तथा प्रतीहि यथा मामेभिर्दुनोसि ।
अपहस्तितसद्भावैः सुभग दाक्षिण्यभणितैः ॥]*

सद्भाव-रहित कृत्रिम दाक्षिण्य के साथ अनुनय करते हुए अन्यासक्त नायक से नायिका कहती है:—

'हे सुभग ! विश्वास करो, तुम अपने अपराधों से मुझे इतना दुःख नहीं पहुँचाते जितना इन अत्यन्त चिकनी-चुपड़ी बातों से जिनसे स्नेह को तो धक्का देकर ही निकाल दिया है । अर्थात् आन्तरिक स्नेह से शून्य तुम्हारी इन मनुहारों से मुझे अत्यन्त दुःख पहुँचता है ।

**मा जूर पिआलिङ्गणसरहसभमिरीणँ बाहुलइआणं ।
तुह्लिक्कपरुण्णेण अ इमिणा माणंसिणि मुहेण ॥ ५४ ॥**

*[मा क्रुध्यस्व प्रियालिङ्गनसरभसभ्रमणशीलाभ्यां बाहुलतिकाभ्याम् ।
तूष्णीकप्ररुदितेन चानेन मनस्विनि ! मुखेन ॥]*

मन में मान का वेग शान्त होने पर भी ऊपरी कोपवश मौन रह कर मान का अभिनय करती हुई मानिनी को मनाने के लिये नायक ने आलिङ्गन में जकड़ लिया तो रोष की शान्ति और उत्कण्ठा का उदय हो जाने से अनुराग के कारण उसकी भुजाएँ भी प्रत्यालिङ्गन के लिये उठने लगीं। इस पर नायिका यह सोच कर, कि 'इन्होंने मेरे रहस्य का उद्घाटन कर दिया है, भुजाओं पर रोष प्रकट करने लगी। तब नायक ने चतुराईपूर्वक कहा :—

"हे मनस्विनि ! चुपचाप रुदन करते हुए इस मुख से (युक्त तुम) प्रियतम के आलिङ्गन के लिये वेग के साथ फड़क उठने वाली इन भुजलताओं पर खीझ मत उतारो।" अर्थात् तुम्हारा अपराधी मैं हूँ। मेरे आलिङ्गन की प्रतिक्रिया में ही तुम्हारी भुजाएँ आलिङ्गन के लिये फड़क उठीं, इनका कोई दोष नहीं है।

"तुम्हारा मान शान्त हो गया है, यह प्रत्यालिङ्गन के लिये स्फुरित होती हुई तुम्हारी भुजाओं से ही स्पष्ट व्यक्त हो गया ! अतः व्यर्थ मान का नाटक क्यों कर रही हो ? यदि तुम कोपवश मुझे अपना प्रिय ही नहीं मानतीं तो प्रेम के कारण अधीर हुई अपनी भुजाओं को भी तो अपने साथ रखो' यह अनुभव मानिनी नायिका के प्रति ध्वनित है।

मा वच्च पुप्फलाविर देवा उअअञ्जलीहिँ तूसन्ति।
गोआअरीअ पुत्तअ सीलुम्मूलाइँ कूलाइं ॥ ५५ ॥

[मा व्रज पुष्पलवनशील देवा उदकाञ्जलिभिस्तुष्यन्ति।
गोदावर्याः पुत्रक शीलोन्मूलानि कूलानि ॥]

पुष्प चुनकर लाने के बहाने किसी रमणी से गोदावरी के किनारे जाकर अभिसार करने वाले युवक से कोई बुढ़िया कुटनी साभिप्राय कहती है:—

पुष्प चुनने की आदत वाले ! मत जाओ। देवता तो जलाञ्जलि (अर्घ्यदान) से भी संतुष्ट हो जाते हैं। (पर) बेटा ! गोदावरी के तट चरित्र का उन्मूलन करने वाले हैं।

वअणे वअणम्मि चलन्तसीससुण्णावहाणहुंकारं ।
सहि देन्ती णीसासन्तरेसु कीस म्ह दुम्मेसि ॥ ५६ ॥

[वचने वचने चलच्छीर्षशून्यावधानहुंकारम् ।
सखि ददती निःश्वासान्तरेषु किमित्यस्मान् दुनोपि ॥]

नायक में अत्यन्त आसक्त विरहिणी नायिका से सखी कहती है :—

"सखि निःश्वासों के बीच बीच में मेरी प्रत्येक बात पर शून्य हृदय से सिर हिलाकर हुंकार भरती हुई तू हमें दुःखी क्यों करती है ? अर्थात् तुम आह भरने और कुछ और ही सोचने के कारण बिना ध्यान दिये ही हुंकार भरकर मेरी बात सुनने का बहाना करती हो जिससे हमें दुःख होता है क्योंकि इससे तुम्हारी गहन मानसिक व्यथा की प्रतीति होती है जो चित्त की अन्यत्र एकाग्रता के कारण अनुरागजनित ही है ।

सब्भावं पुच्छन्ती बालअ रोआविआ तुअ पिआए ।
णत्थि व्विअ कअसवहं हासुम्मिस्सं भणन्तीए ॥ ५७ ॥

[सद्भावं पृच्छन्ती बालक रोदिता तव प्रियया ।
नास्त्येव कृतशपथं हासोन्मिश्रं भणन्त्या ॥]

रुष्ट नायिका को मनाने के लिये भेजी हुई प्रौढा दूती लौटकर नायक से कहती है :—

"हे बालक ! (उसके प्रति तुम्हारे) स्नेह (अथवा क्षेम) की बात पूछते हुए तुम्हारी प्रिया ने शपथ खाकर मुसकाते हुए 'वही तो नहीं है' कहकर मुझे भी रुला दिया ।

शपथ खाकर कहने से स्नेहाभाव की सत्यता और मुसकान से इस रहस्य के गोपन का प्रयास व्यञ्जित होता है । अभिप्राय यह है कि तुम्हारे अपराधों के कारण ही वह व्यथित है । अतः एव तुम्हें प्रणय-विमुख मानती है किन्तु फिर भी दाक्षिण्य-वश कृत्रिम हास द्वारा अपनी मानसिक व्यथा को छिपाने का प्रयत्न भी करती है । उसके भोलेपन और दुःख को देख कर मैं भी रो पड़ी । "तुम्हारी प्रिया' शब्दों से तुम उसे अपनी प्रिया कहते हो किन्तु इतना कष्ट देते हो ? धन्य है तुम्हारी प्रीति की रीति !" नायक के प्रति यह उपालम्भ व्यञ्जित है ।

एत्थ मए रमिअव्वं तीअ समं चिन्तिऊण हिअएण ।
पामरकरसेओल्ला णिवअइ तुवरी ववेज्जन्ती ॥ ५८ ॥

[अत्र मया रन्तव्यं तया समं चिन्तयित्वा हृदयेन ।
पामरकरस्वेदार्द्रा निपतति तुवरी उप्यमाना ॥]

'यहाँ मुझे उसके (प्रियतमा के) साथ रमण करना है।' हृदय में यह विचार आने से बोई जाती हुई अरहर कृषक के हाथ से स्वेद से गीली होकर गिरी। अर्थात् अरहर के खेत को अपने भावी संकेत-स्थल के रूप में कल्पना-जगत् में देखकर और उसमें प्रियतमा के सुरत का ध्यान करके अरहर बोते हुए कृषक के हाथ सात्त्विक स्वेद से भीग गये जिसके कारण बोई जाती हुई अरहर भी गीली होकर नीचे गिरी।

गहवइसुओच्चिएसु वि फलहीवेण्टेसु उअह वहुआए।
मोहं भमइ पुलइओ विलग्गसेअङ्गुली हत्थो॥ ५९॥

[गृहपतिसुतावचितेष्वपि कर्पासवन्तेषु पश्य वध्वाः।
मोघं भ्रमति पुलकितो विलग्नस्वेदाङ्गुलिर्हस्तः॥]

'कपास चुनने के लिये आयी हुई यह वहू मेरे पति पर मरती है, यह प्रकट करती हुई कोई ग्रामीणा अपनी सखी से कहती है:—

देखो, गृहपति के पुत्र (मेरे पति) द्वारा जिनसे कपास चुन ली गयी है उन वृन्तों (डंठलों) के ऊपर वहू का स्वेदयुक्त अंगुलियों वाला पुलकित हाथ व्यर्थ ही घूम रहा है। अर्थात् चुनने योग्य कपास न होने पर भी अनुरागवश यह अपने पुलकित और स्वेदयुक्त हाथ से उन्हीं वृन्तों का स्पर्श करती फिरती है जिनसे मेरे प्रिय ने कपास अभी-अभी चुन ली है। इस प्रकार "कुछ समय के साक्षात्कार से ही यह मेरे प्रियतम पर मुग्ध हो गयी है, देखो उनकी कमनीयता," नायिका का यह गर्व व्यञ्जित है जिससे 'गृहपति-सुत' शब्द की सहायता से नायक की अपनी पत्नी में ही एकान्त प्रीति परिलक्षित होती है। अन्यथा उसका सौभाग्य-गर्व अनुचित ही कहा जा सकता था।

अज्जं मोहणसुहिअं मुअत्ति मोत्तू पलाइए हलिए।
दरफुडिअवेण्टभारोणआइ हसिअं व फलहीए॥ ६०॥

[आर्यां मोहनसुखितां मतेति मुक्त्वा पलायिते हलिके।
दरविकचवृन्तभारादवनतया हसितमिव कार्पास्या॥]

लज्जा की प्रतीति होती है। 'कार्पासी' स्त्रीलिङ्ग है। स्त्री होने के नाते वह स्त्री-स्वभाव के रहस्य को भली-भांति जानती है, अतएव हलिक की मूर्खता पर हँस पड़ी।

णीसासुक्कम्पिअपुलइएहिँ जाणन्ति णच्चिउं धण्णा।
अम्हारिसीहिँ दिट्ठे पिअम्मि अप्पा वि वीसरिओ॥ ६१॥

[निःश्वासोत्कम्पितपुलकितैर्जानन्ति नर्तितुं धन्याः।
अस्मादृशीभिर्दृष्टे प्रिये आत्मापि विस्मृतः॥]

अपनी निन्दा के बहाने प्रशंसा ही करती हुई नायिका सखी से कहती है:—

'जो (नाचते समय प्रियतम के दर्शन के कारण) निःश्वास, कम्प और रोमाञ्च के साथ नाचना जानती हैं, वे धन्य हैं। हम जैसी तो प्रियतम को देखते ही अपने आप को भी भूल जाती हैं।'

नायक के स्पर्श में कम्प, रोमाञ्च आदि का होना नायिका के अनुराग का द्योतक है किन्तु आत्मविस्मृत हो जाना तो अनुराग की पराकाष्ठा को ही व्यक्त कर देता है। अतः जो प्रियतम के अनुराग की डींग मारती हुई कहती हैं कि प्रिय के समक्ष हम नाच तो लेती हैं किन्तु कम्प, रोमाञ्च आदि सात्त्विक हो जाते हैं, उनसे किसी का यह कहना कि प्रिय के दर्शन से हम तो अपने आपको भी भूल कर स्तम्भ सदृश हो जाती हैं, नाचने और विभ्रम दिखाने की तो बात ही क्या? स्पष्ट ही उनकी अपेक्षा अपने प्रणय का आधिक्य व्यक्त करना है और इस प्रकार उनको धन्य कहते हुए भी अपने ही सौभाग्य का उद्घोषण करना है।

तणुएण वि तणुइज्जइ खीएण वि खिज्जए बला इमिणा।
मज्झत्थेण वि मज्झेण पुत्ति! कहँ तुज्झ पडिवक्खो॥ ६२॥

[तनुकेनापि तनूयते क्षीणेनापि क्षीयते बलादनेन।
मध्यस्थेनापि मध्येन पुत्रि! कथं तव प्रतिपक्षः॥]

'तुमने अपने नवयौवन से अपनी सौतों पर विजय पा ली है' यह सूचित करती हुई कोई प्रौढा मुग्धा वधू से कहती है—

"हे पुत्रि! तुम्हारे मध्यस्थ और क्षीण तथा दुर्बल मध्य भाग द्वारा भी तुम्हारी सौतें क्षीण और दुर्बल क्यों होती जा रही हैं?"

जो मध्यस्थ है। वह दूसरे को क्यों छेड़ने लगा? यदि वह क्षीण और दुर्बल भी हो तब तो दूसरे को छेड़ने की बात सोच भी नहीं सकता, तुम्हारा मध्य भाग फिर भी सपत्नियों को छेड़ ही नहीं रहा, क्षीण भी बना रहा है। यह आश्चर्य की बात है। इस विरोधालङ्कार से व्यञ्जित है कि 'जघन और वक्ष को पुष्ट करके उदर को अत्यन्त कृश कर देने वाले तुम्हारे यौवन के कारण प्रिय को सदैव तुम में आसक्त देखकर तुम्हारी सौतें ईर्ष्या और चिन्ता के कारण उत्तरोत्तर दुर्बल होती जा रही हैं।'

वाहिव्व वेज्जरहिओ धणरहिओ सुअणमज्झवासो व्व ।
रिउरिद्धिदंसणम्मिव दूसहणीओ तुह विओओ ॥६३॥

*[व्याधिरिव वैद्यरहितो धनरहितः स्वजनमध्यवास इव ।
रिपूद्धिदर्शनमिव दुःसहनीयस्तव वियोगः ॥]*

तुम्हारा वियोग वैद्य के अभाव में व्याधि के सदृश, धन के अभाव में बन्धुजनों के मध्य निवास के समान तथा शत्रु की समृद्धि के दर्शन के समान दुःसह है।

कोत्थ जअम्मि समत्थो थइउं वित्थिण्णणिम्मलुत्तुङ्गं ।
हिअअं तुज्झ णराहिव गअणं च पओहरं मोत्तुं ॥ ६४ ॥

*[कोऽत्र जगति समर्थः स्थगयितुं विस्तीर्णनिर्मलोत्तुङ्गम् ।
हृदयं तव नराधिप ! गगनं च पयोधरान् मुक्त्वा ॥]*

हे राजन् ! तुम्हारे विस्तीर्ण, निर्मल और उत्तुङ्ग हृदय तथा आकाश को पयोधरों (कुचों और मेघों) के सिवाय संसार में और कौन आवृत कर सकता है।

'तुम्हारे विस्तार आदि गुणों से सम्पन्न हृदय में किसी के बल प्रभाव आदि का आतङ्क तो छा नहीं सकता किन्तु शौर्य द्वारा उपार्जित विभव को उपभोग द्वारा सफल करते हुए रमणी का कमनीय विलास ही स्थान पा सकता है।' राजा के प्रति उसकी यह स्तुति और विलासहेतु प्रोत्साहन व्यङ्ग्य है।

आअण्णेइ अडअणा कुडङ्गहेट्ठम्मि दिण्णसंकेआ ।
अग्गपअपेल्लिआणं मम्मरअं जुण्णपत्ताणं ॥ ६५ ॥

*[आकर्णयत्यसती कुञ्जाधो दत्तसंकेता ।
अग्रपदप्रेरितानां मर्मरकं जीर्णपत्राणाम् ॥]*

ग्ते सुरभिनिःश्वसितपरिमलावद्धमण्डलं भ्रमराः ।
अज्ञातचन्द्रपरिभवमपूर्वकमलं मुखं तस्याः ॥]

नायक को उत्तेजित करती हुई दूती नायिका के मुख-सौरभ की प्रशंसा करती है :—

"सुगन्धित श्वास की गन्ध के कारण मँडराते हुए भौंरे उसके अपूर्व मुख-कमल को, जिसने चन्द्रमा के करों से कभी अभिभव प्राप्त नहीं किया, चारों ओर से घेर लेते हैं।"

भौंरों द्वारा मुख को घेरने के उल्लेख से नायिका के प्रति अनेक कामुकों का आकृष्ट होना ध्वनित है। 'अज्ञातचन्द्रपरिभव अपूर्वकमल' विशेषणों से व्यतिरेकालङ्कार द्वारा मुख का अत्यधिक सौन्दर्य व्यङ्ग्य है। अन्त में उस असाधारण सुन्दरी को एक दो नहीं, अनेक युवक चाहते हैं। अतः किसी अन्य के सफल होने से पूर्व ही तुम उसका प्रणय स्वीकार कर लो' नायक के प्रति यह चरम व्यङ्ग्य है।

धीरावलम्बिरीअ वि गुरुअणपुरओ तुमम्मि वोलीणे ।
पडिओ से अच्छिणिमीलणेण पम्हट्ठिओ वाहो ॥ ६७ ॥

[धैर्यावलम्बनशीलाया अपि गुरुजनपुरतस्त्वयि व्यतिक्रान्ते ।
पतितस्तस्या अक्षिनिमीलनेन पक्ष्मस्थितो बाष्पः ॥]

नायिका के अतिशय अनुराग का वर्णन करके नायक को उत्कण्ठित करती हुई दूती कहती है :—

"तुम्हारे चले जाने पर गुरुजनों के समक्ष (मनोविकार को छिपाने के लिये) धर्य धारण करते-करते भी उसके पलकों में उलझा हुआ अश्रुजल आँखें मूंदने के कारण टपक पड़ा" अर्थात् गुरुजन की गौरवरक्षा के कारण उसने धैर्य धारण करके तुम्हारा वियोग सहन किया किन्तु अधिक सहन न कर सकी और प्रयत्न करते-करते भी आँसू गिर ही पड़ा।

आँसू का कुछ काल पलकों में स्थित रहना पलकों की सघनता का सूचक है जिससे नायिका की आँखों का सौन्दर्य व्यञ्जित होता है।

भरिमो से सअणपरम्मुहीअ विअलन्तमाणपसराए ।
कइअवसुत्तव्वत्तणथणकलसप्पेल्लणसुहेल्लि ॥ ६८ ॥

[स्मरामस्तस्याः शयनपराङ्मुख्या विगलनमानप्रसरायाः ।
कैतव-सुप्तोद्वर्तन-स्तन-कलश-प्रेरण-सुख-केलिम् ॥];

'मान धारण करके भी अनुरागवश वह मुझे अधिक तंग नहीं करती' सूचित करता हुआ नायक अपने मित्र से कहता है :—

'(मेरे ही) शयन पर (मान के कारण) विमुख लेटी हुई (किन्तु बाद में) मान के वेग की शान्ति आरम्भ हो जाने पर सोते-सोते करवट बदलने के बहाने उसके कुचकलशों के दबाव से उपलब्ध सुखकेलि (आज भी) याद आती है'। अर्थात् उत्कण्ठा के कारण करवट बदलने पर उसके उत्तुङ्ग, पुष्ट एवं कठोर कुचों का जो स्वतः ही मेरी पीठ से आमर्दन हुआ उसका सुख अब भी मुझे याद है।'

'मनुहारों के बिना ही उसका मान मेरे प्रति प्रकृष्ट प्रणय के कारण स्वतः शिथिल हो गया' वक्ता का यह सौभाग्य-गर्व बोद्धव्य सहचर के प्रति गम्य है।

फग्गुच्छणणिद्दोसं केण वि कद्दमपसाहणं दिण्णं।
थणअलसमुहपलोट्टन्तसेअधोअं किणो वुअसि ॥ ६९ ॥

[फाल्गुनोत्सवनिर्दोषं केनापि कर्दमप्रसाधनं दत्तम्।
स्तनकलशमुखप्रलुठत्स्वेदधौतं किमिति धावयसि ॥]

सामने भी इंगितों से उसने अपने मन की बात कह दी किन्तु तुम इतने बुद्धू निकले कि समझे ही नहीं' यह चरम व्यङ्ग्यार्थ 'बालक' संबोधन की सहायता से अभिव्यक्त होता है।

णअणब्भन्तरघोलन्तबाहभरमन्थराइ दिट्ठीए।
पुणरुत्तपेच्छिरीए बालअ किं जं ण भणिओ सि ॥ ७१ ॥

[नयनाभ्यन्तरघूर्णमानवाष्पभरमन्थरया दृष्ट्या।
पुनरुक्तप्रेक्षणशीलया बालक किं यन्न भणितोऽसि ॥]

हे बालक ! क्या कुछ ऐसा है, जो नयनों में उमड़ते हुए अश्रु जल के भार से मन्थर दृष्टि द्वारा बार-बार देखते हुए उसने तुमसे नहीं कह दिया ? बार-बार देखने से मनोगत उत्कण्ठा तथा अश्रुजल-पूर्ण मन्थर दृष्टि से प्रिय-दर्शन से उत्पन्न हर्ष की प्रतीति होती है। अश्रुरूप अनुभाव से हर्ष की प्रतीति तथा उससे रति की पुष्टि यहाँ दिखायी पड़ती है। तुम्हारे दर्शन से उत्पन्न हर्ष के आँसुओं से भरी दृष्टि द्वारा बार-बार देखकर क्या उसने तुम्हारे प्रति अपने मन का पूर्ण अनुराग प्रकट नहीं कर दिया ?

जो सीसम्मि विइण्णो मज्झ जुआणेहिँ गणवई आसी।
तं विअ एह्लि पणमामि हअजरे होहि संतुट्ठा ॥ ७२ ॥

[यः शीर्षे वितीर्णो मम युवभिर्गणपतिरासीत्।
तमेवेदानीं प्रणमामि हतजरे भव संतुष्टा ॥]

होता है जिससे वञ्चित होकर गँवार से गँवार व्यक्ति का भी हृदय पुटपाक की भाँति अन्दर ही अन्दर जलता रहता है, सहृदय का तो कहना ही क्या ?

णिद्दाभङ्गो आवण्डुरत्तणं दीहरा अ णीसासा।
जाअन्ति जस्स विरहे तेण समं कोरिसो माणो ॥ ७४॥

[निद्राभङ्ग आपाण्डुरत्वं दीर्घाश्च निःश्वासाः।
जायन्ते यस्य विरहे तेन समं कीदृशो मानः ॥]

मान की सीख देती हुई सखी से नायिका कहती है :—

'जिसके विरह में निद्रा का अभाव, विवर्णता और दीर्घ श्वास हो जाते हैं उसके साथ कैसा मान ? अर्थात् 'उनका' तनिक भी विरह मैं सहन नहीं कर सकती अतः मान करने में सर्वथा असमर्थ हूँ।

तेण ण मरामि मण्णूहिँ पूरिआ अज्ज जेण रे सुहअ।
तोग्गअमणा मरन्ती मा तुज्झ पुणो वि लग्गिस्सं॥ ७५ ॥

[तेन न म्रिये मन्युभिः पूरिताद्य येन रे सुभग !
त्वद्गतमना म्रियमाणा मा तव पुनरपि लगिष्यामि ॥]

नायक के प्रणय-स्खलनों से अत्यन्त संतप्त नायिका प्रणय-कोप और उपालम्भ के साथ कहती है :—

हे सुभग ! क्रोध अथवा दुःखों से भरी हुई भी मैं इसलिये नहीं मरती कि तुम में तल्लीन-चित्त मरी तो फिर भी (जन्मान्तर में भी पूर्व जन्म के संस्कार-वश) तुम से ही लगूंगी (तुमको ही पतिरूप में प्राप्त करूँगी)।

"तुम्हारी करतूतों से संतप्त होकर भी मैं दिनरात तुम्हारे ध्यान में ही मग्न रहती हूँ और मृत्यु के समय तक तुम्हारा ही ध्यान करती रहूँगी। मेरा अनुराग तो इतना अधिक है किन्तु तुम अपनी आदत से बाज नहीं आते। तुम्हें अपने सौभाग्य का इतना दर्प है।" यह उपालम्भ नायक के प्रति व्यङ्ग्य है।

अवरज्झसु वीसद्धं सव्वं ते सुहअ विसहिमो अम्हे।
गुणणिब्भरम्मि हिअए पत्तिअ दोसा ण माअन्ति ॥ ७६ ॥

[अपराध्यस्व विस्रब्धं सर्वं ते सुभग विषहामहे वयम्।
गुणनिर्भरे हृदये प्रतीहि दोषा न मान्ति ॥]

ही नहीं है। व्यञ्जना यह है कि 'तुम्हारे प्रेमवश मैं अनेक अपराध सहन कर लेती हूँ। इसीलिये तुम एक के बाद दूसरा अपराध करते चले जाते हो। तुम पद-पद पर अपने दोषों का परिचय देते हो और मैं तुम्हारे गुणों पर मुग्ध होने के कारण उन्हें गिनती भी नहीं, फिर भी तुम निश्छल प्रेम नहीं करते, धन्य है तुम्हारी प्रणय-प्रवणता ! यह उपालम्भ नायक के प्रति व्यङ्ग्य है।

नायिका का अपने लिये बहुवचन का प्रयोग आत्मगौरव का सूचक है। वह यह भी सूचित करता है कि अन्य सुन्दरियों को भी उसके अपराधरूपी जुल्म सहने पड़े होंगे।

भरिउच्चरन्तपसरिअपिअसंभरणपिसुणो वराईए।
परिवाहो विअ दुक्खस्य वहइ णअणट्ठिओ वाहो ॥ ७७ ॥

[भृतोच्चरत्प्रसृतप्रियसंस्मरणपिशुनो वराक्याः।
परीवाह इव दुःखस्य वहति नयनस्थितो बाष्पः ॥]

प्रोषितपतिका नायिका की सखी उसकी दशा का संदेश नायक के पास भेजती है:—

(आँखों के) भर जाने के कारण निकल कर फैला हुआ प्रियस्मृति का सूचक विवश वियोगिनी का अश्रु-जल दुःख के परिवाह (उमड़कर चारों ओर बह निकलने वाले प्रवाह) की भाँति बहता रहता है।

यह अश्रु-प्रवाह नहीं है अपितु विरहजनित दुःख ही उमड़ कर बह रहा है। इस प्रकार अपह्नुति अलङ्कार व्यङ्ग्य है जिससे नायक के प्रति "विरहवेदना से अत्यन्त पीड़ित दीन अबला की शीघ्र सुधि लो' आदि व्यङ्ग्यार्थ स्पष्ट है।

जं जं करेसि जं जं जंपसि जह तुम णिअच्छेसि।
तं तं अणुसिक्खिरीए दीहो दिअहो ण संपडइ ॥ ७८ ॥

[यद्यत्करोषि यद्यज्जल्पसि यथा त्वं निरीक्षसे।
तत्तदनुशिक्षणशीलाया दीर्घो दिवसो न संपद्यते ॥]

नायिका का अनुराग सूचित करती हुई दूती नायक से कहती है:—

जो कुछ तुम करते हो, जो कुछ कहते हो और जिस प्रकार देखते हो, उस का अनुकरण करने में तल्लीन नायिका का दिन बड़ा नहीं होता (अर्थात् शीघ्र ही व्यतीत हो जाता है, मानो बहुत छोटा हो गया हो)

नायक के कार्य, भाषण तथा देखने का दिन भर अनुकरण करना नायिका की उसके प्रति अनुरागजनित तल्लीनता की अभिव्यक्ति करता है। उसके मधुर भाषण आदि पर नायिका मुग्ध सिद्ध होती है जिससे बोद्धव्य नायक के प्रति प्रणय-प्रवृत्त होने के लिये प्रोत्साहन ध्वनित है।

भण्डन्तीअ तणाइँ सोत्तुं दिण्णाइँ जाइँ पहिअस्स ।
ताइं च्चेअ पहाए अज्जा आअड्ढइ रुअन्ती ॥ ७९ ॥

[भर्त्सयन्त्या तृणानि स्वप्तुं दत्तानि यानि पथिकस्य ।
तान्येव प्रभाते आर्या आकर्षति रुदती ॥]

सायंकाल सोने के लिये स्थान और खाट माँगने पर पथिक को किसी गृहिणी ने क्रोध से बड़बड़ाते हुए कुछ पत्ती-पुआल विछाने के लिये दे दिया किन्तु इसके बाद ही वह उसके रूप और लावण्य पर मुग्ध हो गयी । अतः प्रातःकाल ही पथिक के चले जाने पर उसे अत्यन्त दुःख हुआ । यह देखकर अपनी विदग्धता का परिचय देता हुआ कोई सहृदय अपने साथी से कहता है:—

(यहाँ जगह-वगह कुछ नहीं है आदि) फटकार लगाते हुए जो तिनके (पत्ती-पुआल) पथिक को सोने के लिये दिये थे, प्रातःकाल इन्हीं को सुन्दरी रमणी रोती हुई खींच रही है (गौरव के साथ उठा रही है ।)

वसणम्मि अणुव्विग्गा विहवम्मि अगव्विआ भए धीरा ।
होन्ति अहिण्णसहावा समेसु विसमेसु सप्पुरिसा ॥ ८० ॥

[व्यसनेऽनुद्विग्ना विभवेऽगर्विता भये धीराः ।
भवन्त्यभिन्नस्वभावाः समेषु विषमेषु सत्पुरुषाः ॥]

सत्पुरुष आपत्ति में घबराते नहीं, संपत्ति में गर्व नहीं करते और भय के समय धीरज रखते हैं । (इस प्रकार वे) अनुकूल तथा प्रतिकूल परिस्थितियों में समान-स्वभाव ही रहते हैं ।

अज्ज सहि केण गोसे कं पि मणे वल्लहं भरन्तेण ।
अम्हं मअणसराहअहिअअव्वणफोडणं गीअं ॥ ८१ ॥

[अद्य सखि केन प्रातः कामपि मन्ये वल्लभां स्मरता ।
अस्माकं मदनशराहतहृदयव्रणस्फोटनं गीतम् ॥]

उट्ठन्तमहारम्भे थणए दट्ठूण मुद्धवहुआए ।
ओसण्णकवोलाए णीससिअं पढमघरिणीए ॥ ८२ ॥

[उत्तिष्ठन्महारम्भौ स्तनौ दृष्ट्वा मुग्धवध्वाः ।
अवसन्नकपोलया निःश्वसितं प्रथमगृहिण्या ॥]

मुग्धा वधू के अति विस्तार के साथ उठते हुए कुचों को देखकर (नायक की) दुःखित मुख वाली प्रथम गृहिणी ने दीर्घ श्वास छोड़ा ।

'आरम्भ-अवस्था में ही कुचों का इतना विस्तार है तो पूर्ण यौवन में कितना होगा ? इसके सौन्दर्य पर मुग्ध प्रियतम मुझ शिथिलस्तनी की उपेक्षा ही कर देंगे, यह सोचकर मुग्धा की सपत्नी ने व्यथासूचक दीर्घ श्वास छोड़ा । इससे 'चिन्ता' संचारी भाव व्यङ्ग्य है' जिससे प्रथम पत्नी के नायक-विषयक अनुराग की पुष्टि होती है ।

एहिसि तुमं त्ति णिमिसं व जग्गिअं जामिणीअ पढमद्धं ।
सेसं संतावपरव्वसाइ वरिसं व वोलीणं ॥ ८५ ॥

[एष्यसि त्वमिति निमिषमिव जागरितं यामिन्याः प्रथमार्धम् ।
शेषं संतापपरवशाया वर्षमिव व्यतिक्रान्तं ॥]

विप्रलब्धा नायिका की वियोग-व्यथा तथा प्रीति को सूचित करती हुई दूती नायक से कहती है :—

'तुम आओगे' यह सोचकर (उत्साह और औत्सुक्य के कारण) उसने आधी रात एक क्षण के समान जागते हुए बिता दी किन्तु (तुम्हारे वियोग से जनित) संताप के कारण रात्रि का उत्तरार्ध वर्ष-सदृश बिताया ।

अवलम्बह मा सङ्कह ण इमा गहलङ्घिआ परिब्भमइ ।
अत्थक्कगज्जिउब्भन्तहित्थहिअआ पहिअजाआ ॥ ८६ ॥

[अवलम्बध्वं मा शङ्कध्वं नेयं ग्रहलङ्घिता परिभ्रमति ।
आकस्मिकगर्जितोद्भ्रान्तत्रस्तहृदया पथिकजाया ॥]

चित्तविक्षेप के कारण डोलती हुई प्रोषितपतिका को भूत-ग्रस्त समझकर दूर हटते हुए लोगों से उसकी सखी दीनता-पूर्वक कहती है :—

'इसे पकड़कर रोक दो । यह भूत-प्रेत आदि ग्रहों से आक्रान्त होकर इधर-उधर नहीं घूम रही अपितु आकस्मिक मेघ-गर्जन से उद्भ्रान्त भयभीत-हृदया प्रोषित-पतिका है ।

'सहसा मेघ-गर्जन से यह दशा है, वर्षा में निरन्तर मेघगर्जन होने पर इसकी क्या

दशा होगी' इस प्रकार प्रोषितपतिका की विरहवेदना का आधिक्य इस गाथा से व्यञ्जित है।

केसररअविच्छड्डे मअरन्दो होइ जेत्तिओ कमले।
जइ भमर तेत्तिओ अण्णहि पि ता सोहसि भमन्तो ॥ ८७ ॥

[केसररजःसमूहे मकरन्दो भवति यावान् कमले।
यदि भ्रमर! तावानन्यत्रापि तदा शोभसे भ्रमन् ॥]

गुणवती नायिका से विमुख होकर अन्यत्र आसक्ति प्रकट करने वाले नायक से नायिका की सखी अन्योक्ति के माध्यम से कहती है :—

"हे भ्रमर! केसर (किञ्जल्क) और पराग के समूहरूप कमल में जितना मकरन्द होता है, यदि उतना ही अन्यत्र भी हो, तभी तुम (अन्यत्र) भ्रमण करते हुए शोभित होगे'।

"जितने गुण मेरी सखी में हैं उतने अन्य सुन्दरियों में नहीं, फिर भी तुम अन्यत्र भटकते फिरते हो। धन्य है तुम्हारी भ्रमर-सदृश रस-लम्पटता।" नायक के प्रति यह उपालम्भ व्यञ्जित है।

पेच्छन्ति अणिमिसच्छा पहिआ हलिअस्स पिट्ठपण्डुरिअं।
धूअं दुद्धसमुद्दुत्तरन्तलच्छिं विअ सअह्णा ॥ ८८ ॥

[प्रेक्षन्तेऽनिमिषाक्षाः पथिका हलिकस्य पिष्टपाण्डुरिताम्।
दुहितरं दुग्धसमुद्रोत्तरलक्ष्मीमिव सतृष्णाः ॥]

'स्वभाव से ही सुन्दर व्यक्तियों के लिये सभी कुछ शोभावर्धक हो जाता है' यह प्रकट करता हुआ कोई सहृदय अपने साथी से कहता है :—

पीसते समय आटे के उड़ने से श्वेत होने के कारण क्षीर-सागर से निकली हुई लक्ष्मी सी प्रतीत होती हुई हलिक-सुता को पथिक लोग सतृष्ण (उत्कण्ठित) होकर अनिमेष नयनों से देखते रह जाते हैं। [देवता लोग (अनिमिषाक्ष) भी लक्ष्मी को इसी प्रकार सतृष्ण नयनों से देखते रह गये थे]।

हलिक-सुता के सौन्दर्य के साथ-साथ "देखिये, इन्हें ठहराइये नहीं, ये हजरत तो हलिक-सुता को भी ललचायी आंखों से देख रहे हैं" यह चेतावनी भी सहचर के प्रति व्यङ्ग्य है।

कस्स भरिसि त्ति भणिए को मे अत्थि त्ति जम्पमाणाए।
उव्विग्गरोइरीए अम्हे वि रुआविआ तीए ॥ ८९ ॥

[कस्य स्मरसीति भणिते को मेऽस्तीति जल्पमानया।
उद्विग्नरोदनशीलया वयमपि रोदितास्तया ॥]

कलहान्तरिता की दूती नायक को उसकी दशा बतलाती हुई कहती है :—

यह पूछने पर कि 'किस को याद कर रही हो ? उसने 'मेरा है ही कौन' ? यह कहते हुए उद्वेग के साथ रोकर हमें भी रुला दिया।

'मेरा है ही कौन' ? इस निषेधपरक प्रश्न के साथ रो देने से "वह तो मुझे प्रिय है, पर मैं उसे नहीं। उसके विमुख होने पर भी मैं उसे त्याग नहीं सकती' आदि नायिका का नायक के प्रति अनुरागातिशय एवं विषाद व्यक्त है।

पाअपडिअं अहव्वे किं दाणिँ ण उट्ठवेसि भत्तारं।
एअं विअ अवसाणं दूरं पि गअस्स पेम्मस्स ॥ ९० ॥

[पादपतितमभव्ये किमिदानीं नोत्थापयसि भर्तारम्।
एतदेवावसानं दूरमपि गतस्य प्रेम्णः ॥]

नायक द्वारा अनेक प्रकार के अनुनय करने पर भी मान न त्यागने वाली नायिका से सखी ने रोषपूर्वक कहा :—

भली मानस ! अब चरणों में पड़े हुए पति को उठा क्यों नहीं लेती ? दूर तक गये हुये (चरम सीमा तक पहुँचे हुए) प्रेम का छोर यही तो है। (अर्थात् प्रेम की सीमा यही है) 'अब' शब्द से 'यदि अब भी तुमने रोष का त्याग नहीं किया तो प्रिय तुमसे सदैव के लिये रुष्ट हो जायेंगे, 'दूर तक बढ़े हुए प्रेम' आदि शब्दों से 'तुम प्रेम की चरम सीमा को जानना चाहती हो। बस चरण-पतन ही उसकी अन्तिम सीमा है' आदि चेतावनी नायिका के प्रति व्यञ्जित है।

तडविणिहिअग्गहत्था वारितरङ्गेहिँ घोलिरणिअम्बा।
सालूरी पडिविम्बे पुरिसाअन्ति व्व पडिहाइ ॥ ९१ ॥

[तटविनिहिताग्रहस्ता वारितरङ्गैर्घूर्णनशीला।
शालूरी प्रतिविम्बे पुरुषायमाणेव भाति ॥]

अपने हाथों के अग्र भाग को तट पर जमाये हुए, जल तरङ्गों से हिलते हुए नितम्ब वाली मेंढकी परछाईं में ऐसी दीख पड़ती है जैसे विपरीत सुरत कर रही हो !

सिक्करिअमणिअमुहवेविआइँ धुअहत्थसिञ्जिअव्वाइं।
सिक्खन्तु वोडहीओ कुसुम्भ तुम्ह प्पसाएण ॥ ९२ ॥

[सीत्कारमणितमुखवेपितानि धुतहस्तशिञ्जितव्यानि।
शिक्षन्तां कुमार्यः कुसुम्भ युष्मत्प्रसादेन ॥]

कुसुम्भवाटिका में प्रच्छन्न प्रेमी के साथ किये समागम के चिह्नों को छिपाने के उद्देश्य से कोई कुमारी अपनी सखियों के समक्ष कुसुम्भ को सम्बोधित करके कहती है:

कलहान्तरिता की दूती नायक को उसकी दशा बतलाती हुई कहती है :—

यह पूछने पर कि 'किस को याद कर रही हो ? उसने 'मेरा है ही कौन' ? यह कहते हुए उद्वेग के साथ रोकर हमें भी रुला दिया।

'मेरा है ही कौन' ? इस निषेधपरक प्रश्न के साथ रो देने से "वह तो मुझे प्रिय है, पर मैं उसे नहीं। उसके विमुख होने पर भी मैं उसे त्याग नहीं सकती' आदि नायिका का नायक के प्रति अनुरागातिशय एवं विषाद व्यक्त है।

पाअपडिअं अहव्वे किं दाणिं ण उट्ठवेसि भत्तारं।
एअं विअ अवसाणं दूरं पि गअस्स पेम्मस्स ॥ ९० ॥

*[पादपतितमभव्ये किमिदानीं नोत्थापयसि भर्तारम्।
एतदेवावसानं दूरमपि गतस्य प्रेम्णः ॥]*

नायक द्वारा अनेक प्रकार के अनुनय करने पर भी मान न त्यागने वाली नायिका से सखी ने रोषपूर्वक कहा :—

भली मानस ! अब चरणों में पड़े हुए पति को उठा क्यों नहीं लेती ? दूर तक गये हुये (चरम सीमा तक पहुँचे हुए) प्रेम का छोर यही तो है। (अर्थात् प्रेम की सीमा यही है) 'अब' शब्द से 'यदि अब भी तुमने रोष का त्याग नहीं किया तो प्रिय तुमसे सदैव के लिये रुष्ट हो जायेंगे, 'दूर तक बढ़े हुए प्रेम' आदि शब्दों से 'तुम प्रेम की चरम सीमा को जानना चाहती हो। बस चरण-पतन ही उसकी अन्तिम सीमा है' आदि चेतावनी नायिका के प्रति व्यञ्जित है।

तडविणिहिअग्गहत्था वारितरङ्गेहिँ घोलिरणिअम्बा।
सालूरी पडिबिम्बे पुरिसाअन्ति व्व पडिहाइ ॥ ९१ ॥

*[तटविनिहिताग्रहस्ता वारितरङ्गैर्घूर्णनशीला।
शालूरी प्रतिबिम्बे पुरुषायमाणेव भाति ॥]*

अपने हाथों के अग्र भाग को तट पर जमाये हुए, जल तरङ्गों से हिलते हुए नितम्ब वाली मेंढकी परछाईं में ऐसी दीख पड़ती है जैसे विपरीत सुरत कर रही हो !

सिक्करिअमणिअमुहवेविआइँ धुअहत्थसिञ्जिअव्वाइं।
सिक्खन्तु वोडहीओ कुसुम्भ तुम्ह प्पसाएण ॥ ९२ ॥

*[सीत्कारमणितमुखवेपितानि धुतहस्तशिञ्जितव्यानि।
शिक्षन्तां कुमार्यः कुसुम्भ युष्मत्प्रसादेन ॥]*

कुसुम्भवाटिका में प्रच्छन्न प्रेमी के साथ किये समागम के चिह्नों को छिपाने के उद्देश्य से कोई कुमारी अपनी सखियों के समक्ष कुसुम्भ को सम्बोधित करके कहती है:—

हे कुसुम्भ ! कुमारियाँ तुम्हारी कृपा से सी-सी करना, मुख को इधर-उधर हटाना, मणित (उफ़, ऊँह आदि कूल्हने या कराहने की ध्वनि) और हाथों को हिला कर भूषणों की झनझनाहट करना सीखें।

ये सीत्कार आदि सुरतकाल में नख-क्षत अधर-खण्डन आदि के कारण भी होते हैं और कांटा चुभ जाने पर भी। अतः 'मेरे सीत्कार आदि सुरत के कारण नहीं, अपितु कांटा लगने के कारण हुए हैं' नायिका का यह रति-गोपन का बहाना सुनने वालों के प्रति ध्वनित है।

जेत्तिअमेत्ता रच्छा णिअम्ब कह तेत्तिओ ण जाओसि।
जं छिप्पइ गुरुअणलज्जिओ सरन्तो वि सो सुहओ ॥ ६३ ॥

[यावन्मात्रा रथ्या नितम्ब कथं तावन्न जातोऽसि।
यत्स्पृश्यते गुरुजनलज्जापसृतोऽपि स सुभगः ॥]

हे नितम्ब ! तुम भी उतने ही विशाल क्यों नहीं हुए जितनी कि गली ? जिससे गुरुजनों से लज्जा के कारण गली के किनारे से जाते हुए उस सुन्दर युवक का स्पर्श तो हो जाता।

मरगअसूईविद्धं व मोत्तिअं पिअइ आअअग्गीओ।
मोरो पाउसआले तणग्गलग्गं उअअविन्दुं ॥ ६४ ॥

[मरकतसूचीविद्धमिव मौक्तिकं पिबत्यायतग्रीवः।
मयूरः प्रावृट्काले तृणाग्रलग्नमुदकविन्दुम् ॥]

वर्षा ऋतु में मोर (घास के हरे-हरे) तिनकों के अग्रभाग पर लगे हुए जल-कण को ग्रीवा बढ़ाकर इस प्रकार पीता है जैसे मरकत-निर्मित सूई में विधा हुआ मोती हो।

अज्जाइ णीलकञ्चुअभरिउव्वरिअं विहाइ थणवट्टं।
जलभरिअजलहरन्तदरुग्गअं चन्दबिम्बं व्व ॥ ६५ ॥

[आर्याया नीलकञ्चुकभृतोर्वरितं विभाति स्तनपृष्ठम्।
जलभृतजलधरान्तरदरोद्गतं चन्द्रबिम्बमिव ॥]

[राजविरुद्धामिव कथां पथिकः पथिकस्य कथयति साशङ्कम् ।
यत आम्राणां दलं तत ईषन्निर्गतं किमपि ॥]

'जहाँ से आम के पत्ते फूटते हैं वहाँ से यह न जाने क्या निकला है' इस बात को प्रवासी अन्य प्रवासी से राज-विरुद्ध बात की भाँति भय और आशंका के साथ कहता है। आम की मञ्जरी के निकलने से वसन्त का आरम्भ सूचित है, राजविरुद्ध बात कहना निग्रह आदि आपत्ति में परिणत होता है उसी प्रकार वसन्त का आरम्भ भी वियोगियों के लिये आपत्तिदायक होता है। 'अतः वसन्त के पूर्ण विकास से पहले ही अपना प्रवास समाप्त करके प्रियतमा के पास पहुँच जाना चाहिये' यह बोद्धव्य पथिक के प्रति व्यङ्ग्य है। अथवा 'वसन्त ऋतु में तुम्हारी भी यह दशा हो जायेगी, यह सूचित करती हुई नायिका की प्रवासोद्यत नायक के प्रति यह उक्ति है।

धण्णा ता महिलाओ दइतं जा सिविणए वि पेच्छन्ति ।
णिद्द व्विअ तेण विणा ण एइ का पेच्छए सिविणं ॥ ९७ ॥

[धन्यास्ता महिला दयितं याः स्वप्नेऽपि प्रेक्षन्ते ।
निद्रैव तेन विना नैति का प्रेक्षते स्वप्नम् ॥]

प्रियतम के प्रति अपना अत्यन्त अनुराग व्यक्त करती हुई नायिका अपनी सखियों से कहती है :—

'वे महिलाएँ धन्य हैं जो (वियोग में) प्रियतम को स्वप्न में भी देख लेती हैं। (हमें तो) उनके बिना नींद ही नहीं आती; स्वप्न कौन देखती है ?'

'प्रिय के विरह में भी स्वस्थ रहकर जो नींद का अनुभव करती हैं वे प्रिय के प्रति अधिक अनुराग न होने के कारण धन्य नहीं हैं। मैं धन्य हूँ, क्योंकि अनुराग-वश प्रिय के विरह में मुझे नींद ही नहीं आती' इस प्रकार व्याज से नायिका अपनी स्तुति ही करती है, जिससे व्यतिरेकालङ्कार व्यङ्ग्य है। 'विरह में नींद भी मुझे नहीं आती, अतः स्वप्न में भी प्रिय का दर्शन दुर्लभ है' इस प्रकार प्रियतम के प्रति रति का परिपोष होने के कारण विप्रलम्भ शृंगार ध्वनित है।

परिरद्धकणअकुण्डलगण्डत्थलमणहरेसु सवणेसु ।
अण्णअसमअवसेण ण पहिरज्जइ तालवेण्टजुअं ॥ ९८ ॥

[परिरब्धकनककुण्डलगण्डस्थलमनोहरयोः श्रवणयोः ।
अन्यसमयवशेन च परिध्रियते तालवृन्तयुगम् ॥]

सहज-सुन्दरी होते हुए भी सरलता अथवा परिस्थिति-वश वन्य प्रसाधनों से अलङ्कृत नायिका को अरुचि की दृष्टि से देखते हुए नायक के प्रति दूती की उक्ति है :—

'कर्ण-कुण्डलों से चुम्बित कपोलस्थल से मनोहर कानों में समय के फेर से तालपत्र का जोड़ा (भी) धारण किया जाता है।'

'परिस्थिति-वश ही यह इस प्रकार के वन्य प्रसाधन धारण करती है। प्रसाधन की नागर विधि को भी यह भली-भाँति जानती है और पहले उसी के अनुसार प्रसाधन किया भी करती थी। अतः स्वभाव से ही सरल एवं सुन्दरी इस नायिका को तिरस्कार की दृष्टि से मत देखो' नायक के प्रति दूती का यह संबोध व्यञ्जित है।

मज्झण्हपत्थिअस्स वि गिम्हे पहिअस्स हरइ संतावं ।
हिअअट्ठिअजाआमुहमअङ्कजोह्लाजलप्पवहो ॥ ९९ ॥

ग्रीष्म ऋतु के मध्याह्न में प्रस्थित पथिक के संताप को हृदय में स्थित पत्नी के मुखचन्द्र की ज्योत्स्ना का जल-प्रवाह हर लेता है। अर्थात् जिस प्रकार चन्द्रमा की किरणों के स्पर्श से चन्द्रकान्त मणि से संतापहारी शान्तिप्रद जल का स्राव होता है, उसी प्रकार गर्मी की दोपहरी में भी घर को लौटते हुए पथिक को प्रियतमा के मुखचन्द्र के दर्शन की आशा शान्ति प्रदान करती रहती है।

भण को ण रुस्सइ जणो पत्थिज्जन्तो अएसकालम्मि ।
रतिवाअडा रुअन्तं पिअं वि पुत्तं सवइ माआ ॥ १०० ॥

[भण को न रुष्यति जनः प्रार्थ्यमानोऽदेशकाले ।
रतिव्यापृता रुदन्तं प्रियमपि पुत्रं शपते माता ॥]

पञ्चम शतक

* *

उज्झसि उज्झसु कट्टसि कट्टसु अह फुडसि हिअअ ता फुडसु ।
तह वि परिसेसिओ च्चिअ सो हु मए गलिअसब्भावो ॥ १ ॥

[दह्यसे दह्यस्व क्वथ्यसे क्वथ्यस्व अथ स्फुटसि हृदय तत्स्फुट ।
तथापि परिशेषित एव स खलु मया गलितसद्भावः ॥]

प्रिय के अपराधों से बार-बार खिन्न मानिनी अपने हृदय के बहाने नायक को उपालम्भ देती है :—

"हे हृदय ! यदि तू जलता है तो जल । (पुट पाक की भाँति अन्दर ही अन्दर) पचता है तो पच और विदीर्ण होता है तो हो जा, किन्तु निगोड़े प्रेम को तो मैंने समाप्त ही कर दिया है ।"

प्रिय के स्नेह-वश हृदय-दाह का अनुभव करती हुई भी वह कहती है कि स्नेह समाप्त कर दिया, अतः यहाँ निषेधाभासमात्र होने के कारण आक्षेप अलङ्कार है" "निषेधाभासमाक्षेपं बुधाः केचन मन्वते ।" इस प्रकार "तुम्हारे स्नेह के कारण ही में हृदयदाहादि दारुण दुख का अनुभव कर रही हूँ । इसलिये वह त्यागने योग्य है, फिर भी मैं उसे त्यागती नहीं, किन्तु तुम विपरीत आचरण से बाज नहीं आते ।" प्रिय के प्रति यह उपालम्भ व्यञ्जित है ।

दट्ठूण रुन्दतुण्डग्गणिग्गअं णिअसुअस्स दाढग्गं ।
भोण्डी विणावि कज्जेण गामणिअडे जवे चरई ॥ २ ॥

[दृष्ट्वा विशालतुण्डाग्रनिर्गतं निजसुतस्य दंष्ट्राग्रम् ।
सूकरी विनापि कार्येण ग्रामनिकटे यवांश्चरति ॥]

प्रच्छन्न प्रेमी के प्रति जौ के खेत को सहेट रूप में सूचित करती हुई तथा अन्य व्यक्तियों को वहाँ जाने में भय दिखाती हुई नायिका कहती है :—

'अपने पुत्र के विशाल मुख से आगे निकले हुए दाँतों को देखकर सूकरी बिना कार्य के भी (आवश्यकता न होने पर भी) गाँव के निकट जौं चरती रहती है । "विना कार्य के भी" से व्यञ्जित है कि वह तृप्त होने पर भी वहीं रहती है । वहाँ से उसके जाने और आने का कोई नियम नहीं है । इस प्रकार अन्य व्यक्तियों के प्रति "तुम्हें वहाँ किसी भी समय न जाना चाहिये' और उपपति के प्रति "लोगों संचार से शून्य यह खेत ही उचित संकेत-स्थान रहेगा' अर्थ ध्वनित होता है ।

हेलाकरग्गअड्ढिअजलरिक्कं साअरं पआसन्तो ।
जअइ अणिग्गअवडवग्गिभरिअगगणो गणाहिवई ॥ ३ ॥

*[हेलाकराग्राकृष्टजलरिक्तं सागरं प्रकाशयन् ।
जयत्यनिग्रहवडवाग्निभृतगगनो गणाधिपतिः ॥]*

अनायास ही अपने कराग्र से जल को खींच कर रिक्त सागर को प्रकाशित करते हुए और अबाधगति से बढ़ते हुए बडवानल से आकाश को भरते हुए गणपति की जय !

टीकाकारों ने इस गाथा का शृङ्गारपरक अर्थ भी किया है। "सर्वसमय ग्रामीण के प्रति प्रणय-साधना और अभिसार में कोई भी भय नहीं है" यह आश्वासन देती हुई दूती नायिका को प्रणय-प्रवृत्त होने के लिये प्रोत्साहित करती है :—

"अनायास ही कर (टैक्स) से आगे ही (पहले ही) सम्पूर्ण द्रव्य को अपने अधीन कर लेने से अन्य कोई भी उसके समक्ष पानी नहीं रखता (किसी में साहस नहीं, कि उसका प्रतिद्वन्द्वी हो सके) इस प्रकार अपने कामानल को निर्बाध प्रदीप्त और पूर्ण होने का अवसर देने वाला ग्रामीण सर्वोत्कृष्ट है।"

एएण च्चिअ कङ्केलि तुज्झ तं णत्थि जं ण पज्जत्तं ।
उवमिज्जइ जं तुह पल्लवेण वरकामिणीहत्थो ॥ ४ ॥

*[एतेनैव कङ्केले ! तव तन्नास्ति यन्न पर्याप्तम् ।
उपमीयते यत्तव पल्लवेन वरकामिनीहस्तः ॥]*

(काम शास्त्र के प्रसिद्ध सिद्धान्त और परम्पराओं) को जानने वाले ! तुम सचमुच शोक-रहित हो क्योंकि श्रेष्ठ कामिनी के चरण-कमल से आहत होने पर भी तुम औत्सुक्य-सहित प्रसन्न हो रहे हो।

वलिणो वाआ वन्धे चोज्जं णिउअत्तणं च पअडन्तो।
सुरसत्थकआणन्दो वामणरूवो हरी जअइ ॥ ६ ॥

[वलेर्वाचा वन्धे आश्चर्यं निपुणत्वं च प्रकटयन्।
सुरसार्थकृतानन्दो वामनरूपो हरिर्जयति ॥]

दैत्यराज वलि को अपनी वाणी के पाश में बाँधते समय आश्चर्य एवं निपुणता प्रकट करते हुए तथा देवताओं के समूह को आनन्दित करने वाले वामन रूपधारी हरि की जय ?

टीकाकारों ने शृङ्गार पक्ष में इसका अर्थ यों किया है:—

"वलवान् गृहजन को वाणी से निरुत्तर कर अपनी दक्षता प्रकट करता हुआ एवं सुन्दर रस और अर्थ (से युक्त वचनों) द्वारा सवको आनन्दित करने वाला वामनरूप (अवसर के अनुसार विनयशील) तुम्हारा प्रिय सर्वोत्कर्ष के साथ विद्यमान है।"

विज्जाविज्जइ जलणो गहवइधूआइ वित्थअसिहो वि।
अणुमरणघणालिङ्गणपिअअमसुहसिञ्जिरङ्गीए ॥ ७ ॥

[निर्वाप्यते ज्वलनो गृहपतिदुहित्रा विस्तृतशिखोऽपि।
अनुमरणघनालिङ्गन-प्रियतमसुख-स्वेद-शीताङ्ग्या ॥]

सती होने के समय प्रिय के प्रगाढ आलिङ्गन से उद्भूत सुख से जनित स्वेद के कारण शीतलाङ्गी गृहपति दुहिता (कुलीन वाला) ने विस्तृत लपटों वाले अनल को भी शान्त कर दिया।

जारमसाणसमुब्भवभूइसुहप्फंससिञ्जिरङ्गीए।
ण समप्पइ णवकावालिआइ उद्धूलणारम्भो ॥ ८ ॥

[जारश्मशानसमुद्भवभूतिसुखस्पर्शस्वेदशीलाङ्ग्याः।
न समाप्यते नवकापालिक्या उद्धूलनारम्भः ॥]

अपने उपपति की चिता की राख के स्पर्श-सुख से जनित स्वेद से सिक्त अङ्गों वाली नवीन कापालिकी का भस्म रमाने का कार्य पूरा ही नहीं होता (क्योंकि ज्यों ज्यों वह चिता-रज का लेपन करती है त्यों-त्यों सात्त्विक स्वेद भी वढ़ता जाता है)।

उपर्युक्त दोनों ही गाथाओं में कल्पना को कमाल की सीमा पर ही पहुँचा दिया है। यह शृंङ्गार है या करुण ? या वीभत्स ? ईश्वर जाने।

एक्को पह्लुअइ थणो बीओ पुलएइ णहमुहालिहिओ ।
पुत्तस्स पिअअमस्स च मज्झणिसण्णाएँ घरणीए ॥ ९ ॥

*[एकः प्रस्नौति स्तनो द्वितीयः पुलकितो भवति ।
पुत्रस्य प्रियतमस्य च मध्यनिषण्णाया गृहिण्याः ॥]*

पुत्र और प्रियतम के मध्य बैठी हुई गृहिणी का (पुत्र की ओर के) एक स्तन से तो (वात्सल्य के कारण) दूध टपक रहा है और दूसरा (प्रिय की ओर का, प्रणय भाव के कारण) पुलकित हो रहा है।

एत्ताइच्चिअ मोहं जणेइ बालत्तणे वि वट्टन्ती ।
गामणिधूआ विसकन्दलिव्व वड्ढीआ काहिइ अणत्थं ॥ १० ॥

*[एतावत्येव मोहं जनयति बाल्येऽपि वर्तमाना ।
ग्रामणीदुहिता विषकन्दलीव वर्धिता करिष्यत्यनर्थम् ॥]*

ग्राम-नायक की बालिका पुत्री के आकर्षण का वर्णन करता हुआ उत्कण्ठित नायक अपने सहचर से कहता है:—

'बाल्यावस्था में ही वर्तमान इतनी सी ग्रामणी-सुता विषमय अङ्कुर के समान हृदय को मोह लेती है, बढ़ जाने पर तो अनर्थ ही कर डालेगी। (विष का अङ्कुर मूर्च्छित करने की शक्ति रखता है। वही पक्वावस्था में अनर्थ (मृत्यु) कर डालता है। इसी प्रकार बाल्यावस्था में ही यह चित्त पर जादू करने में सफल है, परिपूर्ण यौवन में तो युवकों को काम के विषम शरों से मार ही डालेगी)।

अप्पहुप्पन्तं महिमण्डलम्मि णहसंठिअं चिरं हरिणो ।
तारापुप्फप्पअरञ्चिअं व तइअं पअं णमह ॥११॥

*[अप्रभवन्महीमण्डले नभःसंस्थितं चिरं हरेः ।
तारापुष्पप्रकराञ्चितमिव तृतीयं पदं नमत ॥]*

सुप्पउ तइश्रो वि गश्रो जामोत्ति सहीश्रों कीस मं भणह।
सेहालिश्राणं गन्धो ण देइ सोत्तुं सुश्रह तुम्हे ॥१२॥

[सुप्यतां तृतीयोऽपि गतो याम इति सख्यः किमिति मां भणथ।
शेफालिकानां गन्धो न ददाति स्वप्तुं स्वपित यूयम् ॥]

विरहिणी नायिका को नींद नहीं आयी। सखियों ने कहा कि 'अब तो रात का तीसरा पहर भी बीत गया, सो रहो'। इस पर नायिका बोली 'सखियों! मुझ से क्या कहती हो कि "रात्रि का तृतीय पहर भी चला गया, अब सो जाओ।" शेफालिका की गन्ध सोने ही नहीं देती। जाओ, तुम सो रहो'।

कहँ सो ण संभरिज्जइ जो मे तह संठिश्राइँ श्रङ्गाइं।
णिव्वत्तिए वि सुरए णिज्झाश्रइ सुरश्ररसिश्रो व्व ॥१३॥

[कथं स न संस्मर्यते यो मम तथा संस्थितान्यङ्गानि।
निर्वर्तितेऽपि सुरते निध्यायति सुरतरसिक इव ॥]

'उस निर्दय को क्यों याद करती रहती हो'? यह पूछे जाने पर विरहिणी ने सखी से कहा कि "जो सुरत-क्रिया के सम्पन्न होने पर भी सुरत-रसिकसा मेरे अङ्गों को ध्यान से देखता रहता है, उसका स्मरण कैसे न किया जाय?

सुक्खन्त-बहल-कद्दम-घम्म-विसूरन्त-कमठपाठीणं।
दिट्ठं श्रदिट्ठउव्वं कालेण तलं तडाश्रस्स ॥१४॥

[शुष्यद्बहलकर्दमघर्मखिद्यमानकमठपाठीनम्।
दृष्टमदृष्टपूर्वं कालेन तलं तडागस्य ॥]

तालाब का तल, जो अब तक कभी दिखाई न पड़ा था, कालवश सूखते हुए बहुत से कीचड़ में धूप से कष्ट पाते हुए कछुओं और मछलियों से युक्त दिखाई पड़ता है।

इस गाथा में ग्रीष्म का वर्णन है। कुछ टीकाकारों के अनुसार इस अन्योक्ति द्वारा किसी बिगड़े हुए रईस की दशा पर आँसू बहाये गये हैं। प्रत्येक गाथा की शृंङ्गार के पक्ष में व्याख्या करने वाले टीकाकार इसे नायिका की नायक के प्रति सहेट-सूचक उक्ति मानते हैं। "पहले तो जल आदि लाने के लिये यहाँ लोगों का आना जाना रहता था किन्तु अब ऐसा भय नहीं रहा। अतः एव यही संकेत-स्थल उचित है।" यह नायक के प्रति व्यञ्जित होता है। कोई-कोई महानुभाव इस उक्ति द्वारा 'नायिका सुरत-रत नायक को अन्यमनस्क कर देर तक रमण करना चाहती है' ऐसा मानते हैं।

नहीं किया। सामान्य वेश्या के समान हम नाई को (अथवा नीच पुरुष को) तो नहीं चाहतीं। काकु के कारण आम् (हाँ) क्रोध और ईर्ष्या सहित स्वीकृति का सूचक है 'पतिव्रते!' सम्बोधन विपरीत लक्षणा से 'कुलटा' का तथा "हम नाई को तो नहीं चाहतीं" से 'मैंने तो उत्तम अभिजात-कुलोत्पन्न नायक के साथ ही अभिसार किये हैं तुमने तो नाई को ही अपना सतीत्व बेच डाला" व्यङ्ग्य की प्रतीति स्पष्ट है।

णिद्दं लहन्ति कहिअं सुणन्ति खलिअक्खरं ण जम्पन्ति।
जाहिँ ण दिट्ठो सि तुमं ताओच्चिअ सुहअ सुहिआओ ॥१८॥

[निद्रां लभन्ते कथितं शृण्वन्ति स्खलिताक्षरं न जल्पन्ति।
याभिर्न दृष्टोऽसि त्वं ता एव सुभग! सुखिताः॥]

नायक के प्रति अपना अनुराग निवेदित करती हुई स्वयं दूतिका कहती है:—

'हे सुभग!' जिन ललनाओं ने तुम्हें नहीं देखा वे ही सुखी हैं (क्योंकि) वे सो लेती हैं, कही हुई बात को सुन लेती हैं और स्खलित अक्षर (कुछ का कुछ) नहीं बोलतीं।

"तुम्हें देखते ही मुझे निद्रा-भङ्ग, अन्यमनस्कता और जडता आदि व्याधियों ने आ घेरा है जिसके कारण मैं सो नहीं पाती, दूसरों की कही हुई बात को (तुम्हारे ही ध्यान में मग्न होने के कारण) सुन नहीं पाती और बातचीत करने में कुछ का कुछ (किसी अन्य का नाम लेना हो तो तुम्हारा ही नाम) कह जाती हूँ। यह मेरा दोष नहीं, तुम्हारी सुन्दरता का उत्पात है। जिन्होंने तुम्हें नहीं देखा, उन्हें इस प्रकार का कोई रोग नहीं हुआ। देख लेने पर उनकी भी दशा यही होती है" आदि व्यङ्ग्यार्थ स्पष्ट है जिससे नायक के लोकातिशय सौन्दर्य एवं नायिका के प्रति उसकी चाटूक्ति व्यञ्जित है "तुम्हीं ने दर्द दिया है तुम ही दवा देना।"

बालअ तुमाइ दिण्णं कण्णे काऊण बोरसंघाडिं।
लज्जालुइणी वि वहू घरं गआ गामरच्छाए॥ १९॥

[बालक त्वया दत्तां कर्णे कृत्वा बदरसंघाटीम्।
लज्जालुरपि वधूर्गृहं गता ग्रामरथ्यया॥]

नायक के प्रति नायिका के सहज प्रेम को सूचित करती हुई दूती कहती है:—

बालक! शर्मीली होने पर भी वह वधू तुम्हारे द्वारा दिये हुए एक वृन्त में लगे दो बेरों के गुच्छे को कान में धारण कर गाँव की गली में से होती हुई घर को गयी।

"तुम्हारे दिये हुए इस अद्भुत अलङ्कार को धारण करके वह इतनी हर्षित हुई कि आते-जाते लोगों को दिखाने के उद्देश्य से गाँव की गली में से होकर घर को गयी।" इससे नायक के प्रति प्रणयातिशय व्यञ्जित है। 'वधू' शब्द से "यद्यपि वहू —और वह भी लज्जालु—होने के कारण उसका लोगों से भरे मार्ग में जाना अनुचित था फिर भी हर्ष के आवेग के कारण उसने ऐसा किया" व्यञ्जित है। 'बालक!' संबोधन से नायक का अविवेक ध्वनित है जिससे "वह तुम में इतनी अनुरक्त है पर

तुम्हारे कान पर जूं तक नहीं रेंगती, तुम्हारा दिल नहीं पसीजता। धन्य है तुम्हारी पाषाणहृदयता '!' उपालम्भ की प्रतीति स्पष्ट है।

अह सो विलक्खहिअओ मए अहव्वाएँ अग्गहिआणुणओ।
परवज्जणच्चरीहिं तुह्लेहिं उवेक्खिओ णेन्तो ॥ २० ॥

[अथ स विलक्षहृदयो मया अभव्ययाऽगृहीतानुनयः।
परवाद्यनर्तनशीलाभिर्युष्माभिरुपेक्षितो निर्यन् ॥]

पश्चात्ताप-रत कलहान्तरिता सखियों की भर्त्सना करती हुई कहती है :—

"मुझ दुष्टा द्वारा मनुहारों को ठुकरा देने पर यहां से निकलते हुए लज्जित प्रिय की, दूसरों को बाजे के साथ नचाने में चतुर तुम लोगों ने भी, उपेक्षा कर दी।" अर्थात् तुम ऐसी हो कि दूसरों को नचाती हो और तमाशा देखती हो। तुम ने ही मुझे मान की शिक्षा दी थी और हमारे इस कलह का तमाशा देखकर प्रसन्न हो रही हो। तभी तो घर से निकलते हुए मेरे प्रिय को तुम ने रोका नहीं।

"अभव्या (दुष्टा)' विशेषण से "मनुहारों के बदले में भी मैंने उसे तिरस्कार ही क्यों दिया" आदि पश्चात्ताप की प्रतीति होती है।

दीसन्तो णअणसुहो णिव्वुइजणओ करेहिँ वि छिवन्तो।
अब्भत्थिओ ण लब्भइ चन्दोव्व पिओ कलाणिलओ ॥ २१ ॥

[दृश्यमानो नयनसुखो निर्वृतिजननः कराभ्यामपि स्पृशन्।
अभ्यर्थितो न लभ्यते चन्द्र इव प्रियः कलानिलयः ॥]

काल की प्रवलता और अवश्यंभावी परिणाम का प्रतिपादन करती हुई नायिका पुराने संकेत-स्थल के विघटन का प्रतिपादन करके अन्य सहेट के अन्वेषण का संकेत करती हुई उपपति से कहती है :—

प्रिय मित्र ! जिन अशोक वृक्षों से पुष्पों के गुच्छे काले-काले भौंरों के भार से टूट-टूट कर गिर जाया करते थे, काल के प्रभाव से अव वे स्थाणु (ठूँठ) मात्र रह गये हैं। गाथा के पूर्वार्ध में भ्रमरों के बैठने के कारण और गुच्छों के टूटकर गिरने से वृक्षों की सघन छाया तथा उनके कारण अन्धकार की प्रतीति होती है जिससे उक्त स्थान की संकेत-स्थल-योग्यता व्यञ्जित है। 'देखो समय की महिमा है, फल-फूलों से लदे वृक्ष भी ठूंठमात्र रह गये।" इस प्रकार काल की प्रवलता प्रतीत होती है। 'नदी-तट पर जो अशोक-कुञ्ज हमारा संकेतस्थल था वह सूख गया है, देखे जाने का भय है। अतः वहाँ समागम नहीं हो सकता। कोई अन्य सहेट खोजना चाहिये' यह उत्तरार्ध से ध्वनित है।

खणभङ्गुरेण प्रेम्मेण माउआ दुम्मिअम्ह एत्ताहे।
सिविणअणिहिलम्भेण व दिट्ठपणट्ठे लोअम्मि॥ २३॥

[क्षणभङ्गुरेण प्रेम्णा मातृष्वसः दूनाः स्म इदानीम्।
स्वप्ननिधिलम्भेनेव दृष्टप्रनष्टेन लोकेऽस्मिन्॥]

अस्थिर-प्रेम नायक से विरत नायिका किसी अन्य मनोहर नायक को सुना कर अपनी विश्वासपात्र मौसी से कहती है—

'हे मौसी ! स्वप्न में उपलब्ध निधि के समान दृष्टिपथ में आकर लुप्त हो जाने वाले क्षणभङ्गुर प्रेम से अब तो इस दुनिया में (हम) तंग आ गये हैं।

सुनते हुए नायक के प्रति "यदि तुम्हारा प्रेम स्थिर रहा तो मैं उसे निधि की प्राप्ति के समान बहुत गौरव-पूर्ण समझूँगी" अर्थ की अभिव्यक्ति होती है। 'एत्ताहें' (अब) शब्द से "पहले मुझे प्रेम-विषयक अनुभव नहीं था किन्तु अब अनुभव हो गया है, इसलिये मुझे धोखा देना आसान नहीं होगा" अर्थ व्यङ्ग्य है।

चावो सहावसरलं वि च्छिवइ सरं गुणम्मि वि पडन्तं।
वङ्कस्स उज्जुअस्स अ संबन्धो किं चिरं होई॥ २४॥

[चापः स्वभाव सरलमपि क्षिपति शरं गुणेऽपि पतन्तम्।
वक्रस्य ऋजुकस्य च संबन्धः किं चिरं भवति॥]

धनुष स्वभाव से ही सीधे तथा गुण (प्रत्यञ्चा) में आसक्त वाण को भी दूर फेंक देता है। वक्र और सरल का सम्बन्ध क्या चिरस्थायी हो सकता है ? अर्थात् कुटिल तथा निष्कपट व्यक्ति का साथ अधिक नहीं चल सकता क्योंकि कुटिल व्यक्ति गुणों से परिपूर्ण सरल व्यक्ति को भी अन्ततो गत्वा (अपना काम निकालकर) रास्ता बता देता है।

किसी धूर्त नायक द्वारा प्रवञ्चित नायिका को समझाती हुई सखी की उक्ति मानते हुए उक्त गाथा की शृंगारपरक व्याख्या श्री श्री मथुरानाथ शास्त्री ने प्रस्तुत की है। इस स्थिति में नायिका के प्रति "मेरे बहुत मना करने पर भी तुमने इस कुटिल से प्रेम किया, अब उसका फल भोगो" अर्थ की अभिव्यक्ति दूती की इस उक्ति से होती है।

पढमं वामणविहिणा पच्छा हु कओ विअम्भमाणेण।
थणजुअलेण इमीए महुमहणेण व्व बलिबन्धो ॥ २५ ॥

[प्रथमं वामनविधिना पश्चात् खलु कृतो विजृम्भमाणेन।
स्तनयुगलेनैतस्या मधुमथनेनेव बलिबन्धः ॥]

नायिका के पहले छोटे किन्तु बाद में रोमावली तक फैले हुए पुष्ट उरोजों को देखकर नायक अपने मित्र से कहता है:—

पहले लघु आकार वाले किन्तु बाद में वृद्धि को प्राप्त होते हुए इस के कुच-युगल ने त्रिवलि (उदरस्थ रोमराजि) को इसी प्रकार बाँध लिया जिस प्रकार विष्णु ने बलि को (अपने वचनों में) बाँध लिया था।

विष्णु ने भी पहले वामनरूप धारण करके और बाद में (पृथ्वी को नापते हुए) अपना आकार विशाल करते हुए बलि के साथ प्रवञ्चना की थी।

तुङ्गाणं विसेसनिरन्तराणं सरसवणलद्धसोहाणं।
कग्रकज्जाणं भडाणं व थणाणं पडणंवि रमणिज्जं ॥ २७ ॥

*[तुङ्गयोर्विशेषनिरन्तरयोरुन्नतयोः सरसव्रणलब्धशोभयोः ।
कृतकार्ययोर्भटयोरिव स्तनयोः पतनमपि रमणीयम् ॥]*

किसी गतयौवना के शिथिल उरोजों को देखकर कोई विदग्ध पुरुष अपने मित्र से कहता है :—

तुङ्ग (स्वाभिमानी) विशेष-निरन्तर (शूरता आदि गुणों में परस्पर विशेष अन्तर से रहित अर्थात् प्रायः समानपराक्रम) सरस घावों से शोभित (युद्ध में क्षत-विक्षत) तथा कृतकार्य (विजयप्राप्त) शूरों के पतन (युद्ध में मरण) के समान तुङ्ग (पुष्ट होने के कारण ऊँचे) विशेप-निरन्तर (पीन होने के कारण सटे हुए) सरस व्रणों से शोभित (सुरत क्रीडा के आनन्द से आवेश में किए हुए नखचिह्नों से शोभित) तथा कृतकार्य (यौवन के विलासपूर्ण अनुभवों से कृतकृत्य) स्तनों का पतन शिथिल होना) भी रमणीय है।

"तुमने यौवन का पूरा-पूरा आनन्द उठाया है, अतः तुम धन्य हो" यह गत-यौवना के प्रति अभिव्यक्त होता है।

परिमलणसुहा गुरुआ अलद्धविवरा सलक्खणाहरणा।
थणआ कव्वालाव व्व कस्स हिअए ण लग्गन्ति ॥२८॥

*[परिमलनसुखा गुरुका अलब्धविवराः सलक्षणाभरणाः ।
स्तनकाः काव्यालापा इव कस्य हृदये न लगन्ति ॥]*

सुनती हुई नायिका के प्रति अपनी रसिकता और चुहल प्रकट करता हुआ विदग्ध नायक कहता है:—

परिमर्दन से (वार-वार विचार करने पर) आनन्द देने वाले, गुरु (अर्थगौरव से युक्त) छिद्रों (च्युत-संस्कृति आदि दोषों) से रहित, लक्षण एवं अलङ्कारों (शास्त्रीय परिभाषा के अनुकूल तथा उपमा आदि अलङ्कारों) से सम्पन्न काव्यालापों के समान, परिमर्दन करने में आनन्द देने वाले, गुरु (पुष्ट) अलब्धविवर (पीनता के कारण परस्पर सटे हुए) लक्षणों (श्री फल आदि की समानता तथा तिल आदि के चिह्नों) एवं आभूषणों (हार, माला आदि अलङ्कारों) से अलङ्कृत कुच किसके हृदय में नहीं गड़ जाते?

खिप्पइ हारो थणमण्डलाहि तरुणीअ रमणपरिरम्भे।
अच्चिअगुणा वि गुणिनो लहन्ति लहुअत्तणं काले ॥२९॥

*[क्षिप्यते हारः स्तनमण्डलात् तरुणीभी रमणपरिरम्भे ।
अर्चितगुणा अपि गुणिनो लभन्ते लघुत्वं कालेन ॥]*

प्रियतम का आलिङ्गन करते समय युवतियों द्वारा कुचमण्डल से गुणी (सूत्र-प्रोत) हार भी उतार कर फेंक दिये जाते हैं। काल की महिमा से (समय के अनुसार) गुणों के पक्षपाती गुणी व्यक्ति भी लघुता को प्राप्त हो जाते हैं।

अण्णो को वि सुहावो मम्महसिहिणो हला हआसस्स ।
विज्झाइ णीरसाणं हिअए सरसाणं झत्ति पज्जलइ ॥३०॥

*[अन्यः कोऽपि स्वभावो मन्मथशिखिनो हला हताशस्य ।
निर्वाति नीरसानां हृदये सरसानां झटिति प्रज्वलति ॥]*

अभीप्सित नायक के प्रति अपना अनुराग और विरह-व्यथा प्रकट करती हुई नायिका सखी से कहती है :—

सखि ! इस कम्बख्त काम की आग का स्वभाव ही कुछ और होता है। यह नीरस हृदयों में बुझ जाती है और सरस हृदयों में तत्काल प्रज्वलित हो जाती है।

तह तस्स माणपरिवड्ढिअस्स चिरपणअबद्धमूलस्स ।
मामि पडन्तस्स सुओ सद्दो वि ण पेम्मरुक्खस्स ॥३१॥

*[तथा तस्य मानपरिवर्धितस्य चिरप्रणयबद्धमूलस्य ।
मातुलानि पततः श्रुतः शब्दोऽपि न प्रेमवृक्षस्य ॥]*

अन्यत्र आसक्त नायक की प्रेम-विमुखता का वर्णन करती हुई नायिका अपनी विश्वास-पात्र मामी से कहती है:—

"हे मातुलानि। मान द्वारा परिवर्धित चिरप्रणय रूपी दृढ़ मूल वाले प्रेम रूपी वृक्ष का गिरते हुए शब्द भी न सुन पड़ा।" प्रथम तो मानवर्धित (काफी परिमाण में बढ़े हुए दृढ़मूल) वृक्ष का गिरना ही कठिन है; यदि गिरेगा भी तो शब्द तो अवश्य ही होगा; यहाँ वह भी नहीं हुआ। व्यङ्ग्य यह है कि चिरकाल से मुझ में दृढ़ आसक्ति रखने वाले प्रिय ने भी चुपके से प्रेम का नाता तोड़ दिया। इस विषय की कोई चर्चा भी न सुनी गयी।

पाअपडिओ ण गणिओ पिअं भणन्तो वि अप्पिअं भणिओ ।
वच्चन्तो वि ण रुद्धो भण कस्स कए कओ माणो ॥ ३२ ॥

*[पादपतितो न गणितः प्रियं भणन्नपि अप्रियं भणितः ।
व्रजन्नपि न रुद्धो भण कस्य कृते कृतो मानः ॥]*

और प्रिय वचन बोलते हुए को भी अप्रिय बातें कहीं और जाते हुए को भी नहीं रोका, तो बता फिर किसके लिये मान धारण किया ?

भाव यह है कि पति-पत्नी का मान प्रणामान्त होता है। चरण में गिरने के पश्चात् वह समाप्त हो जाता है। प्रियतम तुम्हारे चरणों में प्रणाम भी कर चुके फिर भी तुम्हारा मान न टूटा तो वे यहाँ से निकल गये। इस पर भी तुमने उन्हें रोका नहीं। मान प्रिय के लिये किया जाता है, किन्तु तुम इस प्रकार के अनुचित मान से प्रिय को विरक्त करके अपना अप्रिय ही कर लोगी।

पुसइ खणं धुवइ खणं पप्फोडइ तक्खणं अआणन्ती।
मुद्धवहू थणवट्टे दिण्णं दइएण णहरवअं ॥३३॥

[प्रोञ्छति क्षणं क्षालयति क्षणं प्रस्फोटयति तत्क्षणमजानती।
मुग्धवधूः स्तनपदे दत्तं दयितेन नखरपदम् ॥]

मुग्ध वधू समझ न सकने के कारण (कि यह क्या है) प्रियतम द्वारा कुच-स्थल पर किये हुए नखचिह्न को क्षण-क्षण पोंछती है, धोती है और रगड़ती है। (पहले वह हाथ से पोंछती है, न मिटने पर धोती है, फिर भी नहीं जाता तो रगड़ती है।

इन मुग्ध चेष्टाओं से नायिका का अतिशय भोलापन व्यञ्जित होता है।

वासारत्ते उण्णअपओहरे जोव्वणे व्व वोलीणे।
पढमेक्ककासकुसुमं दीसई पलिअं व धरणीए ॥ ३४ ॥

[वर्षाकाले उन्नतपयोधरे यौवने इव व्यतिक्रान्ते।
प्रथमैककाशकुसुमं दृश्यते पलितमिव धरिण्या ॥]

उन्नतपयोधरों (जल भरे मेघों) से युक्त वर्षा काल जब उन्नत कुचों वाले यौवन के समान बीत गया तो काश के प्रथम पुष्प के रूप में मानों पृथ्वी का पहला श्वेत केश (बुढ़ापे का चिह्न) प्रकट हुआ।

वर्षा काल की यौवन से तथा शरद् की वार्धक्य से तुलना व्यञ्जित करती है कि वर्षा में शृङ्गार रस के उपकरणों की बहुतायत रहती है जबकि शरद् ऋतु में कमी।

प्रच्छन्न प्रेमी को काश के जंगल को संकेतस्थल के रूप में सूचित करती हुई नायिका की भी यह उक्ति हो सकती है।

कत्थ गअं रइबिम्बं कत्थ पणट्ठाओ चन्दताराओ।
गअणे बलाअपन्ति कालो होरं व कड्ढइ ॥ ३५ ॥

[कुत्र गतं रविबिम्बं कुत्र प्रणष्टाश्चन्द्रतारकाः।
गगने बलाकापङ्क्ति कालो होरामिवाकर्षति ॥]

(दिन में) सूर्यमण्डल कहाँ गया ? (रात में) चन्द्रमा और तारे कहाँ खो गये ? यह जानने के लिये मानो काल रूपी ज्योतिषी आकाश में बगुलों की पंक्ति के रूप में (खड़िया की) रेखा खींच रहा है।

भावार्थ यह है कि घने मेघों में ढक जाने के कारण सूर्य, चन्द्रमा और तारे आँखों से ओझल हो गये। इसलिये कालरूपी ज्योतिषी उनका पता लगाने के लिये बलाका पंक्ति के रूप में खड़िया से रेखा खींचकर (ज्योतिष् शास्त्र के अनुसार) देख रहा है।

यह वर्षा ऋतु का आलङ्कारिक वर्णन है। गङ्गाधर आदि टीकाकार इसकी भी शृङ्गारपरक व्याख्या करते हैं और इसे विदेश गमन के लिये उत्सुक प्रिय के प्रति नायिका की उक्ति मानते हैं। उस स्थिति में नायक के प्रति व्यङ्ग्य होगा कि आप इस अन्धकारमय समय में जबकि काम के अतिरिक्त और कोई मार्ग सूझता ही नहीं, कहाँ जा रहे हैं ? इस समय तो बगुलियाँ भी गर्भधारण के लिये उद्यत हैं और आप मुझे छोड़ कर जा रहे है। मेघाच्छन्न वर्षा ऋतु में बगुलियाँ गर्भधारण करती है और इसीलिये आकाश में पंक्ति बाँध कर उड़ती हैं। मेघदूत में कालिदास ने लिखा है—

गर्भाधानक्षणपरिचयान्नूनमाबद्धमालाः।
सेविष्यन्ते नयनसुभगं खे भवन्तं बलाकाः॥

अर्थात् हे मेघ ! गर्भाधान का समय जानकर बगुलियाँ आकाश में पंक्ति बाँधकर तुम्हारा स्वागत करेंगी।

अविरलपडन्तणवजलधारारज्जुघडिअं पअत्तेण।
अपहुत्तो उक्खेत्तुं रसइ व मेहो महिं उअह॥ ३६॥

[अविरलपतन्नवजलधारारज्जुघटितां प्रयत्नेन।
अप्रभवन्नुत्क्षेप्तुं रसतीव मेघो महीं पश्यत॥]

ओ हिअअ ओहिदिअहं तइआ पडिवज्जिऊण दइअस्स ।
अत्थेक्काउल वीसम्भघाइ किं तइ समारद्धं ॥ ३७ ॥

[हे हृदयावधिदिवसं प्रतिपद्य तदा हि दयितस्य ।
अकस्मादाकुल ! विस्रम्भघातिन् किं त्वया समारब्धम् ॥]

असह्य वियोग से पीड़ित नायिका हृदय को उपालम्भ देने के बहाने अपनी मर्मान्तक व्यथा प्रकट करती है—

हे हृदय ! उस समय (जब प्रिय ने विदेश के लिये प्रस्थान किया था) प्रिय के समक्ष अवधि के दिन को स्वीकार करके भी अब अचानक ही आकुल हो उठने वाले ! विश्वासघातिन् ! तुमने यह क्या शुरू कर दिया ?

अर्थात् प्रिय के समक्ष जो अवधि दिवस (प्रवास से लौटने का दिन) नियत हुआ तब तक प्रतीक्षा करनी चाहिये । किन्तु तुमने तो बीच में ही लुटिया डुबोने की ठान ली । यह तुम्हारा विश्वासघात है । नायिका की सखी आदि परिजनों के प्रति व्यङ्ग्य यह है कि प्रिय के लौटने के लिये निश्चत दिन तक मेरा जीवित रहना असंभव है, अतः शीघ्र उन्हें बुलाने का प्रबन्ध करो । "यह क्या आरम्भ कर दिया" से वेदना की पराकाष्ठा ध्वनित है । नायिका उसको जान ही नहीं पाती कि किस कोटि की व्यथा है ? उसके लिये वह अभूतपूर्व तथा अवर्णनीय है । हृदय को संबोधित करने से यह ध्वनित है कि मेरा कोई वश नहीं, अकस्मात् ही हृदय का मर्मच्छेद हो गया । "शुरू कर दिया "भूतकाल से" "यह व्याकुलता आज से नहीं बहुत दिनों से है, अब तक मैं किसी प्रकार सहती रही । आगे सहना असंभव है" । ध्वनित है ।

जो वि ण आणइ तस्स वि कहेइ भग्गाइँ तेण वलआइं ।
अइउज्जुआ वराई अह व पिओ से हआसाए ॥ ३८ ॥

[योऽपि न जानाति तस्यापि कथयति भग्नानि तेन वलयानि ।
अतिऋजुका वराकी अथवा प्रियस्तस्या हताशायाः ॥]

प्रच्छन्न रति-क्रीडा के रहस्य को गुप्त रखने में अपटु नायिका का वर्णन करती हुई कोई अपनी सखी से कहती है :—

"जो व्यक्ति न भी जानता है उससे भी कहती है कि उसने (नायक ने) कङ्कन तोड़ डाले । बेचारी बड़ी भोली है अथवा इस हताशा (अभागी) का प्रिय ही ऐसा (सरल) है ।

भाव यह है कि यह नायिका सुरत में टूटे हुए कङ्कनों को भी हाथों में पहिने हुए है । जिससे चतुर लोग तो देखते ही रहस्य को जान लेते हैं, जो नहीं समझ पाते उनसे यह स्वयं ही कह देती है । अतः यह बेचारी बड़ी सीधी है । इतनी सीधी कि अपना हानि-लाभ भी नहीं समझ पाती और अपने रहस्य को भी खोल देती है । या

यह कहिये कि इस अभागी का प्रच्छन्न प्रेमी ही इतना सरल (बुद्धू ?) है कि यह भी नहीं समझता कि वलय आदि की तोड़-फोड़ न करके ही काम चला लेना चाहिये क्योंकि भग्न वलयों से रहस्य खुल सकता है।

'वराकी' शब्द से वलयों को गुप्त रखने का साधारण सा काम न कर सकने के कारण और यह भी न समझने के कारण कि "स्वयं ही कह देने पर मेरी क्या गति होगी ?" नायिका की दयनीयता व्यक्त है (उसकी बुद्धि पर वास्तव में रहम आता है) किन्तु 'हताशा' विशेषण से नायिका के प्रिय के प्रति आक्रोश व्यञ्जित है। नायक के प्रति यह आक्रोश उचित ही है क्योंकि वलयभङ्ग करने की मूर्खता उसने ही की है। यह 'बेचारी' तो सरल थी ही किन्तु नायक भी इसे इतना अविवेकी मिला कि ऐसा कार्य कर डाला जिससे रहस्य खुल गया। अतः यह बेचारी के साथ-साथ अभागी भी है। इसके अभागी होने में इसकी सरलता कारण नहीं है (सरलता के कारण तो यह 'बेचारी' है) अपितु नायक का अविवेक। अतः नायक के प्रति आक्रोश व्यञ्जित है।

सामाइ गरुअजोव्वणविसेसभरिए कवोलमूलम्मि।
पिज्जइ अहोमुहेण व कण्णवअंसेण लावण्णं ॥ ३९ ॥

[श्यामाया गुरुकयौवनविशेषभरिते कपोलमूले।
पीयतेऽधोमुखेनेव कर्णावतंसेन लावण्यम् ॥]

किसी नायिका के कपोलों का वर्णन करता हुआ नायक अपनी अभिलाषा व्यक्त करता है :—

"श्यामा (षोडशी) नायिका के परिपूर्ण यौवन के कारण पूर्णतया भरे हुए कपोलमूल पर (पड़ा हुआ) कर्णफूल मानो नीचा मुख करके (उसका) लावण्य (सौन्दर्य) पान कर रहा है।"

"दूती को भेजती हुई वह उस सौभाग्यशाली (नायक) का नाम लेने के कारण (सात्त्विक) स्वेद से आर्द्रशरीर होती हुई (स्वयं) उसके (नायक के) घर पहुँच गयी।

दूती से नायिका ने नायक के पास संदेश ले जाने को कहा; किन्तु नायक का नाम लेने से ही उसका शरीर सात्त्विक स्वेद से विलन्न हो गया (इससे उसका नायक के प्रति अत्यन्त अनुराग एवं औत्सुक्य अभिव्यक्त है) 'दूती को भेजती हुई वह स्वयं ही वहाँ पहुँच गयी' इससे ध्वनित है कि नायिका उसी के सतत चिन्तन में मग्न रहती है। संसार की अन्य सभी बातों को वह भूल चुकी है। इस प्रकार स्वेद आदि अनुभवों एवं औत्सुक्य मोह आदि संचारी भावों द्वारा नायकनिष्ठ नायिका की रति पुष्ट होती है।

जम्मन्तरे वि चलणं जीएण खु मग्रण तुज्झ अच्चिस्सं।
जइ तं पि तेण वाणेण विज्झसे जेण हं विज्झा॥ ४१॥

*[जन्मान्तरेऽपि चरणौ जीवेन खलु मदन ! तवार्चयिष्यामि।
यदि तमपि तेनैव बाणेन विध्यसि येनाहं विद्धा॥]*

दुस्सह विरहवेदना से संतप्त प्रोषितपतिका शीघ्र ही प्रिय को बुलाने का संकेत सखियों को देती हुई प्रकारान्तर से कहती है :—

हे मदन ! जिस बाण से (तुमने) मुझे बींधा है यदि उसे (नायक को) भी उसी बाण से बींधोगे तो मैं दूसरे जन्म में भी अपने जीवन से (जीवन की बलि) देकर) तुम्हारे चरणों का अर्चन करूँगी।

कामदेव के पाँच बाण कहे जाते हैं। विरहिणी का कथन है कि जिस बाण से 'तुमने मुझे बींधा है उसी से मेरे प्रिय को भी बींधो'। अर्थात् अन्य कोई भी बाण इतनी पीड़ा नहीं कर सकेगा। इससे नायिका की वेदना की पराकाष्ठा प्रतीत होती है। विरह में उसका शरीर सूख गया है और हृदय प्रियतम के पास है। अतः केवल प्राण ही रह जाते हैं जिन्हें वह कामदेव को अर्पण कर सकती है। 'जन्मान्तर' से नायिका की मरणप्राय दशा की अभिव्यक्ति होती है।

णिअवक्खारोविअदेहभारणिउणं रसं लिहन्तेण।
विअसाविऊण पिज्जइ मालइकलिआ महुअरेण॥ ४२॥

*[निजपक्षारोपितदेहभारनिपुणं रसं लभमानेन।
विकास्य पीयते मालतीकलिका मधुकरेण॥]*

अतिकिशोर अवस्था की नायिका से सङ्गम करने के लिये उत्सुक नायक के प्रति किसी विदग्धा की इस अन्योक्ति में सुरत के स्थगन अथवा अत्यन्त सावधानी के साथ रमण करने की नेक सलाह इस प्रकार दी गयी है—

सावधानी पूर्वक सुरत पक्ष में

'अपने पंखों पर ही अपने शरीर का भार सम्भाल कर निपुणता के साथ रस चाटता हुआ भौंरा विकसित करके ही मालती की कलिका (के रस को) पीता है। अर्थात् मधुकर मालती-कलिका के विकास के पश्चात् ही उसका रस पीता है उससे पहले नहीं, और वह भी अत्यन्त सावधानी के साथ।

इस अन्योक्ति से नायक के प्रति व्यङ्ग्य यह होता है कि इस किशोरी के साथ तुम्हारा रमण करना अभी उचित नहीं है। यौवन द्वारा इसका रजोविकास होने पर ही तुम यह कार्य करना, और प्रथम बार तो वह भी अत्यन्त सावधानी के साथ।

सुरत के स्थगन पक्ष में अर्थ

जिस प्रकार भौंरा पंखों पर ही अपना भार सम्भालकर (कली के ऊपर बैठकर नहीं) धीरे-धीरे अति चतुरता के साथ विकासित मालतीकलिका का रस ग्रहण करता है, उसी प्रकार तुम भी अपने शरीर का भार डाले बिना ही अत्यन्त कुशलता के साथ इस किशोरी का जघनस्थल कामशास्त्र में प्रतिपादित उत्फुल्लक क्रिया से विकसित करके इसके साथ रमण करना।

पूर्वार्ध में पीने के स्थान में 'चाटता हुआ' (लिहन्तेण) का प्रयोग व्यञ्जित करता है कि यौवन आने तक चुम्बन आलिङ्गन आदि वाह्य रत द्वारा ही आनन्द ग्रहण करो। उतरार्ध में 'कली का रस पीने' के स्थान में 'कली को पीता है। कहकर अभिव्यक्त किया है कि जब तक पूर्ण यौवन नहीं आ जाता तब तक यह कली ही है इस में रस नहीं मिलेगा, यौवन आने पर ही रस (आनन्दातिशय) प्राप्त हो सकेगा।

प्रथम समागम के भावी भय से घबरायी हुई नववधू के प्रति यह सूचित करती हुई कि "तुझे पीडा पहुंचाये बिना ही नायक रमण करेगा" दूती की उक्ति भी यह कही जा सकती है।

वियोगियों के लिये भीषण) दक्षिण पवन से स्पृष्ट होता हुआ पथिक संतप्त होता है।

'वसन्तकालीन मलयवायु के स्पर्श की व्यथा को विचार कर प्रस्थान स्थगित कर दो' यह नायक से प्रति व्यञ्जित है।

जाव ण कोसविकासं पावइ ईसीस मालईकलिआ।
मअरन्दपाणलोहिल्ल भमर तावच्चिअ मलेसि ॥ ४४ ॥

[यावन्न कोषविकासं प्राप्नोतीषन्मालतीकलिका।
मकरन्दपानलोभिन् भ्रमर! तावदेव मर्दयसि ॥]

यह अन्योक्ति किशोरावस्था की नायिका के साथ रमण करते हुए नायक के प्रति उसकी अन्य प्रेमिका की प्रेम-भरी परिहासोक्ति है।

हे पुष्परस के लोभी भौंरे! मालती की कलिका के कोष का विकास हुआ भी नहीं कि तू उसको मसले देता है। अर्थात् अन्तःकोष का विकास होने पर ही पुष्प में रस का उद्भव संभव है किन्तु तू रस की लालसा में विकसित होने से पहले ही मसले देता है। यह अनुचित है।

नायक के प्रति व्यङ्ग्य यह होता है कि नायिका अभी पुष्पावस्था (रजोदर्शन की अवस्था) को प्राप्त नहीं हुई, अतः कली के समान है। जब तक उसका अन्तःकोष (रतिअङ्ग) विकसित नहीं हो जाता तब तक तुम रतिसुख की लम्पटता के कारण इसे क्यों मसलते हो? 'पा' ('पावइ') का पाती है और 'मलेसि' का मसल देता है अर्थ करें तो यह व्यङ्ग्य भी निकलेगा कि यही नहीं अन्य वालाएँ भी तुमने इसी प्रकार पीड़ित की हैं। यह तुम्हारी आदत ही बन गयी है) 'जब तक कोष का विकास नहीं होता तब तक रतिसुख भी प्राप्त नहीं हो सकता'। यह जानकर भी मधुकर स्वभाव होने के कारण तुम इसी वीच में बेचारी नायिका को मर्दित कर डालते ही यह तुम्हारी रतिसुख के प्रति घोर लालसा ही तो है। उसकी पूर्ति करनी है तो तब तक हम जैसी पूर्णयौवना रतिचतुरा युवती का आश्रय लो।

यदि 'मलेसि' लोट् लकार के अर्थ में 'लट्' का प्रयोग है, जैसा कि बहुत से उदाहरणों में पाया जाता है, तो इस का अर्थ होगा—

'हे मकरन्द पान के लोभी भौंरे! जब तक मालती कलिका का कोष विकसित नहीं होता तब तक उसका आलिङ्गन मात्र कर।"

उपर्युक्त स्थिति में यह किशोरी नायिका के प्रति नायिका की सखी की उपदेशमयी उक्ति मानी जायेगी और नायक के प्रति इस से ध्वनित होगा कि 'जब तक यह कुछ युवति नहीं होती और इसके आन्तरिक अङ्गों का पूर्ण विकास नहीं हो जाता तब तक तुम इसके आलिङ्गन (आदि वाह्य सुरत) से ही आनन्द लेना तुम रस के लोलुप हो। कहीं अन्यथा कुछ न कर वैठो, इसलिये तुम से कहने और भी अधिक आवश्यकता प्रतीत होती है।

अकअण्णुअ तुज्झ कए पाउसराईसु जं मए खुण्ण ।
उप्पेक्खामि अलज्जिर अज्जवि तं गामचिक्खिल्लं ।। ४४ ।।

[अकृतज्ञ तव कृते प्रावृडरात्रिषु यो मया क्षुण्णः ।
उत्पश्याम्यलज्जाशील ! अद्यापि तं ग्रामपङ्कम् ।।]

अत्यन्त आसक्ति प्रकट करने के पश्चात् कुछ दिनों में ही प्रेम-सूत्र को शिथिल कर देने वाले नायक के प्रति नायिका कहती है—

अकृतज्ञ ! तुम्हारे कारण मैंने अनेक बार जो वर्षा की रात्रियों में खूँदा था, गाँव (की गलियों) का वह कीचड़ आज भी मुझे दीख पड़ रहा है ।"'

'वह कीचड़ अब भी दीख रहा है' से स्पष्ट प्रतीत होता है कि 'बहुत दिन नहीं गुजरे हैं' । मैं तुम्हारे लिये अनेक कष्ट सहती रही हूँ किन्तु तुम इतना जल्दी भूल गये ? तुम्हारी अकृतज्ञता इसी से स्पष्ट है । 'प्रावृड्रात्रियों में' से ध्वनित है कि वर्षा की उद्दीपन रात्रियों में तुमने अपनी काम-वासना शान्त करने के लिये ही मुझ से प्रेम-प्रदर्शन किया, तुम्हें सच्चा प्रेम नहीं था, तभी तो तुम इतने शीघ्र विरक्त (अथवा अन्यासक्त) हो गये । 'निर्लज्ज शब्द से अकृतज्ञता के साथ-साथ नायक की स्वार्थपरता भी व्यञ्जित है । "कीचड़ खूँदने' से "वर्षा की घोर अँधेरी रात्रियों में मार्ग की दुर्गमता की परवाह न करती हुई मैं तुम्हारे पास पहुँची हूँ" अर्थ व्यञ्जित है जिसमें आवेग का अधिक्य प्रतीत होता है ।

रेहइ गलन्तकेसक्खलन्तकुण्डलललन्तहारलआ ।
अद्धुप्पइआ विज्जाहरि व्व पुरुसाइरी बाला ।। ४६ ।।

[राजते गलत्केशस्खलत्कुण्डलललद्धारलता ।
अर्धोत्पतिता विद्याधरीव पुरुषायिता बाला ।।]

[यदि भ्रमसि भ्रम एवमेव कृष्ण सौभाग्यगर्वितो गोष्ठे ।
महिलानां दोषगुणौ विचारयितुं यदि क्षमोऽसि[1] ॥]

किसी सौभाग्यगर्वित युवक के प्रति गुणगर्विता नायिका अन्योक्ति द्वारा अपनी अभिलाषा प्रकट करती है ।

"हे कृष्ण ! यदि महिलाओं (उत्तम स्त्रियों) के गुण और दोषों के विवेक में समर्थ हो (और तब) अपने सौभाग्य पर गर्व करते हुए गोष्ठ (गायों के बाड़े) में विचरते हो तो विचरो (तुम्हारा विचरण करना उचित ही है) अर्थात् उत्तम कामिनियों के गुण दोषों को जानने वाले का ही सौभाग्यगर्व उचित कहा जा सकता है ।

"गोष्ठ में विचरण करने से व्यञ्जित है कि अभी तक तो तुम गँवार नायिकाओं में ही रहे हो, किसी गुणशालिनी नागरिका के अनुराग के आस्वादन से वञ्चित रहे हो और फूले फिरते हो अपने सौभाग्य पर ! यदि मुझ जैसी गुणशालिनी की कोई परख तुम्हें है, तो आओ, तुम्हारा स्वागत है । अन्यथा तुम्हारा सौभाग्य-गर्व व्यर्थ है ।

संझासमए जलपूरिअञ्जलिं विहडिएक्कवामअरं ।
गोरीअ कोसपाणुज्जअं व पमहाहिवं णमह ॥ ४८ ॥

[संध्यासमये जलपूरिताञ्जलिं विघटितैकवामकरम् ।
गौर्यै कोपपानोद्यतमिव प्रमथाधिपं नमत ॥]

मानिनी नायिका को मनाने से पराङ्मुख नायक को दूती अन्योक्ति द्वारा सामयिक कर्त्तव्य की शिक्षा देती है :—

संध्या (उपासना) के समय बाँये हाथ को पृथक् कर जल से भरी हुई अञ्जलि को (अर्थात् अर्धनारीश्वर के गौरी सम्बन्धी बायें हाथ को अलग कर केवल दक्षिण हाथ में आचमन के लिये गृहीत जल को) पीने के लिये उद्यत शिव को, जो ऐसे प्रतीत होते हैं मानो गौरी के (विश्वास के) लिये (कि तुम्हारे अतिरिक्त मैं अन्य किसी में आसक्त नहीं हूँ) कोपपान करने के लिये उद्यत हों, प्रणाम करो ।

अपनी सचाई का विश्वास दिलाने के लिये उस समय कोपपान के शास्त्रीय विधान का आश्रय लिया जाता था । याज्ञवल्क्य-स्मृति के अनुसार उग्रदेवताओं की पूजा करके और उनके स्नान का जल लेकर तथा अपनी निर्दोषता सुनाकर उसमें से तीन प्रसृति (पस्स=अञ्जलि) पीना चाहिये ।[2] यही कोपपान कहलाता है (शायद इस लिये कि दक्षिण हथेली के कोष (मध्य) में लेकर यह जल पिया जाता था)

---

१. पाठान्तर 'महिलाणं दोसगुणविचारखमो अज्जवि ण होसि'
(महिलाओं के दोष और गुण के विवेक में अब भी समर्थ नहीं हो ।)

२. देवानुग्रान् समभ्यर्च्य तत्स्नानोदकमाहरेत् ।
संश्राव्य पायेत् तस्माज्जलं तु प्रसृतित्रयम् ॥ (याज्ञवल्क्य-स्मृति)

हे मामि ! समान अक्षर वाले वचनों में भी (वास्तविक) प्रेम से ओत-प्रोत वचनों की विशेषता अन्य होती है और (किसी के) अनुरोध के कारण कहे गये (कृत्रिम) वचनों की अन्य।

वास्तविक स्नेह से प्रेरित होकर प्रेमपात्र के प्रति जो वचन कहे जाते हैं वे ही किसी के कहने से भी कृत्रिम भाव से कहे जा सकते हैं। अक्षरों और शब्दों में कोई अन्तर नहीं होगा किन्तु उनके भाव में महान् अन्तर होगा। स्नेह न होने पर भी धूर्त व्यक्ति धोखा देने के लिये मीठी बातें बनाया करता है किन्तु उनमें वह स्वर तथा रस नहीं होता जो वस्तुतः स्नेह भरे वचनों में होता है। प्रेम के अनुभवी इस बात को फौरन ताड़ भी जाते हैं। अतः मेरे अनुरोध के कारण ही यह (नायक) ऐसी बातें बना रहा है जबकि इसके हृदय में प्रेम का लेश भी नहीं" यह मामी के प्रति नायिका ने अभिव्यञ्जित किया है।

हिअआहिन्तो पसरन्ति जाइँ अण्णाइँ ताइँ वअणाइं।
ओसरसु किं इमेहिं अहरुत्तरमेत्तभणिएहिं ॥ ५१ ।

[हृदयेभ्यः प्रसरन्ति यान्यन्यानि तानि वचनानि।
अपसर किमेभिरधरोत्तर-मात्र-भणितैः ॥]

अन्यासक्त नायक से अपने प्रति मधुर वचन सुनकर खीझती हुई नायिका कहती है—

'जो वचन हृदय से निकलते हैं वे तो कुछ और ही होते हैं। धूर्त ! दूर हटो, इन लम्बी-चौड़ी बातों में क्या रखा है ?

व्यङ्ग्य यह है कि 'तुम्हारी बातें हृदय से नहीं आ रहीं, केवल मुख से निकल रही हैं। उनमें प्रेम नहीं है, बनावट है। 'कितव' संबोधन से "अन्य प्रेयसियों से तो हार्दिक प्रेम करते हो और मुझ से ऊपर की बातें ही बनाते हो। मैं तुम्हारे इस कपट-आचार को खूब समझती हूँ" नायक के प्रति नायिका का यह कोप ध्वनित होता है।

कहँ सा सोहग्गगुणं मए समं वहइ णिग्घिण तुमम्मि।
जीअ हरिज्जइ गोत्तं हरिऊण अ दिज्जए मज्झ ॥ ५२ ॥

[कथं सा सौभाग्यगुणं मया समं वहति निर्घृण ! त्वयि।
यस्या ह्रियते नाम हृत्वा च दीयते मह्यम् ॥]

अन्यासक्त नायक नायिका को अपनी चहेती के नाम से (अत्यासक्ति के कारण) पुकार उठा। इस पर नायिका ने उत्तर दिया :—"हे निर्दय ! जहाँ तक तुम्हारा सम्बन्ध है, जिसके नाम का अपहरण करके तुम मुझे दे रहे हो, वह मेरे समान सौभाग्यशालिनी कैसे हो सकती है ?

विपरीतलक्षणा से "वही मुझ से अधिक सौभाग्यशालिनी है जिसमें सतत तल्लीन

रहने के कारण मेरा नाम लेने के अवसर पर भी उसी का नाम तुम्हारे मुखारविंद से निकलता है।" प्रिय के प्रति यह उपालम्भ व्यञ्जित होता है। 'निर्घृण = निर्दय' शब्द से "धन्य है तुम्हारी निर्दयता कि तुम मुझ अनन्य-हृदया की उपेक्षा करके उसमें अनुरक्त हो। नाम लेने में तुम्हारा स्खलन इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है" इस अर्थ द्वारा नायक के प्रति कोपकी अभिव्यक्ति होती है।

सहि साहसु सब्भावेण पुच्छिमो किं असेसमहिलाणं ।
वड्ढन्ति करठिआ च्चिअ वलआ दइए पउट्ठम्मि ॥ ५३ ॥

[सखि कथय सद्भावेन पृच्छामः किमशेषमहिलानाम् ।
वर्धन्ते करस्थिता एव वलया दयिते प्रोषिते ॥]

प्रोषितपतिका मोहवश अपनी कृशता को भी न समझती हुई सखी से पूछती है:—

"सखि ! मैं सद्भाव से पूछती हूँ। बताओ, क्या प्रिय के प्रवास चले जाने पर सभी महिलाओं के कङ्कन हाथ में पड़े पड़े (पहिने हुए) ही बढ़ जाते हैं ? (या मेरे ही) 'सद्भाव से पूछती हूँ' से "कोई और बात मन में न समझ लेना" अर्थ की प्रतीति होती है। इससे स्पष्ट है कि नायिका विदग्धा है उसे मुग्धा नहीं कहा जा सकता। विरह के कारण वह उद्भ्रान्त अवश्य है। इसीलिये उपर्युक्त प्रश्न पूछती है। "करस्थित ही" वलय बढ़ जाते हैं" से व्यञ्जित है कि कृश होने पर हाथ से निकलते हुए वलयों को वह सौभाग्य-चिह्न होने के कारण सदैव सँभालकर पहने रही है। इससे नायक के प्रति उसका असाधारण प्रणय तथा मान सूचित होता है।

भमइ पलित्तइ जूरइ उक्खिविउं से करं पसारइ ।
करिणो पङ्कक्खुत्तस्स णेहणिअलाइआ करिणी ॥५४॥

[भ्राम्यति परितः खिद्यते उत्क्षेप्तुं तस्य करं प्रसारयति ।
करिणः पङ्कनिमग्नस्य स्नेहनिगडिता करिणी ॥]

विषम दशा में पड़े पति की उपेक्षा कर पर-पुरुष की ओर प्रवृत्त नायिका को समझाती हुई सखी कहती है :—

रइकेलिहिअणिअंसणकरकिसलअरुद्धणअणजुअलस्स ।
रुद्दस्स तइअणअणं पव्वइपरिउम्बिअं जअइ ॥ ५५ ॥

*[रतिकेलिहृतनिवसनकरकिसलयरुद्धनयनयुगलस्य ।
रुद्रस्य तृतीयनयनं पार्वतीपरिचुम्बितं जयति ॥]*

'चतुर वनिताएं सलज्ज अवस्था में भी प्रिय के प्रणय को उद्दीप्त करने की ही चेष्टाएँ किया करती हैं' यह सीख देती हुई सखी नायिका को पार्वती की चतुराई सुनाती है:—

"रतिकाल में रुद्र (शिव) द्वारा (पार्वती का) वस्त्र हटा देने पर पार्वती द्वारा (लज्जा के कारण) अपने कर किसलयों से उनके अन्य दो नेत्र को ढक कर चूमा हुआ तृतीय नेत्र सर्वोत्कृष्ट है (धन्य है)।

दो नयनों का आच्छादन हाथों द्वारा हुआ और तीसरे का चुम्बन द्वारा। आच्छादन कार्य दोनों जगह समान है लेकिन प्रथम दो नेत्रों का आच्छादन तो नेत्र ढकने के लिये सदा और सर्वत्र प्रसिद्ध उपकरण हाथों द्वारा हुआ और तीसरे का अलौकिक साधन चुम्बन द्वारा। अतः वही उत्कृष्ट है। समूचे शरीर में श्रेष्ठतम अङ्ग नयनों में भी श्रेष्ठ होने के कारण वह धन्य है।

इस शृंगारपरक गाथा में शम्भु के लिये रुद्र शब्द का प्रयोग अनुचित है क्योंकि वह उनके भीषण एवं प्रलयङ्कारी रूप का द्योतक है।

धावइ पुरओ पासेसु भमइ दिट्ठीपहम्मि संठाइ ।
णवलइकरस्स तुह हलिअउत्त दे पहरसु वराइं ॥ ५६ ॥

*[धावति पुरतः पार्श्वयोर्भ्रमति दृष्टिपथे संतिष्ठते ।
नवलतिकाकरस्य तव हलिकपुत्र! हे प्रहर वराकीम् ॥]*

खेल में नवीन शाखा से मारते हुए हलिकपुत्र के प्रहारों का बहाने बना बनाकर स्वागत करती हुई नायिका के अनुराग को समझकर कोई विदग्ध मित्र नायक से कहता है :—

"हे हलिकपुत्र ! तुम्हारे हाथ में नवीन टहनी को देखकर भी यह तुम्हारे आगे दौड़ती है, दाँये-बाँये घूमती है और तुम्हारी दृष्टि के मार्ग में (सामने) ही ठहर जाती है। इस बेचारी पर प्रहार तो करो।"

"बता, तेरा प्रियतम कौन है" इस प्रकार प्रियतम का नाम पूछते हुए नवीन लता से प्रिय व्यक्ति पर तब तक प्रहार किया जाता है जब तक वह अपने प्रिय का नाम बता नहीं देता। इसे भोजने सरस्वती-कण्ठाभरण में 'आम्रलतिका' क्रीडा कहा है। यह नायिका प्रहार करते हुए नायक से दूर नहीं भागती अपितु उसके आस-पास, दाँयें-बाँयें ही रहती है। उसकी दृष्टि से हटती भी नहीं और प्रिय का नाम भी नहीं बताती क्योंकि ऐसा करने से नायक प्रहार करना छोड़ देगा और

उसके आनन्द से वञ्चित हो जायेगी। इससे नायक के प्रति उसका अतिशय अनुराग व्यंजित है। 'वराकी' शब्द सूचित करता है कि यह तो तुम में अनुरक्त है और तुम इस पर प्रहार कर रहे हो। यह अनुचित है।

कारिममाणन्दवडं भामिज्जन्तं बहूअ सहिआहिं।
पेच्छइ कुमारीजारो हासुम्मिस्सेहिँ अच्छीहिं ॥ ५७ ॥

[कृत्रिमानन्दपटं भ्राम्यमाणं वध्वाः सखीभिः।
प्रेक्षते कुमारीजारो हासोन्मिश्राभ्यामक्षिभ्याम् ॥]

कुमारी अवस्था में ही नायिका का उपभोग करके उसके विवाह के पश्चात् पतिगृह पर भी अभिसार करने वाले प्रच्छन्न प्रेमी का वर्णन कोई रसिक अपने मित्र से कर रहा है:—

"वधू की सखियों द्वारा घुमाये जाते हुए कृत्रिम आनन्दपट (प्रथम समागम में रुधिर से चिह्नित वस्त्र) को कुमारीजार (वधू के कौमार्य में ही रमण कर चुकने वाला प्रच्छन्न नायक) हास-मिश्रित नेत्रों से देखता है।"

जार के हास का कारण है 'पराक्रम किसी का और यश किसी को'।

सणिअं सणिअं ललिअङ्गुलीअ मअणवडलाअणमिसेण।
बन्धेइ धवलवणवट्टअं व वणिआहरे तरुणी ॥ ५८ ॥

[शनकैः शनकैर्ललिताङ्गुल्या मदनपटलापनमिषेण।
बध्नाति धवलव्रणपट्टमिव व्रणिताधरे तरुणी ॥]

(सुरत-क्रीड़ा में प्रिय के दाँतों से) कटे अधर पर अँगुली से धीरे-धीरे मोम लगाने के बहाने मानों तरुणी नायिका उस पर श्वेत पट्टी बाँध रही है।

रइविरमलज्जिआओ अप्पत्तणिअंसणाओ सहस त्ति।
ढक्कन्ति पिअअमालिङ्गणेण जहणं कुलवहूओ ॥ ५९ ॥

[रतिविराम-लज्जिता अप्राप्त-निवसनाः सहसैव।
आच्छादयन्ति प्रियतमालिङ्गनेन जघनं कुलवध्वः ॥]

बाँध लेती है और इस प्रकार उसकी दृष्टि से अपने जघनस्थल को ओझल या आवृत कर देती है।

पाअडिअं सोहग्गं तम्बाए उअह गोट्ठमज्झम्मि।
दुट्ठवसहस्स सिङ्गे अक्खिउडं कण्डुअन्तीए ॥ ६० ॥

[प्रकटितं सौभाग्यं गवा पश्यत गोष्टमध्ये।
दुष्टवृषभस्य शृङ्गे अक्षिपुटं कण्डूयन्त्या ॥]

बहुत सी नायिकाओं में आसक्त उग्रस्वभाव नायक को भी अपने प्रेमपाश में बाँध रखने वाली नायिका का वर्णन इस अन्योक्ति के माध्यम से किया गया है।

देखो, इस गाय ने गोष्ठ के मध्य में दुष्ट (मरखने) विजार के सींग से अपने नेत्रपुट को खुजलाते हुए निज सौभाग्य का परिचय दिया है।

'गोष्ठ' (गायों का वाड़ा) शब्द से 'नारीमण्डल में इसने ही इस नायक को वश में किया है' अर्थ की अभिव्यक्ति और उससे नायक की बहुवल्लभता प्रतीत होती है। गौ शब्द सरल अथवा भोले का भी अर्थ देता है। अतः व्यञ्जना होगी कि ऊपर से सीधी-सादी सी इस नायिका ने इतना विषमशील व्यक्ति वश में कर लिया! 'दुष्ट वृषभ' पद से नायक की स्वेच्छाचारिता और स्त्रीलम्पटता व्यङ्ग्य है और अत्यन्त तीक्ष्ण सींग पर अत्यन्त कोमल नयनपुट को खुजलाने से स्नेह का आधिक्य व्यञ्जित है।

उह संभमविक्खित्तं रमिअव्वअलेहलाएँ असईए।
णवरङ्गअं कुडङ्गे धअं व दिण्णं अविणअस्स ॥ ६१ ॥

[पश्य संभ्रमविक्षिप्तं रन्तव्यकलम्पटया असत्या।
नवरङ्गकं कुञ्जे ध्वजमिव दत्तम विनयस्य ॥]

किसी नायिका की सुरतलम्पटता का वर्णन करता हुआ नागरिक अपने मित्र से कहता है :—

"देखो सुरतरस की लम्पट कुलटा ने जल्दबाजी में (संभ्रमवश) अपना नीरङ्गी दुपट्टा कुञ्ज के ऊपर डाल दिया है, जो ऐसा लगता मानो उसने इस कुञ्ज पर अविनय का झण्डा गाड़ दिया है।"

हत्थप्फंसेण जरग्गवी वि पल्हुहइ दोहअगुणेण।
अवलोअणपल्हुइरि पुत्तअ पुण्णेहिँ पाविहिसि ॥ ६२ ॥

[हस्तस्पर्शेन जरगद्व्यपि प्रस्नौति दोहदगुणेन।
अवलोकनप्रसवनशीलां पुत्रक! पुण्यैः प्राप्स्यसि ॥]

नायिका के अनुराग का वर्णन कर वृद्धा दूती नायक को उससे मिलाने के

प्रयत्न में कहती है :—

दुहने वाले के गुण के कारण उसके हाथ के स्पर्श से (थन सहलाने से) तो बूढ़ी गाय भी पँवास जाती है (थनों में दूध ले आती है) पर बेटा ! दृष्टिमात्र से ही प्रस्तुत हो जाने वाली बड़े भाग्यों से मिलती है।"

व्यङ्ग्यार्थ यह है कि यह सुन्दरी तुम्हारे गुणों को जाने बिना ही दर्शनमात्र से तुम पर अनुरक्त हो गयी है। 'प्रस्नवशीला' (पह्णुइरि) शब्द से नायिका का सात्त्विक स्वेद व्यञ्जित है। नायक को देखते ही वह स्नेह का अविर्भाव हो जाने से स्वेद-क्लिन्न हो गयी। 'पुत्रक' शब्द से वक्त्री दूती की नायक के प्रति सहानुभूति, अपना दीर्घ अनुभव तथा विश्वसनीयता व्यञ्जित है। 'हस्त-स्पर्श' से कुचमर्दन, संवाहन आदि वाह्यरति के प्रकार व्यञ्जित हैं।

मसिणं चङ्कम्मन्ती पए पए कुणइ कीस मुहभङ्गं।
णूणं से मेहलिआ जहणगअं छिवइ णहवन्तिं ॥ ६३ ॥

*[मसृणं चङ्क्रम्यमाणा पदे पदे करोति किमिति मुखभङ्गम्।
नूनं तस्या मेखलिका जघनगतां स्पृशति नखपङ्क्तिम् ॥]*

मन्द-मन्द चलती हुई तथा पग-पग पर वेदना-सूचक मुख-मुद्राएँ बनाती हुई नायिका को देखकर दो मित्रों के परस्पर प्रश्नोत्तर इस गाथा में संकलित हैं पूर्वार्ध प्रश्न है और उत्तरार्ध उसका उत्तर।

धीरे-धीरे पग रख कर चलती हुई यह बाला पग-पग पर मुँह क्यों बनाती है? अवश्य ही इसकी मेखला (रतिकालीन सरस) नखचिह्नों का स्पर्श कर रही है।

'मेखलिका' शब्द से मेखला की लघुता व्यञ्जित है और लघु मेखला के स्पर्श से भी नखचिह्नों में पीडा का होना उनकी आर्द्रता का सूचक है जिससे स्वल्प काल पहले ही नायिका ने रति का आस्वाद लिया है' यह ध्वनि निकलती है।

संवाहणसुहरसतोसिएण देन्तेण तुह करे लक्खं।
चलणेण विक्कमाइत्तचरिअं अणुसिक्खिअं तिस्सा ॥ ६४ ॥

*[संवाहनसुखरसतोषितेन ददता तव करे लाक्षाम्।
चरणेन विक्रमादित्यचरितमनुशिक्षितं तस्याः ॥]*

उस स्थिति में अर्थ होगा कि अपने वीरों द्वारा शत्रु का संवाधन (गिरफ्तारी) करने पर विक्रमादित्य उन्हें लाख-लाख मुद्राएँ पारितोषिक दे डालते थे। उसी प्रकार तुम्हारी चहेती के चरण ने भी तुम्हारी संवाहन (सहलाने की) क्रिया से संतुष्ट होकर तुम्हारे हाथ में लक्ख (लाक्षारस) दे दिया और विक्रमादित्य के चरित का अनुकरण किया। व्यङ्ग्य यह है कि तुम उसके (सपत्नी के) चरण सहलाते हो और उनका महावर से प्रसाधन करते हो यह तुम्हारे हाथ में लगे हुए लाक्षारस से मैं ताड़ गयी हूँ। 'संतुष्ट' शब्द से चरण-सेवा की पूर्णता सूचित होती है।

पाअपडणाणँ मुद्धे रहसवलामोडिचुम्बिअव्वाणं ।
दंसणमेत्तपसण्णे चुक्कासि सुहाणँ वहुआण ॥ ६५ ॥

[पादपतनानां मुग्धे ! रभसवलात्कारचुम्बितव्यानाम् ।
दर्शनमात्रप्रसन्ने ! भ्रष्टासि सुखानां बहुकानाम् ॥]

नायक के मनुहारों और चरण-पतन आदि के विना दर्शन मात्र से ही मान त्याग कर देने वाली नायिका को सीख देती हुई सखी दीर्घ और गुरु मान के लाभ वतलाती है :—

"हे दर्शनमात्र से ही प्रसन्न हो जाने वाली ! मुग्धे ! तुम (प्रियतम का तुम्हारे) चरणों में गिरना, अचानक ही वेग और वल के साथ चूम लेना आदि वहुत से सुखों से वञ्चित हो।" मुग्धे संवोधन से व्यंजित है कि तुम अपने लाभ को भी न समझ सकने के कारण भोली ही नहीं मूर्खा भी हो। कालिदास ने थोड़ी सी ही वस्तु के कारण वहुत छोड़ने के इच्छुक को विचारमूढ वताया है (अल्पस्य हेतोर्वहु हातुमिच्छन् विचारमूढः प्रतिभासि मे त्वम्) नायिका केवल दर्शन पाकर ही उपर्युक्त सरभस चुम्वन आदि से वञ्चित रहना पसन्द करने के कारण मूर्खा नहीं तो क्या है ?

दे सुअणु पसिअ एह्णि पुणो वि सुलहाइँ रूसिअव्वाइं ।
एसा मअच्छि मअलञ्छणुज्जला गलइ छणराई ॥ ६६ ॥

[हें सुतनु ! प्रसीदेदानीं पुनरपि सुलभानि रोपितव्यानि ।
एषा मृगाक्षि ! मृगलाञ्छनोज्ज्वला गलति क्षणरात्रिः ॥]

मानिनी प्रिया को मनाता हुआ प्रिय कह रहा है :—

"हे सुतनु ! अव प्रसन्न हो जाओ। रूठने (के कार्य) तो फिर भी सुलभ हैं, किन्तु हे मृगाक्षि। मृगलाञ्छन (चन्द्रमा) (की चाँदनी) से उज्ज्वल यह आनन्दमयी रात्रि निकली जा रही है।" (यह फिर कभी हाथ नहीं आयेगी। अतः रोप नहीं, रमण करो, यह व्यङ्ग्य स्पष्ट है)।

आवण्णाइँ कुलाइं दो व्विअ जाणन्ति उण्णइं णेउं ।
गोरीअ हिअअदइओ अहवा सालाहणणरिन्दो ॥ ६७ ॥

[आपन्नानिआपर्णानिकुलानि द्वावेव जानीत उन्नतिं नेतुम् ।
गौर्या हृदयदयितोऽथवा शालिवाहननरेन्द्रः ॥]

प्राकृत 'आवण्णाणि' के संस्कृत रूप 'आपन्नानि' (दुखी) और 'आपर्णानि' (अपर्णा=पार्वती, से संबद्ध) दो हो सकते हैं। दोनों ही यहाँ अभीष्ट हैं। संस्कृत छाया में यह श्लेष नहीं आ सकता।

आवण्ण (पार्वती के तथा दीनों के) कुलों को उन्नत करना दो ही व्यक्ति जानते हैं :—गौरी के प्रियतम (शिव) तथा शालिवाहन नरेन्द्र।

अर्थात् गौरी के कुलों को शिव ने उन्नत किया और दीन-दुखियों के कुलों को शालिवाहन राजा हाल ने।

णिक्कण्डदुरारोहं पुत्तअ मा पाडलिं समारुहसु ।
आरूढणिवडिआ के इमीअ ण कआ हआसाए ॥ ६८ ॥

[निष्काण्डदुरारोहां पुत्रक मा पाटलिं समारोह ।
आरूढनिपतिताः के अनया न कृता हताशया ॥]

किसी अधम नायिका की ओर उन्मुख होते हुए नायक को उससे विरत करती हुई वृद्धा दूती कहती है :—

"बेटा निष्काण्ड (तने से रहित) होने के कारण अत्यन्त दुरारोह पाटलि (वृक्ष) पर मत चढ़। इस कम्बख्त से कौन चढ़ते ही नहीं गिर गये ?

व्यङ्ग्यार्थ यह है कि भीषण व्यक्तियों की चहेती होने के कारण जिस से रमण करने के अवसर (काण्ड) ही नहीं मिल सकते, ऐसी इस नायिका के प्रेम में मत पड़। अनेक नायक इस के चक्कर में पड़कर व्यर्थ ही अपयश के भागी बन गये।

'पुत्रक' शब्द से दूती की अनुभवसंपन्नता तथा विश्वसनीयत व्यक्त है।

गामणिघरम्मि अत्ता एक्क च्चिअ पाडला इह ग्गामे ।
बहुपाडलं च सीसं दिअरस्स ण सुन्दरं एअं ॥ ६९ ॥

[ग्रामणिगृहे श्वश्रु ! एकैव पाटला इह ग्रामे ।
बहुपाटलं च शीर्षं देवरस्य न सुन्दरमेतत् ॥]

दिये हैं जिन्हें वह बड़े प्रेम और मान के साथ सिर पर धारण किये हुए है। शासक के घर में ही अभिसार करना भयावह होता है। इसलिये उसे रोक दो।'

अण्णाणँ वि होन्ति मुहे पम्हलधवलाइँ दीहकसणाइं।
णअणाइँ सुन्दरीणं तह वि हु दट्ठुं ण जाणन्ति॥ ७० ॥

*[अन्यासामपि भवन्ति मुखे पक्ष्मलधवलानि दीर्घकृष्णानि।
नयनानि सुन्दरीणां तथापि खलु द्रष्टुं न जानन्ति॥]*

नायिका के नेत्र और चितवन के सौन्दर्य-वर्णन से नायक को लुभाने का प्रयत्न करती हुई दूती कहती है:—

"सुन्दर पलकों से युक्त, निर्मल अथवा श्रेष्ठ, आयत और कजरारे नेत्र तो अन्य नायिकाओं के मुख पर भी हैं, फिर भी वे (ऐसा) देखना नहीं जानतीं।"

"सहज सुन्दर नेत्रों का सौन्दर्य फीका है यदि उनमें कटाक्ष, भ्रूविलास आदि की विदग्धता नहीं है। यह नायिका नयनों के सौन्दर्य के अतिरिक्त उनके व्यापार में भी चतुर है। "देखना नहीं जानतीं" से ध्वनित है कि अन्य युवतियाँ आयत नयनों से भी भली प्रकार देख नहीं पातीं। तभी तो वे ऐरे गैरे युवकों पर रीझ जाती हैं। इस सुन्दरी को देखना आता है,—इसे मनुष्य की परख है—इसीलिये केवल एक बार देख कर ही वह तुम्हारे गुणों को समझ गयी और तुम पर मुग्ध हो गयी" यह नायक के प्रति व्यङ्ग्य है।

हंसेहिँ व तुह रणजलसमअभअचलिअविहलवक्खेहिं।
परिसेसिअपोम्मासेहिँ माणसं गम्मइ रिऊहिं॥ ७१ ॥

*[हंसैरिव तव रणजलदसमयभयचलितविह्वलपक्षैः।
परिशेषितपद्माशैर्मानसं गम्यते रिपुभिः॥]*

किसी राजा की प्रशस्ति में कवि कहता है:—

रणरूपी जलद-समय (वर्षा ऋतु) के भय से चञ्चल और विह्वल पक्ष (सहायक-गण) वाले तुम्हारे शत्रु पद्मा (लक्ष्मी) की आशा त्यागकर हँसों के समान (तुम्हारे) मानस (मन) का अनुगमन करते हैं। हंस भी रण (गर्जनध्वनि) से युक्त मेघों के समय में भय से चञ्चल और विह्वल पक्ष (पंख) होकर पद्मों (कमलों) की आशा का परित्याग कर मानस (मानसरोवर) को गमन करते हैं। भाव यह है कि शत्रु तुमसे युद्ध करने का साहस न करके तुम्हारे वशवर्ती हो जाते हैं और शुद्धबुद्धि से तुम्हारी सेवा करते हैं।

दुग्गअघरम्मि घरिणी रक्खन्ती आउलत्तणं पइणो।
पुच्छिअदोहलसद्धा पुणो वि उअअं चिअ कहेइ॥ ७२ ॥

रह गये हैं, किन का व्रत खण्डित नहीं हुआ है और किनकी विशाल संपत्ति अभी लुप्त नहीं की है।

जिन लोगों के ऊपर वे अपने उपर्युक्त चमत्कार कर चुकी हैं, उनकी संख्या इतनी अधिक है कि गणना असंभव ही है अतः जो थोड़े बहुत बच रहे हैं, उन्हीं की गणना का उल्लेख किया गया है। इससे वाराङ्गना युवतियों की सर्वमोहकता व्यञ्जित है। अथवा वे समूचे जगत् को मोह लेना चाहती हैं। जिन पर उनक का चक्र चल चुका है उनके गिनने की तो आवश्यकता ही नहीं, जो अभी चक्र में नहीं आ सके उनका ही हिसाब रखना है। नखचिह्नों की गणनीयता से उनका स्पष्ट दिखाई देना और उससे वेश्याओं का कामुकमोहन स्वभाव व्यञ्जित है।

विरहेण मन्दरेण व्व हिअअं दुद्धोअहिँ व्व महिऊण।
उम्मूलिआइँ अव्वो अम्हं रअणाइँ व सुहाइं॥ ७५॥

[विरहेण मन्दरेणेव हृदयं दुग्धोदधिमिव मथित्वा।
उन्मूलितानि कष्टमस्माकं रत्नानीव सुखानि॥]

प्रवास से लौटते हुए प्रिय से विरह में अनुभूत अपने कष्टों का वर्णन नायिका चतुराई के साथ करती है—

"मन्दराचल सदृश विरह ने क्षीर सागर के सदृश हमारे हृदय को मथकर हमारे रत्नसदृश सुखों को निकाल लिया। यह बड़े कष्ट की बात है।

इस पूर्णोपमा द्वारा व्यञ्जित है कि समुद्र से जो रत्न निकाल लिये गये वे फिर लौट कर नहीं आये। इसी प्रकार हमारे सुख के जो अवसर वियोग में निकल गये वे फिर हाथ न आयेंगे। अतः आगे आपको फिर कभी विदेश जाकर मिलन-सुख के अवसर नहीं खोने चाहियें। यह नायक के प्रति व्यञ्जित है।

उज्जुअरए ण तूसइ वक्कम्मि वि आअमं विअप्पेइ।
एत्थ अहव्वाएँ मए पिए पिअं कहँ णु काअव्वं॥ ७६॥

[ऋजुकरते न तुष्यति वक्रेऽप्यागमं[1] विकल्पयति।
अत्राभव्यया मया प्रिये प्रियं कथं नु कर्तव्यम्॥]

रतिकेलि में सर्वदा प्रिय के अनुकूल ही कार्य करना चाहिए, यह उपदेश देने वाली सखी के प्रति नायिका अपनी विषमता कहती है—

ऋजुक (हाव-भाव आदि से रहित सरल) रति से वह संतुष्ट नहीं होता और वक्र रति (विशेष हाव-भाव चुम्बन-आलिङ्गन आसन आदि से भरपूर) करूँ तो

१. 'आगमं' (आअमं) के स्थान में कहीं-कहीं 'आशयम्' (आसयं) पाठ भी है। उस स्थिति में इसका अर्थ होगा "वक्र रति करूँ तो वह आशय (अपना मनोभाव) ही बदल देता है।" तात्पर्यार्थ वही है कि सन्देहशील हो उठता है।

(इस प्रकार की रति के) आगम (प्राप्ति) के विषय में सन्देह करता है (इसने यह रतिविदग्धता कहाँ से पायी ? किससे अनुभव प्राप्त किया ? आदि सन्देह करता है) ऐसे (रतिविदग्ध किन्तु संदेहशील) प्रिय के प्रति मैं अभागी कैसे मनोऽनुकूल (रति) करूँ ?

बहुविहविलासरसिए सुरए महिलाणँ को उवज्झाओ ।
सिक्खइ असिक्खिआइँ वि सव्वो णेहाणुबन्धेण ।। ७७ ।।

[बहुविधविलासरसिके सुरते महिलानां क उपाध्यायः ।
शिक्ष्यते अशिक्षितान्यपि सर्वः स्नेहानुबन्धेन ।।]

नायिका की रतिविदग्धता देखकर नायक के शङ्कित हृदय को विश्वास दिलाती हुई सखी नायक से कहती है—

भिन्न-भिन्न प्रकार के विलासों से रसभरे (रसिक) सुरत की शिक्षा देने में महिलाओं का शिक्षक होता ही कौन है ? प्रणय का आग्रह ही उन्हें सब कुछ अनसीखी बातें सिखा देता है । 'किसी पुरुष के संपर्क से यह कामकला-कुशल नहीं हुई । रतिवैदग्ध्य तो प्रेम के आधिक्य से स्वतः ही आविर्भूत हो जाता है' । यह नायक के प्रति व्यङ्ग्य है ।

वण्णवसिए विअत्थसि सच्चं विअ सो तुए ण संभविओ ।
ण हु होन्ति तम्मि दिट्ठे सुत्थावत्थाइँ अङ्गाइं ।। ७८ ।।

[वर्णवशिते विकत्थसे सत्यमेव स त्वया न संभावितः ।
न खलु भवन्ति तस्मिन् दृष्टे स्वस्थावस्थान्यङ्गानि ।।]

'मैं तुम्हारे रतिकौशल पर मुग्ध हूँ, तुम्हें कभी न भूल सकूँगा' यह चाटुकारी करते हुए नायक को नायिका उत्तर देती है—

"विवाह का दिन समीप आते ही नववधू के सङ्गम के लिये उत्सुकहृदय वर के मन में प्रथम गृहिणी की रतिक्रीडा ठहरती ही नहीं।"

"नवीन रस की प्राप्ति की आशामात्र से ही पुरुष पूर्वानुभूत दीर्घ सुखों को भी भुला देते हैं, प्राप्त होने पर तो कहना ही क्या ?" उपालम्भ ध्वनित है। पूर्वार्ध में 'नववधू' और उत्तरार्ध में 'गृहिणी (घर की मालकिन) शब्दों से 'अपरिचित-हृदया नववधू की आशा मात्र से गृहस्वामिनी, की उत्कृष्ट रति को भी विस्मृत कर देते हैं" यह घोर उपालम्भ व्यञ्जित होता है। 'संतिष्ठते' (अच्छी प्रकार रुकना) से ध्वनित है कि यदि थोड़ी बहुत स्मृति नववधू के प्रथम समागम के समय बनी भी रही तो वह स्थायी तो बिल्कुल नहीं होती।

जइ लोकणिन्दिअं जइ अमङ्गलं जइ विमुक्कमज्जाअं।
पुप्फवइदंसणं तह वि देइ हिअअस्स णिव्वाणं ॥ ८० ॥

[यदि लोकनिंदितं यद्यमङ्गलं यदि विमुक्तमर्यादम्।
पुष्पवतीदर्शनं तथापि ददाति हृदयस्य निर्वाणम् ॥]

कोई अतिरसिक महानुभाव अपने मित्र से कहते हैं—

रजस्वला का दर्शन चाहे लोकनिन्दित, अमङ्गल तथा मर्यादाहीन हो, फिर भी हृदय को तो अतिशय आनन्द (निर्वाण !) देता ही है।

जइ ण छिवसि पुप्फवइँ पुरओ ता कीस वारिओ ठासि।
छित्तोसि चुलचुलन्तेहिं धाविऊण अम्ह हत्थेहिं ॥ ८१ ॥

[यदि न स्पृशसि पुष्पवतीं पुरतस्तत्किमिति वारितस्तिष्ठसि।
स्पृष्टोऽसि चुलचुलायमानैर्धावित्वास्माकं हस्तैः ॥]

लोकमर्यादा के कारण अलग जाने किन्तु आसक्ति के कारण पास आने की दुविधा में फँसे नायक को उपालम्भ देती हुई रजस्वला कहती है—

"अगर रजस्वला का स्पर्श नहीं करते तो न करो; मेरे द्वारा स्पर्श से निवारित होकर भी सामने क्यों खड़े हो। (स्पर्श) के लिये खुजलाते हुए हमारे हाथ दौड़कर तुम्हें छू लेंगे।

उज्जागरअकसाइअगुरुअच्छी मोहमण्डणविलक्खा।
लज्जइ लज्जालुइणी सा सुहअ सहीहिँ वि वराई ॥ ८२ ॥

[उज्जागरककषायितगुरुकाक्षी मोघमण्डनविलक्षा।
लज्जते लज्जाशीला सा सुभग सखीभ्योऽपि वराकी ॥]

मुग्धा प्रोषितपतिका की सखी नायक के पास यह संदेश भेजती है कि:—

"हे सुभग ! जागने के कारण सूजी हुई आँखों वाली तथा (सखियों के आग्रह से धारण करने पर भी तुम्हारे वियोग के कारण) व्यर्थ प्रसाधन (शृङ्गार) वाली लजीली वह बेचारी तो सखियों से भी लजाती है।"

'यद्यपि प्रसाधन आदि के द्वारा ऊपर से वह वियोग-जन्य दशा को छिपाना चाहती है किन्तु जागते रहने के कारण उसकी आँखें सूज गई हैं जिससे विरह-दशा प्रकट हो ही जाती है और वह लज्जा के कारण और भी अधिक खिन्न होती है', तथा 'वराकी' (बेचारी) शब्द से दैन्य ध्वनित होता है और सब कुछ मिलाकर विरह की अधिकता।

ण वि तह अइगरुएण वि तम्मइ हिअए भरेण गब्भस्स।
जह विपरीअणिहुअणं पिअम्मि सोह्णा अपावन्ती ॥ ८३ ॥

[नापि तथातिगुरुकेणापि ताम्यति हृदये भरेण गर्भस्य।
यथा विपरीतनिधुवनं प्रिये स्नुषा अप्राप्नुवती ॥]

गर्भभार से क्लान्त नायिका को देखकर सखी परिहास में दूसरी सखी से बोली:—

वधू गर्भ के गुरु भार से इतनी खिन्न नहीं होती जितनी विपरीतरति (का आनन्द) न पाकर प्रिय के प्रति हृदय में खिन्न होती है।

अगणिअजणाववाअं अवहत्थिअगुरुअणं वराईए।
तुह गलिअदंसणाए तीए वलिऊण चिरं रुण्णं ॥ ८४ ॥

[अगणितजनापवादमवहस्तितगुरुजनं वराक्या।
तव गलितदर्शनया तया वलित्वा चिरं रुदितम् ॥]

[हृदयं हृदये निहितं चित्रालिखितेव तव मुखे दृष्टिः ।
आलिङ्गन-रहितानि केवलं क्षीयन्तेऽङ्गानि ॥]

प्रोषितपतिका पति को पत्र में लिखती है:—

"मेरा हृदय तुम्हारे हृदय में है । तुम्हारे मुख पर मेरी दृष्टि चित्र लिखित जैसी जमी रहती है । केवल आलिङ्गन से वञ्चित अङ्ग ही क्षीण होते जा रहे हैं ।"

'मेरा हृदय तुम्हारे हृदय में' से मेरी विरह वेदना को तुम्हारा हृदय जानता है व्यञ्जित है । एकाग्रचित्त होने के करण प्रतिपल आपकी मूर्ति मेरे नयनों के समक्ष रहती है । इस प्रकार हृदय और मुख को कोई परेशानी नहीं, क्योंकि उन्हें तुम्हारा साथ किसी न किसी रूप में प्राप्त है किन्तु अङ्गों को आलिङ्गन प्राप्त नहीं है अतः वे सूखते जा रहे हैं । 'हृदय का प्रिय के पास होना, प्रिय की मूर्ति सदा दिखाई देना, शरीर का क्षीण होना आदि से उत्कण्ठा का आधिक्य व्यञ्जित है । जिस व्यक्ति का हृदय यहाँ नहीं रहा और शरीर क्षीण हो रहा है, उसका जीवन कितने क्षण का ? इसलिये यदि मुझे जीवित देखना चाहते हो, तो फौरन आओ ।

अहअं विओअतणुई दुसहो विरहाणलो चलं जीअं ।
अप्पाहिज्जउ किं सहि जाणसि तं चेव जं जुत्तं ॥ ८६ ॥

[अहं वियोगतन्वी दुःसहो विरहानलश्चलं जीवम् ।
अभिधीयतां किं सखि जानासि त्वमेव यद्युक्तम् ॥]

प्रोषितपतिका प्रिय को शीघ्र बुलाने के उद्देश्य से मर्मज्ञ सखी से कहती है:—

मैं वियोग में सूख गयी हूँ, विरहानल असह्य है और प्राण चंचल । सखि ! मैं क्या कहूँ ? जो कुछ करना उचित है वह तू स्वयं जानती है ।

'सूखी हुई वस्तु को आग तेजी से जला देती है उस पर यदि वायु भी चल रहा हो तो फिर कहना ही क्या । नायिका की तनुलता सूख गयी है, फिर विरह के असह्य अनल को उसे समाप्त करने में कितना समय लगेगा ? विशेषतः उस अवस्था में जबकि चंचल प्राणवायु भी चल रहा हो । ऐसी चलाचली की दशा में संदेश ही क्या देना ? शीघ्रातिशीघ्र प्रियतम को बुलवा लो' । यह सखी के प्रति व्यङ्ग्य है ।

उग्रग्रं लहिउण उत्ताणिग्राणणा होन्ति के वि सविसेसं ।
रित्ता णमन्ति सुइरं रहट्टघडिग्र व्व कापुरिसा ॥ ९० ॥

*[उदकं लब्ध्वा उत्तानिताननना भवन्ति केऽपि सविशेषम् ।
रिक्ता नमन्ति सुचिरं रहट्टघटिका इव कापुरुषाः ॥]*

'दुर्जन व्यक्ति स्वल्प लाभ से ही संतुष्ट हो जाता है' ग्रन्योक्ति के द्वारा इस भाव को प्रकट करता हुग्रा कवि कहता है—

'रहट के छोटे-छोटे घटों के समान तुच्छ पुरुष रीते होने पर तो देर तक झुके रहते हैं ग्रौर उदक (निःसार, हल्की वस्तु) प्राप्त करके ग्रधिक तन कर चलने लगते हैं। ग्रर्थात् जिस प्रकार रहट के क्षुद्र घड़े खाली होने पर नीचा मुँह किये हुए पानी की ग्रोर चले जाते हैं किन्तु पानी भर जाने पर सीधे तन कर ग्राते हैं उसी प्रकार क्षुद्र व्यक्ति भी, जब पास में कुछ नहीं होता तो स्वार्थवश झुकते हैं किन्तु ग्रल्प सी वस्तु भी प्राप्त करके बड़े ग्रकड़ कर चलने लगते हैं।

भग्गपिग्रसंगमं केत्तिग्रं व जोह्लाजलं णहसरम्मि ।
चन्दग्ररपणालणिज्झरणिवहपडन्तं ण णिट्ठाइ ॥ ९१ ॥

*[भग्नप्रियसंगमं कियदिव ज्योत्स्नाजलं नभः सरसि ।
चन्द्रकरप्रणालनिर्झरनिवहपतन्न निस्तिष्ठति ॥]*

चन्द्रमा की किरणों से सर्वत्र प्रकाश फैल जाने के कारण ग्रभिसार में ग्रसफल कृष्णाभिसारिका सखी से कहती है—

"ग्राकाश रूपी सरोवर में, प्रिय-समागम का ग्रवरोध कर देने वाला ज्योत्स्ना रूपी जल कितना है कि चन्द्रमा की किरण रूपी परनालों के निर्झर-समूह के सदृश गिरता हुग्रा समाप्त ही नहीं होता।" ग्रर्थात् यदि ज्योत्स्ना रूपी जल समाप्त हो जाय तो मैं ग्रभिसार करूँ।' जल बरसते में जैसे यातायात बन्द हो जाने के कारण प्रिय-मिलन ग्रवरुद्ध हो जाता है उसी प्रकार ग्रब भी।

सुन्दरजुग्राणजणसंकुले वि तुह दंसणं विमग्गन्ती ।
रण्ण व्व भमइ दिट्ठी वराइग्राए समुव्विग्गा[1] ॥ ९२ ॥

*[सुन्दरयुवजनसंकुलेऽपि तव दर्शनं विमार्गयन्ती ।
ग्ररण्य इव भ्रमति दृष्टिर्वराकिकायाः समुद्विग्ना ॥]*

नायक के प्रति नायिका का ग्रनुराग सूचित करती हुई दूती कहती है—

१. कहीं-कहीं 'समुव्विग्गा' के स्थान में 'ग्रणुव्विग्गा' पाठ है जिससे ग्रर्थ होगा "तुम्हारे दर्शन के लिये कौतुकवश उसकी दृष्टि ग्रनुद्विग्न होकर घूमती है।"

"तुम्हारा दर्शन खोजती हुई बेचारी नायिका की अत्यन्त व्याकुल दृष्टि सुन्दर युवकों की भीड़ में भी वन में घूमती सी प्रतीत होती है।

"अरण्य शब्द से भयानकता व्यञ्जित है। स्वरूपवान् युवक भी उसकी दृष्टि में रुचिकर नहीं प्रतीत होते। 'वराकिका' में अनुकम्पा अर्थ में कन् प्रत्यय है जिससे नायिका की दीनता और दयनीयता व्यञ्जित है। 'दर्शन खोजने' से दर्शन की दुर्लभता व्यङ्ग्य है। नायक नायिका की ओर जाकर भी नहीं फटकता। इसलिये दर्शन भी दुर्लभ है। दर्शन-दौर्लभ्य से नायिका की दयनीयता और भी अधिक पुष्ट हो जाती है। 'भ्रमति' से निश्चेष्टता के अभाव के कारण दर्शन-औत्सुक्य की प्रतीति होती है।

अइकोवणा वि सासू रुआविआ गअवईअ सोह्लाए।
पाअपडणोण्णआए दोसु वि गलिएसु वलएसु ॥ ९३ ॥

[अतिकोपनापि श्वश्रू रोदिता गतपतिकया स्नुषया।
पादपतनावनतया द्वयोरपि गलितयोर्वलययोः ॥]

प्रोपितपतिका का वर्णन करता हुआ कवि कहता है—

(सास की) चरणवन्दना के लिये झुकी हुई प्रोषितपतिका बहू के दोनों ही वलय (हाथों से) निकल पड़े। तब तो उसकी अत्यन्त कोपशीला (क्रोध करने वाली) सास भी रो पड़ी।

"कोपनशीला (निष्ठुर) सास भी नायिका की दुर्बलता देखकर रो पड़ी" इससे नायिका की अत्यन्त कृशता और दयनीयता व्यङ्ग्य है।

रोवन्ति व्व अरण्णे दूसहरइकिरणफंससंतत्ता।
अइतारझिल्लिविरुएहिँ पाअवा गिम्हमज्झह्ले ॥ ९४ ॥

[रुदन्तीवारण्ये दुःसहरविकिरणस्पर्शसंतप्ताः।
अति तारझिल्लीविरुतैः पादपाः ग्रीष्ममध्याह्ने ॥]

वन में वृक्ष गर्मी की दोपहरी में सूर्य की असह्य किरणों के स्पर्श से संतप्त होने के कारण मानो झींगुरों के अत्यन्त ऊँचे शब्द के रूप में रुदन कर रहे हैं।

लोभी होने के कारण पहले से ही कमलों में वन्द भ्रमरवृन्द की झंकार (गुञ्जन) के साथ खिल रहा है।

गोत्तक्खलनं सोऊण पिअअमे अज्ज तीअ खणदिअहे।
वज्झमहिसस्स माल व्व मण्डणं उअह पडिहाइ॥ ९६॥

[गोत्रस्खलनं श्रुत्वा प्रियतमेऽद्य तस्याः क्षणदिवसे।
वध्यमहिषस्य मालेव मण्डनं पश्यत प्रतिभाति॥]

प्रिय के मुख से भ्रमवश अन्य नायिका का नाम सुन कर रूठी हुई नायिका को नायक शीघ्र मना ले यह संकेत करती हुई दूती उसके मित्र से कहती है :—

प्रियतम के मुख से गोत्र-स्खलन (भ्रमवश अन्य सुन्दरी का नाम) सुनकर आज उत्सव के दिन भी उसे अपना शृङ्गार (मण्डन) बलि के लिये प्रस्तुत भैंसे की माला के समान प्रतीत हो रहा है।

"वह तुम में इतनी अनुरक्त है कि तुम्हारे मुँह से अन्य कामिनी का नाम सुन कर ही मरणासन्न हो गयी है" तथा "वह स्वाभिमानिनी ईर्ष्यावश कहीं मर न जाये। यह अनिष्ट होने से पहले ही उसे मना लो" यह नायक के प्रति व्यङ्ग्य है।

महमहइ मलअवाओ अत्ता वारेइ मं घराणेन्तीं।
अङ्कोल्लपरिमलेण वि जो क्खु मओ सो मओ व्वेअ॥ ९७॥

[महमहायते मलयवातः श्वश्रूर्वारयति मां गृहान्निर्यान्तीम्।
अङ्कोटपरिमलेनापि यः खलु मृतः मृत एव॥]

प्रोषितपतिका अपनी विरह-वेदना सखी से कहती है :—

मलय पवन महक रहा है, (मलय वायु से उद्दीप्तकाम होकर यह अत्यन्त कष्ट पायेगी यह सोचकर) सास मुझे घर से बाहर निकलने से रोकती है। (लेकिन वह यह नहीं सोचती कि घर के आँगन में लगे हुए) अङ्कोट की गन्ध से भी जो मरा वह भी तो मर ही गया। अर्थात् घर में पुष्पित अङ्कोट की गन्ध भी मेरी उत्कण्ठा को मलयमारुत से कुछ कम नहीं बढ़ाती।

मुहपेच्छओ पई से सा वि हु सविसेसदंसणुम्मइआ।
दोवि कअत्था पुहइं अमहिलपुरिसं व मण्णन्ति॥ ९८॥

[मुखप्रेक्षकः पतिस्तस्या सापि खलु सविशेषदर्शनोन्मत्ता।
द्वावपि कृतार्थौ पृथिवीममहिलापुरुषामिव मन्येते॥]

दम्पती के अनन्य अनुराग-वर्णन द्वारा किसी प्रच्छन्न कामुक द्वारा नियुक्त दूती उसे अपने प्रयोग की विफलता से सूचित करती है।

"तुम्हारा दर्शन खोजती हुई बेचारी नायिका की अत्यन्त व्याकुल दृष्टि सुन्दर युवकों की भीड़ में भी वन में घूमती सी प्रतीत होती है।

"अरण्य शब्द से भयानकता व्यञ्जित है। स्वरूपवान् युवक भी उसकी दृष्टि में रुचिकर नहीं प्रतीत होते। 'वराकिका' में अनुकम्पा अर्थ में कन् प्रत्यय है जिससे नायिका की दीनता और दयनीयता व्यञ्जित है। 'दर्शन खोजने' से दर्शन की दुर्लभता व्यङ्ग्य है। नायक नायिका की ओर जाकर भी नहीं फटकता। इसलिये दर्शन भी दुर्लभ है। दर्शन-दौर्लभ्य से नायिका की दयनीयता और भी अधिक पुष्ट हो जाती है। 'भ्रमति' से निश्चेष्टता के अभाव के कारण दर्शन-औत्सुक्य की प्रतीति होती है।

अइकोवणा वि सासू रुआविआ गअवईअ सोह्लाए।
पाअपडणोण्णआए दोसु वि गलिएसु वलएसु॥ ९३॥

[अतिकोपनापि श्वश्रू रोदिता गतपतिकया स्नुषया।
पादपतनावनतया द्वयोरपि गलितयोर्वलययोः॥]

प्रोषितपतिका का वर्णन करता हुआ कवि कहता है—

(सास की) चरणवन्दना के लिये झुकी हुई प्रोषितपतिका बहू के दोनों ही वलय (हाथों से) निकल पड़े। तब तो उसकी अत्यन्त कोपशीला (क्रोध करने वाली) सास भी रो पड़ी।

"कोपनशीला (निष्ठुर) सास भी नायिका की दुर्बलता देखकर रो पड़ी" इससे नायिका की अत्यन्त कृशता और दयनीयता व्यङ्ग्य है।

रोवन्ति व्व अरण्णे दूसहरइकिरणफंससंतत्ता।
अइतारझिल्लिविरुएहिं पाअवा गिम्हमज्झह्ले॥ ९४॥

लोभी होने के कारण पहले से ही कमलों में बन्द भ्रमरवृन्द की झंकार (गुञ्जन) के साथ खिल रहा है।

गोत्तक्खलनं सोऊण पिअअमे अज्ज तीअ खणदिअहे।
वज्झमहिसस्स माल व्व मण्डणं उअह पडिहाइ ॥ ९६ ॥

[गोत्रस्खलनं श्रुत्वा प्रियतमेऽद्य तस्याः क्षणदिवसे।
वध्यमहिषस्य मालेव मण्डनं पश्यत प्रतिभाति ॥]

प्रिय के मुख से भ्रमवश अन्य नायिका का नाम सुन कर रूठी हुई नायिका को नायक शीघ्र मना ले यह संकेत करती हुई दूती उसके मित्र से कहती है :—

प्रियतम के मुख से गोत्र-स्खलन (भ्रमवश अन्य सुन्दरी का नाम) सुनकर आज उत्सव के दिन भी उसे अपना शृङ्गार (मण्डन) बलि के लिये प्रस्तुत भैंसे की माला के समान प्रतीत हो रहा है।

"वह तुम में इतनी अनुरक्त है कि तुम्हारे मुँह से अन्य कामिनी का नाम सुन कर ही मरणासन्न हो गयी है" तथा "वह स्वाभिमानिनी ईर्ष्यावश कहीं मर न जाये। यह अनिष्ट होने से पहले ही उसे मना लो" यह नायक के प्रति व्यङ्ग्य है।

महमहइ मलअवाओ अत्ता वारेइ मं घराणेन्तीं।
अङ्कोल्लपरिमलेण वि जो क्खु मओ सो मओ व्वेअ ॥ ९७ ॥

[महमहायते मलयवातः श्वश्रूर्वारयति मां गृहान्निर्यान्तीम्।
अङ्कोटपरिमलेनापि यः खलु मृतः मृत एव ॥]

प्रोषितपतिका अपनी विरह-वेदना सखी से कहती है :—

मलय पवन महक रहा है, (मलय वायु से उद्दीप्तकाम होकर यह अत्यन्त कष्ट पायेगी यह सोचकर) सास मुझे घर से बाहर निकलने से रोकती है। (लेकिन वह यह नहीं सोचती कि घर के आँगन में लगे हुए) अङ्कोट की गन्ध से भी जो मरा वह भी तो मर ही गया। अर्थात् घर में पुष्पित अङ्कोट की गन्ध भी मेरी उत्कण्ठा को मलयमारुत से कुछ कम नहीं बढ़ाती।

मुहपेच्छओ पई से सा वि हु सविसेसदंसणुम्मइआ।
दोवि कअत्था पुहइं अमहिलपुरिसं व मण्णन्ति ॥ ९८ ॥

[मुखप्रेक्षकः पतिरतस्या सापि खलु सविशेषदर्शनोन्मत्ता।
द्वावपि कृतार्थौ पृथिवीममहिलापुरुषामिव मन्येते ॥]

दम्पती के अनन्य अनुराग-वर्णन द्वारा किसी प्रच्छन्न कामुक द्वारा नियुक्त दूती उसे अपने प्रयोग की विफलता से सूचित करती है।

रसिअजणहिअअदइए कइवच्छलपमुहसुकइणिम्मइए ।
सत्तसअम्मि समत्तं पञ्चमं गाहासअं एअं ॥ १०१ ॥

*[रसिकजनहृदयदयिते कविवत्सलप्रमुखसुकविनिर्मिते ।
सप्तशतके समाप्तं पञ्चमं गाथाशतकमेतत् ॥]*

रसिकजन की प्रिय, कविवत्सल सुकवि-श्रेष्ठ (हाल) द्वारा निर्मित (संगृहीत) सप्तशती में गाथाओं का यह पाँचवाँ शतक समाप्त हुआ ।

[मारयसि कं न मुग्धे अनेन पर्यन्तरक्तविषमेण ।
भ्रूलताचापविनिर्गततीक्ष्णतरार्धाक्षिभल्लेन ॥]

मुग्धे ? पर्यन्त-रक्त (नोंक पर रुधिर से सने) विषम अर्धचन्द्राकार बाण जैसे, अपने भ्रूचाप से निकले हुए पर्यन्तरक्त (प्रान्त भाग में रक्तवर्ण) तीक्ष्णतर, नेत्रार्ध के अर्धचन्द्र बाण से तुम किसे नहीं मारती हो ?

'मुग्धे ! किसे नहीं मारती हो' में 'बड़े-बड़े धैर्यधारी व्यक्ति भी तुम्हारे कटाक्षों से मरण जैसी वेदना पाकर अचेतन से हो जाते हैं फिर भी तुम मुग्धा (भोली) ही बनी रहती हो !' की व्यञ्जना निकलती है ।

तुह दंसणे सअह्ला सद्दं सोऊण णिग्गदा जाइं ।
तइ वोलीणे ताइं पआइं वोढव्विआ जाआ ॥ ५ ॥

[तव दर्शने सतृष्णा शब्दं श्रुत्वा निर्गता यानि ।
त्वयि व्यतिक्रान्ते तानि पदानि वोढव्या जाता ॥]

नायक से नायिका के प्रेमातिशय का वर्णन करती हुई दूती कहती है:—

"तुम्हारे दर्शन के लिये लालायित नायिका (तुम्हारा) शब्द सुनकर जितने कदम (घर से) निकली थी तुम्हारे दृष्टि से ओझल हो जाने पर उतने ही पग (दूसरों द्वारा) लाई जाने योग्य हो गयी ।" भाव यह है कि तुम्हारे विरह में अत्यन्त दुर्बल होती हुई भी तुम्हारी आवाज सुनकर दर्शन की लालसा से वह निकल ही आयी किन्तु तुम्हें न देखकर उसका दिल टूट गया और वह मूर्छित हो गयी जिससे दूसरे व्यक्तियों को उसे उठाकर भीतर ले जाना पड़ा । तुम उसके प्राण समान हो, तुम्हारे न मिलने पर वह निश्चेष्ट सी हो जाती है । चरम व्यङ्ग्य यह है कि ऐसी अनुरागमयी अङ्गना की उपेक्षा क्यों करते हो, अभिसार द्वारा उसकी इच्छा पूरी क्यों नहीं करते ?

ईसामच्छररहिएहिं णिव्विआरेहिं मामि अच्छीहिं ।
एह्निं जणो जणम्मिव णिरिच्छए कहं ण छिज्जामो ॥ ६ ॥

[ईर्ष्यामत्सररहिताभ्यां निर्विकाराभ्यां मातुलान्यक्षिभ्याम् ।
जनमिव जनोऽधुना निरीक्षते कथं न क्षीयामहे ॥]

पराधीन जन को चाहने वाले मूढ हृदय ! दुःख से ही मत घबराओ कुछ और भी पाओगे। तुम्हारे लिये यह कितना है ?

'विमूढ' शब्द से 'मेरे भोले हृदय ने तुम अन्यासक्त को प्रणय समर्पण कर के धोखा खाया' यह ईर्ष्या व्यञ्जित है। हृदय-निन्दा के बहाने नायिका उपपति की ही निन्दा करती है। 'कुछ और' से मरण दशा की प्रतीति होती है। चरम व्यङ्ग्य यह है कि मैं तो अन्तिम साँस तक तुम से प्रणय पालन करने के लिये सन्नद्ध हूँ लेकिन अन्य में आसक्त होने से तुम मेरे निष्कपट प्रणय को समझे ही नहीं।

वेसोसि जीअ पंसुल अहिअअरं सा हु वल्लभा तुज्झ।
इअ जाणिउण वि मए ण ईसिअं दड्ढपेम्मस्स॥ १०॥

[द्वेष्योऽसि यस्याः पांसुल! अधिकतरं सा खलु वल्लभा तव।
इति ज्ञात्वापि मया नेर्ष्यितं दग्धप्रेम्णः॥]

अन्य विरक्त नायिका में अनुरक्त नायक को अपने प्रगाढ प्रेम की सूचना देती हुई नायिका उपालम्भ देती है:—

जो तुम से द्वेष करती है वही तुम्हें अधिक प्यारी है। शठ ! तुम्हारे प्रेम की यह विषमता जानकर भी मैंने तुम से ईर्ष्या (घृणा) नहीं की।

सा आम सुहअ गुणरूअसोहिरी आम निग्गुणा अ अहं।
भण तीअ जो ण सरिसो किं सो सव्वो जणो मरउ॥ ११॥

[आम् सा सुभग गुणरूपशोभिनी आम् निर्गुणा चाहम्।
भण तस्या यो न सदृशः किं स सर्वो जनो म्रियताम्॥]

अन्य नायिका के रूप और गुणों के प्रशंसक नायक से नायिका कहती है:—

हाँ, सुभग ! आपकी वह प्रियतमा गुण और रूप से शोभित है और मैं निर्गुण हूं। बताओ, जो उस जैसे नहीं हैं क्या वे सभी मर जायें ?

सन्तमसन्तं दुक्खं सुहं च जाओ घरस्स जाणन्ति।
ता पुत्तअ महिलाओ सेसाओं जरा मनुस्साणं॥ १२॥

[सदसद्दुःखं सुखं च या गृहस्य जानन्ति।
ताः सन्ति पुत्र महिलाः शेषा जरा मनुष्याणाम्॥]

दुर्लभ वस्तु की अभिलाषा करने वाली पुत्र-वधू की शिकायत करती हुई कोई वृद्धा अपने पुत्र से कहती है:—

हे पुत्र ! जो घर का सत्-असत् (भाव-अभाव अथवा बुरा-भला) और दुःख

[किं रोदिषि किं च शोचसि किं कुप्यसि सुतनु एकैकस्मै।
प्रेम विषमिव विषमं कथय को रोद्धुं शक्नोति ॥]

मनोऽनुकूल प्रिय प्राप्त न होने के कारण अतृप्त प्रेम से क्षुब्ध एवं चिड़चिड़ी नायिका से कोई कहती है :—

सुन्दरि ! क्यों रोती हो ? शोक क्यों करती हो और हर किसी पर क्रुद्ध क्यों होती हो ? विष के सदृश विषम प्रेम का अवरोध कर ही कौन सकता है ?

'सुन्दरि' संबोधन से 'प्रिय के प्रेम की प्राप्ति न होने के कारण तुम्हारा सौन्दर्य व्यर्थ ही है' इस व्यङ्ग्य की प्रतीति होती है। प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता, अर्थात् सौन्दर्य की सफलता प्रिय का प्रेम पाने में है (कालिदास)।

ते अ जुआणा ता गामसंपआ तं च अम्ह तारुण्णं।
अक्खाणअं व लोओ कहेहि अम्हे वि तं सुणिमो ॥ १७ ॥

[ते च युवानस्ता ग्रामसंपदस्तच्चास्माकं तारुण्यम्।
आख्यानकमिव लोकः कथयति वयमपि च तच्छृणुमः ॥]

किसी नवीना को अभिसार के लिये उत्साहित करती हुई वृद्धा दूती 'सुख के अवसर बीत जाने पर फिर लौटते नहीं अतः उनसे लाभ उठाना ही चाहिये' इस तथ्य का प्रतिपादन करती हुई कहती है:—

'वे युवक, गाँव की वे सुख-सम्पत्तियाँ और हमारा वह यौवन' अब तो लोग इस सबको कहानी की तरह कहते हैं और हम भी उसे सुन लेते हैं।

स्मृति और निर्वेद का यह सुन्दर उदाहरण है। नायिका के प्रति व्यञ्जित होता है कि "मुझ अनुभवशालिनी की बात मान कर अवसर सुख की स्वतः प्राप्ति का अभिनन्दन करो अन्यथा समय चूकने पर पीछे पछताओगी'।

[मानोन्मत्तया मया अकारणंकारणं कुर्वत्या ।
अदर्शनेन प्रेम विनाशितं प्रौढवादेन ॥]

कलहान्तरिता नायिका पश्चात्ताप करती हुई कहती है:—

मैं मान करने के लिये उन्मत्त थी । अतः जो वस्तु मान का कारण हो ही न सकती थी उसे भी मान का कारण बनाकर प्रिय की ओर (दृष्टि उठाकर) न देखने और प्रतिज्ञापूर्वक उसका प्रत्याख्यान करने से प्रेम को ही नष्ट कर दिया ।

अणुऊलं विअ वोत्तुं बहुवल्लह वल्लहे वि वेसे वि ।
कुविअं अ पसाएउं सिक्खइ लोओ तुमाहित्तो ॥ २३ ॥

[अनुकूलमेव वक्तुं बहुवल्लभ वल्लभेऽपि द्वेष्येऽपि ।
कुपितं च प्रसादयितुं शिक्षते लोको युष्मत्तः ॥]

अपराधी प्रिय की चाटुकारी सुनकर नायिका विदग्धतापूर्ण उपालम्भ देती है :—

"हे बहुवल्लभ ! प्रिय तथा द्वेषयोग्य दोनों ही के प्रति अनुकूल वचन कहना और (इस प्रकार) कुपित व्यक्ति को प्रसन्न करना दुनिया तुम से सीख ले ।" व्यञ्जना यह है कि द्वेष्य व्यक्ति के प्रति भी मधुर वचन कहने से स्पष्ट है कि तुम्हारा मधुर आलाप दिखावामात्र है । प्रकट अपराधी होकर भी तुम झूँठी बात बना कर मुझे धोखा देते हो' ।

लज्जा चत्ता सीलं अ खण्डिअं अजसघोसणा दिण्णा ।
जस्स कए णं पिअसहि सोच्चेअ जणो जणो जाओ ॥ २४ ॥

[लज्जा त्यक्ता शीलं च खण्डितमयशोघोषणा दत्ता ।
यस्य कृते ननु प्रियसखि ! स एव जनो जनो जातः ॥]

मन्द-स्नेह प्रिय की अकृतज्ञता सूचित करती हुई नायिका सखी से कहती है कि "प्रियसखि ! जिसके कारण लज्जा त्याग दी, शील खण्डित किया और अपनी अकीर्ति का ढिढोरा पिटवाया वही व्यक्ति अब अन्य जन की भाँति उदासीन हो गया ।

हसिअं अदिट्ठदन्तं भमिअमणिक्कन्तदेहलीदेसं ।
दिट्ठमणुक्खित्तमुहं एसो मग्गो कुलवहूणं ॥ २५ ॥

[हसितमदृष्टदन्तं भ्रमितमनिष्क्रान्तदेहलीदेशम् ।
दृष्टमनुत्क्षिप्तमुखमेष मार्गः कुलवधूनाम् ॥]

विना दांत खोले हुए हंसना, घर के द्वार से निकले विना ही (घर

यदि लोग (पड़ोसी आदि) खिन्न होते हैं तो होने दो। निन्दा होती है तो हुआ करे, किन्तु रजस्वले ! आओ, तुम मेरे पास सो रहो। मुझे निद्रा नहीं आती।

जं जं पुलएमि दिसं पुरओ लिहिअ व्व दीससे तत्तो।
तुह पडिमापडिवाडिं वहइ व्व सअलं दिसाअक्कं ॥ ३० ॥

[यां यां प्रलोकयामि दिशं पुरतो लिखित एव दृश्यसे तत्र।
तव प्रतिमापरिपाटीं वहतीव सकलं दिशाचक्रम् ॥]

विरहिणी प्रवासी नायक को पत्र में लिखती है कि मैं जिस दिशा में भी देखती हूँ, वहीं तुम चित्रित से दिखाई देते हो। प्रतीत होता है मानो समस्त दिङ्मण्डल तुम्हारी प्रतिमाओं की परम्परा (पंक्ति) से व्याप्त है।

ओसरइ धुणइ साहं खोक्खामुहलो पुणो समुल्लिहइ।
जम्बूफलं ण गेह्णइ भमरो त्ति कई पढमडक्को ॥ ३१ ॥

[अपसरति धुनोति शाखां खोक्खामुखरः पुनः समुल्लिखति।
जम्बूफलं न गृह्णाति भ्रमर इति कपिः प्रथमदष्टः ॥]

भ्रमर के द्वारा पहले (कभी) काटा हुआ बन्दर जामुन के फल को भ्रमर समझ कर ग्रहण नहीं करता। वह उससे दूर हट जाता है, शाखा को हिलाता है और खों-खों करके नोचता है।

ण छिवइ हत्थेण कई कण्डूइभएण पत्तलणिउञ्जे।
दरलम्बिअगोच्छकइकच्छुसच्छहं वाणरीहत्थं ॥ ३२ ॥

[न स्पृशति हस्तेन कपिः कण्डूतिभयेन पत्रलनिकुञ्जे।
ईषल्लम्बितगुच्छकपिकच्छुसदृशं वानरीहस्तम् ॥]

सघन पत्तों वाले कुञ्ज में लटकते हुए कौंच के गुच्छों के सदृश, (लताओं के मध्य से बढ़ाये हुए) बन्दरिया के हाथ को बन्दर खुजली के भय से पकड़ता नहीं।

सरसा वि सूसइ च्चिअ जाणइ दुक्खाइं मुद्धहिअआ वि।
रत्ता वि पण्डुर च्चिअ जाआ वरई तुह विओए ॥ ३३ ॥

उल्लावन्तेण ण होइ कस्स पासट्ठिएण ठड्डेण ।
सङ्का मसाणपाअवलम्बिअचोरेण व खलेग ।। ३६ ।।

[उल्लापयमानेन न भवति कस्य पार्श्वस्थितेन स्तब्धेन ।
शङ्का श्मशानपादपलम्बितचोरेणेव खलेन ॥]

अहङ्कार से स्तव्व, किन्तु अपने स्वार्थ के लिये वोल पड़ने वाले, पास में स्थित दुष्ट व्यक्ति से श्मशान के वृक्ष से लटकते हुए, चीखते हुए, (प्राणदण्ड के लिये) पाश (गले में फांसी) में स्थित और (प्राण निकलने के पश्चात्) स्तव्व हो जाने वाले चोर के समान किसे भय नहीं होता ?

असमत्तगुरुअकज्जे एह्लिं पहिए घरं णिअत्तन्ते ।
णवपाउसो पिउच्छा हसइ व कुडअट्टहासेहिं ।। ३७ ।।

[असमाप्तगुरुककार्ये इदानीं पथिके गृहं प्रतिनिवर्तमाने ।
नवप्रावृट् पितृष्वसः ! हसतीव कुटजाट्टहासैः ॥]

प्रोपितपतिका सखी को यह जताती हुई कि 'वर्षा ऋतु में प्रवासी पुरुष महत्त्वपूर्ण कार्य को भी त्याग कर लौट आते है' कोई प्रौढा वुआ से कह रही है—

कार्य को समाप्त किये विना ही पथिक को घर लौटता देख कर नवीना वर्षा ऋतु कुटजपुष्पों के वहाने मानो अट्टहास कर रही है। अर्थात् मेरा चिह्न देखते ही डर कर प्रिया का विरह सहने में असमर्थ यह आवश्यक कार्य को किये बिना ही लौट रहा है, यह सोच कर वर्षा मानो उसका उपहास करती है।

व्यङ्ग्य यह है कि वर्षा में महत्त्वपूर्ण कार्यों को भी छोड़कर प्रवासी पुरुष लौट आते हैं, फिर जो सामान्य कार्य से वाहर गया है उसका तो कहना ही क्या ?

दट्ठूण उण्णमन्ते मेहे आमुक्कजीविआसाए ।
पहिअघरिणीअ डिम्भो ओरुण्णमुहीअ सच्चविओ ।। ३८ ।।

[दृष्ट्वा उन्नमतो मेघानामुक्तजीविताशया ।
पथिकगृहिण्या डिम्भोऽवरुदितमुख्या दृष्टः ॥]

प्रवासी के प्रति शीघ्र घर जाने के लिये संकेत करती हुई कोई कहती है—

"उठते हुए मेघों को देख अपने जीने की आशा छोड़कर रोती हुई प्रोपितपतिका ने वालक की ओर देखा। वर्षा में विरह-वेदना के कारण मेरे मर जाने पर इस अल्पवयस्क वालक का क्या होगा ? यह चिन्ता व्यञ्जित है। 'गृहिणी' शव्द से 'घर का पूरा भार वही वहन करती हैं अतः उसके अभाव में वच्चा निराश्रय हो जायेगा' यह व्यङ्ग्य निकलता है।

भी ईख और कुलीन व्यक्ति रसकी ही सृष्टि करते हैं।' ईख दबाने पर भी रस (मधुर द्रव) देता है और कुलीन पीड़ित होकर भी दूसरों को रस देता है (आनन्दित करता है।)

दीसइ ण चूअमउलं अत्ता ण अ वाइ मलअगन्धवहो।
पत्तं वसन्तमासं साहइ उक्कण्ठिअं चेअं॥ ४२॥

*[दृश्यते न चूतमुकुलं श्वश्रु ! न च वाति मलयगन्धवहः।
प्राप्तं वसन्तमासं कथयत्युत्कण्ठितं चेतः॥]*

'बाहरी चिह्नों के बिना भी वसन्त का आगमन सम्भव है' इससे सहमत न होने वाली सास से वधू कहती है कि 'आम का बौर दिखाई नहीं देता और मलयवायु भी नहीं चलता फिर भी उत्कण्ठित हृदय कहता है (चित्त में प्रिय-मिलन के लिये बेचैनी से प्रतीत होता है) कि वसन्त आ गया।

अम्बवणे भमरउलं ण विणा कज्जेण ऊसुअं भमइ।
कत्तो जलणेण विणा धूमस्स सिहाउ दीसन्ति॥ ४३॥

'वसन्त नहीं आया है, धैर्य धरो' इस प्रकार समझाती हुई सखी को प्रोषित-पतिका उत्तर देती है:—

"भौरों का समूह आम के बाग में बिना किसी कार्य के यों ही उत्सुक नहीं घूमता। अग्नि के बिना धुँए की शिखा (उठान) कहीं नहीं दीख पड़ती।"

पीले तथा कुछ लाल रंग की आम्रमञ्जरी का अग्नि से तथा उड़ती हुई भ्रमर-पंक्ति का धूम-शिखा से साम्य यह व्यङ्ग्य करता है कि "अग्नि के समान आम्र-कुसुम मुझे जला ही डालेगा। व्यर्थ के आश्वासन में कुछ नहीं रखा है। शीघ्र ही प्रिय को बुलाने का प्रयत्न करो।"

दइअकरग्गलुलिओ धम्मिल्लो सीहुगन्धिअं वअणं।
मअणम्मि एत्तिअं चिअ पसाहणं हरइ तरुणीणं॥ ४५॥

*[दयितकरग्रहलुलितो धम्मिल्लो सीधुगन्धितं वदनम्।
मदने एतावदेव प्रसाधनं हरति तरुणीनाम्॥]*

प्रसाधन में अधिक विश्वास न रखने वाला नायक अपने मित्र से कहता है:—

"मदनोत्सव (होली के उत्सव) में अथवा काम का उदय (सञ्चार) होने पर युवतियों का प्रियतम के हाथों से अस्त-व्यस्त हुआ केशविन्यास और सुरा की गन्ध से सुरभित मुख, बस इतना ही शृङ्गार मन को हर लेता है।' भाव यह है कि हार, केयूर, कर्णपूर आदि अलङ्कार सरभस सुरत में बाधक ही होते हैं अतः उनकी कोई आवश्यकता नहीं। नायिका का सहज सौन्दर्य यत्किञ्चित् अनिवार्य प्रसाधन से ही अत्यन्त आकर्षक हो जाता है।"

गामतरुणीओ हिअअं हरन्ति छेआणं थणहरिल्लीओ ।
मअणे कुसुम्भरञ्जिअकञ्चुअआहरणमेत्ताओ ॥ ४५ ॥

[ग्रामतरुण्यो हृदयं हरन्ति छेकानां स्तनभारवत्यः ।
मदने कुसुम्भरागयुक्तकञ्चुकाभरणमात्राः ॥]

होली के उत्सव पर कुसुम्भी रंग की अँगिया मात्र पहने हुए पुष्ट उरोजों का भार वहन करने वाली ग्राम-युवतियाँ विदग्धों का भी मन हर लेती हैं ।

आलोअन्त दिसाओ ससन्त जम्भन्त गन्त रोअन्त ।
मुच्छन्त पडन्त खलन्त पहिअ किं ते पउत्थेण ॥ ४६ ॥

[आलोकयन् दिशः श्वसन् जृम्भमाणो गायन्रुदन् ।
मूर्च्छन् पतन् स्खलन् पथिक ! किं ते प्रवसितेन ?]

सुरत का फिर आस्वादन करने के लिये उत्कण्ठित करती हुई दूती श्लेष के माध्यम से कहती हैः—

नर्मदा नदी के पक्ष में—मैया ! (आश्चर्य सूचक सम्बोधन) न जाने यूथाधिप गजराज द्वारा कर से (सूंड से) जल आदि का वार-वार आस्फालन, दोनों तटों का दांतों के आघात से कटाव और सैंकड़ों प्रकार से पीडन (जल के प्रवाह का अवरोध आदि) नर्मदा वार वार सह सकेगी या नहीं।

नायिका के पक्ष में—

अहो ! यूथाधिप (रसिक गोष्ठी के नेता) नायक के करों द्वारा वार-वार आस्फालन (वक्ष स्थल आदि अङ्गों पर थपथपाहट) उभय तटों (नितम्वों) का (नखों से) विलेखन और सैंकड़ों पीडन (आलिङ्गन) नर्मदा (नर्म=सुरत-केलि-आनन्द+दा=देने वाली) नायिका सह सकेगी ?

वोडसुणओ विअण्णो अत्ता मत्ता पई वि अण्णत्थो ।
फलिहं व मोडिअं महिसएण को तस्स साहेउ ॥ ४९ ॥

[दुष्टशुनको विपन्नः श्वश्रूर्मत्ता पतिरप्यन्यत्रस्थः ।
कार्पास्यपि भग्ना महिषकेण कस्तस्य कथयतु ॥]

पूर्व-सहेट (कपास के खेत) में न जाकर निश्चिन्त भाव से घर ही आओ" जार को यह सूचित करती हुई स्वयंदूतिका उद्वेग के साथ कहती हैः—

"दुष्ट कुत्ता (जो रात में घर की रक्षा करता था) मर गया, सास उन्माद रोग में ग्रस्त है और पति अन्य स्थान में है। 'भैंसे ने कपास उजाड़ डाली है' यह उससे (पति से) कौन जाकर कहे ?

भाव यह है कि कुत्ता मर गया, सास पागल है और पति (रक्षकमात्र, रमण नहीं) यहाँ है नहीं। (कौन जाकर कहे से स्पष्ट है कि घर में और कोई है ही नहीं) इसलिये वेखटके घर ही आकर सुरत-आनन्द का आस्वादन करो।

सकअग्गहरहसुत्ताणिआणणा पिअइ पिअमुहविइण्णं ।
थोअं थोअं रोसोसहं व उअ माणिणो मइरं ॥ ५० ॥

[सकचग्रहरभसोत्तानितानना पिवति प्रियमुखवितीर्णाम् ।
स्तोकं स्तोकं रोषौषधमिव पश्य मानिनी मदिराम् ॥]

देखो, (नायक द्वारा) सिर पकड़ कर वलात् ऊपर उठाये मुख वाली मानिनी नायिका प्रिय द्वारा वितीर्ण मुखमदिरा (नायक द्वारा अपने मुख से नायिका के मुंह में संक्रान्त सुरा) को थोड़ा थोड़ा करके रोष की औषधि के समान पी रही है।

गिरसोत्तो त्ति भुअंगं महिसो जीहइ लिहइ संतत्तो ।
महिसस्स कह्लवत्थरझरो त्ति सप्पो पिअइ लालं ॥ ५१ ॥

के माध्यम से बड़ी चतुराई के साथ उसके प्रति अपनी कामुकता अभिव्यञ्जित करती हुई कहती है:—

हे यान्त्रिक ! (कोल्हू चला कर गुड़ बनाने वाले !) मेरी इच्छा के अनुसार यन्त्र (कोल्हू) नहीं चलाते हो और गुड़ चाहते हो ! अरसिक ! क्या तुम नहीं जानते कि रस के बिना गुड़ नहीं होता ?

नायिका का वस्तुतः अभिप्रेत अर्थ

यान्त्रिक ! यन्त्र (सुरतसाधन यन्त्र, पुरुषलिङ्ग) मेरी इच्छा के अनुसार नहीं चलाते और (वेतन रूप से ठहरा हुआ) गुड़ लेना चाहते हो। अरसिक ! क्या तुम नहीं समझे कि यहाँ रस (मेरे प्रति अनुराग) के बिना गुड़ नहीं मिलेगा।

पत्तणिअम्बप्फंसाण्हाणुत्तिण्णाएँ सामलङ्गीए।
जलबिन्दुएहिँ चिहुरा रुअन्ति बन्धस्स व भएण ॥ ५५ ॥

[प्राप्तनितम्बस्पर्शाः स्नानोत्तीर्णायाः श्यामलाङ्ग्याः।
जलबिन्दुकैश्चिकुरा रुदन्ति बन्धस्येव भयेन ॥]

सद्यःस्नाता का वर्णन करता हुआ नायक कहता है कि "स्नान से उठी हुई श्यामलाङ्गी के नितम्बों का स्पर्शसुख प्राप्त कर के केश टपकते हुए जलकणों के रूप में मानो बन्धन के भय से रो रहे हैं।

(कामान्ध व्यक्ति जैसे पहले किसी सुन्दरी के नितम्बों का स्पर्श करे और बाद में बन्धन (जेल जाने) के अवसर पर भय से रोने लगे)।

'बन्धन के भय से केश रोते हैं। वे चाहते हैं कि बन्धन में न पड़ें। इसलिये मेरे साथ सुरत में लीन होकर इनको मुक्ति का सुख प्रदान करो' नायिका के प्रति नायक की यह कामना व्यञ्जित होती है।

गामङ्गणणिअडिअकल्लवक्ख वड तुज्झ दूरमणुलग्गो।
तित्तिल्लपडिक्खकभोइओ वि गामो ण उव्विग्गो ॥ ५६ ॥

[ग्रामाङ्गणनिगडितकृष्णपक्ष वट ! तव दूरमनुलग्नः।
दौःसाधिकप्रतीक्षकभोगिकोऽपि ग्रामो नोद्विग्नः ॥]

गाँव के निकट स्थित वटवृक्ष के पास सहेट की सूचना किसी प्रच्छन्न प्रेमी को देती हुई कुलटा कहती है:—

'कृष्ण पक्ष को गाँव के आँगन में बाँध रखने वाले वटवृक्ष ! दूर-दूर तक तुम्हारी छत्र-छाया में आश्रित यह ग्राम, जहाँ द्वारपाल (राजनियुक्त प्रजा-आचार-निरीक्षक अपराधियों को पकड़ ले जाने के लिये) अभिसार-रत कामुकों की ताक में रहता है, कभी उद्विग्न न हुआ।' भाव यह है कि हे वट ! तुम्हारी सघन छाया में कृष्ण पक्ष

जैसा अन्धकार सदा छाया रहता है जहाँ गाँव के अभिसार-रत कामुक निर्भय होकर भोगों का उपभोग करते हैं। ग्रामाधिपति के सिपाही उनकी ताक में रहने पर भी तुम्हारी छाया के गहन अन्धकार में उन्हें देख नहीं पाते। इसीलिये गाँव में कभी उद्वेग नहीं होता।

सुप्पं डड्ढं चणआ ण भज्जिआ सो जुआ अइक्कन्तो।
अत्ता वि घरे कुविआ भूआणं व वाइओ वंसो ॥ ५७ ॥

[शूर्पं दग्धं चणका न भर्जिताः स च युवातिक्रान्तः।
श्वश्रूर्गेहे कुपिता भूतानामिव वादितो वंशः ॥]

सपत्नी के दुश्चरित को पति के प्रति सूचित करती हुई नायिका उपालम्भ सहित कहती है:—

(चने भूनते हुए इसने अनवधानता से) सूप जला दिया और चने भी न भुने। (चने भूनने के कार्य को बीच में ही छोड़कर जिस युवक को देखने के लिये यह उठ गयी थी) वह युवक भी निकल गया। घर में सास अलग नाराज हुई। यह तो भूतों (वहरों) के आगे वंशी वजायी।

"व्यञ्जना यह है कि इसके द्वारा घर की वस्तु की हानि तथा पर-पुरुष-दर्शन के प्रयास का पता तुम्हारी माँ को भी चल गया है। इसीलिये वह अप्रसन्न है। इसका दुश्चरित तो देखो।"

पिसुणेन्ति कामिणीणं जललुक्कपिआवऊहणसुहेल्लिं।
कण्डइअकवोलुप्फुल्लणिच्चलच्छीइं वअणाइं ॥ ५८ ॥

[पिशुनयन्ति कामिनीनां जलनिलीनप्रियावगूहनसुखकेलिम्।
कण्टकितकपोलोत्फुल्लनिश्चलाक्षीणि वदनानि ॥]

जल में विलीन प्रिय के आलिङ्गन की सुखकेलि को कामिनियों के पुलकित कपोल तथा उत्फुल्ल एवं निश्चल आँखों वाले मुख सूचित करते हैं।

अहिणवपाउसरसिएसु सोहइ साआइएसु दिअहेसु।
रहसपसारिअगीवाणं णच्चिअं मोरवुन्दाणं ॥ ५९ ॥

[अभिनवप्रावृड्रसितेषु शोभते श्यामायितेषु दिवसेषु।
रभसप्रसारितग्रीवाणां नृत्यं मयूरवृन्दानाम् ॥]

महिसक्खन्धविलग्गं घोलइ सिङ्गाहअं सिमिसिमन्तं ।
आहअवीणाझंकारसद्दमुहलं मसअवुन्दं ॥ ६० ॥

*[महिषस्कन्धविलग्नं घूर्णते शृङ्गाहतं सिमसिमायमानम् ।
आहतवीणाझंकारशब्दमुखरं मशकवृन्दम् ॥]*

भैंसे के कन्धों पर लगा (उड़ता) हुआ मच्छरों का समुदाय आहत वीणा की झङ्कार-ध्वनि के समान मुखरित होता हुआ सिमसिमा कर (सिमसिम शब्द करता हुआ) घूम रहा है ।

रेहन्ति कुमुअदलणिच्चलट्ठिआ मत्तमहुअरणिहाआ ।
ससिअरणीसेसपणासिअस्स गण्ठि व्व तिमिरस्स ॥ ६१ ॥

*[राजन्ते कुमुददलनिश्चलस्थिता मत्तमधुकरनिकायाः ।
शशिकरनिःशेषप्रणाशितस्य ग्रन्थय इव तिमिरस्य ॥]*

कुमुद-दलों में निश्चल स्थित मत्त भौरों के समूह ऐसे शोभित होते हैं मानो चन्द्रमा के करों द्वारा पूर्णतया विनाशित अन्धकार की ग्रन्थियाँ हों ।

उअह तरुकोडराओ णिक्कन्तं पुंसुवाणँ रिञ्छोलिं ।
सरिए जरिओ व्व दुमो पित्तं व्व सलोहिअं वमइ ॥ ६२ ॥

*[पश्यत तरुकोटरान्निष्क्रान्तां पुंशुकानां पंक्तिम् ।
शरदि ज्वरित इव द्रुमः पित्तमिव सलोहितं वमति ॥]*

वृक्ष के खोखले से निकली हुई नर सुग्गों की पंक्ति को तो देखो । ऐसी प्रतीत होती है मानो शरद् ऋतु में ज्वर ग्रस्त वृक्ष रुधिर मिश्रित पित्त का वमन कर रहा हो ।

धाराधुव्वन्तमुहा लम्बिअवक्खा णिउञ्चिअग्गीवा ।
वइवेढनेसु काआ सूलाहिण्णा व्व दीसन्ति ॥ ६३ ॥

*[धाराधाव्यमानमुखा लम्बितपक्षा निकुञ्चितग्रीवाः ।
वृतिवेष्टनेषु काकाः शूलाभिन्ना इव दृश्यन्ते ॥]*

वर्षा से धोये जाते हुए मुख वाले कौए पंखों को फैलाकर और ग्रीवा को सिकोड़कर काँटेदार (झाड़ियों की) वाढ़ पर वैठे हुए शूलों से विद्ध से दिखाई देते हैं ।

ण वि तह अणालवन्ती हिअअं दूमेइ माणिणी अहिअं ।
जह दूरविअम्भिअगरुअरोसमज्झत्थभणिएहि ॥ ६४ ॥

[न तथा ह्यनालपन्ती हृदयं दुनोति मानिन्यधिकम् ।
यथा दूरविजृम्भितगुरुकरोषमध्यस्थभणितैः ॥]

मानिनी नायिका यदि संभाषण न करे तो हृदय को इतना अधिक दुखित नहीं करती जितना अत्यन्त प्रवृद्ध रोष वश उदासीन वचनों द्वारा।

गन्धं अग्घाअन्तअ पक्ककलम्बाणं वाहभरिअच्छ ।
आससु पहिअजुआणअ घरिणिमुहं मा ण पेच्छिहिसि ॥ ६५ ॥

[गन्धमाजिघ्रन् पक्वकदम्बानां वाष्पभृताक्ष !
आश्वसिहि पथिकयुवन् ! गृहिणीमुखं मा न प्रेक्षिष्यसे ॥]

वर्षा में वियोगिनी प्रिया के अनिष्ट की शङ्का से आकुल-हृदय पथिक को आश्वासन देता हुआ कोई सहृदय कह रहा हैः—

'पके हुए कदम्बों की गन्ध को सूँघ कर आँखों में आँसू भर लाने वाले युवक पथिक ! धैर्य धारण करो। यह नहीं होगा कि तुम गृहिणी का मुख न देखो।' 'युवक' शब्द से यह व्यङ्ग्य निकलता है कि यौवन-सुलभ-उत्कण्ठा से कुण्ठित होने के कारण तुम भयभीत हो रहे हो। मुझ अनुभवी का विश्वास करो और धैर्य करो।

गज्ज महं चिअ उवरिं सव्वत्थामेण लोहहिअअस्स ।
जलहर लम्बालइअं मा रे मारेहिसि वराइं ॥ ६६ ॥

[गर्ज ममैवोपरि सर्वस्थाम्ना लौहहृदयस्य ।
जलधर ! लम्बालकिकां मा रे मारयिष्यसि वराकीम् ॥]

पङ्कमइलेण छीरेक्कपाइणा दिण्णजाणुवडणेण ।
आनन्दिज्जइ हलिओ पुत्तेण व सालिछेत्तेण ॥ ६७ ॥

*[पङ्कमलिनेन क्षीरैकपायिना दत्तजानुपतनेन ।
आनन्द्यते हलिकः पुत्रेणेव शालिक्षेत्रेण ॥]*

कृषक केवल क्षीर पीने वाले (पानी से सींचे जाने वाले) घुटनों के वल (लक्षणावश मूल से ऊपर कुछ दूर तक) गिरे हुए और कीचड़ भरे अपने शालि क्षेत्र से उसी प्रकार प्रसन्न होता है जैसे केवल क्षीर (दूध) पीने वाले (दुधमुँहे) घुटनों के वल चलते हुए और पङ्क-मलिन निज पुत्र से ।

कहँ मे परिणइआले खलसङ्गो होहिइ त्ति चिन्तन्तो ।
ओणअमुहो ससूओ रुवइ व साली तुसारेण ॥ ६८ ॥

*[कथं मे परिणतिकाले खलसङ्गो भविष्यतीति चिन्तयन् ।
अवनतमुखः सशूको रोदितीव शालिस्तुषारेण ॥]*

परिणति काल में (पकने पर) अवनत-मुख (झुका हुआ) सशूक (डंठल सहित, तने सहित) शालि का पौधा ओसकणों के वहाने मानो यह सोच कर रोता है कि अब मेरा खल (खलिहान) के साथ सङ्ग होगा । जैसे कोई भला आदमी भी अब परिणतिकाल (वुढ़ापे) में मेरा खल (दुष्ट) के साथ सङ्ग कैसे होगा ?" यह सोचकर सशूक (हृदय में खटकते हुए शूक-कांटे=शोक-सहित) अवनतमुख (नीचा मुख किये) रोता है ।

संझाराओत्थइओ दीसइ गअणम्मि पडिवआचन्दो ।
रत्तदुऊलन्तरिओ थणणहलेहो व्व णववहूए ॥ ६९ ॥

*[संध्यारागावस्थगितो दृश्यते गगने प्रतिपच्चन्द्रः ।
रक्तदुकूलान्तरितः स्तननखलेख इव नववध्वाः ॥]*

संध्या की लालिमा से युक्त प्रतिपदा का चन्द्र आकाश में ऐसा दिखाई पडता है जैसे नववधू के रक्त वस्त्र से आच्छादित कुच पर नख का चिह्न ।

अइ दिअर किं ण पेच्छसि आआसं किं मुहा पलोएसि ।
जाआइ वाहुमूलम्मि अद्धअन्दाणं परिवाडिं ॥ ७० ॥

*[अयि देवर ! किं न प्रेक्षसे आकाशं किं मुधा प्रलोकयसि ।
जायाया वाहुमूलेऽर्धचन्द्राणां परिपाटीम् ॥]*

यह द्वितीया के चन्द्रमा को देखने के लिये आकाशमण्डल में देखते हुए

प्रावृट्लक्ष्मी के पयोधरों (मेघों) से स्पृष्ट विन्ध्य वास के नवीन अंकुर रूपी रोमाञ्च से अलङ्कृत अवयव धारण करता है।' कामुक पुरुष भी किसी नायिका के पयोधरों (उरोजों) से स्पृष्ट होकर रोमाञ्चित होता है

आम बहला वणाली मुहला जलरङ्कुणो जलं सिसिरं।
अण्णणईणं वि रेवाइ तह वि अण्णे गुणा के वि ॥ ७८ ॥

[आम् बहला वनाली मुखरा जलरङ्कवो जलं शिशिरम्।
अन्यनदीनामपि रेवायास्तथापि अन्ये गुणाः केऽपि ॥]

अन्योक्ति के माध्यम से अपने मित्र से अपनी प्रियतमा के सर्वातिशायी सौन्दर्य का वर्णन करता हुआ नायक कहता है—

'गहन जलधारा, कलरव करने वाले पक्षी, शीतल जल, ये सब तो अन्य नदियों में भी होते हैं, किन्तु रेवा में कुछ और ही गुण हैं।'

इस अन्योक्ति से अर्थशक्तिमूलध्वनि द्वारा प्रतीत होता है कि सुन्दर शरीर-लता, मधुर वचन एवं सुखकर स्पर्श तो अन्य नायिकाओं का भी होता है, परन्तु मेरी प्रियतमा के गुण तो कुछ और ही हैं। (जिनका वर्णन असम्भव है)

प्रावृट्लक्ष्मी के पयोधरों (मेघों) से स्पृष्ट विन्ध्य घास के नवीन अंकुर रूपी रोमाञ्च से अलङ्कृत अवयव धारण करता है।' कामुक पुरुष भी किसी नायिका के पयोधरों (उरोजों) से स्पृष्ट होकर रोमाञ्चित होता है

आम वहला वणाली मुहला जलरङ्कुणो जलं सिसिरं।
अण्णणईणं वि रेवाइ तह वि अण्णे गुणा के वि ॥ ७८ ॥

*[आम् बहला वनाली मुखरा जलरङ्कवो जलं शिशिरम् ।
अन्यनदीनामपि रेवायास्तथपि अन्ये गुणाः केऽपि ॥]*

अन्योक्ति के माध्यम से अपने मित्र से अपनी प्रियतमा के सर्वातिशायी सौन्दर्य का वर्णन करता हुआ नायक कहता है—

'गहन जलधारा, कलरव करने वाले पक्षी, शीतल जल, ये सब तो अन्य नदियों में भी होते हैं, किन्तु रेवा में कुछ और ही गुण हैं।'

इस अन्योक्ति से अर्थशक्तिसमुत्थ ध्वनि द्वारा प्रतीत होता है कि सुन्दर शरीर-लता, मधुर वचन एवं सुखकर स्पर्श तो अन्य नायिकाओं का भी होता है, परन्तु मेरी प्रियतमा के गुण तो कुछ और ही हैं। (जिनका वर्णन असम्भव है)

एह इमीअ णिअच्छह परिणअमालूरसच्छहे थणए।
तुङ्गे सप्पुरिसमणोरहे व्व हिअए अमाअन्ते ॥ ७९ ॥

*[आगच्छतास्या निरीक्षध्वं परिणतमालूरसदृशौ स्तनौ ।
तुङ्गौ सत्पुरुषमनोरथाविव हृदये अमान्तौ ॥]*

किसी नायिका के पुष्ट उरोजों को देख कर मनचला युवक अपने सहचर से कहता है—

'आओ, इसके पके हुए बिल्वफल के सदृश स्तनों को देखो, जो सत्पुरुष के ऊँचे मनोरथों के समान हृदय में (वक्षस्थल पर) समा नहीं पा रहे हैं।

हत्थाहत्थिं अहमहमिआइ वासागमम्मि मेहेहिं।
अप्पो किं पि रहस्सं छण्णं पि णहङ्गणं गलइ ॥ ८० ॥

[कियन्मात्रं भविष्यति सौभाग्यं प्रियतमस्य भ्रमणशीलस्य ।
महिलामदनक्षुधाकुलकटाक्षविक्षेपगृह्यमाणम् ॥]

'अन्य नारियों के प्रति अपने प्रिय के रुझान को क्यों नहीं रोकती हो' ? सखी के इस प्रश्न के उत्तर में नायिका कहती है—

'भ्रमणशील प्रियतम का' अन्य महिलाओं के कामक्षुधा से आकुल कटाक्षों पर आधारित सौभाग्य कितने दिन चलेगा ? अर्थात् अन्य महिलाएँ केवल काम की भूख को ही शान्त करने के लिये इसमें आसक्त होती हैं, सच्चे प्रेम के कारण नहीं । यह भी उनके वश में इसी भूख के कारण रहता है । काम की भूख शान्त होने पर वे इसमें और यह उनमें कितना आसक्त होगा ? यह सब कुछ अस्थायी ही तो है । इस सब का अनुभव करके तो इसे मेरे प्रेम का परिचय मिल जायेगा ।

णिअघणिअं उवऊहसु कुक्कुडसद्देन झत्ति पडिबुद्ध ।
परवसइवाससङ्किर णिअए वि घरम्मि मा भासु ॥ ८२ ॥

[निजगृहिणीमुपगूहस्व कुक्कुटशब्देन झटिति प्रतिबुद्ध ।
परवसतिवासशङ्किन् निजकेऽपि गृहे मा भैषीः ॥]

दूसरों के घर में छिपकर पर नारियों से अभिसार करने में लम्पट नायक अपने ही घर में रात रहे मुर्गे की बाँग सुनकर जाग पड़ा और प्रतिदिन के अभ्यास के कारण दूसरे का घर समझकर भागने की तैयारी करने लगा तो स्वकीया ने कहा—

''मुर्गे की बाँग से फौरन ही (हड़बड़ा कर) उठ बैठने वाले ! अन्य के घर में वास करने की शङ्का से भयभीत ! अपनी गृहिणी का आलिङ्गन करो । अपने ही घर में मत डरो ।

खरपवणरअगलत्थिअगिरिऊडावडणभिण्णदेहस्स ।
धुक्काधुक्कइ जीअं व विज्जुआ कालमेहस्स ॥ ८३ ॥

[खरपवनरयगलहस्तितगिरिकूटापतनभिन्नदेहस्य ।
धुकधुकायते जीव इव विद्युता कालमेघस्य ॥]

तीव्र पवन द्वारा वेग से गला पकड़ कर धकेले जाने के कारण पर्वत की चोटी से गिरे हुए काले मेघ का शरीर क्षत-विक्षत हो गया । विद्युत् मानो उसी के धुक-धुक करते हुए प्राण हैं।

मेहमहिसस्स णज्जइ उअरे सुरचावकोडिभिण्णस्स ।
कन्दन्तस्स सविअणं अन्तं व पलम्बए विज्जू ॥ ८४ ॥

[मेघमहिषस्य ज्ञायते उदरे सुरचापकोटिभिन्नस्य ।
क्रन्दतः सवेदनमन्त्रमिव प्रलम्बते विद्युत् ॥]

विद्युत् इन्द्रधनुष की नोकों से उदर विदीर्ण होने पर वेदना के कारण चीख-पुकार करते हुए मेघरूपी भैंसे की लटकती हुई आँत जैसी प्रतीत होती है।

णवपल्लवं विसण्णा पहिआ पेछन्ति चूअरुक्खस्स।
कामस्स लोहिउप्पङ्कराइअं हत्थभल्लं व ॥ ८५ ॥

[नवपल्लवं विषण्णा पथिकाः पश्यन्ति चूतवृक्षस्य।
कामस्य लोहितसमूहराजितं हस्तभल्लमिव ॥]

पीडित वियोगी आम्र-वृक्ष के नवीन पल्लव को इस प्रकार देखते हैं मानो वह काम के हाथ में स्थित रुधिर-समूह से रञ्जित भाला हो।

'काम के हाथ में स्थित' और 'रुधिर-समूह-राजित' से भाले का भेदन कर्म में रत होना व्यञ्जित है। 'रुधिर-समूह-राजित' में 'राजित' शब्द यह भी ध्वनित करता है कि कामदेव की दृष्टि में भाले का रुधिरविलन्न होना शोभा का कारण है। इससे काम की नितान्त क्रूरता व्यञ्जित होती है।

महिलाणं चिअ दोसो जेण पवासम्मि गव्विआ पुरिसा।
वोतिण्णि जाव ण मरन्ति ता ण विरहा समप्पन्ति ॥ ८६ ॥

[महिलानामेव दोषो येन प्रवासे गर्विताः पुरुषाः।
द्वे तिस्रो यावन्न मरन्ति तावन्न विरहा समाप्यन्ते ॥]

नायिका के पास शीघ्र जाने के लिये नायक को प्रेरित करती हुई दूती कहती है :—

बालक ! (उसके प्रेम को न समझने वाले !) जल्दी जाओ, देर न करो, बेचारी मर रही है। वह तुम्हारे दर्शन से ही जी उठेगी। इसमें सन्देह नहीं है। 'मर रही है' और 'जी उठेगी' क्रियाएँ व्यञ्जित करती हैं कि दूती जब नायिका के पास से नायक को बुलाने के लिये चली उस समय नायिका मरणावस्था के समीप थी किन्तु नायक यदि उसके पास चला जाय तो उसके प्राणों की रक्षा अवश्य ही हो सकती है।

तम्मिरपसरिअहुअवहजालालिपलीविए वणाहोए।
किंसुअवणन्ति कलिऊण मुद्धहरिणो ण णिक्कमइ ॥ ८८ ॥

*[आताम्रप्रसृतहुतवहज्वालावलिप्रदीपिते वनाभोगे।
किंशुकवनमिति कलयित्वा मुग्धहरिणो न निष्क्रामति ॥]*

'तुम विनाश के कारण को भी अपने भोलेपन के कारण सुखकर ही समझते हो।' अन्योक्ति द्वारा यह प्रकट करता हुआ कोई चतुर पुरुष अपने मित्र से कहता है :—

आग (दावानल) की लाल-लाल लपटों की पंक्तियों से प्रज्वलित वन-प्रदेश को पलाश वन समझ कर भोला हिरन (वहाँ से) निकलता नहीं।

णिहुअणसिप्पं तह सारिआइ उल्लाविअं म्ह गुरुपुरओ।
जह तं वेलं माए ण आणिमो कत्थ वच्चामो ॥ ८९ ॥

*[निधुवनशिल्पं तथा शारिकयोल्लपितमस्माकं गुरुपुरतः।
यथा तां वेलां मातर्न जानीमः कुत्र व्रजामः ॥]*

शारिका द्वारा सुरत क्रीडा की बातें दुहरा देने का वर्णन करती हुई कोई नायिका अपनी सखी से कहती है:—

हाय मैया ! शारिका ने गुरुजनों के समक्ष सुरत-कला (के समय की बातों) को ऐसा दुहरा दिया कि उस समय (इतनी लज्जा आयी कि) पता नहीं कहाँ चले जायें।

करता हुआ कवि कहता है :—

"ताजा खिली हुई पंखुड़ियों से उठते हुए रस को पीने का लोभी भ्रमर कुन्दकली का जो नहीं करना चाहता हो ऐसा कुछ भी नहीं है।" व्यञ्जना यह है कि भविष्य में नवयौवना नायिका के आलिङ्गन-चुम्बन आदि सभी रति-व्यापारों का आनन्द लेने की आशा में नायक कली पर भौंरे की तरह मँडराता फिर रहा है।

सो को वि गुणा इसग्रो ण आणिमो मामि कुन्दलइआए।
अच्छीहिँ च्चिअ पाउं अहिलस्सइ जेण भमरेंहि॥ ६१॥

[स कोऽपि गुणातिशयो न जानीमो मामि! कुन्दलतिकायाः।
अक्षिभ्यामेव पातुमभिलष्यते येन भ्रमरैः॥]

किसी अत्यन्त नवयौवना के प्रति अनेक युवकों को लालायित देखकर कोई कामिनी अपनी समानवयस्का मामी से कहती है :—

"हे मामि! न जाने कुन्दलतिका का वह कौन सा ऐसा अनोखा गुण है जिससे भौंरे उसे आंखों द्वारा ही पी लेना चाहते हैं।"

यहाँ 'लतिका' शब्द मे ह्रस्व के अर्थ में क प्रत्यय है। इससे नायिका की किशोरावस्था व्यञ्जित है। चरम व्यङ्ग्य यह है कि किशोरावस्था में ही इस बाला में कोई ऐसा अनोखा गुण है जिससे रसिक लोग उसे ललकती आँखों से देखते रह जाते हैं। अर्थात् दर्शन मात्र से ही यह रसिको के हृदय में उत्कण्ठा कर देती है।

एक्क च्चिअ रूअगुणं गामणिधूआ समुव्वहइ।
अणिमिसणअणो सअलो जीए देवीकओ गामो॥ ६२॥

[एकैव रूपगुणं ग्रामणीदुहिता समुद्वहति।
अनिमिषनयनः सकलो यया देवीकृतो ग्रामः॥]

[मन्ये आस्वाद एव न प्राप्तः प्रियतमाऽधररसस्य ।
त्रिदशैर्येन रत्नाकरादमृतं समुद्धृतम् ॥]

मानिनी प्रियतमा को चाटूक्तियों से मनाता हुआ अधर रस पिपासु नायक कहता है :—

जान पड़ता है देवताओं ने (अपनी) प्रियतमा के अधर-रस का आस्वाद ही नहीं चखा था। तभी तो उन्होंने रत्नाकर (सागर) से अमृत निकाला। भाव यह है कि प्रिया के अधर-रस का पान अमृत से भी अधिक मधुर होता है।

आअण्णाड्ढिअणिसिअभल्लमम्माहआइ हरिणीए ।
अदंसणो पिओ होहिइत्ति वलिउं चिरं दिट्ठो ॥ ९४ ॥

[आकर्णाकृष्टनिशितभल्लमर्माहतया हरिण्या ।
अदर्शनः प्रियो भविष्यतीति वलित्वा चिरं दृष्टः ॥]

कान तक खींचकर छोड़े हुए तीक्ष्ण बाण से मर्माहत हिरनी "फिर कभी दर्शन न होगा" यह सोचकर और ग्रीवा घुमाकर अपने प्रिय को (लालसा और उत्कण्ठा से) बहुत देर तक देखती रही।

ग्रीवा घुमाकर (वलिउं) से व्यञ्जित है कि "मृत्युकष्ट में भी प्रयत्नपूर्वक प्रिय का दर्शन किया। चरम व्यङ्ग्य यह है कि स्त्रियाँ मरण दशा में भी प्रिय की उपेक्षा नहीं करतीं, उनका प्रेम स्थायी और स्वाभाविक होता है।" किसी मनचले नायक के प्रति यह नायिका की अन्योक्ति मानी जा सकती है।

विसमट्ठिअपिक्केक्कम्बदंसणे तुज्झ सत्तुघरिणीए ।
को को ण पत्थिओ पहिआणं डिम्भे रुअन्तम्मि ॥ ९५ ॥

[विषमस्थितपक्वैकाम्रदर्शने तव शत्रुगृहिण्या ।
कः को न प्रार्थितः पथिकानां डिम्भे रुदति ॥]

किसी राजा की (शायद सातवाहन हाल की ही) प्रशंसा करता हुआ कोई कवि कहता है:—

"विषम (दुर्गम) स्थान पर लगे हुए एक पके आम को देखकर बच्चे के रोने पर तुम्हारे शत्रु की गृहिणी ने किस-किस पथिक से प्रार्थना नहीं की? 'एक' विशेषण से ध्वनित है कि तुम्हारे शत्रु की इतनी दुर्दशा हुई कि तनिक बहुत छोटी-मोटी भी खाने की वस्तु उसे दुर्लभ हो गयी। 'डिम्भ' शब्द से बालक की स्वल्प आयु, हठ और भूख के कारण व्याकुलता प्रतीत होती है। 'किस-किस से प्रार्थना न की' से अप्रार्थनीय लोगों की भी प्रार्थना करने के कारण अतिशय दैन्य की प्रतीति होती है। 'शत्रुगृहिणी' में 'गृहिणी' पद से व्यञ्जित है कि जिस बेचारी ने घर से

करता हुआ कवि कहता है :—

"ताजा खिली हुई पंखुड़ियों से उठते हुए रस को पीने का लोभी भ्रमर कुन्दकली का जो नहीं करना चाहता हो ऐसा कुछ भी नहीं है।" व्यञ्जना यह है कि भविष्य में नवयौवना नायिका के आलिङ्गन-चुम्बन आदि सभी रति-व्यापारों का आनन्द लेने की आशा में नायक कली पर भौंरे की तरह मंडराता फिर रहा है।

सो को वि गुणा इसओ ण आणिमो मामि कुन्दलइआए।
अच्छीहिं चिअ पाउं अहिलस्सइ जेण भमरेहिं॥ ६१॥

*[स कोऽपि गुणातिशयो न जानीमो मामि! कुन्दलतिकायाः।
अक्षिभ्यामेव पातुमभिलष्यते येन भ्रमरैः॥]*

किसी अत्यन्त नवयौवना के प्रति अनेक युवकों को लालायित देखकर कोई कामिनी अपनी समानवयस्का मामी से कहती है :—

"हे मामि! न जाने कुन्दलतिका का वह कौन सा ऐसा अनोखा गुण है जिससे भौंरे उसे आँखों द्वारा ही पी लेना चाहते हैं।"

यहां 'लतिका' शब्द में ह्रस्व के अर्थ में क प्रत्यय है। इससे नायिका की किशोरावस्था व्यञ्जित है। चरम व्यङ्ग्य यह है कि किशोरावस्था में ही इस बाला में कोई ऐसा अनोखा गुण है जिससे रसिक लोग उसे ललकती आँखों से देखते रह जाते हैं। अर्थात् दर्शन मात्र से ही यह रसिकों के हृदय में उत्कण्ठा कर देती है।

एक्क चिचअ रूअगुणं गामणिधूआ समुव्वहइ।
अणिमिसणअणो सअलो जीए देवीकओ गामो॥ ६२॥

*[एकैव रूपगुणं ग्रामणीदुहिता समुद्वहति।
अनिमिषनयनः सकलो यया देवीकृतो ग्रामः॥]*

बाहर निकलकर भी नहीं देखा था उसकी यह दशा ! कुल मिलाकर शत्रु-पक्ष पर राजा के अपरिमित आतङ्क, जिसके कारण उसकी असूर्यम्पश्या रानियाँ भी बीहड़ वनों में मारी-मारी फिरती हैं, तथा शौर्य की व्यञ्जना होती है।

मालारी ललिउल्लुलिअबाहुमूलेहिँ तरुणहिअआइं।
उल्लूरइ सज्जुल्लूरिआइं कुसुमाइं दावेन्ती ॥ ९६ ॥

*[मालाकारी ललितोल्ललितबाहुमूलाभ्यां तरुणहृदयानि ।
उल्लुनाति सद्योऽवलूनानि कुसुमानि दर्शयन्ति ॥]*

ताजे तोड़े हुए फूलों को दिखाती हुई मालिन अपने सुन्दर एवं उत्तुङ्ग कुचों से तरुणों के हृदय को भी चुन (तोड़) लेती है।

'ताजा तोड़े हुए फूलों को दिखाती हुई' और 'हृदय को तोड़ लेती है' से 'जैसे मैंने पुष्प तोड़े हैं वैसे ही युवकों के हृदय को भी चुन सकती हूँ' इस प्रकार हृदयों की पुष्पवत् कोमलता व्यञ्जित है। 'मालाकारी' शब्द से तुम जैसे फूलों को तोड़ कर सुई से उनकी माला बनाने में चतुर हो वैसे ही हमारे हृदयों को वश में करके विरह की सुई से उन्हें विद्ध करोगी। अहो ! तुम्हारी निष्ठुरता ! यह मालिन के प्रति व्यञ्जित है।

मज्झो पिओ कुडुम्बं पल्लिजुआणा सवत्तीओ।
जह जह वड्ढन्ति थणा तह तह छिज्जन्ति पञ्चवाहीए ॥ ९७ ॥

*[मध्यः प्रियः कुटुम्बं पल्लीयुवानः सपत्न्यः ।
यथा यथा वर्धते स्तनौ तथा तथा क्षीयन्ते पञ्च व्याध्याः ॥]*

अकअण्णुअ घणवण्णं घणवण्णन्तरिअतरणिअरणिअरं ।
जइ रे रे वाणीरं रेवाणीरं पि णो भरसि ॥ ९९ ॥

[अकृतज्ञ ! घनवर्णं घनवर्णान्तरिततरणिकरनिकरम् ।
यदि रे ! रे वानीरं रेवानीरमपि न स्मरसि ॥]

नायिका की सुरत-केलियां, संकेत-स्थान, जल-विहार आदि को भुला कर अपरिचित व्यक्ति जैसा आचरण करने वाले नायक से खीझकर असकृद् भुक्ता नायिका कहती है—

दूसरे के द्वारा किये हुए उपकार को भूल जाने वाले ! (कृतघ्न!!) यदि मेघ के समान श्यामल तथा सघन पल्लवों से सूर्य की किरणों को रोक रखने वाले (सघन एवं शीतल छाया से युक्त) वेतसकुञ्ज का स्मरण नहीं करता तो न कर परन्तु नर्मदा के जल का भी स्मरण नहीं करता !

मन्दं पि ण आणइ हलिअणन्दणो इह हि डड्ढगामम्मि ।
गहवइसुआ विवज्जइ अवेज्जए कस्स साहामो ॥ १०० ॥

[मन्दमपि न जानाति हलिकनन्दन इह हि दग्धग्रामे ।
गृहपतिसुता विपद्यतेऽवैद्यके कस्य कथयामः ॥]

मदन-संतप्त नायिका के पास वैद्य के बहाने जाने के लिये प्रोत्साहित करती हुई दूती किसी कामुक को सुनाकर कहती है—

"इस अभागे वैद्यरहित गाँव में मुखिया की पुत्री मर रही है और उसका हलिकनन्दन (कृषकपुत्र) पति कुछ भी नहीं जानता। किससे कहें ?

"हलिकनन्दन" शब्द से उसका पति हाली का बेटा (गँवार, पशुतुल्य) है तथा और कुछ नहीं जानता से "नितान्त मूर्ख है" अर्थ की व्यञ्जना होती है।

चरम व्यङ्ग्य यह आता है कि किसी अन्य गाँव से आया हुआ वैद्य बनकर उस काम-संतप्त कामिनी की चिकित्सा कर'। 'गृहपतिसुता' शब्द से "घर में उसका पर्याप्त प्रभुत्व है जिससे चिकित्सा करते हुए तुम्हें कोई बाधा नहीं होगी" अर्थ अभिव्यक्त होता है।

रसिअजणहिअअदइए कइवच्छलपमुहसुकइणिम्मइए ।
सत्तसअम्मि समत्तं छट्ठं गाहासहं एअं ॥

[रसिकजनहृदयदयिते कविवत्सलप्रमुखकविनिर्मिते ।
सप्तशतके समाप्तं षष्ठं गाथाशतकमेतत् ॥]

रसिक जनों की हार्दिक प्रिय, कविवत्सल श्रेष्ठ कवि (हाल) द्वारा निर्मित गाथासप्तसती में गाथाओं का यह छठा शतक समाप्त हुआ।

अन्तिम व्यङ्ग्य यह है कि "तुम्हारी करतूत के कारण वह प्राण दे रही है तुम अपने रूपमद में भूले जहाँ तहाँ अभिसार कर रहे हो। वह मर जायगी और उसकी हत्या का भार तुम पर होगा। अतः स्त्री हत्या के पातक से बचना चाहते हो तो फौरन दर्शन देकर उसे मृत्यु से बचा लो"।

भोइणिदिण्णपहेणअचक्खिअदुस्सिक्खिओ हलिअउत्तो।
एत्ताहे अण्णपहेणआणं छीओल्लअं देई ॥ ३ ॥

[भोगिनीदत्तप्रहेणकास्वादनदुःशिक्षितो हलिकपुत्रः।
इदानीमन्यप्रहेणकानां छी इति वचनं ददाति ॥]

अपने प्रेमी हलिकपुत्र को अन्यत्र प्रेमासक्त देखकर कोई नायिका ईर्ष्यापूर्वक अपनी सखी से कह रही है—

"गाँव के व्यापारी की पत्नी द्वारा भेजे हुए वायने के आस्वादन का लोलुप हलिकपुत्र अब अन्य के वायने को (देखकर) तो 'छि, छि' कर (घृणा प्रकट करता हुआ) त्याग देता है।

प्रहेणक शब्द का हारावली कोष में वायनक अर्थ है। वायनक के लिए आज-कल खड़ी बोली में 'वायना' शब्द प्रयुक्त होता है। स्त्रियाँ पर्वों, उत्सवों और मैके आदि से आने के अवसर पर अपने मिलने-जुलने वालों और प्रिय व्यक्तियों के यहाँ मिठाई आदि भिजवाती हैं। इसी को 'वायना' कहा जाता है।

किसी वस्तु के प्रति घृणा प्रकट करने के लिये नाक सिकोड़ कर 'छि, छि' कर देना अत्यन्त प्रचलित है।

भोगिनी शब्द व्यापारिक की पत्नी का वाचक होता हुआ भी व्यञ्जना शक्ति द्वारा 'भोगलम्पटा' का अर्थ भी देता है। इस प्रकार व्यङ्ग्य यह होता है कि वह भोग-लम्पटा है और यह भोग-रसिक। 'अब' शब्द की सहायता से व्यक्त है कि पहले तुम हम में अनुरक्त थे तो हमारी दी हुई कोई भी वस्तु तुम्हें ग्राह्य थी अब उस भोगिनी के प्रेमपाश में फँस कर तुम वह न रह गये हो।

पच्चूसमऊहावलिपरिमलणसमूससन्तवत्ताणं ।
कमलाणं रअणिविरमे जिअलोअसिरी महम्महइ ॥ ४ ॥

[प्रत्यूषमयूखावलिपरिमलनसमुच्छ्वसत्पत्राणाम्।
कमलानां रजनिविरामे जितलोकश्रीर्महमहायते ॥]

रात्रि समाप्त होने पर प्रातःकालीन सूर्य की किरणों के स्पर्श से विकसित होते हुए कमलों की, लोक को वश में करने वाली, शोभा सर्वत्र महक उठती है।

गङ्गाधर कुलवालदेव आदि टीकाकारों ने इस गाथा को भी शृङ्गार से सम्बद्ध कर दिया है।

*[यदि खिद्यते खिद्यतां नाम मातुलानि ! परलोकव्यसनिको लोकः ।
तथापि बलाद्ग्रामणीनन्दनस्य वदने वलते दृष्टिः ॥]*

हे मामि ! यदि परलोक का व्यसनी लोक खिन्न होता है तो होता रहे, बलपूर्वक रोकने पर भी दृष्टि ग्रामणी-पुत्र के मुख पर चली ही जाती है।

'व्यसनी' शब्द से ध्वनित है कि हानि-लाभ का विचार किये बिना ही लोग अन्धे होकर परलोक में आसक्त रहते हैं, किन्तु प्रेम में तो लौकिक सुख की प्रत्यक्ष प्राप्ति है। अतः लोग व्यर्थ ही परलोक की चिन्ता करते हैं। अतः प्रेम मार्ग पर चलने में मुझे "धरक नरकहू की न।"

**गेहं व वित्तरहिअं णिज्झरकुहरं व सलिलसुण्णविअं।
गोहणरहिअं गोट्ठं व तीअ वअणं तुह विओए ॥ ९ ॥**

*[गृहमिव वित्तरहितं निर्झरकुहरमिव सलिलशून्यम् ।
गोधनरहितमिव गोष्ठं तस्या वदनं तव वियोगे ॥]*

वियोगिनी नायिका की दशा से नायक को सूचित करती हुई दूती कहती है:—

तुम्हारे वियोग में उसका मुख धनहीन घर, सलिल-शून्य निर्झर-कुहर और गोधन से रहित गोष्ठ के समान है।"

'जिस प्रकार जलरहित झरना भयानक कुहर (गड्ढा) मात्र होता है। इसी प्रकार तुम्हारे वियोग में वह देहमात्र रह गयी है। उसका जीवन जीवन नहीं है।'

**तुह दंसणेण जणिओ इमीअ लज्जाउलाइ अणुराओ।
दुग्गअमणोरहो विअ हिअअ च्चिअ जाइ परिणामं ॥ १० ॥**

*[तव दर्शनेन जनितोऽस्या लज्जालुकाया अनुरागः ।
दुर्गतमनोरथ इव हृदय एव याति परिणामम् ॥]*

नायक से नायिका के अनुराग की बात कह कर उसे नायिका के प्रति प्रेम के हेतु प्रोत्साहित करती हुई दूती कहती है :—

'तुम्हारे दर्शन से जनित इस लज्जाशील नायिका का अनुराग निर्धन व्यक्ति के मनोरथ के समान हृदय में ही पूर्णता को प्राप्त होता है।'

तुम्हारे दर्शनमात्र से इसके हृदय में अनुराग हो गया किन्तु लज्जा के कारण यह व्यक्त नहीं कर सकती। (नायिका के लिये परोक्ष-सूचक सर्वनाम 'वह' के स्थान में प्रत्यक्ष और सामीप्य-सूचक 'यह' का प्रयोग ध्वनित करता है कि वह अनुरागातिशय के कारण (भावना में) सदा नायक के साथ ही रहती है और मानो दूती को भी वह प्रत्यक्ष ही यहाँ दिखाई दे रही है) इसलिये तुम्हारे संगम की कल्पना और भावी प्रणय क्रीड़ाओं की सृष्टि यह मन में ही किया करती है। इस प्रकार निर्धन व्यक्ति के अरमानों की भांति उसका अनुराग हृदय में ही परिणिति को प्राप्त होता

है। निर्धन व्यक्ति भी अगर इतना धन मिल जाय तो 'अमुक प्रकार जीवन व्यतीत करूँगा' आदि सोचता हुआ अपने मनोरथों को कल्पना में ही पूरा किया करता है।

जं तणुआअइ सा तुह कएण किं जेण पुच्छसि हसन्तो।
अह गिम्हे मह पअई एव्वं भणिऊण ओरुण्णा ॥ ११ ॥

[या तनूयते सा तव कृतेन किं येन पृच्छसि हसन्।
असौ ग्रीष्मे मम प्रकृतिरिति भणित्वावरुदिता ॥]

प्रवास से आकर अन्यासक्त नायक द्वारा हँसते हुए यह पूछे जाने पर कि 'ऐसी दुर्बल क्यों हो ?' विरह पीड़िता नायिका की गूढ़ कोप प्रकट करने वाली उक्ति का वर्णन करती हुई कोई अपनी सखी से कहती है:—

"जो कोई स्त्री क्षीण होती है, क्या वह तुम्हारे ही कारण ? जिससे हँसते हुए पूछते हो। यह तो (दुर्बल हो जाना) ग्रीष्म ऋतु में मेरा स्वभाव ही है।" यह कर वह रो पड़ी।

निमेष मात्र के लिये भी नहीं छोड़ता। अर्थात् चित्र में प्रिया द्वारा आलिङ्गित प्रिय क्षणभर के लिये भी प्रिया को नहीं छोड़ता।

"प्रिय (प्रिया को) नहीं छोड़ता" से यह ध्वनित होता हैं कि 'मैं तो आपको कभी छोड़ूँगी ही नहीं आप भी मुझे सदैव अपनाये रहें।" चित्र की प्रशंसा से यह व्यङ्ग्य है कि सार्वकालिक प्रेम की कामना चित्र में ही पूरी न होकर प्रत्यक्ष जीवन में भी पूरी होनी चाहिए। चित्र में तो हम सदा साथ रहेंगे ही।

अविहत्तसंधिबन्धं पढमरसुब्भेअपाणलोहिल्लो।
उव्वेलिउं ण आणइ खण्डइ कलिआसुइ भमरो॥ १३॥

[अविभक्तसंधिबन्धं प्रथमरसोद्भेदपानलुब्धः।
उद्वेल्लितुं न जानाति खण्डयति कलिकामुखं भ्रमरः॥]

प्रथम आविर्भूत मकरन्द के पान का लोभी भ्रमर कलिका के मुख को, जिसकी पंखुडियों का संपुट अभी खुला तक नहीं है, विकसित होने देना नहीं जानता अपितु (बल प्रयोग द्वारा) उसे खण्डित कर देता है।

कली और भौंरे के इस वर्णन से नायक का यह वृत्त व्यञ्जित होता है कि वह नवोढा के गुह्य अङ्ग को, जिसकी अन्तःसन्धियों का अभी पूर्ण विकास भी नहीं हुआ है, रति के अनुकूल बनाना तो जानता नहीं अपितु प्रथम समागम के आनन्द-लाभ के लोभ में अन्धा होकर केवल पीड़ित ही करता है।

दरवेविरोरुजुअलासु मउलिअच्छीसु लुलिअचिहुरासु।
पुरुसाइरीसु कामो पिआसु सज्जाउहो वसइ॥ १४॥

[दरवेपनशीलोरुयुगलासु मुकुलिताक्षीषु लुलितचिकुरासु।
पुरुषायितशीलासु कामः प्रियासु सज्जायुधो वसति॥]

कुछ काँपती हुई जंघाओं, मुकुलित आँखों और अस्त-व्यस्त केशों वाली पुरुषायित (जिन्होंने विपरीत रति की है) प्रियाओं में कामदेव अपने आयुधों से सज्जित होकर निवास करता है।

जं जं ते ण सुहाअइ तं तं ण करेमि जं ममाअत्तं।
अहअं चिअ जं ण सुहामि सुहअ तं किं ममाअत्तं॥ १५

[यद्यत्ते न सुखायते तत्तन्न करोमि यन्ममायत्तम्।
अहमेव यन्न सुखाये सुभग तत्किं ममायत्तम्॥

अन्य नायिका में आसक्त नायक से बार-बार यह उ
मेरे सुख का ध्यान नहीं है नायिका कहती है:—

[एकाकी मृगो दृष्ट्वा मृग्या तथा प्रलोकितः सतृष्णया ।
प्रियजानेर्यथा धनुः पतितं व्याधस्य हस्तात् ॥]

(व्याध के लक्ष्य में वर्तमान) मृगी ने अपने आप से वियुक्त एकाकी मृग को सतृष्ण दृष्टि से इस प्रकार देखा कि पत्नी को प्यार करने वाले व्याध के हाथ से धनुष गिर गया।

व्याध के बाण का लक्ष्य होती हुई मृगी अपने जीवन का मोह न कर सतृष्ण दृष्टि से अपने प्रिय को देखती है। (उसे चिन्ता यह है कि मेरे बाद में यह भी मार डाला जायेगा) यह देखकर अपनी प्रियतमा का स्मरण हो आने से व्याध के हाथ से धनुष छूट जाता है। बोद्धव्य नायक के प्रति 'स्त्रियों का प्रेम पक्का होता है, वे मरने समय भी अपनी चिन्ता न कर प्रिय की ही चिन्ता करती हैं' भाव ध्वनित होता है।

णलिणीसु भमसि परिमलसि सत्तलं मालइं पि णो मुअसि ।

चाहती हो। "ग्राहक खोजती फिरती हो" आदि परिहास नायिका के प्रति व्यङ्ग्य है।

रक्खेइ पुत्तअं मत्थएण ओच्छोअअं पडिच्छन्ती।
अंसुहिं पहिअघरिणी ओल्लिज्जन्तं ण लक्खेइ ॥ २१ ॥

[रक्षति पुत्रकं मस्तकेन पटलप्रान्तोदकं प्रतीच्छन्ती।
अश्रुभिः पथिकगृहिणी आर्द्रीभवन्तं न लक्षयति ॥]

प्रोषितपत्निका की दशा का वर्णन करता हुआ कवि कहता है—

छप्पर के छोर (अलौती) से टपकते हुए जल को अपने सिर पर लेकर उससे पुत्र को बचाती हुई प्रोषितपतिका उस (पुत्र) को अपने आँसुओं से भीगता हुआ नहीं देखती। (अर्थात् वर्षा के जल को तो वह अपने ऊपर सह लेती है किन्तु फिर भी प्रिय के स्मरण से उद्भूत अश्रुओं से पुत्र भीग ही जाता है। व्यङ्ग्य यह है कि—

"वर्षाऋतु से उद्वेलितहृदया वियोगिनी पति के निरन्तर ध्यान में अन्य सब कुछ भूली हुई है।"

सरए सरम्मि पहिआ जलाइँ कन्दोट्टसुरहिगन्धाइं।
धवलच्छाइँ सअह्ला पिअन्ति दइआणं व मुहाइं ॥ २२ ॥

[शरदि सरसि पथिका जलानि नीलाब्जसुरभिगन्धीनि।
धवलाच्छानि सतृष्णाः पिबन्ति दयितामुखानीव ॥]

प्यासे पथिक इस सरोवर में नीले कमलों की गन्ध से सुगन्धित स्वच्छ श्वेत जल अपनी प्रियतमाओं के (कमल-सुरभि और धवलाच्छाइं=धवलाक्षाणि=श्वेत नयनों वाले) मुखों के समान ही पान करते हैं।

अब्भन्तरसरसाओ उवरि पव्वाअवद्धपङ्काओ।
चङ्कमन्तम्मि जणे समुस्ससन्ति व्व रच्छाओ ॥ २३ ॥

[अभ्यन्तरसरसा उपरि प्रवातपरिबद्धकर्दमा।
चङ्क्रममाणे जने समुच्छ्वसन्तीव रथ्याः ॥]

वायु निकलने लगती है। पैर उठ जाने पर स्थिति फिर प्रायः पूर्ववत् हो जाती है। इसी प्रकार साँस छोड़ने में मनुष्य के फेफड़े खाली होते हैं तो वक्षस्थल धीरे-धीरे नीचे जाता प्रतीत होता है और साँस लेने में वह फिर ऊपर आ जाता है। श्वास-क्रिया से इस साम्य के आधार पर कवि ने गलियों के उच्छ्वास भरने की उत्प्रेक्षा की है।

यह किसी नायक के प्रति दूती की उक्ति भी हो सकती है। उसका तात्पर्य है कि प्रवात जैसे गुरुजन के भय से वह नायिका ऊपर से चाहे तुम्हें रूखी सी प्रतीत होती हो किन्तु उसका हृदय तुम्हारे प्रति प्रेम से शराबोर है। एकान्त मिले तो वह तुम से प्रेम प्रकट कर सकती है किन्तु पास में लोगों के फिरते रहने पर तो आह भर कर ही रह जाती है।

मुहपुण्डरीअछाआइ संठिआ उअह राअहंसे व्व।
छणपिट्ठकुट्टणुच्छलिअधूलिधवले थणे वहइ॥ २४॥

[मुखपुण्डरीकच्छायायां संस्थितौ पश्यत राजहंसाविव।
क्षणपिष्टकुट्टनोच्छलितधूलिधवलौ स्तनौ वहति॥]

आटा पीसने में उड़े हुए कणों से धूसरित नायिका के उरोजों को देखकर कोई रसिक अपने मित्र से कहता है:—

यह सुन्दरी उत्सव के लिये आटा पीसने में उड़ी हुई रज (बारीक आटा) से धवल स्तनों को धारण करती है जो ऐसे प्रतीत होते हैं मानो मुखरूपी कमल की छाया में संस्थित राजहंस हों।

तह तेण वि सा दिट्ठा तीअ वि तह तस्स पेसिआ दिट्ठी।
जह दोण्ह वि समअं चिअ णिव्वुत्तरआइँ जाआइँ॥ २५॥

नायक-नायिका की देखा-देखी से ही उनके आन्तरिक अनुराग को समझकर कोई विदग्ध रसिक अपने मित्र से कहता है:—

उसने (नायक ने) उसको (नायिका को) इस प्रकार देखा और उसने (नायिका ने भी उसकी ओर (नायक की ओर) इस ढंग से दृष्टि डाली कि दोनों एक साथ निवृत्तसुरत-से हो गये।

वाउलिआपरिसोसण! कुडङ्गपत्तलणसुलहसंकेअ!
सोहग्गकणअकसवट्ट गिम्ह! मा कह वि झिज्जिहिसि॥ २६॥

[वापिकापरिशोषण! निकुञ्जपत्रकरण! सुलभसंकेत!
सौभाग्यकनककषपट्ट! ग्रीष्म! मा कथमपि क्षेप्स्यसि॥]

किसी जार को अपनी अभिसार-रसिकता का परिचय देती हुई कोई कुलटा

की निन्दनीयता सूचित करने के लिये व्याव शब्द में 'क' प्रत्यय जोड़ा गया है। 'व्यावक-पुत्र' से यह सूचित होता है कि वे पिता के नाम से ही जाने जाते हैं उनका अपना स्थान नगण्य है। 'अन्य' शब्द उनकी तुच्छता को और भी अधिक बढ़ा देता है। 'व्यावयुवा' से अन्य सभी व्यावों में शूर तथा एक मात्र युवा' की प्रतीति होती है। 'धनुष नहीं उठाता' से 'हरिणों को मारकर जीविका चलाने की बात तो दूर रही उनकी ओर धनुष भी नहीं करता' व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है।

गअवहुवेहव्वअरो पुत्तो मे एक्ककण्डविणिवाई।
तह सोह्लाइ पुलइओ जह कण्डकरण्डअं वहइ ॥ ३० ॥

[गजवधूवैधव्यकरः पुत्रो मे एककाण्डविनिपाती।
तथा स्नुषया प्रलोकितो यथा काण्डकरण्डकं वहति ॥]

एक ही वाण चलाने की आदत वाले (फिर भी, एक वाण से ही) गज-वधुओं को विधवा बना देने वाले (हाथियों को मार डालने वाले) मेरे पुत्र को बहू ने ऐसी दृष्टि से देखा कि अब वह बहुत से बाण वहन करता है।

पत्नी के प्रति व्यावयुवा की आसक्ति से जनित क्षीणता का ज़िक्र करती हुई व्याध-माता की यह अपने बन्धुजन से उक्ति है। मेरा शूर पुत्र लक्ष्य पर एक ही वाण छोड़ता था और उसी से मत्त हाथियों का वध कर डालता था किन्तु पत्नी में आसक्त होने के कारण ऐसा क्षीण हो गया है कि पूरा तर्कस ही रखने लगा है, 'वहन' ही करता है। उससे कुछ कर नहीं पाता।

विञ्झारुहणालावं पल्ली मा कुणउ गामणी ससइ।
पच्चज्जिविओ जइ कह वि सुणइ ता जीविअं मुअइ ॥ ३१ ॥

[विन्ध्यारोहणालापं पल्ली मा करोतु ग्रामणीः श्वसिति।
प्रत्युज्जीवितो यदि कथमपि शृणोति तज्जीवितं मुञ्चति ॥]

युद्ध जीत कर आये हुए घायल वीर ग्रामणी की पत्नी ग्रामवासियों से कहती है कि 'ग्राम विन्ध्य पर्वत पर चले जाने की बात न करे, ग्रामणी अभी सांस लेता है। होश में आकर सुनेगा तो प्राण त्याग देगा।'

"जब तक उसमें सांस है—वह जीवित है—तब तक शत्रु के आक्रमण से गांव की रक्षा करना अपना कर्तव्य समझता है' यह "अभी तो ग्रामीण सांस ले रहा है" से व्यञ्जित है।

आप्पाहेइ मरन्तो पुत्तं पल्लीवई पअत्तेण।
मह णामेण जह तुमं ण लज्जसे तह करेज्जासु ॥ ३२ ॥

[शिक्षयति म्रियमाणः पुत्रं पल्लीपतिः प्रयत्नेन।
मम नाम्ना यथा त्वं न लज्जसे तथा करिष्यसि ॥]

मरता हुआ ग्रामणी पुत्र को प्रयत्नपूर्वक शिक्षा देता है कि इस प्रकार काम करना जिससे तुझे मेरे नाम के कारण लज्जित होना न पड़े।

"ऐसे वीर बाप का ऐसा कायर बेटा हुआ" यह प्रवाद अथवा यह 'अमुक वीर का लड़का है' इस प्रकार पिता के नाम से ही (अपने काम से नहीं) प्रसिद्धि प्राप्त करने वाले पुत्र का पिता के नाम से लज्जित होना स्पष्ट ही है। चरम व्यङ्ग्य यह है कि' तुझे अपने ही गुणों से प्रसिद्ध होना तथा कुल की मर्यादा के अनुसार कार्य करना चाहिए।

अणुमरणपत्थिआए पच्चागअजीविए पिअअम्मि।
वेहव्वमण्डणं कुलवहूअ सोहग्गअं जाअं ॥ ३३ ॥

[अनुमरणप्रस्थितायाः प्रत्यागतजीविते प्रियतमे।
वैधव्यमण्डनं कुलवध्वाः सौभाग्यकं जातम् ॥]

"सती होने के लिये प्रस्थित कुलवधू का वैधव्य-मण्डन (सती होने के लिये किया हुआ शृङ्गार) प्रियतम के प्राण लौट आने पर सौभाग्यमण्डन बन गया। व्यङ्ग्यार्थ यह है कि विधि के अनुकूल होने पर अमङ्गल भी मङ्गल हो जाता है।

महुमच्छिआइ दट्ठं दट्ठूण पिअस्स सूणोट्ठं।
ईसालुई पुलिन्दी रुक्खच्छाअं गआ अण्णं ॥ ३४ ॥

[मधुमक्षिकादष्टं दृष्ट्वा प्रियस्योच्छूनोष्ठम्।
ईर्ष्यालुः पुलिन्दी वृक्षच्छायां गतान्याम् ॥]

मधुमक्खी द्वारा काटने के कारण प्रिय के सूजे हुए ओष्ठ वाले मुख को देखकर भील-पत्नी ईर्ष्यावश अन्य वृक्ष की छाया में चली गयी।

धण्णा वसन्ति णीसङ्कमोहणे बहलपत्तलवइम्मि।
वाअन्दोलणओणविअवेणुगहणे गिरिग्गामे ॥ ३५ ॥

[धन्या वसन्ति निःशङ्कमोहने बहलपत्रलवतौ।
वातान्दोलनावनामितवेणुगहने गिरिग्रामे ॥]

पप्फुल्लघणकलम्बा णिद्धोअसिलाअला मुइअमोरा ।
पसरन्तोज्झरमुला ओसाहन्ते गिरिग्गामा ॥ ३६ ॥

[प्रफुल्लघनकदम्बा निर्धौतशिलातला मुदितमयूराः ।
प्रसरनिर्झरमुखरा उत्साहयन्ति गिरिग्रामाः ॥]

फूले हुए सघन कदम्ब-वृक्षों से युक्त, भली प्रकार धुले हुए शिलातल वाले, प्रसन्नमन मोरों से युक्त और गिरते हुए झरनों से मुखरित पर्वतीय ग्राम (सुरत के लिये) उत्साहित करते हैं ।

प्रथम विशेषण से उद्दीपन विभाव, द्वितीय से सुरत समय का शयन-स्थल, तीसरे से अन्यमनस्कता-संपादन द्वारा चिरकाल तक रमण की संभावना और चतुर्थ से सुरतकालीन स्वाभाविक कूजन आदि के ज्ञात न होने का सौकर्य व्यञ्जित है ।

तह परिमलिआ गोवेण तेण हत्थं पि जा ण ओल्लेइ ।
स च्चिअ धेणू एह्णि पेच्छसु कुडदोहिणी जाआ ॥ ३७ ॥

[तथा परिमर्दिता गोपेन तेन हस्तमपि या नार्द्रयति ।
सैव धेनुरिदानीं प्रेक्षध्वं कुटदोहिनी जाता ॥]

नीरस नायिका को भी अपनी दक्षता से सुरत व्यापार में अधिक रसिक बना देने वाले काम-कला-चतुर नायक की अन्योक्ति द्वारा प्रशंसा करती हुई कोई कहती है :—

जो गाय (दूध दुहते समय अपने दूध से) हाथ भी गीले नहीं करती थी (वह) उस (निपुण) ग्वाले ने (थन पीठ आदि को सहला कर) ऐसी मल दी कि वही अब घड़ा भर दूध देती है ।

धवलो जिअइ तुह कए धवलस्स कए जिअन्ति गिट्ठीओ ।
जिअ तम्बे अम्ह वि जीविएण गोट्ठं तुमाअत्तं ॥ ३८ ॥

[धवलो जीवति तव कृते धवलस्य कृते जीवन्ति गृष्टयः ।
जीव हे गौ ! अस्माकमपि जीवितेन गोष्ठं त्वदायत्तम् ॥]

किसी नायिका के परम सौभाग्य की व्यञ्जना करती हुई सखी उससे कहती है:—

धौला (धवल=वृषभ-श्रेष्ठ) तेरे लिये जीता है और अन्य (एक बार व्यायी हुई) गायें धौले (धवल) से जीवित हैं। हे गौ ! तू चिरकाल तक जिये क्योंकि हमारे इस गोष्ठ का जीवन तेरे ही ऊपर निर्भर है ।

अग्घाइ छिवइ चुम्वइ ठेवइ हिअअम्हि जणिअरोमञ्चो ।
जाआकवोलसरिसं पेच्छइ पहिओ महुअपुप्फं ॥ ३९ ॥

पथिक अपनी पत्नी के कपोल जैसे महुए के पुष्प को सूंघता है, छूता है, चूमता है और रोमाञ्चित होकर हृदय से लगा लेता है।

उअ ओल्लिज्जइ मोहं भुअंगकित्तीअ कडअलग्गाइ।
ओज्झरधारासद्धालुएण सीसं वणगएण ॥ ४० ॥

*[पश्यार्द्रीक्रियते मोघं भुजङ्गकृत्त्यां हि कटकलग्नायाम्।
निर्झरधाराश्रद्धालुकेन शीर्षं वनगजेन ॥]*

देखो (प्रचण्ड आतप से संतप्त) गजराज पर्वत के प्रान्त भाग में उलझी हुई सर्प की केंचुली को झरने की धारा समझकर व्यर्थ ही अपने सिर को आर्द्र (करने का प्रयास) कर रहा है।

कमलं मुअन्त महुअर पिक्ककइत्थाणं गन्धलोहेण।
आलेक्खलड्डुअं पामरो व्व छिविऊण जाणिहिसि ॥ ४१ ॥

*[कमलं मुञ्चन्मधुकर पक्वकपित्थानां गन्धलोभेन।
आलेख्य-लड्डुकं पामर इव स्पृष्ट्वा ज्ञास्यसि ॥]*

किसी गुणवती नायिका से सन्तुष्ट न होकर अधिक गुण वाली नायिका को प्राप्त करने के इच्छुक नायक को अन्योक्ति द्वारा चेतावनी देती हुई दूती कह रही है:—

पके हुए कैथ के फलों की गन्ध के लोभ से कमल का परित्याग करने वाले भ्रमर! स्पर्श करके तुम्हें पता चल जायेगा, जिस प्रकार चित्रलिखित लड्डू देखकर (उसकी प्राप्ति की आशा से अपने उपस्थित भक्ष्य को छोड़ देने वाले) गँवार को स्पर्श करने पर पता पड़ता है।

मधुकर' शब्द से 'यदि मधु प्राप्त करना है तो कमल से ही प्राप्त हो सकेगा पत्थर जैसे कैथफल से नहीं', और 'पक्व' विशेषण से "यह गन्ध केवल पाककालीन है अतः सामयिक ही है स्वाभाविक नहीं", अर्थ की अभिव्यक्ति होती है जिससे यह व्यंजित होता है कि तुम काम-कला का माधुर्य लेना चाहते हो तो कमल जैसी कोमल नायिका का परित्याग कर कैथ जैसे कड़े हृदय वाली नायिका के चक्र में मत पड़ो क्योंकि उसका सौन्दर्य सामयिक और ऊपरी ही है। पूर्ण यौवन के कारण ही वह आकर्षक दिखाई पड़ती है। उसका सौन्दर्य सहज, नहीं है। आलेख्यलड्डू से भी चित्र के समान ऊपरी सौन्दर्य का ही अस्तित्व तथा मधुरता आदि आन्तरिक गुणों का सर्वथा अभाव व्यञ्जित है।

गिज्जन्ते मङ्गलगाइआहिँ वरगोत्तदिण्णअण्णाए।
सोउं व णिग्गओ उअह होन्तवहुआइ रोमञ्चो ॥ ४२ ॥

*[गीयमाने मङ्गलगायिकाभिर्वरगोत्रदत्तकर्णायाः।
श्रोतुमिव निर्गतः पश्यत भविष्यद्वधूकाया रोमाञ्चः ॥]*

मङ्गलगीत गाने वाली स्त्रियों के गीत गाने में वर का नाम सुनने के लिये कान लगाये हुए भावी वधू का रोमाञ्च मानो (वर का नाम) सुनने के लिये निकल गया (उठ खड़ा हुआ !) है।

'कान देने' और वर का नाम सुनने के लिये रोमाञ्च के निकल आने से पति के प्रति प्रगाढ़ पूर्वानुराग की प्रतीति स्पष्ट है।

मण्णे आअण्णन्ता आसण्णविआहमङ्गलुग्गाइं।
तेहिँ जुआणेहिँ समं हसन्ति मं वेअसनिकुडङ्गा ॥ ४३ ॥

[मन्ये आकर्णयन्त आसन्नविवाहमङ्गलोद्गीतम्।
तैर्नवयुवभिः समं हसन्ति मां वेतसनिकुञ्जाः ॥]

कौमार्य अवस्था में ही अनेक युवकों से प्रच्छन्न प्रेम रखने वाली नायिका को अपने विवाहावसर पर मङ्गलगीतों को सुन कर संकुचित देखकर मित्र द्वारा यह पूछे जाने पर कि 'यह क्यों सकुचा रही है' कोई रहस्यज्ञ सहृदय कहता है कि यह सोच रही है कि:—

'उन युवकों के साथ-साथ वेतों के निकुञ्ज भी मानो मेरे समीपस्थ विवाह के मङ्गलगीतों को सुनते हुए मेरी हँसी उड़ा रहे हैं'। अर्थात् जिन युवकों के साथ यौवन के पदार्पण करते ही सुरत-रस का अबाध आस्वादन किया था वे तो मेरे विवाह को देखकर (और यह सोचकर कि इसके यौवन का वास्तविक आनन्द तो हम उठा चुके हैं पति महोदय तो उच्छिष्टभोजी ही रहेंगे) मन में हँस ही रहे हैं किन्तु सुरत-क्रीडाओं के साक्षी वेतसकुञ्ज भी श्वेत फूलों के बहाने हँस रहे हैं।

उअगअचउत्थिमङ्गलहोन्तविओअसविसेसलग्गेहि।
तीअ वरस्स अ सेअंसुएहिँ रुण्णं व हत्थेहि ॥ ४४ ॥

[उपगतचतुर्थीमङ्गलभविष्यद्वियोगसविशेषलग्नाभ्याम्।
तस्या वरस्य च स्वेदाश्रुभी रुदितमिव हस्ताभ्याम् ॥]

अतिनव वर-वधू की प्रीति का उल्लेख करती हुई नायिका की सखी सखियों से कहती है:—

"शीघ्र ही चतुर्थीमङ्गल विधि के सम्पन्न हो जाने पर होने वाले वियोग की आशङ्का से वर एवं वधू के विशेष रूप से परस्पर संलग्न (एक दूसरे से चिमटे हुए) हाथ मानो स्वेदरूपी आँसुओं से रो पड़े"।

भय उपस्थित होने पर रक्षा की आशा से मनुष्य अपने प्रिय व्यक्ति से कस कर लिपट जाया करता है। पाणिग्रहण संस्कार के समय वर-वधू के हाथ भी वियोग की आशंका से एक दूसरे से गाढ आलिङ्गन कर के मानो सात्त्विक स्वेद के रूप में आँसू बहाकर रो पड़े। हाथों के स्पर्श-मात्र से सात्त्विक स्वेद की उत्पत्ति परस्पर प्रणयाधिक्य की परिचायिका है।

विवाह के पश्चात् चतुर्थीमङ्गल, जिसे नागवल्ली-मङ्गल भी कहा जाता था, करने के पश्चात् वर कन्या के यहाँ से अपने घर चला जाता था और फिर गौना कराने के लिये ही आता था। यह तत्कालीन समाज का आचार था। कहीं-कहीं यह प्रथा अब भी प्रचलित है।

ण अ दिट्ठिं णेइ मुहं ण अ छिविउं देइ णालवइ किं पि।
तह वि हु किं पि रहस्सं णववहूसङ्गो पिओ होइ ॥ ४५ ॥

[न च दृष्टिं नयति मुखं न च स्प्रष्टुं ददाति नालपति किमपि।
तथापि खलु किमपि रहस्यं नववधूसङ्गः प्रियो भवति ॥]

नववधू के समागम की अलौकिकता का वर्णन करता हुआ कोई रसिक अपने मित्र से कहता है:—

'वह (प्रियतम के) मुख की ओर दृष्टि को नहीं ले जाती। (अपने अङ्गों का) स्पर्श नहीं करने देती, कुछ कहती भी नहीं, फिर भी नव वधू का समागम एक अद्भुत रहस्य (गूँगे का गुड़) होता है।

'दृष्टि ऊपर न उठाने' से लज्जा तथा 'स्पर्श न करने देने' से साध्वस आदि भाव व्यङ्ग्य हैं।

दर्शन, स्पर्श आदि कारणों के अभाव में भी समागम के प्रियस्वरूप कार्य का कथन होने से विभावना और प्रियता के कारण रूप में वधू के 'नवत्व' का उल्लेख होने से काव्यलिङ्ग अलंकार है।

अलिअपसुत्तवलन्तम्मि णववरे णववहूअ वेवन्तो।
संवेल्लिओरुसंजमिअवत्थगण्ठि गओ हत्थो ॥ ४६ ॥

[अलीकप्रसुप्तवलमाने नववरे नववध्वा वेपमानः।
संवेष्टितोरुसंयमितवस्त्रग्रन्थि गतो हस्तः ॥]

होता है कोप नहीं। धीरे-धीरे उनके हृदय में विश्वास उत्पन्न करके रमण करना ही विदग्ध नायक का कार्य होता है स्वयं कोप करना नहीं, यह व्यंजित है।

पुच्छिज्जन्ती ण भणइ गहिआ पप्फुरइ चुम्बिआ रुअइ।
तुह्लिका णववहुआ कआवराहेण उवऊढा ॥ ४७ ॥

[पृच्छ्यमाना न भणति गृहीता प्रस्फुरति चुम्बिता रोदिति।
तूष्णीका नववधूः कृतापराधेनोपगूढा ॥]

कृतापराध (वलपूर्वक रतिप्रवृत्त होने की चेष्टा करने वाले) नायक द्वारा आलिङ्गित मौन वधू (नायक के) पूछने पर कुछ नहीं कहती, (हाथ आदि) पकड़ने पर तुनक कर हट जाती है और चूम लेने पर रो पड़ती है।

अथवा

(यह) 'पूछने पर कोई उत्तर नहीं देती, (हाथ आदि) पकड़ लेने पर तुनक कर हट जाती है और चूमने पर रो पड़ती है (यह देखकर) वलात् प्रवृत्त नायक ने नवोढा को आलिङ्गित कर लिया।

तत्तो च्चिअ होन्ति कहा विअसन्ति तहिं तहिं समप्पन्ति।
किं मण्णे माउच्छा एक्कजुआणो इमो गामो ॥ ४८ ॥

[तत एव भवन्ति कथा विकसन्ति तत्र तत्र समाप्यन्ते।
किं मन्ये मातृष्वसः ! एकयुवकोऽयं ग्रामः ॥]

अपने प्रिय युवक की ही बातें करती हुई युवतियों से खीझ कर नायिका अपनी मौसी से कहती है:—

"हे मौसी ! बातों का आरम्भ उसी से होता है (उसी की बातों से बातें आरम्भ होती हैं) उसी में वे विकसित होती हैं (उसी के गुणगान के साथ आगे बढ़ती हैं) और उसी में उनकी समाप्ति होती है (उसी के वर्णन के साथ समाप्त होती है) तो क्या मैं मान लूँ कि इस गाँव में केवल एक ही युवक है ?

अर्थात् गाँव में युवतियों का अलाप उसके ही वर्णन से प्रारम्भ विकसित और समाप्त होता है क्योंकि उसके वर्णन को छोड़कर उनके पास कुछ कहने को है ही नहीं। इससे उसके गुणों के कारण अनुराग का आधिक्य व्यङ्ग्य है।

जाणि वअणाणि अम्हे वि जम्पिओ ताइँ जम्पइ जणो वि।
ताइं च्चिअ तेण पजम्पिआइं हिअअं सुहावेन्ति ॥ ४९ ॥

[यानि वचनानि वयमपि जल्पामस्तानि जल्पति जनोऽपि।
तान्येव तेन प्रजल्पितानि हृदयं सुखयन्ति ॥]

प्रियतम के मनोहर वचनों का वर्णन करती हुई उसकी वशंवदा नायिका सखी

से कहती है:—

"जो वचन हम बोलते हैं वे ही अन्य लोग भी बोलते हैं, किन्तु उसके द्वारा कहे हुए वे ही वचन हृदय को सुख देते हैं।"

प्रिय से सम्बन्धमात्र होने के कारण ही कोई वस्तु प्रेमी के लिये प्रिय हो जाती है। इस सम्बन्ध-भावना की अभिव्यक्ति इस गाथा में हुई है।

सव्वाअरेण मग्गह पिअं जणं जइ सुहेण वो कज्जं।
जं जस्स हिअअदइअं तं ण सुहं जं तहिं णत्थि॥ ५०॥

[सर्वादरेण मृगयध्वं प्रियं जनं यदि सुखेन वः कार्यम्।
यो यस्य हृदयदयितः तत्र सुखं यत्तत्र नास्ति॥]

पति से पराङ्मुखी कलहान्तरिता को जार के समागम के लिये प्रोत्साहित करती हुई दूती कहती है:—

'यदि तुम्हें सुख से काम है तो सब प्रकार के आदर (प्रयत्न) से प्रिय व्यक्ति की खोज करो। जो जिसका प्रियतम होता है उसके (प्रेमी के) लिये कोई ऐसा सुख नहीं जो उसमें (प्रियतम में) नहीं होता।

अर्थात् प्रिय का प्रयत्नपूर्वक अन्वेषण करना चाहिये, और यदि वह स्वयं ही आकर मिले तो अपना सौभाग्य ही समझो। 'आदर' शब्द से यदि प्रणयपात्र अपने गुणों के गर्व से उपेक्षा भी करे तो भी उसे बहुत आदर देकर स्वयं उसकी ओर प्रवृत्त होना चाहिये, और यहाँ तो वह (जार) स्वयं तुम्हें आदर-सहित प्रणयदान देने के लिये प्रस्तुत है" अर्थ व्यङ्ग्य है। यदि सुख से काम है' से पति के होते हुए भी यदि वह हृदयानुकूल नहीं है तो सुख की प्राप्ति हो नहीं सकती। अतः उसके अनुकूल न होने पर सुख-लाभ के लिये किसी अनुकूल प्रिय को स्वीकार कर लेना चाहिये" यह प्रोत्साहन नायिका के प्रति व्यङ्ग्य है।

दीसन्तो दिट्ठिसुओ चिन्तिज्जन्तो मणवल्लहो अत्ता।
उल्लावन्तो सुइसुहो पिओ जणो णिच्चरमणिज्जो॥ ५१॥

[दृश्यमानो दृष्टिसुखश्चिन्त्यमानो मनोवल्लभः श्वश्रु!
उल्लप्यमानः श्रुतिसुखः प्रियो जनो नित्यरमणीयः॥]

कि हृदय से अनुरक्त मुझ जैसे गुणग्राही के लिये वाह्य प्रसाधन व्यर्थ है। इस प्रकार नायक अपनी गुण-ग्राहकता और प्रणयातिशत ध्वनित करता है।

ठाणब्भट्ठा परिगलिअपीणआ उण्णईअ परिचत्ता।
अम्हे उण ठेरपओहर व्व उअरे च्चिअ णिसण्णा॥ ५२॥

[स्थानभ्रष्टाः परिगलितपीनत्वा उनत्या परित्यक्ताः।
वयं पुनः स्थविरापयोधरा इवोदर एव निषण्णाः॥]

धनहीन हो जाने पर निकाले हुए कामुक के पुनः धनसंचय कर लेने पर उसे लुभाने वाली वेश्या के प्रति वह कहता है—

जिस प्रकार स्थान (भुजमूल) से गिरे हुए, नष्टपीनत्व (जिनकी पुष्टता समाप्त हो चुकी है) उच्चता द्वारा परित्यक्त (ढलके हुए) वृद्धा के कुच उदरनिषण्ण (उदर पर पड़े) रहते हैं उसी प्रकार हम भी स्थान से (अपनी उच्च आर्थिक स्थिति और सामाजिक स्थान से) गिर कर, अपनी महत्ता खोकर और उन्नति द्वारा परित्यक्त (दुर्गति या अवनति को प्राप्त) होकर उदरनिषण्ण (पेट भरने में ही संलग्न) हैं।

'हम तो उन्नत पुरुषों की ही अङ्कशायिनी बनती हैं' यह कह कर तुमने पहले हमें दुत्कार दिया था। हम जैसे निर्धन, पदभ्रष्ट और अवनत तुम्हारे योग्य कहाँ? हमसे तुम्हें क्या लेना? यह उपालम्भ गणिका के प्रति व्यङ्ग्य है।

पच्चूसागअ रञ्जिअदेह पिआलोअ लोअणाणन्द!
अण्णत्तखविअसव्वरि णहभूसण दिणवइ णमो दे॥ ५३॥

[प्रत्यूषागत! सञ्जितदेह! प्रियालोक! लोचनानन्द!
अन्यत्रक्षपितशर्वरीक! नभोभूषण (नखभूषण) दिनपते नमस्ते॥]

खण्डिता नायिका विदग्धता के साथ सूर्यस्तुति के बहाने पति को उपालम्भ देती हुई कहती है—

सूर्य के पक्ष में—"प्रातःकाल आये हुए! रँगे हुए (लाल) शरीर वाले! प्रियदर्शन! अथवा प्रकाश के प्रेमी! नयनों को आनन्द देने वाले! दूसरे स्थान में (अन्य द्वीप में) रात्रि बिताये हुए! आकाश के भूषण! दिनपते! आपको नमस्कार है।'

इस प्रकार वाच्यार्थ रूप में सूर्य का वर्णन स्पष्ट होते हुए भी ध्वनि द्वारा अनुरक्तशरीर आदि नायक-विषयक अर्थ की भी प्रतीति होती है। इस प्रकार सूर्य का वर्णन करते हुए नायक का वर्णन भी करने लगना अर्थबाधा उपस्थित करता है जिससे दोनों का परस्पर उपमानोपमेय भाव व्यञ्जित होता है। अतः 'जिस प्रकार सूर्य को दूर से ही प्रणाम किया जाता है उसी प्रकार तुम भी दूर से ही प्रणाम करने के योग्य हो' नायक के प्रति यह उपालम्भ चरम व्यङ्ग्य है।

विवरीअसुरअलेहल पुच्छसि मह कीस गब्भसंभूइं।
ओअत्ते कुम्भमुहे जललवकणिआ वि किं ठाइ ॥ ५४ ॥

[विपरीतसुरतलम्पट ! पृच्छसि मम किमिति गर्भसंभूतिम् ।
अपवृत्ते कुम्भमुखे जललवकणिकापि किं तिष्ठति ॥]

नायिका से गर्भवती होने की बात पूछने पर उसने नायक को उत्तर दिया—

"विपरीत रति के लम्पट ! मुझसे गर्भ की संभावना पूछते हो। घड़े का मुँह उलटा कर देने पर क्या जल की एक बूँद भी ठहर सकती है ?"

अच्चासण्णविवाहे समं जसोआइ तरुणगोवीहिं।
वड्ढन्ते महुमहणे सम्बन्धा णिह्लविज्जन्ति ॥ ५५ ॥

[अत्यासन्नविवाहे समं यशोदया तरुणगोपीभिः ।
वर्धमाने मधुमथने सम्बन्धा विनिह्नूयन्ते ॥]

दूर का सम्बन्ध होने के कारण मनोभिलषित नायक के प्रति प्रणय-प्रवृत्त होने में सकुचाती हुई नायिका को प्रोत्साहित करती हुई दूती कहती है—

"बढ़ते हुए कृष्ण के विवाहयोग्य हो जाने पर तरुणगोपियाँ यशोदा के साथ अपने सम्बन्धों को छिपाती हैं (क्योंकि निकट सम्बन्ध के अभाव में विवाह की आशा हो सकती है) विवाह सम्बन्ध में भी जब इस प्रकार के सम्बन्धों की उपेक्षा कर अपना लक्ष्य सिद्ध किया जाता है तो प्रच्छन्न प्रणय में तो इन सम्बन्धों को तिलाञ्जलि देकर प्रणय-सम्बन्ध जोड़ ही लेना चाहिये" यह नायिका के प्रति व्यङ्ग्य है।

जं जं आलिहइ मणो आसावट्टीहिं हिअअफलअम्मि।
तं तं वालो व्व विही णिहुअं हसिऊण पम्हुसइ ॥ ५६ ॥

[यद्यदालिखति मन आशावर्तिकाभिर्हृदयफलके ।
तत्तद् बाल इव विधिनिभृतं हसित्वा प्रोञ्छति ॥]

अभीष्ट युवक के प्रणय की प्राप्ति में असफल नायिका विधि को कोसती हुई

कहती है—

'मन आशारूपी रंगीन वत्ती से हृदय रूपी फलक पर जो कुछ लिखता है उसे विधि वालक के समान हँसकर चुपचाप पोंछ देता है'।

जिस प्रकार वालक किसी की हानि-लाभ का विचार किये विना ही खेल-खेल में ही चित्रपटल पर अङ्कित चित्र को पोंछ देता है और यह उसकी नैसर्गिक क्रीडा कही जाती है उसी प्रकार विधि भी मेरे सव मनोरथों को क्रीडा के साथ ही नष्ट कर डालता है। विधि के हँसकर यह कार्य करने से उसकी निष्ठुरता द्योतित होती है। 'चुपचाप' क्रियाविशेषण से विधि का षड्यन्त्र और नायिका के अप्रत्याशित रूप में सहसा ही अपने कार्य को असफल पानेपर घोर निराशात्मक विषाद व्यङ्ग्य है। 'वालक के समान' इस उपमा से वालक के हठी स्वभाव के समान ही दैव की हठपरता और उसके समक्ष नायिका का परवशताजन्य दैन्य व्यञ्जित है।

अणुहूत्तो करफंसो सअलअलापुण्ण ! पुण्णदिअहम्मि।
वीआसङ्गकिसङ्गअ एण्हि तुह वन्दिमो चलणे ॥ ५७ ॥

*[अनुभूतः करस्पर्शः सकलकलापूर्ण पूर्णदिने पुण्यदिने !
द्वितीयासङ्गकृशाङ्ग ! इदानीं तव वन्दामहे चरणौ ॥]*

चतुर खण्डिता प्रातः काल अन्य नायिका के पास से आये हुए नायक को चन्द्र-नमस्कार के वहाने उपालम्भ देती हुई कहती है:—

चन्द्र पक्ष में—हे सकल (सोलह) कलाओं से पूर्ण ! (चन्द्र ! तुम्हारी कलाओं से) पूर्ण दिन (पूर्णिमा के दिन) तुम्हारे करों (किरणों) के स्पर्श का अनुभव किया था। और अव, हे द्वितीया तिथि के सङ्ग से कृश अङ्ग वाले ! तुम्हारे चरणों को नमस्कार करती हूँ।

नायक पक्ष में—हे समस्त (चौंसठ) कलाओं से पूर्ण (अथवा काकु द्वारा व्यङ्ग्योक्ति से 'हे समस्त शठतापूर्ण प्रवञ्चनाओं के पंडित!) अपने पुण्योदय के शोभन दिन मैंने तुम्हारे करों के स्पर्श का अनुभव किया (तुम्हारे प्रेम भरे प्रथम आलिङ्गन को पाकर मैंने अपना भाग्य सराहा था और उस दिन को अपने पुण्योदय का शुभदिवस माना था) किन्तु अव, हे दूसरी नायिका के सङ्गम से कृश-शरीर ! मैं तुम्हारे चरणों के (काकु द्वारा, दूर से ही) नमस्कार करती हूँ।

काकु द्वारा सकल कलापूर्ण विशेषण से असूया और चरणों को नमस्कार करने से कोप की प्रतीति होती है। कोप में किसी को दूर से नमस्कार करना' लोक प्रसिद्ध मुहाविरा है। हमने तो 'तुम्हारे करों का स्पर्श पाकर ही स्वयं को धन्य और उस दिन को शुभ समझा था परन्तु दूसरियों के साथ तो सङ्ग (समागम) भी होता है। धन्य है आपकी उदारता ! यह ईर्ष्या भी ध्वनित है।

"वह दिन शुभ था जव मैंने (विवाह के समय) तुम्हारे कर का सुखकर स्पर्श पाया था किन्तु अव तो तुम मुझ पाणिगृहीता (विवाहिता) को छोड़ कर अन्य

के समागम में मस्त हो जो तुम्हारे शरीर का शोषण कर रही हैं। धन्य है तुम्हारी बुद्धि!" यह उपालम्भ नायक के प्रति व्यङ्ग्य है।

अप्रस्तुत चन्द्रमा के वृत्तान्त से प्रस्तुत नायक की प्रतीति होने के कारण 'अप्रस्तुत प्रशंसा' अलङ्कार और उससे "भाग्योदय के दिन तुम्हारे कर का स्पर्श मैंने किया था, वह समय गया। अब तो तुम्हारे चरणों में दूर से ही प्रणाम है क्योंकि सौत की ईर्ष्या-अग्नि में जलते रहने की अपेक्षा तुमसे दूर रहना ही श्रेयस्कर है'। यह व्यङ्ग्यार्थ प्रतीत होने के कारण यह अलङ्कार से वस्तुध्वनि का उदाहरण है।

दूरन्तरिए वि पिए कह वि णिअत्ताइँ मज्झ णअणाइँ।
हिअअं उण तेण समं अज्ज वि अणिवारिअं भमइ ॥ ५८ ॥

[दूरान्तरितेऽपि प्रिये कथमपि निवर्तिते मम नयने।
हृदयं पुनस्तेन सममद्याप्यनिवारितं भ्रमति ॥]

प्रियतम के जाने के समय सखी की यह शिक्षा सुनकर कि 'तनिक अपने हृदय को दृढ़ रखो', प्रिय में अत्यन्त अनुरक्त नायिका उत्तर देती है:—

"प्रियतम के दूर दृष्टि से ओझल हो जाने पर मैंने नेत्र तो ज्यों त्यों लौटा लिये किन्तु हृदय अब भी बेरोक टोक (मेरे नियन्त्रण की परवाह न करके) उनके साथ घूम रहा है।

नेत्र स्वेच्छा से नहीं लौटे अपितु कठिनाई से नायिका ने लौटाये हैं। इससे नायक के प्रति उसके प्रणय का आधिक्य व्यञ्जित है। हृदय ने तो उसकी आज्ञा का तिरस्कार ही कर दिया और वह जहाँ भी प्रियतम जाते हैं वहीं जाता है। इससे नायिका की प्रेमपरवशता व्यङ्ग्य है। जिससे सखी के प्रति "मैं विवश हूँ, हृदय मेरे कहने में है ही नहीं, उसे कैसे धैर्य दूँ" अर्थ ध्वनित है।

तस्स कहाकण्टइए सद्दाअण्णणसमोसरिअकोवे।
समुहालोअणकम्पिरि उवऊढा किं पवज्जिहिसि ॥ ५९ ॥

[तस्य कथाकण्टकिते! शब्दाकर्णनसमपसृतकोपे!
सम्मुखालोकनकम्पनशीले! उपगूढा किं प्रपत्स्यसे ॥]

प्रिय के दर्शन-मात्र से ही शिथिल-माना नायिका को उपालम्भ देती हुई सखी कहती है:—

"उसकी (प्रिय की) कथा मात्र से ही रोमाञ्चित हो उठने वाली! उसके शब्दों को सुनने से ही विगत मान वाली! और उसे सम्मुख आया देखकर ही कम्पयुक्त हो उठने वाली! (उसके द्वारा) आलिङ्गित होकर तेरी दशा क्या होगी?"

"प्रिय के प्रति अपने प्रणयातिशय के कारण तुम मान धारण करने में सर्वथा असमर्थ हो। हमने तुम्हारी सब बहादुरी देख ली है। क्यों व्यर्थ ही हमें चलाती हो ?" यह उपालम्भ नायिका के प्रति व्यञ्जित है।

भरणमिश्रणीलसाहग्गखलिअचलणद्धविहुअवक्खउडा।
तरुसिहरेसु विहंगा कह कह वि लहन्ति संठाणं ॥ ६० ॥

[भरनमितनीलशाखाग्रस्खलितचरणार्धविधुतपक्षपुटाः।
तरुशिखरेषु विहङ्गाः कथं कथमपि लभन्ते संस्थानम् ॥]

(अपने शरीर के) भार से झुके हुए श्यामल शाखा के छोर पर पैरों के अग्रभाग को न जमा पाने से पंखों को फड़फड़ाते हुए विहग वृक्षों के शिखरों पर बड़ी कठिनाई से बैठ पाते हैं।

अहरमहुपाणधारिल्लिआइ जं च रमिओ सि सविसेसं।
असइ अलज्जिरि बहुसिक्खिरि त्ति मा णाह मण्णुहिसि ॥ ६१ ॥

[अधरमधुपानलालसया यच्च रमितोऽसि सविशेषम्।
असती अलज्जाशीला बहुशिक्षितेति मा नाथ ! मंस्था ॥]

सुरत के समय आनन्दातिरेक के कारण लज्जा और संकोच का त्याग कर रमण करने के पश्चात् नायिका नायक के मन में अन्यथा सन्देह का निवारण करने के उद्देश्य से कहती है:—

हे नाथ ! अधररस के पान की लालसा से विशिष्टता के साथ मैंने आपसे रमण किया है। इससे मुझे व्यभिचारिणी, निर्लज्ज और (रति क्रीड़ा में बहुत प्रकार से अनेक नायकों के द्वारा) शिक्षित अथवा बहुत अभ्यस्त मत मान लेना।

लज्जा त्यागकर अनेक प्रकार से रति में प्रवृत्त होने से पहले अभ्यास और अन्य-गामिनी होने का भ्रम हो सकता है। वह न होना चाहिये। 'नाथ' सम्बोधन से 'केवल तुम्हीं मेरे अवलम्ब हो। अतः निश्छल हृदयसमर्पण करने वाली के (मेरे) प्रति आप का उक्त भ्रम अनुचित और अकीर्तिकर होगा' यह नायक के प्रति व्यङ्ग्य है।

खाणेण अ पाणेण अ तह गहिओ मण्डलो अडअणाए।
जह जारं अहिणन्दइ भुक्कइ घरसामिए एन्ते ॥ ६२ ॥

[खादनेन च पानेन च तथा गृहीतो मण्डलोऽसत्या।
यथा जारमभिनन्दति बुक्कति गृहस्वामिन्यायाति ॥]

'असती के कारनामों का पता भी नहीं चल सकता' यह व्यक्त करता हुआ कोई अनुभवी अपने सहचर से कहता है :—

"कुलटा ने खिलाने-पिलाने से कुत्ते को इस प्रकार वश में कर लिया है कि वह जार का तो अभिनन्दन करता है और घर के मालिक के आने पर भोंकने लगता है।" (जिससे जार के साथ सुरत-संलग्न नायिका समझकर सावधान हो जाती है और उसे जल्दी से बचाव के प्रबन्ध का समय मिल जाता है)।

'जार का स्वागत करने' से घर में उसका चुपचाप प्रवेश ध्वनित है। 'गृह-स्वामी' शब्द से जिस घर में खाना-पानी मिलता है उस घर के स्वामी को भी भोंकता है। अतः कुत्ते का प्रशिक्षण बड़ी चतुराई के साथ किया गया प्रतीत होता है। 'गृह-स्वामी' शब्द से ही यह भी व्यङ्ग्य है कि वह घर का ही मालिक है नायिका अपने शरीर और हृदय पर उसका स्वामित्व नहीं मानती।

कण्डन्तेण अकण्डं पल्लीमज्झम्मि विअडकोअण्डं।
पइमरणाहिँ वि अहिअं वाहेण रुआविआ अत्ता॥ ६३॥

[कण्डूयता अकाण्डे पल्लीमध्ये विकटकोदण्डम्।
पतिमरणादप्यधिकं व्याधेन रोदिता माता॥]

अत्यन्त विलासी पति के प्रति अतिशय सुरतप्रियता का दोष प्रकारान्तर से व्यक्त करती हुई कोई विदग्धा नायिका कहती है :—

गाँव के बीच में अनवसर ही अपने (परम्परागत) विकट धनुष को कुछ छिलवा कर हल्का कराते हुए व्याध युवक ने माँ को अपने पति की मृत्यु से भी अधिक रुलाया।'

पति की शूरता को अक्षुण्ण रखने के लिये पुत्र ही एकमात्र अवलम्ब था किन्तु परम्परागत धनुष को हल्का कराकर उसने अपनी अशक्तता का परिचय दिया और पति के यश को समाप्त कर दिया। अतः व्याधमाता को पति की अपेक्षा उसकी कीर्ति के ही अधिक गौरवदायी होने के कारण उसकी मृत्यु से कहीं अधिक दुःख उसकी कीर्ति का नाश होने से हुआ। गाँव के बीच में धनुष का छीला जाना सरे बाजार इज्जत का चला जाना है। 'अनवसर' शब्द से व्यञ्जित है कि रति जन्य-दुर्बलता के अतिरिक्त धनुष को छीलने का कोई अन्य कारण नहीं था।

में ही रमण तथा मेरी उपेक्षा करना अवश्यम्भावी है) कोई चारा नहीं चलता (मैं निरुपाय हूँ, विवश हूँ) फिर आँसू कैसे पोंछे जायें ? (रोना कैसे वन्द हो ?)

'हम' शब्द से 'मैं ही नहीं मेरा पूरा घर तथा सखियाँ सभी सरल-स्वभाव हैं'। अर्थ व्यक्त होता है। हावादिक के लिये 'विकार' शब्द का प्रयोग इस बात का व्यञ्जक है कि भले घर की बहू-बेटियों का स्वभाव हावादि से दूर (सरल) होता है। अतः हावों के प्रति नायिका की स्वाभाविक अरुचि प्रतीत होती है। 'कोई चारा नहीं' से 'प्रिय अपनी हाव-भाव-प्रियता त्यागने में असमर्थ हैं और मैं अपना सरल स्वभाव त्यागने में। अतः निर्वाह की गुञ्जाइश ही नहीं है' अर्थ ध्वनित है। 'आँसू कैसे पोंछे जायें' से चिन्ता, दैन्य और विषाद व्यञ्जित हैं।

धवलो सि जइ वि सुन्दर तह वि तुए मज्झ रञ्जिअं हिअअं।
राअभरिए वि हिअए सुहअ णिहित्तो ण रत्तो सि ॥ ६५ ॥

[धवलोऽसि यद्यपि सुन्दर ! तथापि त्वया मम रञ्जितं हृदयम् ।
रागभृतेऽपि हृदये सुभग ! निहितो न रक्तोऽसि ॥]

'मुझ अति-अनुरागिणी में भी तुम अनुराग नहीं रखते' प्रिय को यह उपालम्भ देती हुई कोई विदग्ध नायिका कहती है—

हे सुन्दर ! तुम धवल (श्वेत तथा श्रेष्ठ) हो फिर भी तुमने मेरा हृदय रँग दिया है। (मैं तुम्हारे अनुराग में डूब गई हूँ) और हे सुभग ! मैंने तुम्हें अपने रागभरे (प्रेम से भरे हुए, रँग से भरे हुए) हृदय में रखा है फिर भी तुम रक्त (मुझमें अनुरक्त, तथा रँगे हुए) नहीं हुए।

पूर्वार्ध में 'धवल होते हुए भी हृदय को रँग देने से' विरोध अलङ्कार स्पष्ट है और उत्तरार्ध मे 'राग (रँग) से भरे हुए हृदय में रखने से भी न रँगा जाना' अतद्गुण अलङ्कार है। नायक के प्रति 'मैं तुम में अनुरक्त हूँ किन्तु तुम फिर भी मुझसे प्रेम नहीं करते' वस्तु व्यङ्ग्य है। 'राग-भरे' में 'भरे' शब्द से हृदय में प्रेम की पूर्णता व्यञ्जित है और 'हृदय में रखने' से 'मैंने स्वेच्छा से तुम्हारा वरण किया है', अर्थ ध्वनित होता है तथा पूर्वार्ध में 'सुन्दर' संबोधन से "मैं केवल तुम्हारे बाह्य सौन्दर्य को देखकर ही मुग्ध हो गयी। तुम्हारे गुणों का मुझे पता ही नहीं था' एवं उत्तरार्ध में 'सुभग' पद से 'तुमसे उपेक्षित होकर भी मैं तुम में अत्यन्त अनुरक्त हूँ। यह अपना सौभाग्य समझो' आदि व्यङ्ग्यार्थों द्वारा "तुम अपने सौन्दर्यमद में मत्त होकर कुछ देखते ही नहीं" उपालम्भ व्यञ्जित है।

चञ्चुपुडाहअविअलिअसहआररसेण सित्तदेहस्स।
कीरस्स मग्गलग्गं गन्धन्धं भमइ भमरउलं ॥ ६६ ॥

[चञ्चुपुटाहतविगलितसहकाररसेन सिक्तदेहस्य ।
कीरस्य मार्गलग्नं गन्धान्धं भ्रमति भ्रमरकुलम् ॥]

करते हुए ही अस्पृहणीय अवशिष्ट दिवस को गुज़ार देंगे और 'रात्रि में हमारी शय्या में मत विलीन हो जाना' से खूब देख-भाल कर मेरी ही खाट पर आना, ऐसा न हो कि मेरी सास की खाट पर पहुँच जाओ' अर्थ व्यञ्जित है। "रात्र्यन्धक' सम्बोधन से यदि दैवयोग से कोई व्यक्ति कहीं से टपक ही पड़े तो मेरी खाट तक आने का कारण रतौंधी बताते हुए बहाना बना देना' शिक्षा ध्वनित है। इस प्रकार वक्त्री कामिनी नायिका और बोद्धव्य कामुक नायक के वैशिष्ट्य से' घर में मैं और मेरी सास ही हैं और कोई यहाँ फटकता भी नहीं। सास भी बूढ़ी और बहरी है और झटोले में पड़कर ऐसे सो जाती है जैसे कुए में पड़ी हो। अतः निःशङ्क होकर सावधानी से मेरी खाट पर आ जाना और वहीं सुरतरस में निमग्न होना। यदि दैवयोग से कुछ खटका हो तो रतौंधी का बहाना बना देना' आदि व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है।

परिओससुन्दराइं सुरएसु लहन्ति जाइँ सोक्खाइं।
ताइं च्चिअ उण विरहे खाउग्गिणाइँ कीरन्ति ॥ ६८ ॥

[परितोषसुन्दराणि सुरतेषु लभन्ते यानि सौख्यानि।
तान्येव पुनर्विरहे खादितोद्‍गीर्णानि कर्वन्ति ॥]

विरह-वेदना की विषमता व्यक्त करती हुई विरहिणी अपनी सखी से कहती है:—

सुरत-क्रीडाओं में तृप्ति देने वाले (जी भर कर) जो सुख लिये जाते हैं उन्हीं को (महिलाएँ) विरह में उगला करती हैं।

जिस प्रकार मनचाहे पदार्थ लालचवश आवश्यकता से अधिक खा लिये जाते हैं तो बाद में वे अन्य भुक्त वस्तु को भी लेकर वमन द्वारा निकल जाते हैं और अत्यन्त पीड़ा तथा उद्वेग के कारण होते हैं, उसी प्रकार सुरतकाल में ललक के साथ जिन सुखों का खूब उपभोग करते हैं वे विरह में अन्य सुखों को साथ लेकर (पहुँच के) बाहर हो जाते हैं और (स्मरण आकर) अतिशय पीड़ा पहुँचाते हैं।

मग्गं च्चिअ अलहन्तो हारो पीणुण्णआणँ थणआणं।
उव्विग्गो भमइ उरे जमुणाणइफेणपुञ्जो व्व ॥ ६९ ॥

[मार्गमिवालभमानो हारः पीनोन्नतयोः स्तनयोः।
उद्विग्नो भ्रमत्युरसि यमुनानदीफेनपुञ्ज इव ॥]

किसी पीनोन्नतस्तनी सुन्दरी की शोभा का साभिलाप वर्णन करता हुआ कोई रसिक कहता है:—

पीन और उन्नत कुचों के बीच में मानो मार्ग न पाता हुआ हार यमुना नदी के फेन-पुञ्ज के समान उद्विग्न होकर वक्षस्थल पर इधर-उधर फिर रहा है। अर्थात् पार्श्ववर्ती पर्वतों के मध्यगत यमुना का फेन-पुञ्ज बहने के लिये मार्ग न पाकर जैसे वहीं इधर-उधर घूमता रहता है उसी प्रकार कुचों के मध्य में स्थित तुम्हारा चञ्चल

हार भी मार्ग न पाकर इधर उधर भटकता रहता है। हार के मार्ग की अप्राप्ति में कुचों की पीनता और उच्चता कारण है और मार्ग न पाने के कारण ही वह चञ्चलता के साथ इधर उधर फिरता है। इस प्रकार तुम्हारे कुच इतने ऊँचे और पुष्ट हैं कि वहाँ हार के लिये भी स्थान नहीं है।" यह अर्थ व्यङ्ग्य है। यमुना-फेन की उपमा से हार में श्यामता व्यञ्जित है जो स्वयं कुचों के अग्रभाग की श्यामता की प्रतिच्छाया मात्र है। कुचाग्र की श्यामता से नायिका का गर्भिणीत्व, गर्भिणीत्व से अभोग्यत्व और अभोग्यत्व से रसिक द्रष्टा के हृदय का खेद अभिव्यक्त होता है।

एक्केण वि वडवीअङ्कुरेण सअलवणराइमज्झम्मि।
तह तेण कओ अप्पा जह सेसदुमा तले तस्स॥ ७०॥

[एकेनापि वटवीजाङ्कुरेण सकलवनराजिमध्ये।
तथा तेन कृत आत्मा यथा शेषद्रुमास्तले तस्य॥]

प्रतिद्वन्द्वियों को अपने प्रभाव से अभिभूत रखने वाले नवयुवक का वर्णन करता हुआ उसका कोई प्रशंसक कह रहा है :—

'वटबीज के अकेले ही अङ्कुर ने अपने आप को इस प्रकार (प्रसारित) किया कि समस्त वनों के वृक्ष उससे तले रहे।' अर्थात् ऊँचाई और फैलाव में उसकी बराबरी न कर सके।'

इस अन्योक्ति से 'उस अकेले ही युवक ने अपने प्रतिद्वंद्वियों में अपने आपको इस प्रकार प्रकाशित किया (इतनी उन्नति प्राप्त की) कि अन्य सब उससे नीचे रह गये।' अर्थ व्यङ्ग्य है। 'वटबीजाङ्कुर' से कल-परसों का लड़का (कम आयु का युवक) एवं इससे उसकी शीघ्र उन्नति ध्वनित है। 'शेष वृक्ष उससे नीचे रहे' न कहकर 'उसके तले रहे' कहा है जिससे व्यञ्जित होता है कि "जिस प्रकार एक वृक्ष के तले अन्य वृक्ष स्वतन्त्रतापूर्वक नहीं बढ़ सकते उसी प्रकार इसके द्वारा अभिभूत व्यक्ति इससे नीचे ही रहे यही बात नहीं है अपितु स्वतन्त्र रूप से अपना विकास भी नहीं कर सके।"

अइदीहराइं बहुए सीसे दीसन्ति वंसवत्ताइं।
भणिए भणामि अत्ता तुम्हाणं वि पण्डुरा पुट्ठी ॥ ७४ ॥

*[अतिदीर्घाणि वध्वाः शीर्षे दृश्यन्ते वंशपत्राणि।
भणिते भणामि श्वश्रु ! युष्माकमपि पाण्डुरं पृष्ठम् ॥]*

बाँसों के कुञ्ज में प्रच्छन्न प्रेमी के साथ समागम करके आयी हुई पुत्रवधू को ताड़कर उसके कारनामे की ओर संकेत कर लज्जित करती हुई सास बोली:—

"बहू के सिर पर बाँस की पर्याप्त लम्बी-लम्बी पत्तियाँ (लगी हुई) दिखाई पड़ती हैं"। इस पर नहले पर दहला जमाती हुई बहू ने उत्तर दिया:—

"सास जी ! कहने पर ही कहती हूँ 'तुम्हारी पीठ भी तो धूसरित हो रही है'। 'अतिदीर्घ पत्तियाँ' कह कर सास ने बहू के संभावित बहाने का कि 'हवा के कारण उड़कर आ लगी होगी' निराकरण पहले ही कर दिया। इसलिये बहू को लज्जा के साथ खीझ भी हुई। जो स्वयं सास के छिद्रवती होकर भी छिद्रान्वेषण करने के कारण और भी बढ़ी, फिर भी उसने अपने आपको संभालते हुए आदरसूचक बहुवचन का प्रयोग करते हुए सास को उत्तर दिया। यह उसकी विदग्धता का व्यञ्जक है। 'भणिते भणामि' (तुमने कहा है तो कहती हूँ) से व्यञ्जित है कि मैं बहुत पहले से तुम्हारे रहस्य को जानती थी, फिर भी मैंने कभी कहा नहीं। आज तुमने मुझ पर आक्रमण कर ही दिया तो सिर्फ अपने बचाव के लिये ही मैं कहने के लिये बाध्य हुई हूँ। दोनों का भला इसी में है कि 'तू कहे न मेरी और मैं कहूँ न तेरी।'

अत्थक्करूसणं खणपसिज्जणं अलिअवअणणिब्बन्धो।
उम्मच्छरसंतावो[1] पुत्तअ पअवी सिणेहस्स ॥ ७५ ॥

*[आकस्मिकरोषणं क्षणप्रसीदनमलीकवचननिर्बन्धः।
उन्मत्सरसंतापः पुत्रक ! पदवी स्नेहस्य ॥]*

नायिका के मान को देखकर 'अब यह मुझ से प्रेम नहीं करती' इस भ्रमवश दुःखी और प्रणय-शिथिल नायक को समझाती हुई वृद्धा दूती कहतीहै:—

'अकारण ही रूठना, क्षणभर में ही प्रसन्न हो जाना, व्यर्थ ही आग्रह करना अथवा झूठ-मूठ की बातों में आग्रह करना, (सपत्नियों के प्रति) ईर्ष्या के कारण संताप, बेटा ! यह तो प्रेम की (ही) पद्धति है।

'पुत्रक' सम्बोधन से 'तुम मेरे वात्सल्य के पात्र हो, मेरा अनुभव बहुत है, अतः मेरा उपदेश मानो' व्यङ्ग्य है जिससे "अनुराग के कारण ही वह तुमसे रूठने

१. एक पुरानी टीका में 'उन्मूर्च्छनसंतावो' पाठ देखकर व्याख्या की गई है 'उन्मूर्च्छनम् प्रतिकूलवाचा प्रकोपनम्, अर्थात् प्रतिकूल वचन कहकर कोप दिलाना उन्मूर्च्छन कहलाता है। गदाधर ने 'उन्मच्छर' शब्द का अर्थ 'बहुल' (अत्यधिक) किया है।
गाथासप्तशती पर भट्ट मथुरानाथ जी की टीका, पृष्ठ ३४८

आदि के विविध मार्गों का आश्रय लेती है। तुमसे विरक्त नहीं है। अतः बात को समझ कर निपुण प्रणयी जैसा आचरण करो" यह नायक के प्रति व्यङ्ग्यार्थ है।

पिज्जइ कण्णञ्जलिहि जणरवमिलिअं वि तुज्झ संलावं ।
दुद्धं जलसम्मिलिअं सा बाला राअहंसि व्व ॥ ७६ ॥

*[पिबति कर्णाञ्जलिभिर्जनरवमिलितमपि तव संलापम् ।
दुग्धं जलसम्मिलितं सा बाला राजहंसीव ॥]*

लोगों की भीड़ में परस्पर दर्शन हो जाने पर भी कटाक्षादि द्वारा कोई संकेत न मिलने के कारण नायिका के प्रेम के प्रति संदेहशील नायक को समझाती हुई दूती कहती है:—

"अन्य लोगों के शब्दों के साथ मिले हुए तुम्हारे वचनों को वह बाला अपने कानों की अञ्जलियों से उसी प्रकार पी लेती है जिस प्रकार राजहंसी जलमिले हुए (दूध में से) दूध को।"

"वचनों को पीने" से अत्यन्त उत्सुकता के साथ श्रवण, 'जलमिले दूध' की उपमा से अन्य जनों की अपेक्षा नायक के वचनों को नायिका द्वारा अतिशय गौरव प्रदान करना, 'राजहंसी' उपमान से नायिका की सदसद्विवेक में विदग्धता तथा विशुद्धता (अन्य किसी युवक के प्रति स्नेह का अभाव) तथा 'बाला' शब्द से उसकी मुग्धता और कटाक्षादि द्वारा भावाभिव्यक्ति के प्रति उदासीनता व्यञ्जित है जिससे नायक के प्रति नायिका के अहैतुक प्रेम की पराकाष्ठा प्रतीत होती है।

"अञ्जलि शब्द से अत्यन्त पिपासाकुल व्यक्ति की चेष्टा सूचित करके नायक के वचन-श्रवण के प्रति नायिका की परम उत्कण्ठा व्यक्त की गयी है। सब कुछ मिलाकर "तुम्हारे दर्शन के लिये वह पहले से ही उत्कण्ठित है और कोलाहल में मिली हुई तुम्हारी आवाज़ को सुनकर उधर ही कान लगाये एकान्तभाव से तुम्हारे प्रेम में विलीन हो जाती है। अतः तुम्हें उसके प्रणय में कोई सन्देह नहीं करना चाहिये।" यह प्रोत्साहन नायक के प्रति व्यञ्जित है।

अइ उज्जुए ण लज्जसि पुच्छिज्जन्ति पिअस्स चरिआइं ।
सव्वङ्गसुरहिणो मरुवअस्स किं कुसुमरिद्धीहिं ॥ ७७ ॥

*[अयि ऋजुके न लज्जसे पृच्छन्ती प्रियस्य चरितानि ।
सर्वाङ्गसुरभेर्मरुवकस्य किं कुसुमर्द्धिभिः ॥]*

आसक्तिवश प्रिय के गुणों को बार-बार पूछती हुई नायिका के प्रति सखी की यह प्रोत्साहन-जनक उक्ति है :—

"अयि मुग्धे ! प्रिय के गुणों को (उसमें यह गुण है ? यह गुण है ? आदि) पूछते हुए तुम लज्जित नहीं होतीं ? जिसका सभी अङ्ग सौरभमय है उस मरुआ (के पौधे) के लिये पुष्पों का वैभव क्या वस्तु है ?

किसी सर्व-गुण-सम्पन्न व्यक्ति के विषय में एक-एक गुण को लेकर पूछना प्रश्नकर्ता की बालक-सदृश अज्ञता का सूचक होने के कारण लज्जा का आस्पद होता है। अतः 'उसके गुण पूछते हुए तुम लज्जित नहीं होतीं' से नायक की सर्व-गुण-सम्पन्नता व्यञ्जित है। पौधों के लिये पुष्पों का महत्त्व इसलिये है कि पुष्पों की गन्ध के कारण ही उनका मान होता है, किन्तु मरुए का तो प्रत्येक अङ्ग स्वभावतः सौरभ-सम्पन्न है अतः उसे फूलों से क्या प्रयोजन ? इसी प्रकार तुम्हारे प्रियतम में तो सौन्दर्य, दाक्षिण्य आदि सभी गुण स्वाभाविक हैं, आहार्य गुणों से उसे क्या लेना ?

मुद्धे अपत्तिअन्ती पवालअङ्कुरवण्णलोहिअए।
णिद्धोअधाउराए कीस सहत्थे पुणो धुअसि ॥ ७८ ॥

[मुग्धेऽप्रत्ययन्ती प्रवालाङ्कुरवर्णलोहितौ।
निर्धौतधातुरागौ किमिति स्वहस्तौ पुनर्धावयसि ॥]

सहज रक्तवर्ण हाथों को भ्रमवश बार-बार धुलाती हुई मुग्धा से सखी बोली—

हे मुग्धे ! प्रवाल की कोंपल के समान (स्निग्ध और रक्तवर्ण) अपने हाथों से धातुराग (गेरू आदि की लालिमा) के धुल जाने पर भी विश्वास न करती हुई तू अपने हाथों को दोबारा क्यों धुला रही है ?

उअ सिन्धवपव्वअसच्छहाइं धुअतूलपुञ्जसरिसाइं।
सोहन्ति सुअणु मुक्कोअआइं सरए सिअब्भाइं ॥ ७९ ॥

[पश्य सैन्धवपर्वतसदृक्षाणि धूततूलपुञ्जसदृशानि।
शोभन्ते सुतनु मुक्तोदकानि शरदि सिताभ्राणि ॥]

वर्षा ऋतु के कष्टों से खिन्न प्रोषितपतिका को शरद्वर्णन के द्वारा अप्रत्यक्ष रूप में यह आश्वासन देती हुई कि 'अब तो तुम्हारे प्रिय आ ही जायेंगे,' उसकी सखी कहती है :—

हे सुन्दरि ! देखो, शरद् ऋतु के जलहीन मेघ सैंधा नमक के पहाड़ तथा धुनी हुई रूई के ढेर के समान शोभित हो रहे हैं।

श्री मथुरानाथ भट्ट ने इस गाथा को वेश्या तरुणी से उन कामुकों की जो निर्धन हो कर भी उक्त वेश्यासुन्दरी का पीछा नहीं छोड़ रहे हैं, निन्दा करती हुई सखी की उक्ति माना है। उनके अनुसार इसका व्यङ्ग्यार्थ इस प्रकार होगा।

निर्धन कामुकों की पर्वत से उपमा देने से 'कठोरता' और 'जड़ता', सैन्धव शब्द से शीघ्र द्रवित होने के कारण 'अस्थिरचित्तता', रूई उपमान से 'सहज लघुता', और धुनी हुई से बहुत प्रकार तिरस्कृतत्व द्योतित है। अभ्र शब्द से 'जैसे ऊंचे होते हुए भी रिक्त मेघों से अभीष्ट सिद्धि की कोई आशा नहीं, उसी प्रकार कुलीनता आदि का उच्च गुण होते हुए भी इन निर्धन कामुकों से कोई आशा नहीं' अर्थ व्यङ्ग्य है। मुक्तोदक

शब्द 'विगतधनत्व' की अभिव्यक्ति स्पष्ट ही करता है। 'शोभन्ते' (शोभित होते हैं) विपरीत लक्षणा से 'शोभित नहीं होते' अर्थ देता है और नायिका के लिये 'सुतनु' सम्बोधन की सहायता से 'नवयौवन की स्वाभाविक श्री से सम्पन्न होकर भी तू इन विगत-वैभव कामुकों के केवल बाह्य सौष्ठव को देखकर मुग्ध मत हो जाना क्योंकि इन से कोई कार्य सिद्ध नहीं हो सकता' अर्थ ध्वनित है।

आउच्छन्ति सिरेहिँ विवलिएहिं उअ खडिएहिँ णिज्जन्ता।
णिप्पच्छिमवलिअपलोइएहिँ महिसा कूडङ्गाइं ॥ ८० ॥

[आपृच्छन्ति शिरोभिर्विवलितैः पश्य खड्गिकैर्नीयमानाः।
निःपश्चिमवलितप्रलोकितैर्महिषाः कुञ्जान् ॥]

देखो, खड्गधारी कसाइयों द्वारा ले जाये जाते हुए भैंसे विह्वल मस्तक हो मुड़कर अन्तिम बार देखते हुए कुञ्जों से विदाई ले रहे हैं।

पुसउ मुहं ता पुत्तिअ वाहोअरणं विसेसरमणिज्जं।
मा एअं चिअ मुहमण्डणं त्ति सो काहिइ पुणो वि ॥ ८१ ॥

[प्रोञ्छस्व मुखं तत्पुत्रिके! बाष्पोपकरणं विशेषरमणीयम्।
मा इदमेव मुखमण्डनमिति करिष्यसि पुनरपि ॥]

अलङ्कृत महिलाओं में दरिद्रयवश अलङ्कारों के अभाव से दुःखी होती हुई किसी सुन्दरी को समझाती हुई सहृदय प्रौढ़ा कहती है:—

"पुत्रि! अपना मुख पोंछ लो, अश्रु रूपी प्रसाधन तुम्हें विशेप रूप से फव रहा है। किन्तु इसको ही अपने मुख का अलंकार समझ कर फिर (धारण) न करना।" अर्थात् फिर कभी न रोना, तुम सहज सुन्दरी हो। आँसू भी, जो मुख को मलिन ही किया करता है, तुम्हारे मुख पर अलंकार जैसा प्रतीत होता है, अतः दुःखी होने की कोई आवश्यकता नहीं।

मज्झे पअणुअपङ्कं अवहोवासेसु साणचिक्खिल्लं।
गामस्य सीससीमन्तअं व रच्छामुहं जाअं ॥ ८२ ॥

[मध्ये प्रतनुकपङ्कमुभयोः पार्श्वयोः श्यानकर्दमम्।
ग्रामस्य शीर्षसीमन्तमिव रथ्यामुखं जातम् ॥]

मध्य में थोड़ा सा गीला कीचड़ है और दोनों पार्श्वों पर (और) सूखा। (अतएव) गली का मुख गाँव के सिर की मांग जैसा हो गया है।

अवरह्णागअजामाउअस्स विउणेइ मोहणुक्कण्ठं।
वहुआइ घरपलोहरमज्जणपिसुणो वलअसद्दो ॥ ८३ ॥

[अपराह्णागतजामातुर्द्विगुणयति मोहनोत्कण्ठाम्!
वध्वा गृहपश्चाद्भागमज्जनपिशुनो वलयशब्दः ॥]

'चिरविरह के पश्चात् प्रियतमा के प्राप्त होने पर समागम की उत्कण्ठा अत्यन्त तीव्र होती है' यह सूचित करता हुआ कोई सहृदय अपने मित्र से कहता है—

'तीसरे पहर आये हुए जामाता की रतिविषयक उत्कण्ठा को घर के पिछले भाग में वधू के अङ्ग सम्मार्जन (हाथ और पैर आदि धोने के कार्य) का सूचक वलयों का शब्द दुगुना कर देता है।'

'तीसरे पहर आये हुए' से दिन में सास आदि के सामीप्य के कारण रात्रि में ही समागम के अवसर की संभावना से तब तक की प्रतीक्षा उत्कण्ठा को पोषित करती है। इसी प्रकार 'घर के पिछले भाग' से अत्यन्त समीप ही उसका एकान्त में होना भी उत्कण्ठा का पोषक है। 'पिशुन' शब्द चुगलखोर की भाँति मर्मच्छेदी पीडा का परिचायक और 'वलयशब्द' से कङ्कनों की सुरतकालीन झनझनाहट की स्मृति और उसके कारण जैसे तैसे रोके हुए मन का और भी विचलित हो जाना ध्वनित है।

जुज्झचवेडामोडिअजज्जरकण्णस्स जुण्णमल्लस्स।
कच्छाबन्धो च्चिअ भीरुमल्लहिअअं समुक्खणइ ॥ ८४ ॥

*[युद्धचपेटामोटितजर्जरकर्णस्य जीर्णमल्लस्य।
कक्षाबन्ध एव भीरुमल्लहृदयं समुत्खनति ॥]*

किसी मल्ल की पत्नी के साथ अभिसार करने में हिचकिचाते हुए नायक को अन्योक्ति के माध्यम से भीरु कह कर उत्तेजित करती हुई दूती कहती है:—

"युद्ध (कुश्ती) के समय चपेटों से कुचल जाने के कारण जिसके कान जर्जर हो गये हैं उस बूढ़े पहलवान का कच्छा बाँधना ही डरपोक मल्ल के हृदय को तोड़ देता है।" "कानों की चोट आदि से मल्लयुद्ध में उसकी दृढ़ता का अनुमान करके ही भीरु मल्ल डर जाते हैं किन्तु वास्तव में वह अब वह बूढ़ा हो गया है, पहली सी शक्ति उसमें नहीं है और वृद्धावस्था तथा निःशक्तता के कारण उसकी पत्नी उसमें हृदय से अनुरक्त भी नहीं है। अतः भय त्याग कर उसके प्रति अभिसरण करो' यह नायक के प्रति व्यङ्ग्य है।

आणत्तं तेण तुमं पइणो पहएण पडहसद्देण।
मल्लि ण लज्जसि णच्चसि दोहग्गे पाअडिज्जन्ते ॥ ८५ ॥

*[आज्ञप्तं तेन त्वां पत्या प्रहतेन पटहशब्देन।
मल्लि ! न लज्जसे नृत्यसि दौर्भाग्ये प्रकटीक्रियमाणे ॥]*

की पत्नी से कहती है:—

'हे पहलवान की पत्नी ! नक्कारे के शब्द के साथ (ढोल बजाकर) तुम्हारे उस पति ने तुम्हारे लिये जिस दौर्भाग्य (प्रेमाभाव) की घोषणा की उसके प्रकट होने पर भी तू (प्रसन्नता से) नाच रही है, लज्जित नहीं होती।"

'ढोल बजा कर सब पहलवानों को कुश्ती के लिये ललकारने वाला पहलवान अपने बल के क्षीण होने के भय से पत्नी में आसक्त नहीं रहता है।' यह अनुमान सहज ही किया जा सकता है। इस प्रकार ढोल बजाकर अपनी शक्ति का प्रदर्शन करके वह मानो अपनी पत्नी के दौर्भाग्य की ही घोषणा करता है जिसे सुनकर मल्ल-पत्नी प्रसन्न होती है जब कि उसे लज्जित होना चाहिये। उसकी यह प्रसन्नता सौन्दर्य-गर्व के ही कारण है। 'अतः यह सुखसाध्या है' यह कामुक के प्रति व्यङ्ग्य है।

'उसे' शब्द से 'पहले से ही तुम्हारी उपेक्षा करने में प्रसिद्ध; 'पति' शब्द से 'तुम्हारा रक्षकमात्र न कि प्रेमी', 'नाच रही है, लज्जित नहीं होती' से इस प्रकार अपमानित होकर तो तुम्हें लज्जित होना चाहिये न कि प्रसन्न आदि अर्थ मल्ल-पत्नी के प्रति व्यङ्ग्य हैं जिनसे 'इस के चक्कर को छोड़कर तू किसी अन्य से अपने जीवन के सौभाग्य को जगा' आदि उपजाप ध्वनित है।

मा वच्चह वीसम्भं इमाणं बहुचाडुकम्मणिउणाणं।
णिव्वत्तिअकज्जपरम्मुहाणँ सुणआणँ व खलाणं॥ ८६॥

[मा व्रजत विस्रम्भमेषां बहुचाटुकर्मनिपुणानाम्।
निर्वर्तितकार्यपराङ्मुखानां शुनकानामिव खलानाम्॥]

धूर्त चाटुकार नायक से नायिका को सावधान करती हुई दूती कहती है—

"खुशामद के काम में अत्यन्त चतुर किन्तु काम निकल जाने पर विमुख हो जाने वाले कुत्तों जैसे दुष्ट लोगों का विश्वास न करो।

अण्णगामपउत्था कड्ढन्ती मण्डलाणं रिच्छोलिं।
अक्खण्डिअसोहग्गा वरिससअं जिअउ मे सुणिआ॥ ८७॥

[अन्यग्रामप्रस्थिता कर्षन्ती मण्डलानां पङ्क्तिम्।
अखण्डितसौभाग्या वर्षशतं जीवतु मे शुनी॥]

अनेक कामुकों के साथ अन्य गाँव जाती हुई कुलटा को देखकर कोई परिहास के साथ अन्योक्ति द्वारा कहता है—

"कुत्तों की पंक्ति को अपने साथ खींचती हुई अन्य गाँव के लिये प्रस्थित मेरी अखण्ड सौभाग्यवती कुतिया सौ वर्ष तक जीवित रहे।"

सच्चं साहसु देअर तह तह चडुआरएण सुणएण ।
णिव्वत्तिअकज्जपरम्मुहत्तणं सिक्खिअं कत्तो ॥ ८८ ॥

*[सत्यं कथय देवर तथा तथा चाटुकारकेण शुनकेन ।
निर्वर्तितकार्यपराङ्मुखत्वं शिक्षितं कस्मात् ॥]*

देवर ने अनासक्त भाभी को पहले तो चाटुकारी और प्रलोभनों द्वारा वश में कर लिया और फिर कुछ दिनों में ही वह उससे विमुख हो गया । इस पर भाभी गुप्त रूप से उलाहना देती हुई बोली—

"देवर ! सच कहो, उस प्रकार चाटुकारी करने वाले कुत्ते ने काम निकल जाने पर, मुँह छिपा लेना किस से सीखा ?"

'उस उस प्रकार' से देवर की अनेकविध खुशामद की ओर संकेत किया गया है। 'किस से सीखा' से 'ऐसा कृतघ्न तो मैंने कोई देखा ही नहीं' यह भर्त्सना ध्वनित है और अन्ततोगत्वा 'तुम कुत्ते से भी अधिक नीच हो' असूया देवर के प्रति व्यङ्ग्य है।

णिप्पण्णसस्सरिद्धी सच्छन्दं गाइ पामरो सरए ।
दलिअणवसालितण्डुलधवलमिअङ्कासु राईसु ॥ ८९ ॥

*[निष्पन्नसस्यर्द्धिः स्वच्छन्दं गायति पामरः शरदि ।
दलितनवशालितण्डुलधवलमृगाङ्कासु रात्रिषु ॥]*

'पके हुए धान्य की समृद्धि से संपन्न किसान कूट कर निकाले हुए नवीन शालि चावलों के समान श्वेत चन्द्रमा से युक्त शरद्-रात्रियों में मन की मौज में गा रहा है ।"

अलिहिज्जइ पङ्कअले हलालिचलणेण कलमगोवीए ।
केआरसोअरुम्भणतं सट्ठिअ कोमलो चलणो ॥ ९० ॥

*[आलिख्यते पङ्कतले हलालिचलनेन कलमगोप्याः ।
केदारस्रोतोऽवरोधतिर्यक् स्थितः कोमलश्चरणः ॥]*

खेत में लगे हुए पैर के चिह्न से धान रखाने वाली युवति के संकेतस्थल का अनुमान करता हुआ कोई रसिक अपने साथी से कहता है—

"अरे, क्यारी सींचने के लिये बनाये हुए वराह (नाली) की डौल की कम चौड़ाई के कारण (उस पर) कीचड़ में रखने से तिरछा लगा हुआ धान रखाने वाली के पैर का कोमल चिह्न (जो सूखा हुआ है) हल की खूड के बढ़ने से खुद गया (मिट गया) ।

दिअहे दिअहे सूसइ संकेअअभङ्गवड्ढिआसङ्का ।
आवण्डुरोणअमुही कलमेण समं कलमगोवी ॥ ९१ ॥

[दिवसे दिवसे शुष्यति संकेतकभङ्गवर्धिताशङ्का ।
आपाण्डुरावनतमुखी कलमेन समं गोपी ॥]

संकेतस्थल के विनाश की चिन्ता बढ़ने के कारण कुछ पीली (पड़ी हुई) अधोमुखी धान रखाने वाली शालि के पौधों के साथ ही (स्वयं भी) प्रतिदिन सूखती जाती है ।

णवकम्मिएण हअपामरेण दट्ठूण पाउहारीओ ।[1]
मोत्तव्वे जोत्तअपग्गहम्मि अवहासिणी मुक्का ॥ ९२ ॥

[नवकर्मिणा पश्य पामरेण दृष्ट्वा भक्तहारिकाम् ।
मोक्तव्ये योक्त्रप्रग्रहेऽवहासिनी मुक्ता ॥]

देखो, नौसिखिया किसान ने भात (भोजन) लाने वाली (अपनी प्रिया) को देख कर (बैलों के) जोत और पगहा खोलने के स्थान में नाथ खोल दी ।

"नौसिखिया" शब्द से व्यञ्जित है कि अभ्यास न होने के कारण हल चलाने में तो पहले से ही कुछ घबराहट थी । अब दूर से अपनी प्रिया को भोजन लाती हुई देख कर भोजन करने के लिये विश्राम करने के उद्देश्य से बैलों को छोड़ते हुए उत्कण्ठा-जनित मोहवश जोत और पगहे (रस्सी) न खोल कर नाथ ही खोल डाली ।

दट्ठूण हरिअदीहं गोसे णइज्जूरए[2] **हलिओ ।**
असईरहस्समग्गं तुसारधवले तिलच्छेत्ते ॥ ९३ ॥

[दृष्ट्वा हरितदीर्घं प्रातर्नातिखिद्यते हलिकः ।
असतीरहस्यमार्गं तुषारधवले तिलक्षेत्रे ॥]

ओसकणों से श्वेत तिलों के खेत में प्रातःकाल ही किसी कुलटा के लम्बे और हरे तथा (चोरी से सुरत करने के लिये खेत के बीच में पहुँचने के) रहस्य (के कारण ओसकणों पर पड़े हुए पदचिह्नों से स्पष्ट) मार्ग को देखकर किसान अधिक दुखी नहीं होता । भावार्थ यह है कि अपने प्रच्छन्न प्रेमी से समागम करने के लिये कोई कुलटा तिल के हरे खेत में जो ओस के कारण सफेद हो गया था, पहुँची । जहां कहीं उसके पैर पड़े, वहीं ओस छुट जाने से हरा स्थान दिखाई देने लगा और इस प्रकार एक हरे रंग का लम्बा सा मार्ग बन गया जिसे दिन निकलने पर खेत के मालिक ने देखा, किन्तु यह देख कर वह अधिक दुःखी नहीं हुआ क्योंकि पौधे अभी पके नहीं थे, वे हरे थे इसलिये उसकी कोई हानि नहीं हुई थी । 'अति' शब्द से व्यञ्जित है

१. पाठान्तर 'पाणिहारीओ' (पानी लाने वाली, पनिहारी

२. 'णइज्जूरए' के स्थान में 'सण्डाणं जूरए' पाठ भी मिलता है जिसका अर्थ होता है सांड पर क्रुद्ध होता है" अर्थात् वह समझता है कि रात को खेत में सांड़ों (विजार) ही घुस आये होंगे ।

कि 'कुछ खेद तो हुआ ही'। सुरतकार्य प्रातःकाल ही सम्पन्न हुआ प्रतीत होता है तभी तो पैरों के हरे चिह्न दिखाई देते थे। यदि बहुत पहले यह कार्य हुआ होता तो प्रातःकाल तक पुनः ओस पड़ जाती और पदचिह्न दिखाई ही नहीं देते। अतः ब्राम्ह-मुहूर्त में अपने खेत में ऐसी घटना होने से कुछ दुःख तो उसे हुआ ही।

संकेल्लिओ व्व णिज्जइ खंडं खंडं कओ व्व पीओ व्व।
वासागमम्मि मग्गो घरहुत्तसुहेण पहिएण ॥ ९४ ॥

*[सङ्कोचित इव नीयते खण्डं खण्डं कृत इव पीत इव।
वर्षागमे मार्गो गृहभविष्यत्सुखेन पथिकेन ॥]*

वर्षा ऋतु व्यतीत हो जाने पर घर पहुँचकर प्रियतमा के मिलन से होने वाले सुख की कल्पना करता हुआ पथिक माना मार्ग को समेटता हुआ, खण्ड-खण्ड करता हुआ, पीता हुआ जा रहा है।

तीनों उत्प्रेक्षाओं द्वारा उत्तरोत्तर शीघ्रता एवं उसके द्वारा पथिक की तीव्र उत्कण्ठा ध्वनित है।

परनिन्दक दुर्जनों के मर्मभेदी वचनों से खिन्न होकर कोई भला आदमी अपने मित्र से कहता है—

धण्णा बहिरा अन्धा ते च्चिअ जीअन्ति माणुसे लोए।
ण सुणन्ति पिसुणवअणं खलाणँ ऋद्धि ण पेक्खन्ति ॥ ९५ ॥

*[धन्या बधिरा अन्धास्त एव जीवन्ति मानुषे लोके।
न शृण्वन्ति पिशुनवचनं खलानामृद्धिं न पश्यन्ति ॥]*

मनुष्यलोक में अन्धे और बहरे लोग धन्य है, वास्तव में जीवित वे ही हैं क्योंकि वे (बहरे) पिशुनों के वचन नहीं सुनते और (अन्धे लोग) दुष्टों की समृद्धि नहीं देखते।'

'मनुष्य लोक' से अन्यत्र तो दुर्जन-वचनों के सुनने की नौबत आती ही नहीं, इसी दुनियाँ में वे सुनने पड़ते हैं' ध्वनित है। अन्धे, बहरों के जीवन को धन्य बताने से वक्ता हम जैसे सरल व्यक्तियों का तो जीना ही बेकार है' यह निर्वेद और अपना देवत्वगुण अभिव्यक्त करता है। 'अन्धा और बहरा होना कष्टप्रद है किन्तु दुष्टों की बातें सुनना और सम्पत्ति देखना उससे भी अधिक कष्टकर होता है' यह वस्तुतथ्य भी व्यञ्जित है। दोषों को भी गुण बतलाने के कारण अनुज्ञा अलङ्कार है।

एह्लि वारेइ जणो तइआ मूइल्लओ कहिं व्व गओ।
जाहे विसं व्व जाअं सव्वङ्गपहोलिरं पेम्म ॥ ९६ ॥

*[इदानीं वारयति जनस्तदा मूलकः कुत्रापि वा गतः।
यदा विषमिव जातं सर्वाङ्गघूर्णितं प्रेम ॥]*

किसी निकट-निवासी युवक से प्रगाढ़ प्रेम हो जाने पर सखियों द्वारा बार

बार रोकी जाती हुई युवति खीझकर उनसे कहती है—

'अब तो लोग, जबकि विषम विष के समान प्रेम समूचे अङ्गों में व्याप्त हो गया है, प्रेम से रोकते हैं, तब (प्रारम्भ में) मूक होकर जैसे कहीं चले गये थे।'

'प्रेम के विष के सदृश सर्वाङ्ग व्याप्त हो जाने से नायिका की विवशता ध्वनित है। सखियों को सामान्यतया तटस्थ लोग सूचित करने से उनके प्रति असूया का भाव व्यञ्जित है। रोग को उचित समय पर ही न रोक कर बहुत बढ़ने देना और फिर रोगी को अस्पृहणीय चिकित्सा की सलाह देने वाला व्यक्ति उसका मित्र कैसे ?

कहँ तं पि तुइ ण णाअं जह सा आसन्दिआणँ बहुआणं।
काऊण उच्चवचिअं तुहदंसणलेहला पडिआ ॥ ६७ ॥

[कथं तदपि त्वया न ज्ञातं यथा सा आसन्दिकानां बहूनाम्।
कृत्वा उच्चावचिकां तव दर्शनलालसा पतिता ॥]

नायिका के अनुराग का वर्णन कर नायक को उत्कण्ठित करती हुई दूती कहती है—

'तुम्हें यह भी पता नहीं कि कुर्सियों को नीचे-ऊपर रखकर तुम्हें देखने की लालसा में वह उन पर से गिर पड़ी ?

'वह तुम में इतनी अनुरक्त है और तुम्हें तुम्हारे ही कारण प्राप्त उसके कष्ट का भी पता नहीं,' यह उपालम्भ नायक के प्रति व्यङ्ग्य है।

चोराणँ कामुआणँ च पामरपहिआणँ च कुक्कुडो वअइ।
रे वहह रमह वाहयह एत्थ तणूआअए रअणी ॥ ६८ ॥

[चौरान्कामुकांश्च पामरपथिकांश्च कुक्कुटो वदति।
रे वहत रमत वाहयत अत्र तनुकायते रजनी ॥]

चोर, कामुक और कृषक (गाड़ी वाले) यात्रियों से मुर्गा कहता है कि ले जाओ, रमण करो और गाड़ी हाँको, रात थोड़ी ही रह गई है। अर्थात् प्रातः ही मुर्गे की आवाज सुनकर चोर चुरायी हुई चीजों को लेकर चम्पत होने लगते हैं, कामुक भी जल्द ही अपनी कामक्रीडा को समाप्त करने के लिये वेग के साथ प्रवृत्त हो जाते हैं और गाड़ीवाले गाड़ी जोड़कर हाँक देते हैं।

अण्णोण्णकडक्खन्तरपेसिअमेलीणदिट्ठिपसराणं।
दो च्चिअ मण्णे कअभण्डणाइँ समहं पहसिआइं ॥ ६६ ॥

[अन्योन्यकटाक्षान्तरप्रेषितमिलितदृष्टिप्रसरौ।
द्वावपि मन्ये कृतकलहौ समकं प्रहसितौ ॥]

परस्पर रूठे हुए नायक नायिका एक दूसरे को नयनों के कोने से देखने में दृष्टि मिल जाने पर हँस पड़े और आपस में झगड़ा करने लगे कि पहले तुम हँसे और पहले तुम हँसीं। इस पर उनकी सखी ने कहा:—

"मेरे विचार से तो नेत्र के कोने से एक दूसरे को देखने में दृष्टि के मिल जाने पर दोनों ही एक साथ हँसे हो"। अर्थात् कोप की शान्ति और औत्सुक्य का उदय होने पर परस्पर अनुनय की प्रतीक्षा में वर्तमान दोनों के नीचे ही नीचे एक दूसरे की चेष्टाओं को देखने के प्रयास में नयन मिल गये और एक दूसरे की उत्सुकता को समझकर एक साथ ही दोनों हँस पड़े। इस प्रकार "केवल नयन-कोणों (आधी दृष्टि) के मिलते ही तुम हँस पड़े हो। दोनों के ही मान का महत्त्व हम खूब समझ गयीं, सखी का यह आशय नायक-नायिका के प्रति व्यङ्ग्य है।

संझागहिअजलञ्जलिपडिमासंकन्तगोरिमुहकमलं ।
अलिअं चिअ फुरिओट्ठं विअलिअमन्तं हरं णमह ॥ १०० ॥

[संध्यागृहीतजलाञ्जलिप्रतिमासंक्रान्तगौरीमुखकमलम् ।
अलीकमेव स्फुरितोष्ठं विगलितमन्त्रं हरं नमत ॥]

सन्ध्या-उपासन के लिये जल से भरी अञ्जलि में गौरी के कमल मुख के प्रतिबिम्ब को देखकर (रति का उदय होने से) मन्त्र भूल जाने के कारण (अपने भाव को छिपाने के उद्देश्य से) झूँठ-मूँठ ही ओठों को फड़काते हुए शिव को प्रणाम करो।

शिवसदृश योगी की भी प्रेयसी के मुख का प्रतिबिम्बमात्र देखने पर यह दशा है तो साधारण मनुष्य का तो कहना ही क्या।

इअ सिरिहालविरइए पाउअकव्वम्मि सत्तसए।
सत्तमसअं समत्तं गाहाणं सहावरमणिज्जं ॥ १०१ ॥

[इति श्रीहालविरचिते प्राकृतकाव्ये सप्तशते।
सप्तशतं समाप्तं गाथानां स्वभावरमणीयम् ॥]

यह श्रीहाल द्वारा विरचित सप्तशतकात्मक प्राकृत काव्य में गाथाओं का स्वभाव से ही सुन्दर सातवाँ शतक समाप्त हुआ।

समाप्तोऽयं ग्रन्थः

परिशिष्ट

गाथानुक्रमणिका

गाथा		सन्दर्भ	क्रम
अमिअं पाउअकव्वं	...	प्राकृतकाव्य-प्रशस्ति	१।२
अम्ववणे भमरउलं	...	अन्योक्ति : अमराई	६।४३
अम्हे उज्जुअसीला	...	मानौदासीन्य	७।६४
अलिअपसुत्त	...	उत्कण्ठिता : कृतकस्वाप	१।२०
अलिअपसुत्तव	...	मुग्धा की शंका	७।४६
अलिहिज्जइ पङ्क अले	...	चरण-चिह्न	७।६०
अवमाणिओ वि	...	सज्जन-स्वभाव	४।२०
अवरज्भसु	...	नायिका-सहिष्णुता	४।७६
अवरल्लागअजामाउ	...	जामाता की उत्कंठा	७।८३
अवराहेहिँ वि	...	प्रिय-उपालम्भ	४।५३
अवलम्वह मा	...	उद्भ्रान्ता	४।८६
अवलम्विअमाणउ	...	मानाभास	१।८७
अवहत्थिऊण	...	उपालम्भ	२।५८
अविअह्लपेक्खणिज्जेण	...	दर्शनातृप्ति	१।९३
अविइह्लपेच्छणिज्जं	...	सच्चा प्रेमी	१।९९
अविरलपडन्तणव	...	वर्षा	५।३६
अविहत्तसंधिवन्धं	...	भ्रमर	७।१३
अविहवलक्खण वलअं	...	कृशता	७।३९
अव्वो अणुणअ	...	कलहान्तरिता	४।६
अव्वो दुक्कर	...	प्रवासोन्मुख प्रिय	३।७३
असमत्तगुरुअकज्जे	...	प्रावृट्	६।३७
असमत्तमण्डणा	...	कुट्टनी-उपदेश	१।२१
असरिसचित्ते	...	देवर की नीयत	१।५९
अह अह्म आअदो	...	कुलटा	४।१
अहअं लज्जालुइणी	...	स्वाधीनपतिका	२।२७
अहयं विओअतणुई	...	विरहानल	५।८६
अहरमहुपाण	...	रमणी-स्वभाव	७।६१
अहव गुणव्विअ	...	नायिका का वितर्क	३।३
अह संभाविअमग्गो	...	उपालम्भ	१।३२
अह सरसदन्त	...	कपोल-दन्त-क्षत	३।१००
अह सा तहिँ तहिँ	...	वञ्चिता	४।१९
अह सो विलक्खहि	...	कलहान्तरिता	५।२०
अहिआअमाणिणो	...	पतिव्रता	१।३८
अहिणवपाउस	...	पावस-मोर-नृत्य	
अहि लेन्ति सुर	...	मुख-कमल	

गाथा		सन्दर्भ	क्रम
पुच्छिज्जन्ती ण	···	अपराद्धा नववधू	७।४७
पुट्ठि पुससु	···	प्रच्छन्नसुरता लक्षिता	४।१२
पुणरुत्तकरप्फालण	···	नर्मदा	६।४८
पुसइ खणं धुवइ	···	उरोजगत नख-चिह्न	५।३३
पुसउ मुहं ता	···	अश्रु, मुख-मण्डन	७।८१
पुसिश्रा श्रण्णा	···	मानिनी	४।२
पेच्छइ अलद्ध	···	पूर्वानुरागिनी	३।९६
पेच्छन्ति अणिमिस	···	हलिकसुता	४।८८
पेम्मस्स विरोहिश्र	···	भग्न-कृत-संधान प्रेम	१।५३
पोट्टपडिएहिं	···	उदरम्भरि	१।८३
पोट्टं भरन्ति	···	सज्जन-स्वभाव	३।८५
फग्गुच्छण	···	होलिका-उत्सव	४।६९
फलसंपत्तीश्र	···	महापुरुष-हृदय	३।८२
फलहीवाहण	···	भविष्यत्सहेट	२।६५
फालेइ अच्छभल्लं	···	तुषाग्नि	२।९
फुट्टन्तेण वि	···	असंवेदनशील हृदय	३।४
फुरिए वामच्छि	···	शकुन-मनौती	२।३७
बलिणो वाश्रावन्धे	···	वामन-स्तुति	५।६
बहुलतमा	···	प्रतिवेशी को आमन्त्रण	४।३५
बहुश्राइ णइ	···	शील-खण्डन	३।१८
बहुपुप्फभरोणा	···	गोदा-निकुञ्ज-मधूक	२।३
बहुवल्लहस्स	···	बहुवल्लभ की प्रिया	१।७२
बहुविहविलासरसिए	···	सुरत-ज्ञान-सहजता	५।७७
बहुसो वि	···	प्रिय-संदेश-श्रवण	२।९८
बालश्र तुमाइ दिण्णं	···	प्रियोपहार-मुदिता	५।१९
बालश्र तुमाहि	···	उपालम्भ	३।१५
बालश्र दे वच्च लहुं	···	प्राणालम्बन	६।८७
भग्गपिश्रसंगमं	···	ज्योत्स्ना	५।९१
भञ्जन्तस्स वि	···	असती-कोप	२।६७
भण कोण	···	अनवसर की बात	४।१००
भण्डन्तीश्र तणाइं	···	पथिक-संभोग	४।७९
भमइ पलित्तइ जूरइ	···	हथिनी, जीवन-सहचरी	५।५४
भम धम्मिश्र	···	गोदावरी कुञ्ज	२।७५
भरणमिश्रणील	···	सायंकाल-वर्णन	७।६०
भरिउच्चरन्त	···	अश्रु-प्रवाह	४।[illegible]

गाथा		संदर्भ	क्रम
मुद्धे अपत्तिअन्ती	...	मुग्धा की भ्रान्ति	७।७८
मुहपुण्डरीअछाआइ	...	उरोज-वर्णन	७।२४
मुहपेच्छओ वई	...	अनन्यासक्त दम्पती	५।९८
मुहमारुएण	...	राधा-कृष्ण-अनुराग	१।८९
मुहविज्झवि	...	चौर्य-रत	४।३३
मेहमहिसस्स	...	मेघ-वर्णन	६।८४
रइकेलिहिअणि	...	शिव-पार्वती-रति	५।५५
रइविरमलज्जिआओ	...	समाप्त-सुरता कुलवधू	५।५६
रक्खेइ पुत्तअं	...	प्रोषितपतिका	७।३१
रणाउ तणं	...	प्रेम का आदर्श	३।८७
रत्थापइण्ण	...	प्रतीक्षापरा	२।४०
रन्धणकम्मणिउणिए	...	पाकशाला-गत गृहिणी	६।१४
रमिऊण पअं	...	वियोग	१।५८
रसिअजण	...	पुष्पिका	१।१०१
रसिअजण	...		२।१०१
रसिअजण	...	"	३।१०१
रसिअजण	...	"	५।१०१
रसिअजण	...	"	६।१०१
रसिअ-विअट्ठ	...	अशोक	४।४५
राअविरुद्धं	...	आम्रमञ्जरी	४।१६
रुन्दारविन्दमन्दिर	...	वसन्त-शोभा	३।३४
रुअं अच्छीसु	...	वियोग-वर्णन	२।३२
रुअं सिट्ठं चिअ	...	पूर्वानुरागिनी	६।३४
रेहइ गलन्त केस	...	पुष्पायिता	५।४८
रेहन्ति कुमुअदल	...	मधुकर-वंचित	६।६१
रोवन्ति व्व अरण्ण	...	ग्रीष्म-मध्याह्न	५।१४
लंकालआणं	...	पलाश-पुष्प-वर्णन	४।११
लज्जा चत्ता सीलं	...	प्रिय की उदासीनता	६।२४
लहुअन्ति	...	लघुता के कारण	३।११
लुम्बीओ अङ्गण	...	सापत्नक-उद्दीपन	४।२२
लोओ जूरइ जूरउ	...	अनुराग की असफलता	[illegible]
वअणे वअणम्मि	...	शून्यायमाना	[illegible]
वइ विवर	...	उरोज-परिधि	[illegible]
वक्कं को पुलइ	...	नागरी का प्रायश्चित	[illegible]
वड्ढच्छिपेच्छि	...	यात्रा : पुष्पचय	[illegible]

